॥ श्रीः ॥

गोकुलदास संस्कृत ग्रन्थमाला
168

दर्शनशास्त्र का अन्तरङ्ग इतिहास

(सभी भारतीय दर्शनों के प्रमुख सिद्धान्तों की डायग्रामिक प्रस्तुति)

डॉ. राकेश शास्त्री

चौखम्भा ओरियन्टालिया
प्राच्यविद्या, आयुर्वेद तथा दुर्लभ ग्रन्थों के प्रकाशक
दिल्ली-110007 (भारत)

समर्पण

संस्कृत जगत् के सशक्त हस्ताक्षर,
संस्कृत और संस्कृति के
समर्थक,
स्वतन्त्र–विचारक,
सरलता, सौम्यता, गम्भीरता की
प्रतिमूर्ति,

परम श्रद्धेय,

प्रो.परमेश्वर नारायण जी शास्त्री

कुलपति
राष्ट्रीय संस्कृत संस्थान
दिल्ली

के कर–कमलों
में
सादर

डॉ. राकेश शास्त्री डी.लिट्

प्राक्कथन

'दर्शन' का मानवजीवन के साथ घनिष्ठ सम्बन्ध रहा है, क्योंकि व्यक्ति के जीवन का कोई भी पक्ष 'दर्शन' की परिधि से बाहर नहीं है। वस्तुतः सृष्टि के आरम्भ में ही, जब मनुष्य ने विचार करना प्रारम्भ किया, उसी समय से उसके अनुभव स्थायी आकार लेने लगे, इन्हीं स्थायी आकारों से आकारित, ये अनुभव ही बाद में जाकर 'दर्शन' रूप में परिवर्तित हो गए। इसलिए वस्तुतः नैसर्गिक जिज्ञासा को 'दर्शन' के मूल में सहज ही स्वीकार किया जा सकता है।

इसीप्रकार 'दर्शन' रूप निर्मल स्रोतस्विनी का प्रवाह, आदिकाल से अबाध–गति से निरन्तर चला आ रहा है, जिसके उद्‌गम–स्थल को हम हजारों वर्ष पूर्व ऋषियों द्वारा द्रष्ट, वेदों में देख सकते हैं। इनमें भी ऋग्वेद में प्रयुक्त दार्शनिक सूक्त, जिनमें 'नासदीय' एवं 'पुरुष–सूक्त' विशेषरूप से महत्त्वपूर्ण हैं।

उसके बाद इन्हीं साक्षात्कृतधर्मा ऋषियों का मौलिक एवं परिपक्व चिन्तन हमें उपनिषदों में उपलब्ध होता है, क्योंकि सभी आस्तिक–दर्शनों के मूल आधार, वस्तुतः वेद और उपनिषद् ही रहे हैं। सम्पूर्ण भारतीय–दर्शन परम्परा को हम मुख्यरूप से दो भागों में विभाजित कर सकते हैं– आस्तिक एवं नास्तिक, जिनमें वेदों को प्रामाणिकरूप से स्वीकार करने वाले 'दर्शन' आस्तिक, जबकि वेदों की प्रामाणिकता को अस्वीकार करने वालों को 'नास्तिक' दर्शन की संज्ञा प्रदान की गयी।

इस आधार पर बौद्ध, जैन, चार्वाक ये तीन दर्शन नास्तिक–दर्शनों की कोटि में रखे गए, जबकि सांख्य–योग, न्याय–वैशेषिक, पूर्व–मीमांसा एवं उत्तरमीमांसा (वेदान्त), ये छः दर्शन वेदों को प्रमाणरूप में स्वीकार करने के कारण आस्तिक दर्शन कहे गए।

विषयानुक्रमणिका

(क) मुखपृष्ठ 1–2
(ख) प्राक्कथनम् 3–4
(ग) समर्पणम् 5–6
(घ) विषयानुक्रमणिका 7–22

(ङ) उपोद्घात 23–90

(i) दर्शन से अभिप्राय 23
(ii) दर्शन का उद्भव एवं विकास 25
(अ) वैदिककाल (25) (ब) उत्तर वैदिककाल (28)
(स) सूत्रकाल (28) (द) वृत्तिकाल (29)
(iii) भारतीय दर्शन संक्षिप्त परिचय 30
(अ) आस्तिक दर्शन 31
(क) सांख्य दर्शन (31) (ख) योग दर्शन (33)
(ग) न्याय दर्शन (34) (घ) वैशेषिक प्रमाण (34)
(ङ) पूर्वमीमांसा दर्शन (35)(च) उत्तर मीमांसा (वेदान्त) दर्शन (35)
(आ) नास्तिक दर्शन 36
(क) चार्वाक दर्शन (36) (ख) जैन दर्शन (37)
(ग) बौद्ध दर्शन (38)
(iv) भारतीय दर्शन की विशेषताएँ 38
(v) भारतीय दर्शन के मुख्य तत्त्व (तुलनात्मक दृष्टि) 43

(क) आत्मा (43) (ख) ईश्वर (53) (ग) जगत् (61)
(घ) कार्यकारण सिद्धान्त (74) (ङ) कर्मफल
का सिद्धान्त (79) (च) मोक्ष (84)

---

(1) सांख्यदर्शन **91–190** 91
(i) सांख्यदर्शन के मूल स्रोत 92
(ii) सांख्यदर्शन के मूल स्रोत 93
(iii) उपनिषदों में सांख्यदर्शन 99
(iv) सांख्यदर्शन के प्रमुख आचार्य एवं रचनाएँ
(क) कपिल(100) (ख) आसुरि (103) (ग) पंचशिख (105) (घ) विन्ध्यवासी(107) (ङ) जैगीषव्य (109) (च) वार्षगण्य (110) (छ) अन्य (112–115) 115
(v) सांख्यदर्शन के प्रमुख ग्रन्थ
(1) सांख्यसूत्र (115) (2) षष्टितन्त्र (115) (3) राजवार्तिक (116) (4) एपिक सांख्य (117) (5) अर्वाचीन सांख्यसूत्र (120) **122**
(6) वर्तमान सांख्यसूत्र की टीकाएँ
(क) अनिरुद्धवृत्ति (122) (ख) सांख्यवृत्तिसार (122) (ग) सांख्यप्रवचनभाष्य (123) (घ) लघुवृत्ति (123) (ङ) सांख्यतरंग (123) (च) तत्त्वसमास एवं उनकी टीकाएँ (123)
(vi) आचार्य ईश्वरकृष्ण की सांख्यकारिका 124
(क) ईश्वरकृष्ण काल (125) (ख) सांख्यकारिका का महत्त्व (127) (ग) वर्ण्यविषय (128) (घ) सांख्य का प्रतिनिधि ग्रन्थ सांख्यकारिका (130) ।
(vii) सांख्यकारिका की प्रमुख टीका प्रटीकाएँ 131
(viii) सांख्यदर्शन के प्रमुख सिद्धान्त 146
(1) सांख्य का प्रयोजन 146
(2) दुःखत्रय 147
(3) सांख्यदर्शन का पुरुष (ज्ञ) 152
(4) सांख्यदर्शन की प्रकृति 158

(अ) सत्त्व गुण (164) (ब) रजस् गुण (164)
(स) तमोगुण (165)
(5) सांख्यदर्शन की सृष्टि–प्रक्रिया 166
(6) सांख्यदर्शन की प्रलयावस्था 173
(7) सांख्यदर्शन में सूक्ष्म शरीर 174
(8) सांख्यदर्शन में स्थूल शरीर 176
(9) सांख्यदर्शन में प्रमाण 177
(क) प्रत्यक्ष प्रमाण (178) (ख) अनुमान प्रमाण (179) (ग) शब्द प्रमाण (181)
(10) सांख्यदर्शन में पुरुष बहुत्व 182
(11) सांख्यदर्शन में बन्धन 184
(12) सांख्यदर्शन में मोक्ष 186
(13) सांख्यदर्शन में सत्कार्यवाद 188

---

(2) योगदर्शन 191–234

1. योग–दर्शन का नामकरण 191
2. योग–दर्शन के मूल–स्रोत 192
3. ब्राह्मण–ग्रन्थों में योग–दर्शन 194
4. उपनिषदों में योग–दर्शन 195
5. पुराणों में योग–दर्शन 197
6. योग–सूत्र के प्रणेता महर्षि पतंजलि 200
(अ) दोनों व्यक्तित्वों की भिन्नता 200
(ब) दोनों व्यक्तित्वों का अभिन्नत्व 203
(स) पतंजलि के नाम व जन्म–स्थान 207
7. योग दर्शन के प्रमुख आचार्य 208
(क) वेदव्यास 208
(ख) योगभाष्य का रचना–काल 210
8. योग–दर्शन के प्रमुख प्राचीन ग्रन्थ 211

(क) तत्त्ववैशारदी टीका (211) (ख) राजमार्तण्ड–वृत्ति (212) (ग) योगवार्तिक (213) (घ) अन्य (213)

9. योग–शास्त्र के प्रमुख विषय– 214–228
i) अधिकारी 214
ii) अनधिकारी 215
iii) चित्त की महत्ता 215
iv) प्रत्यक्ष की प्रक्रिया 216
v) चित्त की वृत्ति 217
vi) चित्त की अवस्थाएँ 217
vii) अन्य वृत्तियाँ 219
viii) क्लेश 221
ix) अभ्यास 221
x) वैराग्य 222
xi) चित्त–विक्षेप के नौ विघ्न 223
10. योग–दर्शन में सवितर्क एवं निर्वितर्क समाधि 224
11. योग–दर्शन में कर्म–फल का सिद्धान्त 225
12. योग–दर्शन में ईश्वर 228
13. योग–सूत्र का सार–संक्षेप 229
14. योग–सूत्र का महत्त्व 232

---

(3) न्याय दर्शन 235–298

(i) न्याय दर्शन का व्युत्पत्तिलभ्य अर्थ 235
(ii) न्याय के लिए प्रयुक्त अन्य शब्द 236
(iii) न्याय दर्शन के मूल स्रोत 237
(iv) न्याय में अनुमान का महत्त्व 239
(v) न्याय सम्प्रदाय का उद्भव एवं विकास 239
(vi) न्याय दर्शन के द्विविध सम्प्रदाय 247
(vii) प्राचीन न्याय के आचार्य 248–252

(1) आचार्य गौतम (248) (2) वात्स्यायन (249) (3) उद्योतकर (250) (4) वाचस्पति मिश्र (250) (5) उदयनाचार्य (251)

(viii) **नव्य न्याय के आचार्य** 253--257

(1) गंगेश उपाध्याय (253) (2) पक्षधर मिश्र (255) (3) वासुदेव सार्वभौम (255) (4) रघुनाथ शिरोमणि (255) (5) मथुरानाथ (256) (6) जगदीश तर्कालंकार (256)(7) गदाधर भट्टाचार्य (257)

(ix) न्याय दर्शन के प्रकरण ग्रन्थकार 257--265

(1) भासर्वज्ञ (258) (2) वरदराज (258) (3) वल्लभाचार्य (259) (4) अन्नंभट्ट (259) (5) विश्वनाथ पंचानन (260) (6) जगदीश तर्कालंकार (261) (7) लौगाक्षि भास्कर (261) (8) शशधर (262) (9) माधवाचार्य (262) (10) जयन्तभट्ट (263) (11) आचार्य केशवमिश्र (264)

(x) केशवमिश्र की तर्कभाषा एवं उसकी टीकाएँ 266

(xi) न्याय वैशेषिक दर्शनों में तर्कभाषा का महत्त्व 268

(xii) न्याय दर्शन के प्रमुख सिद्धान्त 269

(A) प्रमाण की परिभाषा 269

(क) ज्ञान के दो प्रकार 270

(B) करण की परिभाषा 271

(C) कारण की परिभाषा व प्रकार 272

(i) अन्यथा सिद्ध 272

(D) कारण के प्रकार 273

(अ) समवायी कारण 273

(ब) असमवायी कारण 274

(स) निमित्त कारण 274

(E) **चतुर्विध प्रमाण** 274

(F) **प्रत्यक्ष प्रमाण** 274

(क) निर्विकल्पक ज्ञान 275

(ख) सविकल्पक ज्ञान 275

(ग) करण एवं अवान्तर व्यापार 276

12) दर्शनशास्त्र का अन्तरंग इतिहास 277
(G) **षड्विध सन्निकर्ष** 277
(क) संयोग सन्निकर्ष 277
(ख) संयुक्त समवाय सन्निकर्ष 278
(ग) संयुक्त समवेत समवाय सन्निकर्ष 279
(घ) समवाय सन्निकर्ष 279
(ङ) समवेत समवाय सन्निकर्ष 280
(च) विशेषण विशेष्यभाव सन्निकर्ष 280
(H) **अनुमान प्रमाण** 282
(क) अनुमान के भेद 282
(1) स्वार्थानुमान 283
(2) परार्थानुमान 283
(I) **हेतु त्रय** 283
(क) अन्वय व्यतिरेकि हेतु 283
(1) अन्वय व्याप्ति 283
(2) व्यतिरेक व्याप्ति 284
(ख) केवलान्वयी हेतु 284
(ग) केवल व्यतिरेकी हेतु 284
(J) **हेतु के पाँच रूप** 285
(K) **हेत्वाभास** 286
(1) असिद्ध हेत्वाभास 287
(2) विरुद्ध हेत्वाभास 288
(3) अनैकान्तिक हेत्वाभास 288
(4) सत्प्रतिपक्ष(प्रकरण सम) हेत्वाभास 289
(5) कालात्ययापदिष्ट (बाधित विषय) 289
(L) **उपमान प्रमाण** 289
(M) **शब्द प्रमाण** 290
(N) **अर्थापत्ति प्रमाण** 290
(क) अर्थापत्ति प्रमाण का निराकरण 291

(ख) अभाव एवं उसका निराकरण 292
(O) **प्रामाण्यवाद** 293
(क) प्रामाण्य का परतोग्राह्यत्व 293
(ख) प्रामाण्य का स्वतोग्राह्यत्व 294
(P) **प्रामाण्यविषयक स्वतोग्राह्यत्व** 294
(क) ज्ञातता का स्वरूप 295
(ख) ज्ञातता का खण्डन 296
(ग) प्रामाण्यवाद विषयक न्यायसिद्धान्त 297

(4) वैशेषिक दर्शन 299—368

(i) वैशेषिक सम्प्रदाय की प्राचीनता 299
(ii) न्याय वैशेषिक दर्शनों का परस्पर सम्बन्ध 300
(iii) वैशेषिक दर्शन का नामकरण 302
(iv) वैशेषिक सूत्र काल 304
(v) वैशेषिक सूत्र का परिचय 306
(vi) वैशेषिकदर्शन के आचार्य एवं ग्रन्थ **307— 318**

(क) उलूक (307) (ख) कणाद (311) (ग) वाक्य टीकाकार (313) (घ) श्रायस्क आचार्य (314) (ङ) रावण भाष्यकार (314) (च) कटन्दी (315) (छ) आत्रेय (316) (ज) प्रशस्तपाद (316)

(vii) प्रशस्तपाद के टीका ग्रन्थ– **318–325**

(1) व्योमवती– (318) (2) किरणावली (318) (3) न्याय कन्दली (320) (4) लीलावती (320) (5) सूक्ति (320) (6) सेतु (321) (7) भाष्यनिकष (321) (8) कणादरहस्य (321)

(झ) चन्द्रानन्द (321) (ञ) शिवादित्य मिश्र (322) (ट) वल्लभाचार्य (322) (ठ) केशवमिश्र (323) (ड) विश्वनाथ न्याय पंचानन (324) (ढ) जयनारायण तर्कपंचानन (325) ।

(viii) आचार्य अन्नंभट्ट एवं उनका तर्कसंग्रह 326
(a) तर्कसंग्रह की टीकाएँ 327

(b) तर्कसंग्रह का वैशेषिक दर्शन साहित्य में स्थान 328
(c) वैशेषिक दर्शन के प्रमुख सिद्धान्त 329
(क) सप्त पदार्थ **329–340**
(1) नवद्रव्य 330
(2) गुण 331
(3) कर्म 333
(4) सामान्य 334
(5) विशेष 336
(6) समवाय 337
(7) अभाव 338
(क) प्रागभाव 338
(ख) प्रध्वंसाभाव 538
(ग) अत्यन्ताभाव 439
(ग) अन्योन्याभाव 439
(ख) चतुर्विध प्रमाण 340–351
(a) **प्रत्यक्ष प्रमाण** 340
(क) निर्विकल्पक 341
(ख) सविकल्पक 341
(b) **अनुमान प्रमाण** 342
(क) अनुमान की पंचावयव प्रक्रिया 345
(ख) पक्ष, सपक्ष, विपक्ष का स्वरूप 345
(ग) त्रिविध कारण 346
(घ) त्रिविध लिंग 347
(c) **उपमान प्रमाण** 349
(d) शब्द प्रमाण 351
(ग) वाक्यार्थ ज्ञान के हेतु **351–352**
(क) आकांक्षा 351
(ख) योग्यता 351

(ग) सन्निधि 351
(घ) षड्विध सन्निकर्ष 352
(ङ) हेत्वाभास 354
(च) आत्मा 358
(छ) परमाणुवाद का सिद्धान्त 360
(ज) सृष्टि–प्रलय निरूपण 364

---

(5) मीमांसा दर्शन 369–430

(i) मीमांसा शब्द की निरुक्ति 369
(ii) मीमांसा शब्द की प्राचीनता 370
(iii) मीमांसा शास्त्र का स्वरूप 371
(iv) मीमांसा शब्द के पर्याय 372
(v) मीमांसा शास्त्र के प्रमुख सिद्धान्त 373
(vi) आचार्य जैमिनि के पूर्ववर्ती मीमांसकाचार्य 376
(क) बादरि (376) (ख) आत्रेय (377) (ग) लाबुकायन (377) (घ) ऐतशायन (377)
(vii) आचार्य जैमिनि एवं उनका मीमांसा सूत्र 378
(viii) मीमांसा सूत्र का प्रतिपाद्य विषय 379
(ix) आचार्य जैमिनि का जीवन वृत्त 383
(x) मीमांसा सूत्रों के वृत्तिकार 383
(a) आचार्य शबर स्वामी 383
(b) आचार्य भर्तृमित्र 384
(c) आचार्य कुमारिल भट्ट 385
(xi) आचार्य कुमारिल भट्ट की कृतियाँ 385
(a) श्लोक वार्तिक 385
(b) तन्त्र वार्तिक 386
(c) टुप्टीका 386
(xii) आचार्य प्रभाकर भट्ट 388

(xiii) उम्बेकाचार्य 388
(xiv) आचार्य मण्डनमिश्र 388
(xv) आचार्य वाचस्पति मिश्र 389
(xvi) पं. शालिक नाथ मिश्र 390
(xvii) पं. चन्द्रगुरु मताचार्य 390
(xviii) पं. हलायुध भट्ट 390
(xix) पं. सोमेश्वर भट्ट 390
(xx) पं. मुरारि मिश्र 391
(xxi) पं. सुचरित मिश्र 391
(xxii) आचार्य पार्थसारथि मिश्र एवं ग्रन्थ 391
(a) न्याय रत्नमाला 391
(b) शास्त्र दीपिका 392
(c) शास्त्र दीपिका की टीकाएँ 392
(xxiii) पं. परितोष मिश्र 392
(xxiv) पं. गंगाधर मिश्र 393
(1) चौदहवीं शती के मीमांसकाचार्य 393
(2) पंद्रहवीं शती के मीमांसकाचार्य 393
(3) सोलहवीं शती के मीमांसकाचार्य 393
(4) सत्रहवीं शती के मीमांसकाचार्य 394
(5) अट्ठारहवीं शती के मीमांसकाचार्य 396
(xxv) लौगाक्षिभास्कर 397
(अ) लौगाक्षिभास्कर का आपदेव से परवर्तीत्व पक्ष 398
(ब) लौगाक्षिभास्कर का आपदेव से पूर्ववर्तीत्व पक्ष 400
(स) **लौगाक्षिभास्कर की कृतियाँ** 402
(a) तर्ककौमुदी 402
(b) अर्थसंग्रह लिखने का प्रयोजन 404
(c) अर्थसंग्रह की टीकाएँ एवं व्याख्या ग्रन्थ 404
(d) कौमुदी टीका 405
(e) अर्थप्रतिपादिका टीका 405
(f) दीपिका टीका 406

(g) अर्थालोक टीका 406
(h) अन्य टीकाएँ 406
(i) अमला आदि 406
(J) अर्थसंग्रह में प्रतिपादित मीमांसा के सिद्धान्त 407
(1) उपोद्घात 407
(2) भावना 409
(3) शाब्दी भावना 410
(4) आर्थी भावना 410
(5) चोदना लक्षण 411
(6) विधि विभाग 412
(क) प्रथम विभाजन 414
(i) विधि 414
(ii) गुण–विधि 414
(iii) विशिष्ट–विधि 414
(ख) द्वितीय विभाजन 415
(i) उत्पत्ति विधि 415
(ii) विनियोग–विधि 415
(iii) प्रयोग–विधि 416
(क) प्रयोग विधि के क्रमबोधक प्रमाण 417
(ख) **अधिकार विधि** 417
(ग) तृतीय विभाजन 418
(i) अपूर्व विधि 419
(ii) नियम–विधि 419
(iii) परिसंख्या–विधि 419
(घ) श्रौती परिसंख्या 421
(ङ) लाक्षणिकी परिसंख्या 421
(i) मन्त्र 421
(ii) नामधेय 422
(iii) निषेध 424
(च) प्रथम वर्गीकरण 426

(i) विधिशेष अर्थवाद 426
(ii) निषेधशेष अर्थवाद 427
(छ) **द्वितीय वर्गीकरण** 427
(i) गुणवाद 427
(ii) अनुवाद 427
(iii) भूतार्थवाद 427
(xxvi) मीमांसा दर्शन में अर्थ–संग्रह का स्थान 428
(xxvii) अर्थसंग्रह में प्रयुक्त पारिभाषिक शब्द 429

---

(6) वेदान्त दर्शन 431–542

(i) वेदान्त दर्शन के मूल स्रोत 431
(ii) उपनिषदों में वेदान्त दर्शन 432
(iii) वेदान्त दर्शन के आचार्य एवं उनके ग्रन्थ **434–442**

(1) बादरायण (435) (2) आत्रेय (437) (3) आश्मरथ्य (437) (4) औडुलौमि(438) (5) कार्ष्णाजिनि (439) (6) काशकृत्स्न (439) (7) जैमिनि (440) (8) बादरि (441)

(iv) **आचार्य शंकर के पूर्ववर्ती वेदान्ताचार्य** **442–451**

(9) भर्तृप्रपंच (443) (10) भर्तृमित्र (444) (11) भर्तृहरि (445) (12) उपवर्ष (446) (13) बौधायन (447) (14) टंक (447)(15) ब्रह्मनन्दी (447)(16) ब्रह्मदत्त (448)(17) भारुचि (448) (18) द्रविड़ (449) (19) गौड़पाद (450) (20) गोविन्दपाद (451)

(v) **आचार्य शंकर के परवर्ती वेदान्ताचार्य** **451–474**

(21) शंकराचार्य (551) (22) पद्मपाद (455) (23) मण्डनमिश्र (456) (24) सर्वज्ञात्ममुनि (456) (25) वाचस्पति मिश्र (457) (26) श्रीकृष्ण मिश्र यति (458) (27) प्रकाशात्मयति (458) (28) अद्वैतानन्द (459) (29) श्रीहर्ष मिश्र (459) (30) आनन्दबोध (460) (31) अमलानन्द (460) (32) चित्सुखाचार्य (461) (33) शंकरानन्द (461) (34) विद्यारण्यमुनि (462) (35) आनन्दगिरि (463) (36) प्रकाशानन्दाचार्य (464) (37) मल्लनाराध्य (464) (38) नृसिंहाश्रम (464) (39)

रंगराजाध्वरि (465) (40) अप्पयदीक्षित (466) (41) भट्टोजिदीक्षित (467) (42) सदाशिव ब्रह्मेन्द्र (468) (43) नीलकण्ठसूरि (468) (44) सदानन्द योगीन्द्र (468) (45) नृसिंह सरस्वती (469) (46) रामतीर्थ (469) (47) आपदेव (469) (48) मधुसूदन सरस्वती (470) (49) धर्मराज अध्वीन्द्र (471) (50) गोविन्दानन्द (471) (51) रामानन्द सरस्वती (471) (52) सदानन्द यति (472) (53) ब्रह्मानन्द सरस्वती (472) (54) अच्युत कृष्णानन्द (472) (55) महादेव सरस्वती (473) (56) सदाशिवेन्द्र सरस्वती (473) (57) आयन्न दीक्षित (473)

(vi) **वेदान्दर्शन के प्रमुख सिद्धान्त** 474

(a) ब्रह्म 474

(b) आत्मा 479

(c) माया /अज्ञान 481

(क) अज्ञान के भेद 485

(ख) अज्ञान की शक्तियाँ 485

(d) ईश्वर 487

(e) जीव 489

(क) जीव की चार अवस्थाएँ 491

(f) जगत् 492

(g) शरीरत्रय 494

(क) कारण शरीर 494

(ख) सूक्ष्म शरीर 494

(ग) स्थूल शरीर 499

(h) पंचकोश 500

(i) पंचीकरण की प्रक्रिया 502

(j) त्रिवृत्करण 503

(k) प्रमाण 504

(क) प्रत्यक्ष प्रमाण 505

(ख) अनुमान प्रमाण 506

(ग) उपमान प्रमाण 508

(घ) आगम (शब्द) प्रमाण 509

(ङ) अर्थापत्ति प्रमाण 510
(च) अनुपलब्धि (अभाव) प्रमाण 513
(l) कार्यकारण सिद्धान्त 513
(m) समष्टि–व्यष्टि सिद्धान्त 515
(n) सत्ता के त्रिविधरूप 518
(o) जीव की अवस्थाएँ 519
(p) सृष्टि–प्रक्रिया 522
(q) अध्यारोप अपवाद 525
(r) सविकल्पक निर्विकल्पक समाधि 527
(s) जीवनमुक्त का लक्षण 529
(t) आत्म विषयक विभिन्न मत 532
(u) अरुन्धती न्याय 535
(v) महावाक्य 536
(क) तत्त्वमसि 537
(ख) अहं ब्रह्मास्मि 541

(च) नास्तिक दर्शन

(1) चार्वाक दर्शन 543–552

(1) चार्वाक दर्शन का उद्भव एवं विकास 543
(2) चार्वाक से अभिप्राय 543
(3) चार्वाक मत के उल्लेख 544
(4) विभिन्न ग्रन्थों में उल्लिखित चार्वाक सूत्र 546
(5) चार्वाक की श्रेणियाँ 546
(6) चार्वाक के प्रमुख सिद्धान्त 547
(7) समीक्षा 551
(8) चार्वाक का सारसंक्षेप 552

(2) जैन दर्शन 553—588

(1) जैन दर्शन का उद्भव एवं विकास 553

(2) जैन धर्म के प्रमुख सम्प्रदाय 555

(3) जैन धर्म में प्रमुख आचार—विचार 556

(4) **जैन दर्शन के प्रमुख विद्वान्** 557

(5) जैन दर्शन का मूलाधार 558

(6) जैन दर्शन में सत् की स्थिति 559

(7) जैन दर्शन में द्रव्य 560

(8) जैन दर्शन में जीव का स्वरूप 561

(9) जैन दर्शन में जीव की सत्ता के प्रमाण 562

(10) जैन दर्शन में चैतन्य 563

(11) जैन दर्शन में कर्म—सिद्धान्त 563

(12) जैन दर्शन में कर्म, आस्रव, निर्जरा 565

(13) जैन दर्शन में पुद्गल 567

(14) जैन दर्शन में धर्म, अधर्म, आकाशास्तिकाय 568

(15) जैन दर्शन में काल एवं समय 569

(16) जैन दर्शन में सप्तपदार्थ 570

(17) जैन दर्शन में मोक्ष 572

(18) जैन दर्शन में ज्ञान, प्रमाण एवं भेद 573

(19) जैन दर्शन में स्याद्वाद 577

(20) जैन दर्शन का व्यावहारिक पक्ष अष्टांग योग 579

(21) जैन दर्शन में महाव्रत, अणुव्रत 581

(22) जैन दर्शन में अहिंसा 581

(23) जैन दर्शन में त्रिरत्न 583

(24) जैन दर्शन में ध्यानयोग 584

(25) जैन दर्शन में कषाय, पुनर्जन्म 586

(26) जैन दर्शन में दस धर्म 587

(27) जैन दर्शन में सृष्टि 588

(3) बौद्ध दर्शन 589--652

(i) बौद्धदर्शन के मूल स्रोत 589

(ii) गौतम बुद्ध का जीवन 589

(iii) बौद्धदर्शन के प्रमुख ग्रन्थ 591

(iv) बौद्धदर्शन के सम्प्रदाय 593

(v) बौद्धदर्शन की शाखाएँ 607

(vi) **बौद्धदर्शन के प्रमुख सिद्धान्त** 608

(vii) बौद्धदर्शन का शून्यवाद एवं विज्ञानवाद 626

(क) शून्यवाद के कृतिकार एवं कृतियाँ 627

(ख) शून्यवाद का उद्भव एवं विकास 628

(viii) विज्ञानवाद के प्रवर्तक एवं लेखक 632

(क) विज्ञानवाद के सिद्धान्त 635

(ix) बौद्धदर्शन में निर्वाण की प्रक्रिया 638

(x) बोधिसत्त्वों के चतुर्विध ज्ञान 640

(xi) बोधिसत्त्वों के चतुर्विध ध्यान 640

(xii) बौद्धों में तर्कशास्त्र का उद्भव 642

(xiii) बौद्धदर्शन में प्रमाण 642

(xiv) बौद्धों का अर्थक्रियाकारिता का सिद्धान्त 646

(xv) बौद्धदर्शन व अन्य दर्शनों की मान्यताएँ 647

(xvi) बौद्धचिन्तन का क्रमिक विकास 649

(xvii) बौद्ध मान्यताओं का अन्य दर्शनों द्वारा खण्डन 651

(छ) **परिशिष्ट** 653--668

(i) डायग्राम सूची 653

(ii) पुस्तक में प्रयुक्त व अन्य डायग्राम्स 657

(छ) **सहायक ग्रन्थ सूची** 669--672

●●●

।। श्रीः ।।

उपोद्घात

(i) **दर्शन से अभिप्राय–** 'दर्शन' शब्द 'दृशिर् प्रेक्षणे' अर्थ में प्रयुक्त √दृश् (देखना) धातु से 'ल्युट्' प्रत्यय करके निष्पन्न होता है।[1] 'दृश्यतेऽनेन, इति, दर्शनम्' अथवा 'दृश्यते यत् तद्दर्शनम्' इस व्युत्पत्ति के अनुसार– 'जिसके द्वारा देखा जाए' या 'जो देखा जाए' वही दर्शन है। यहाँ देखने से अभिप्राय– 'वास्तविकता का अवलोकन करने से है।' कहने का तात्पर्य यही है कि– वस्तु के सत्यभूत तात्त्विक स्वरूप का अवलोकन करना ही 'दर्शन' है। हम कौन हैं? हमारा आगमन कहाँ से हुआ है? इस दृश्यमान जगत् का वास्तविक स्वरूप क्या है ? सृष्टि का मूल कारण क्या है? यह चेतन है अथवा अचेतन ? इस संसार में हमारे द्वारा किए जाने वाले क्या–क्या कार्य हैं? हमारे जीवन का क्या लक्ष्य है? आदि प्रश्नों का उत्तर प्रदान करना ही और वह भी सत्यरूप में, 'दर्शन' का प्रमुख उद्देश्य है। दूसरे शब्दों में– 'वह विद्या जिसके द्वारा संसार के अद्भुत सत्यों की खोज की जाए अथवा जीवन के गहन सत्यों को खोजने का प्रयत्न करें, वही दर्शन है।'

डॉ. राधाकृष्णन् के अनुसार– 'दर्शन' शब्द का प्रयोग अत्यन्त सोच–विचार के बाद उस विचारपद्धति के लिए किया गया, जिसकी प्राप्ति तो अन्तर्दृष्टिजन्य अनुभव से होती है, पर जिसकी पुष्टि तार्किक प्रमाणों द्वारा की जाती है। दर्शन शब्द का तात्पर्य है– 'यथार्थ सत्ता की वैज्ञानिक व्याख्या', यह ऐसा शब्द है, जो अपनी सुन्दर अस्पष्टता

---

[1]. √दृश+ ल्युट् दर्शनम्।

के कारण दर्शनशास्त्र की समस्त जटिल प्रेरणा की व्याख्या के लिए उपयुक्त है।[1]

यद्यपि आज 'फिलॉसफी' शब्द 'दर्शन' के लिए प्रयुक्त हो रहा है, किन्तु इन दोनों में पर्याप्त अन्तर है। 'फिलॉसफी' शब्द का अर्थ है– विद्या का प्रेम अथवा विद्यानुराग, जो ग्रीक शब्द 'फिलास–प्रेम' अथवा अनुराग एवं 'सोफिया–विद्या' से मिलकर बना है। यह शब्द सर्व प्रथम ग्रीक देश में ही प्रचलित हुआ। पाश्चात्य दार्शनिक सुकरात ने इसका उपयोग करते हुए स्वयं को फिलॉसफर ज्ञान के प्रति अनुराग करने वाला अथवा ज्ञान प्राप्ति के लिए प्रयत्नशील बताया।

उस समय जो विद्वान् जीव, जगत्, ईश्वर, धार्मिक अथवा सामाजिक तत्त्वों की छानबीन करने का प्रयास करते थे, उनके लिए, 'फिलॉसफर' शब्द का प्रयोग होता था। आरम्भ में इसके अन्तर्गत विज्ञान भी आता था, किन्तु आजकल पाश्चात्य देशों में दर्शन तथा विज्ञान को अलग–अलग कर दिया गया है। तदनुसार इस संसार में स्थित विभिन्न विषयों के विशिष्ट अध्ययन को विज्ञान कहा गया।[2]

जैसे– भौतिक–विज्ञान, रसायन–विज्ञान, ज्योतिष–शास्त्र, किन्तु अलग–अलग विज्ञानों द्वारा उद्‌घाटित सत्यों का एकीकरण ही 'फिलॉसफी' का विषय है। इसी कारण प्रत्येक विषय का अपना 'दर्शन' होता है, किन्तु दोनों के स्वरूप एवं ध्येय में अत्यधिक अन्तर है। इन दोनों शब्दों के अन्तर को आचार्य बलदेव उपाध्याय ने अत्यन्त सुन्दर शब्दों में इसप्रकार प्रदर्शित किया है– 'फिलॉसफी' कल्पना–कुशल कोविदों के मनोविनोद का साधनमात्र है। जगती तल की अपूर्व, आश्चर्य मय वस्तुओं को देखकर उनके रहस्यों को जानने के लिए, कौतुक को शान्त करने के लिए 'फिलॉसफी' की उत्पत्ति बताई जाती है। पश्चिम का तत्त्वज्ञ उस नाविक के समान होता है, जो गन्तव्य

---

[1]. भारतीय दर्शन, भाग–1, डॉ. राधाकृष्णन्, पृष्ठ– 38 ।

[2]. भारतीय दर्शन, पं. बलदेव उपाध्याय, 1975, पृष्ठ– 4 ।

स्थान के निर्धारण के अभाव में ही अपनी नौका विचार–सागर में डाल देता है। उसे इसकी चिन्ता नहीं होती कि नाव किस घाट लगेगी, अगर वह मीरघाट पर अटक रही हो तो भी खुशी है, तीरघाट पर लग जाए तो भी आनन्द है।'

'इसके विपरीत भारतीय दर्शनकार दुःखत्रय– आध्यात्मिक, आधिभौतिक, तथा आधिदैविक के रात–दिन के विघात से उद्विग्न होकर, इन सभी के आमूल उच्छेद करने की भावना से प्रेरित होता है।. ... प्रत्येक दर्शन के कर्ता का मार्ग तथा गन्तव्य यथार्थतः विवेचित तथा निर्दिष्ट है। उसे अपने मार्ग से भटकने का तनिक भी डर नहीं है। अतः भारतीय–दार्शनिक की दृष्टि पाश्चात्य–दार्शनिक की अपेक्षा कहीं अधिक व्यावहारिक, लोकोपकारिणी, सुव्यवस्थित तथा सर्वांगीण होती है।'[1]

(ii) **भारतीय–दर्शन का उद्भव एवं विकास**– दर्शन का उद्भव प्रथमतः कब एवं कहाँ हुआ? यह कहना अत्यन्त कठिन है। प्रायः विद्वानों ने संशय अथवा जिज्ञासा से दर्शन की उत्पत्ति स्वीकार की है।[2] इसके मूल में व्यक्ति के सुख–प्राप्ति एवं दुःख–विनाश की इच्छा ही प्रबल प्रतीत होती है, जहाँ तक भारतीय–दर्शन का सम्बन्ध है, इसकी उत्पत्ति स्पष्टरूप से वेद से स्वीकार की जा सकती है, क्योंकि वहाँ हमें आत्मा, परमात्मा, सृष्टि–उत्पत्ति, मृत्यु, पुनर्जन्म एवं 'मोक्ष' आदि दार्शनिक विषयों का गहन–चिन्तन परिलक्षित होता है, जिसे विद्वानों ने **वैदिक–काल** संज्ञा प्रदान की है, जिसका हम यहाँ संक्षेप में विवेचन प्रस्तुत कर रहे हैं–

(अ) **वैदिककाल**–इस सम्बन्ध में ऋग्वेद के 'पुरुष'[3], 'नासदीय'[1] एवं 'हिरण्यगर्भ'[2] ये तीन सूक्त विशेष रूप से उल्लेखनीय हैं।

---

[1]. भारतीय–दर्शन, आचार्य बलदेव उपाध्याय–उपोदघात् पृष्ठ– 5 ।

[2]. अथातो ब्रह्मजिज्ञासा ब्रह्मसूत्र । अथातो धर्मजिज्ञासा, मीमांसासूत्र।

[3]. ऋग्वेद–10/90 ।

नासदीय सूक्त[3] में सृष्टि उत्पत्ति से पूर्व की अवस्था एवं उसके रचनाक्रम का कथन किया गया है। जो भारतीय–दार्शनिक चिन्तन का मूल आधार है। तदनुसार– 'उस समय न सत् था, न असत् था, न जन्म था, न मृत्यु थी, न दिन था, न रात थी, एकमात्र सर्वशक्तिमान् परमेश्वर, अन्तश्चेतना के साथ निर्वात अवस्था में शान्तरूप से विद्यमान था–

न मृत्युरासीदमृतं न तर्हि न रात्र्या अह्न आसीत्प्रकेतः।
आनीदवातं स्वधया तदेकं तस्माद्धान्यन्न पुरः किं चनास।।[4]

इसीप्रकार हिरण्ययगर्भ सूक्त[5] में भी सृष्टि की उत्पत्ति का वर्णन विस्तार से किया गया है। तद्नुसार सर्वप्रथम यह हिरण्यगर्भ परमात्मा ही था। वही उत्पन्न हुए सभी पदार्थों का स्वामी था। उसी ने पृथ्वी एवं द्युलोक को धारण किया हुआ है–

हिरण्यगर्भः समवर्तताग्रे भूतस्य जातः पतिरेक आसीत्।
स दाधार पृथिवीं द्यामुतेमां कस्मै देवाय हविषा विधेमा।।[6]

ऋग्वेद के पुरुषसूक्त[7] में आदि एवं विराट् पुरुष के रूप में परमात्मा के स्वरूप का वर्णन करने के साथ–साथ सृष्टि–उत्पत्ति के स्वरूप का भी कथन किया गया है। तदनुसार– जो कुछ भी वर्तमान में है, भूतकाल में था और भविष्य में होगा। वह सब पुरुष परमात्मा ही है। उस आदिपुरुष से विराट और अधिपुरुष की उत्पत्ति हुई, तत्पश्चात् उसी से सम्पूर्ण सृष्टि की रचना हुई–

पुरुष एवेदं सर्वं यद्भूतं यच्च भव्यम्।

---

[1]. ऋग्वेद– 10/129 ।
[2]. ऋग्वेद– 10/121 ।
[3]. ऋग्वेद– 10/129 ।
[4]. ऋग्वेद– 10/129/2 ।
[5]. ऋग्वेद– 10/121 ।
[6]. ऋग्वेद– 10/121/1 ।
[7]. ऋग्वेद– 10/190 ।

उतामृतत्वस्येशानो यदन्नेनातिरोहति।।[1]

इसके अतिरिक्त यहाँ मृत्यु के पश्चात् जीव की गति एवं पुनर्जन्म के विषय में[2] तथा 'मोक्ष' के सम्बन्ध में भी पर्याप्त उल्लेख हुआ है। ऋग्वेद के मन्त्रों में अनेकशः 'मोक्ष' की कामना की गई है–

ये यज्ञेन दक्षिणया समस्ता इन्द्रस्य सख्यममृतत्वमानश।

तेभ्यो भद्रमांगिरसो वो अस्तु प्रति गृभ्णीत मानवं समेधसः।।[3]

इसीप्रकार के कुछ दार्शनिक तत्त्वों, मूल उद्भावनाओं के संकेत हमें अथर्ववेद आदि अन्य संहिता ग्रन्थों में भी उपलब्ध होते हैं। बीज रूप में विद्यमान, इन्हीं संकेतित तत्त्वों का विकास ब्राह्मण–ग्रन्थों एवं आरण्यकों में भी परिलक्षित होता है। यही आगे चलकर उपनिषदों में पूर्णरूप से पुष्पित एवं पल्लवित होकर वृक्षरूप में दृष्टिगोचर हुआ है।

इस समय को विद्वानों ने भारतीय–दर्शन के विकास की दृष्टि से **वैदिक–काल** की संज्ञा प्रदान की है। उपनिषदों में प्रतिपादित दार्शनिक विचारों के अध्ययन से इतना तो निश्चितरूप से कहा जा सकता है कि उपनिषद्कारों ने चरमतत्त्व का साक्षात्कार करते हुए निश्चय ही उसका अनुभव किया था। इसी कारण उनके वर्णनों में हमें तलस्पर्शिता, रोचकता, सरलता एवं स्वाभाविकता के दर्शन होते हैं।

यद्यपि प्रायः सभी उपनिषद् दार्शनिक भावों से परिपूर्ण हैं, तथापि यहाँ यह विवेचन व्यवस्थित नहीं हुआ है। हाँ, इसमें भाव की प्रधानता अवश्य दृष्टिगोचर होती है। इन्हीं ब्राह्मण एवं उपनिषदों के आधार पर कालान्तर में अनेक प्रस्थानों में भारतीय–दर्शन का विकास हुआ, जिसे सुविधा की दृष्टि से तीन भागों में बाँटा जा सकता है।

(ब) उत्तर वैदिककाल

(ब) सूत्रकाल

---

[1]. ऋग्वेद– 10/90/2।

[2]. ऋग्वेद– 8/126/6।

[3]. ऋग्वेद– 9/113/7।

(स) वृत्तिकाल

(ब) उत्तर वैदिककाल– इसे वैदिकधर्भ के विरोध का काल भी कहा जा सकता है। उपनिषद्काल में जो वेदविरोधी स्वर हमें अस्पष्ट परिलक्षित होता है, इस युग के बीतते–बीतते वह हमें स्पष्टरूप में सुनाई पड़ने लगता है, जिसके परिणामरवरूप चार्वाक, जैन एवं बौद्ध–दर्शनों का आविर्भाव दार्शनिक जगत् में हुआ। इनमें भी जैन एवं बौद्ध–दार्शनिक सदैव आस्तिक–दर्शनों के प्रबल विरोधी रहे, जबकि 'चारुवाक्' रूप चार्वाक की स्थिति को और भी पहले स्वीकार किया जा सकता है। कुल मिलाकर दार्शनिक दृष्टि से इस युग की सबसे बड़ी देन जैन एवं बौद्ध–दर्शन को स्वीकार किया जा सकता है।

(स) सूत्रकाल– उपनिषदों में प्रतिपादित तथ्यों के आधार पर विभिन्न आचार्यों ने इसी युग में अलग–अलग मतों की स्थापना की। इस दृष्टि से इस काल में न्याय–वैशेषिक, सांख्य–योग, मीमांसा और वेदान्त दर्शनों के मूलग्रन्थों की रचना की गई, जिन्हें सूत्र–ग्रन्थों के रूप में भी जाना जाता है, यद्यपि इन सूत्र–ग्रन्थों में प्रतिपादित विचार हमें बहुत पहले के उपलब्ध साहित्य में मिलते हैं तथापि यह समय, इन्हें व्यवस्थितरूप प्रदान करने का रहा है। आचार्य बलदेव उपाध्याय ने इस समय को 400 विक्रमसंवत् पूर्व से 200 विक्रम संवत् पूर्व तक माना है।[1]

प्राचीनकाल में लिखने की सुविधा अथवा परम्परा न होने से सभी दर्शनों के सिद्धान्तों को प्रायः मौखिकरूप से ही जाना जाता था। उन सभी को विभिन्न आचार्यों ने संक्षिप्तरूप में सूत्र–ग्रन्थों में निबद्ध कर दिया। इस दृष्टि से **'आचार्य गौतम'** ने न्याय–दर्शन के प्रारम्भिक ग्रन्थ 'न्याय–सूत्र' का, **'महर्षि कणाद'** ने वैशेषिक–दर्शन के ग्रन्थ **'वैशेषिक–सूत्र'** का, **'आचार्य जैमिनि'** ने मीमांसा–दर्शन के ग्रन्थ 'मीमांसा–सूत्र' का एवं **'आचार्य बादरायण'** ने वेदान्त–दर्शन के प्रसिद्ध

---

[1]. भारतीय दर्शन, आचार्य बलदेव उपाध्याय, पृष्ठ–19 ।

ग्रन्थ 'ब्रह्मसूत्र' का, **महर्षि कपिल** ने 'सांख्यदर्शन' के ग्रन्थ 'सांख्यसूत्र' का तथा **'महर्षि पतंजलि'** ने योगदर्शन के ग्रन्थ 'योगसूत्र' का प्रणयन किया और ये ही ग्रन्थ सभी दर्शनों के आद्यग्रन्थ रूप में प्रचलित हुए तथा आगे आने वाले आचार्यों ने इन्हीं ग्रन्थों का खण्डन–मण्डन अथवा परिष्कार अपने टीका, व्याख्या अथवा वार्तिक ग्रन्थों में किया।

(द) **वृत्तिकाल–** सूत्रकाल में विरचित सूत्रग्रन्थों में उल्लिखित सूत्र अत्यन्त संक्षिप्त एवं सारगर्भित होने के कारण अत्यन्त दुर्बोध थे। इनका अर्थ विद्वान् व्यक्ति के लिए भी समझना कठिन था, फिर सामान्य व्यक्ति की तो बात ही क्या? अतः सूत्रों की व्याख्या के लिए टीकाओं की आवश्यकता अनुभव की गई। इसलिए इस काल में अनेक टीकाकारों का आविर्भाव हुआ, जिनमें न्यायसूत्र पर **'वात्स्यायन–भाष्य'** की, वैशेषिक–सूत्र पर **'प्रशस्तपाद–भाष्य'** की, सांख्यसूत्र पर 'विज्ञान–भिक्षु' के **'सांख्य–प्रवचन भाष्य'** की, 'योगसूत्र' पर **'व्यास–भाष्य'** की, मीमांसासूत्र पर **'शबरभाष्य'** की तथा 'ब्रह्मसूत्र' पर **'शांकरभाष्य'** की संरचना की गई।

इसके अतिरिक्त भी प्रत्येक दर्शन में अनेक आचार्यों ने अपनी–अपनी व्याख्याएँ एवं टीकाएँ लिखीं, जिनका संक्षिप्त उल्लेख 'प्रमुख भारतीय–दर्शन' शीर्षक के अन्तर्गत आगे किया जाएगा। यहाँ तो केवल इतना जानना आवश्यक है कि इस युग में विद्वान् आचार्यों द्वारा जो भी भाष्य, वार्तिक तथा टीकाग्रन्थ लिखे गए, उन सभी की रचना, तत्तत् दर्शन के सूत्र–ग्रन्थों में प्रतिपादित रहस्यों को समझाने के लिए ही की गई।

किन्तु टीकाकार होने के कारण मौलिकता की दृष्टि से इन आचार्यों का और इनके ग्रन्थों का महत्त्व लेशमात्र भी कम नहीं रहा, अपितु उस–उस दर्शन के सिद्धान्तों को समझने एवं उसके प्रचार–प्रसार में इनका महत्त्वपूर्ण योगदान स्वीकार किया जा सकता है। इतना ही नहीं, इनके ग्रन्थ मूल लेखकों के समान ही विद्वानों में

प्रामाणिक माने गए तथा प्रशंसनीय भी रहे, क्योंकि इनकी सहायता से ही प्राचीन आचार्यों के मतों का रहस्योद्घाटन होता है। तार्किक युक्तियों द्वारा प्रतिपक्षी के मत का खण्डन करना, इस काल की महत्त्वपूर्ण विशेषता रही है। इस काल को विद्वानों ने 300 विक्रम संवत् से 1500 विक्रम संवत् तक स्वीकार किया है।[1]

उपर्युक्त विवरण के आधार पर भारतीय–दर्शन के उद्भव एवं विकास को संक्षेप में इसप्रकार भी प्रदर्शित किया जा सकता है–
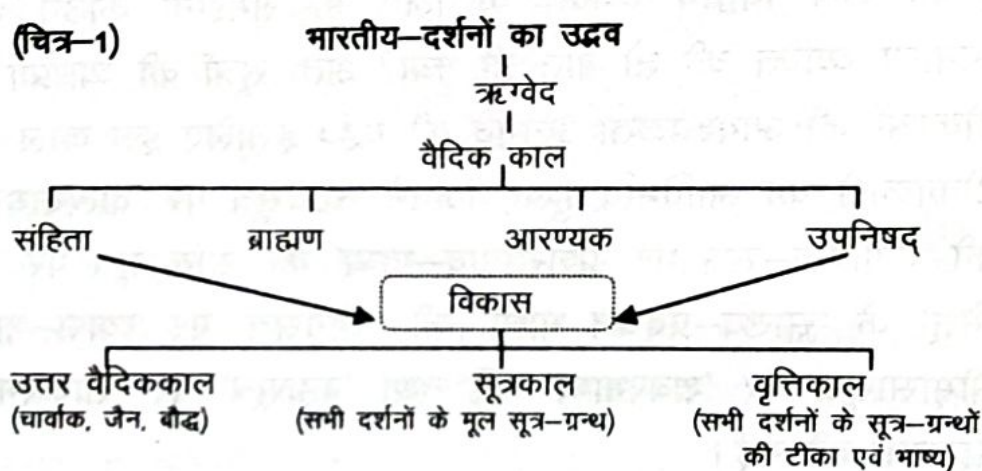
(iii) **भारतीय–दर्शन एक परिचय**– जैसा कि हम पूर्व में उल्लेख कर चुके हैं। सम्पूर्ण भारतीय–दर्शन परम्परा को हम मुख्यरूप से दो भागों में विभाजित कर सकते हैं– 'आस्तिक' एवं 'नास्तिक'। इनमें भी वेदों को प्रामाणिकरूप से स्वीकार करने वाले 'दर्शन' आस्तिक दर्शनों की श्रेणी में आते हैं, जबकि जिस चिन्तन में वेदों की प्रामाणिकता को स्वीकार नहीं किया गया है, उन्हें यहाँ 'नास्तिक' दर्शनों की संज्ञा प्रदान की गयी।

इस आधार पर जैन, बौद्ध, चार्वाक ये तीन दर्शन नास्तिक–दर्शनों की कोटि में रखे गए, जबकि सांख्य–योग, न्याय–वैशेषिक, पूर्व मीमांसा एवं उत्तर मीमांसा (वेदान्त), ये छः दर्शन वेदों को प्रमाणरूप में स्वीकार करने के कारण आस्तिक कहे गए। इन सभी आस्तिक–

---

[1]. भारतीय–दर्शन, आचार्य बलदेव उपाध्याय, पृष्ठ– 19 ।

नास्तिक दर्शनों को चित्र के माध्यम से हम संक्षेप में इसप्रकार भी समझ सकते हैं–

(चित्र–2)
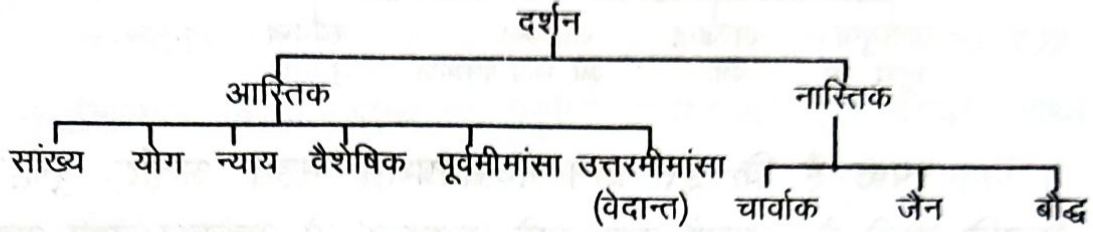
यद्यपि इन दर्शनों के विषय में आगे विस्तार से विचार करेंगे, किन्तु प्रसंग प्राप्त इन सभी दर्शनों का अत्यन्त संक्षेप में परिचय प्रस्तुत कर रहे हैं, जिससे पाठक इन्हें सरलरूप से हृदयंगम कर सकें–

(अ) **आस्तिक दर्शन–** इन दर्शनों की आस्तिकता का मुख्य आधार वेद में आस्था व्यक्त करना रहा है।

(क) सांख्य–दर्शन– महर्षि कपिल इसके प्रवर्तक आचार्य हैं। पुरुष और प्रकृति इन दो तत्त्वों को यहाँ 'नित्य' माना गया है। इसलिए इसे **द्वैतवादी दर्शन** भी कहते हैं। **'पुरुष'** यहाँ चेतन और प्रकाशस्वरूप है, जबकि सत्त्व, रजस् तथा तमस् की साम्यावस्था का नाम **'प्रकृति'** है, जिसे यहाँ **'जड़ात्मिका'** कहा गया है। चेतन पुरुष का प्रकाश, जब इस जड़ात्मिका प्रकृति के ऊपर पड़ता है, तो ये तीनों गुण एक दूसरे को दबाने लगते हैं, जिसके परिणामस्वरूप सृष्टि का प्रादुर्भाव होता है।

इस सांख्यदर्शन में बतायी गयी सम्पूर्ण सृष्टिप्रक्रिया को हम संक्षेप में इसप्रकार भी समझ सकते हैं–

(चित्र–3)
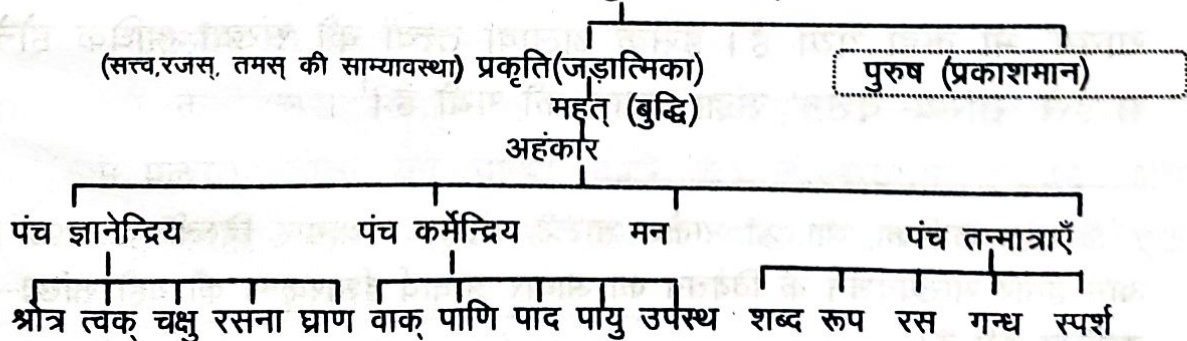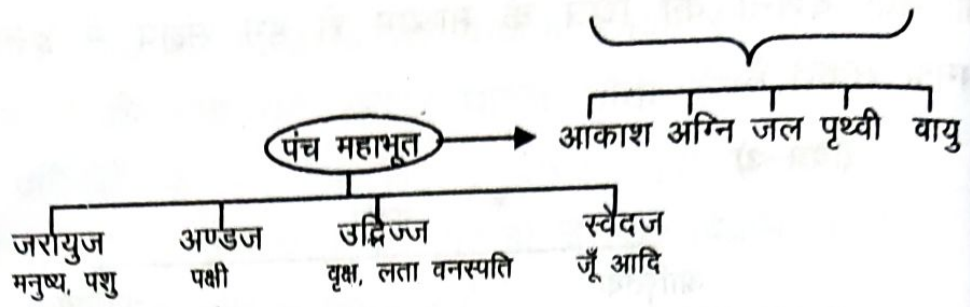
स्पष्ट है कि इस क्रम में सर्वप्रथम 'महत्' अर्थात् 'बुद्धि' की उत्पत्ति होती है। उसके बाद इसी 'महत्तत्व' से अहंकार तथा अहंकार से पंच ज्ञानेन्द्रियाँ (श्रोत्र, त्वक्, चक्षु, रसना और घ्राण) तथा पंच कर्मेन्द्रियाँ (वाक्, पाणि, पाद, पायु और उपस्थ) एवं पंच तन्मात्राएँ (शब्द, रूप, रस, गन्ध और स्पर्श) तथा सोलहवाँ 'मन' इन सभी की उत्पत्ति होती है। तत्पश्चात् शब्द, स्पर्श, रूप, रस और गन्ध नामक पंच तन्मात्राओं से क्रमशः आकाश, वायु, अग्नि, जल और पृथ्वी, इन पंच महाभूतों की सृष्टि होती है, जिनसे जरायुज, अण्डज, उद्भिज्ज, स्वेदज आदि चार प्रकार की सृष्टि उत्पन्न होती है। इसप्रकार यह दर्शन कुल पच्चीस तत्त्वों के 'सम्यक्–ज्ञान' द्वारा ही व्यक्ति के 'मोक्ष' को प्राप्त करने की बात करता है।

ज्ञान–प्राप्ति के लिए यहाँ प्रत्यक्ष, अनुमान और शब्द, इन तीन ही प्रमाणों को स्वीकृति प्रदान की गयी है। 'सत्कार्यवाद' इस दर्शन का महत्त्वपूर्ण सिद्धान्त है, जो कारण में कार्य की उपस्थिति को पूर्व में ही स्वीकार करता है। इसके अलावा यह दर्शन 'पुरुष–बहुत्व' को भी मानता है, इसके अनुसार प्रत्येक शरीर में अनेक पुरुषों की सत्ता विद्यमान है। 'ईश्वर' की सत्ता को न मानने के कारण इसे 'निरीश्वर सांख्य' भी कहा गया है। इसके अलावा तत्त्वों की संख्या अधिक होने से इसे 'सांख्य–दर्शन' संज्ञा प्रदान की गयी है।[1]

---

[1]. सांख्यकारिका, व्या. डॉ. राकेश शास्त्री, संस्कृत ग्रन्थागार, दिल्ली–7, 1998 । आगे हमारे सांख्यदर्शन के विवेचन का आधार आचार्य ईश्वरकृष्ण की यही सांख्य–कारिका रही है।

आसुरि, पंचशिख, विन्ध्यवासी, जैषीषव्य, वार्षगण्य आदि इस दर्शन के प्रमुख आचार्य एवं सांख्यसूत्र, षष्टितन्त्र, अर्वाचीन सांख्य–सूत्र और समाससूत्र, इसके प्रसिद्ध ग्रन्थ हैं, किन्तु इन सभी में सर्वाधिक लोकप्रिय आचार्य ईश्वरकृष्ण विरचित 'सांख्यकारिका' रही है, जिसपर गौडपादभाष्य, माठरवृत्ति, जयमंगला, युक्तिदीपिका तथा आचार्य वाचस्पति मिश्र की सांख्यतत्त्वकौमुदी आदि प्रमुख टीकाएँ हैं, जिनका उल्लेख सांख्यदर्शन प्रकरण में किया गया है।

(ख) **योग–दर्शन–** यद्यपि इसका विस्तृत अध्ययन हम आगे करेंगे, किन्तु प्रसंगवश संक्षेप में, इतना ही जानना आवश्यक है कि– **महर्षि पतंजलि** इस दर्शन के प्रणेता आचार्य हैं। इसे सभी दर्शनों में सर्वाधिक प्राचीन माना गया है। इसके ऊपर **'व्यासभाष्य'** को विद्वानों ने सर्वाधिक प्रामाणिक टीका ग्रन्थों में माना है।[1] इसी के ऊपर आचार्य वाचस्पतिमिश्र की 'तत्त्ववैशारदी' तथा आचार्य विज्ञानभिक्षु की 'योग–वार्तिक' नामक दो प्रसिद्ध टीकाएँ उपलब्ध हैं।

यह दर्शन वस्तुतः सांख्य के सिद्धान्तों को ही स्वीकार करता है, अन्तर केवल इतना है कि यह 'ईश्वर' की सत्ता को मानता है, जबकि सांख्य इसे मान्यता प्रदान नहीं करता है। इसी कारण कुछ विद्वानों ने इसे **'सेश्वर सांख्य'** की संज्ञा भी प्रदान की है। योगसूत्र में योग के आठ अंगों का उल्लेख किया गया है। तदनुसार– यम, नियम, आसन, प्राणायाम, प्रत्याहार, धारणा, ध्यान और समाधि, इन आठ अंगों के निरन्तर अभ्यास से साधक के चित्त में स्थित पाँच प्रकार की विपरीत वृत्तियाँ– प्रमाण, विपर्यय, विकल्प, निद्रा और स्मृति स्वतः ही विलीन हो जाती हैं।

उस स्थिति में चित्त की एकाग्रता से साधक को **'कैवल्य'** अर्थात् 'मोक्ष' की प्राप्ति होती है। उल्लेखनीय है कि श्रीमद्भगवद् गीताकार तथा वैदिक साहित्य में सांख्ययोग दोनों को ही एक दर्शन

---

[1]. योगसूत्र– डॉ.राकेश शास्त्री, चौखम्भा ओरियन्टालिया, दिल्ली, 2020।

माना गया है। अपने व्यावहारिक पक्ष की प्रबलता के कारण 'योग-दर्शन' अपेक्षाकृत अधिक लोकप्रिय हुआ है।

(ग) **न्याय-दर्शन-** इसके प्रवर्तक आचार्यों में महर्षि गौतम का नाम प्रमुखरूप से आता है। तर्क पर आधारित होने के कारण इसे बुद्धि को तीक्ष्ण करने वाला माना गया है। यही कारण है कि इसके लिए **'आन्वीक्षिकी'** शब्द का प्रयोग भी हुआ। प्रत्यक्ष आदि प्रमाणों के माध्यम से यहाँ 'पदार्थ' की समीक्षा की गयी। इसीलिए यह दर्शन प्रमाण-प्रधान दर्शनों की श्रेणी में रखा गया। यहाँ कुल सोलह पदार्थों को मान्यता प्रदान की गयी है। यह आत्मा को गुणों का आश्रय मानता है। इसके मत में-

'आत्मा, शरीर, इन्द्रिय, अर्थ, बुद्धि, मन, प्रवृत्ति, दोष, प्रत्यभाव, फल, दुःख और अपवर्ग, ये सभी जानने योग्य (प्रमेय) विषय हैं। यह दर्शन संसार की सत्ता में, परमाणु को 'समवायी कारण' तथा 'ईश्वर' को निमित्तकारण मानता है, जबकि आगम-प्रमाण के माध्यम से यहाँ 'ईश्वर' की सिद्धि की गयी है। इसके अनुसार- व्यक्ति के जीवन का मुख्य उद्देश्य दुःखों से हमेशा के लिए छुटकारा (आत्यन्तिक निवृत्ति) प्राप्त करना है।[1]

(घ) **वैशेषिक-दर्शन-** 'विशेष' नामक विलक्षण पदार्थ को स्वीकृति प्रदान करने के कारण इसे 'वैशेषिक' संज्ञा प्रदान की गयी। **महर्षि कणाद** इस दर्शन के प्रणेता आचार्य माने गए हैं। 'सर्वदर्शन संग्रहकार' ने इसे **'औलूक्यदर्शन'** नाम भी प्रदान किया है। तदनुसार- 'उलूक' नामक आचार्य इसके प्रणेता थे। जनश्रुति के आधार पर जैन लेखक राजशेखर ने अपनी 'न्यायकन्दली टीका' में इसप्रकार उल्लेख किया है- 'कणाद मुनि ने घोर तपस्या की, जिससे प्रसन्न होकर

---

1 . तर्कभाषा की लेखककृत 'चन्द्रिका' हिन्दी व्याख्या।
प्रकाशक-चौखम्बा ओरिन्टालिया, दिल्ली, 2018 ।

परमात्मा ने उलूकरूप में अवतरित होकर, उन्हें इस दर्शन के सिद्धान्तों का उपदेश दिया। इसीलिए इसे 'औलूक्य–दर्शन' भी कहा गया।'

न्याय–दर्शन से पर्याप्त साम्य रखने के कारण इसका नाम उसके साथ ग्रहण किया जाता है (न्यायवैशेषिक), इसके अनुसार– पृथिवी, जल, तेज, वायु, आकाश, काल, दिक्, आत्मा और मन, ये कुल **नौ द्रव्य पदार्थ** हैं, जिनमें पृथ्वी, तेज, वायु और आकाश भौतिक हैं। आत्मा के अस्तित्व, स्वरूप, सृष्टि तथा 'मोक्ष' के सम्बन्ध में यह दर्शन न्याय–दर्शन के साथ मतैक्य रखता है।[1]

(ङ) **पूर्वमीमांसा–दर्शन**– इसके प्रणेता आचार्य जैमिनि माने गए हैं। यह दर्शन वेद को स्वतन्त्र एवं स्वतःप्रमाण रूप में अपनी स्वीकृति प्रदान करता है, किन्तु ध्यातव्य है कि वेद सम्मत होते हुए भी यह 'ईश्वर' के अस्तित्व को नहीं मानता है। तदुनसार सृष्टि 'आदि' और 'नित्य' है। अतः उसके कर्तारूप में 'ईश्वर' को अलग से मानने की आवश्यकता नहीं है, जबकि वैदिक–क्रियाओं के सम्पादन हेतु यहाँ वैदिक देवों को मान्यता प्रदान की गयी है। वेदों के कर्मकाण्ड भाग की यहाँ पर्याप्त चर्चा हुई है। कर्म और कर्मफल के बीच में सम्बन्ध स्थापित करते हुए, इस दर्शन ने **'अपूर्व'** नामक विशेष तत्त्व की परि–कल्पना की है। आत्मा के अस्तित्व के सम्बन्ध में, दूसरे आस्तिक दर्शनों के साथ इसका पर्याप्त साम्य रहा है। **प्रभाकरभट्ट**, **कुमारिलभट्ट** और **पार्थसारथि मिश्र** इस दर्शन के प्रसिद्ध आचार्य रहे हैं।[2]

(च) **उत्तरमीमांसा** (वेदान्त–दर्शन)– आचार्य बादरायण विरचित **'ब्रह्मसूत्र'** इस दर्शन का आधारग्रन्थ है, इसी का अन्य नाम **'वेदान्तसूत्र'** भी है। इस दर्शन के मुख्य आधार उपनिषद् रहे हैं। यही कारण है कि उपनिषद् वाक्यों को यहाँ पद–पद पर उद्धृत किया गया है। ब्रह्म,

---

1. तर्कसंग्रह– लेखककृत 'चन्द्रिका' हिन्दी व्याख्या, प्रकाशक–चौखम्बा संस्कृत प्रतिष्ठान, दिल्ली, 2011 ।
2. अर्थसंग्रह– व्या. डॉ. राकेश शास्त्री, चौखम्बा ओरियन्टालिया, दिल्ली, 2019।

जीव, जगत्, माया, इस दर्शन के प्रमुख विषयों में से हैं। ब्रह्मसूत्र के ऊपर लिखा गया शंकराचार्य का भाष्य, इस दर्शन का अद्भुत ग्रन्थ कहा जा सकता है, इसमें ब्रह्मसूत्रों की अद्वैतवादी व्याख्या को प्रस्तुत किया गया है। इस भाष्य पर भी, फिर से अनेक टीकाओं का प्रणयन किया गया, जिनमें आचार्य वाचस्पति मिश्र की **'भामती'** नामक टीका विशेषरूप से उल्लेखनीय है। इसके अतिरिक्त श्रीहर्ष का **'खण्डनखण्ड खाद्य'**, चित्सुखाचार्य की **तत्त्वदीपिका**, विद्यारण्यस्वामी की **पंचदशी**, **विवरणप्रमेयसंग्रह** तथा **जीवनमुक्ति–विवेक** इस दर्शन के प्रमुख ग्रन्थ हैं, किन्तु इस दर्शन के व्याख्या ग्रन्थों में आचार्य सदानन्द विरचित 'वेदान्तसार' नामक प्रकरणग्रन्थ को अपेक्षाकृत अधिक प्रसिद्धि प्राप्त हुई। हमारे वेदान्त दर्शन का विवेचन इसी पर आधारित रहा है।

इस प्रसंग में उल्लेखनीय यह भी है कि– इस दर्शन के अद्वैत, विशिष्टाद्वैत, द्वैताद्वैत, द्वैत और शुद्धाद्वैत सम्प्रदायों का प्रचलन भी विद्वत्समाज में विद्यमान है। ये सभी वैष्णव वेदान्त के नाम से जाने जाते हैं। **'प्रस्थानत्रयी'** नाम से प्रसिद्ध उपनिषद्, गीता और ब्रह्मसूत्र ये तीनों ग्रन्थ वेदान्त सम्प्रदायों के प्रमुख आधार हैं। जीव और ब्रह्म के ऐक्य का प्रतिपादन करना, इस दर्शन का प्रमुख उद्देश्य रहा है, जिसका प्रतिपादन यहाँ **'सर्वं खल्विदं ब्रह्म'**, **'तत्त्वमसि'**, **'ब्रह्मसत्यं जगन्मिथ्या'** तथा **'अहं ब्रह्मास्मि'** इत्यादि महावाक्यों द्वारा किया गया है।[1]

(आ) **नास्तिक दर्शन–** इन दर्शनों की आस्तिकता का मुख्य आधार वेदों में अनास्था का होना है।

(1) **चार्वाक दर्शन–** यह वस्तुतः भौतिकतावादी दर्शन है, जिसे **'लोकायत'** नाम से भी जाना जाता है। आचार्य बृहस्पति एवं चार्वाक इसके प्रमुख आचार्य माने गए हैं। इस दर्शन की विशेषता है कि यह आत्मा, परमात्मा, लोक–परलोक आदि में विश्वास नहीं करता है, अपितु

---

1. वेदान्तसार, व्याख्याकार, डॉ. राकेश शास्त्री, परिमल प्रकाशन, दिल्ली, 2000।

मात्र प्रत्यक्ष–प्रमाण में आस्था रखते हुए, जो स्थूल नेत्रों से दिखायी देता है, केवल उसी को अपनी स्वीकारोक्ति प्रदान करता है, इसी कारण इस दर्शन का मानना है कि–

'यावत् जीवेत्, सुखम् जीवेत्, ऋणं कृत्वा घृतं पिबेत्।
भस्मीभूतस्य देहस्य पुनरागमनं कुतः?

अर्थात् व्यक्ति जब तक जीवित रहे, सुखपूर्वक जिए। संसार में आने के बाद, अपने शरीर को किसी प्रकार का भी कष्ट उसे नहीं देना चाहिए, इसके लिए यदि उसे ऋण भी लेना पड़े, तो उसे भी निःसंकोच ग्रहण करके, उसका भरपूर उपभोग करना चाहिए, यहाँ तक कि उस ऋण को वापस करने की चिन्ता भी उसे नहीं करनी चाहिए, क्योंकि मरणोपरान्त जलाए गए, इस शरीर का इस संसार में फिर से आगमन भला कैसे सम्भव है? 'सर्वदर्शनसंग्रह' में इस दर्शन के सिद्धान्तों का विशेषरूप से उल्लेख हुआ है, इस ग्रन्थ के अतिरिक्त स्वतन्त्ररूप से इस दर्शन का अन्य कोई ग्रन्थ उपलब्ध नहीं है।

(2) **जैन–दर्शन**– नास्तिक–दर्शनों के अन्तर्गत, दूसरा स्थान जैन–दर्शन का है, क्योंकि इसके **प्रथम तीर्थंकर ऋषभदेव** हैं, जिनका वर्णन इनके आदि पुराण में किया गया है। कुछ जैन विद्वानों का मानना है कि इनके नाम का उल्लेख ऋग्वेद में भी किया गया है, किन्तु इसकी प्रामाणिकता के विषय में कुछ नहीं कहा जा सकता है, फिर भी इतना तो अवश्य कहा जा सकता है कि बौद्धधर्म की अपेक्षा जैनधर्म अधिक प्राचीन है, क्योंकि बौद्धधर्म का आरम्भ बुद्ध के जन्म से हुआ, जबकि जैनधर्म तो चौबीसवें तीर्थंकर श्रीमहावीर से पर्याप्त पहले भी विद्यमान था। तेईसवें तीर्थंकर पार्श्वनाथ का व्यक्तित्व पर्याप्त स्पष्ट रूप में मिलता है।

प्रथम शताब्दी में विद्यमान 'उमास्वाति' इस दर्शन के प्राचीन आचार्य माने गए हैं। प्रथम शताब्दी में स्थित आचार्य सिद्धसेन दिवाकर को जैनन्याय के प्रणेतारूप में जाना जाता है। 'अकलंकदेव', 'विद्या–

नन्द', 'प्रभासचन्द्र', 'हेमचन्द्रसूरि' और 'मल्लिषेण' आदि इस दर्शन के प्रमुख आचार्यों में परिगणित हैं।

इस दर्शन में व्यक्ति के जीवन की सूक्ष्मातिसूक्ष्म समस्याओं के सम्बन्ध में चिन्तन प्रस्तुत किया गया है। **'अनेकान्तवाद'** इसका महत्त्व पूर्ण सिद्धान्त माना गया है, जो भिन्न–भिन्न दृष्टियों से वस्तु के भिन्न–भिन्न रूपों की सत्यता का प्रतिपादन करता है।

(3) **बौद्ध दर्शन**– इस दर्शन में मुख्यरूप से चार सम्प्रदायों का विवरण उपलब्ध होता है–

(1)**वैभाषिक,** (2) **सौत्रान्तिक,** (3) **विज्ञानवादी एवं** (4) **शून्यवादी।**

पाली भाषा में निबद्ध किए गए, त्रिपिटक ग्रन्थों में इस दर्शन के सिद्धान्तों का विस्तार से उल्लेख किया गया है। ईसा की द्वितीय शताब्दी में विद्यमान **'नागार्जुन'** इस दर्शन के प्रमुख और महत्त्वपूर्ण आचार्यों में स्वीकार किए गए हैं। इसके अलावा वसुबन्धु, दिङ्नाग, धर्मकीर्ति, शान्तरक्षित, कमलशील, रत्नकीर्ति तथा ज्ञानश्री मिश्र आदि दूसरे आचार्य भी विशेषरूप से उल्लेखनीय हैं।

इन आचार्यों द्वारा विरचित प्रमाण–समुच्चय, प्रमाण–वार्तिक, न्यायबिन्दु, हेतुबिन्दु, तत्त्वसंग्रह, तत्त्वसंग्रहपंजिका आदि इस दर्शन के महत्त्वपूर्ण ग्रन्थों में माने गए हैं। आचार्य केशवमिश्र द्वारा विरचित न्याय शास्त्रीय ग्रन्थ 'तर्कभाषा' में अनेक स्थलों पर बौद्ध–दर्शन के बहुत से सिद्धान्तों की समीक्षा की गयी है।

इस दर्शन की महत्त्वपूर्ण विशेषता है कि– यह 'सविकल्पक' प्रत्यक्ष को ही अपनी स्वीकृति प्रदान करता है। इसके अतिरिक्त 'सामान्य' में भावात्मक सत्ता का भी निषेध करता है तथा अवयवों से भिन्न अवयवी को भी यह नहीं मानता है। ध्यातव्य है कि उक्त सभी दर्शनों का विस्तृत परिचय आगे प्रस्तुत किया जाएगा।

(iv) **भारतीय–दर्शन की विशेषताएँ**– प्रायः सभी भारतीय–दर्शनों का उत्पत्ति स्थल एक होने तथा सभी दुःखों से हमेशा के लिए

छुटकारा प्राप्त करने हेतु मोक्ष–प्राप्ति रूप एक लक्ष्य होने के कारण, सभी दर्शनों में कुछ विशेषताएँ हम समानरूप से देखते हैं, जिनका उल्लेख यहाँ हम संक्षेप में कर रहे हैं–

(क) **दुःख–निवृत्ति**–सभी दर्शनों ने संसार को दुःखमय स्वीकार किया है एवं दुःखों से हमेशा के लिए निवृत्ति प्राप्त करना ही प्रायः सभी दर्शनों का लक्ष्य है। यहाँ तक कि चार्वाक–दर्शन भी शरीररूप आत्मा को दुःख से बचाने के ही पक्ष में दिखायी देता है। दूसरे शब्दों में, समस्त भारतीय–दर्शनों का प्रारम्भ ही दुःखों के निवारण का प्रयास करते हुए हुआ है, क्योंकि प्रत्येक दर्शन में दुःखों की 'ऐका– न्तिक' अर्थात् निश्चितरूप से एवं आत्यन्तिक अर्थात् हमेशा के लिए निवृत्ति के साथ मोक्ष–प्राप्ति की इच्छा ही व्यक्त की गई है।

(ख) **आत्मा का अस्तित्व**– भारतीय–दर्शन की दूसरी महत्त्वपूर्ण विशेषता आत्मा की सत्ता को स्वीकार करना है। यहाँ सभी दर्शनों ने चाहे वे आस्तिक हो अथवा नास्तिक, आत्मा की सत्ता को स्वीकार किया है, केवल चार्वाक भी चैतन्ययुक्त शरीर को ही आत्मा कहकर उसके अस्तित्व को स्वीकार करते हैं, जबकि अन्य सभी दर्शनों ने आत्मा को अजर, अमर एवं अविनाशी रूप में मानते हुए, उसकी सत्ता को माना है। इसीलिए उपनिषद् से लेकर वेदान्त तक सभी ने आत्मा के स्वरूप को जानने पर ही अधिकाधिक बल दिया है। इन सभी का मूल–मन्त्र ही है– **'आत्मानं विद्धि'** स्वयं अर्थात् आत्मतत्त्व को जानो।

(ग) **कर्म–सिद्धान्त में आस्था**– चार्वाक को छोड़कर सभी भारतीय–दर्शनों ने कर्म–सिद्धान्त के प्रति आस्था एवं विश्वास व्यक्त किया है। तदनुसार व्यक्ति जैसा कर्म करता है, उसे वैसे ही फल की प्राप्ति होती है। इसकी महत्ता को चार्वाक को छोड़कर सभी दर्शनों ने मुक्तकण्ठ से स्वीकार किया है। इसी सिद्धान्त को उपनिषद्–दर्शन में **'कर्मवाद'** की संज्ञा प्रदान की गई है। न्याय–वैशेषिक ने इसे **'अदृष्ट'** कहा है तथा इसका संचालन 'ईश्वर' के अधीन माना है। मीमांसा–

दर्शन इसी को **'अपूर्व'** नाम प्रदान करता है। यहाँ कर्म तीन प्रकार के बताए गए (अ) संचित (ब) प्रारब्ध (स) संचीयगान कर्म।

(अ) इनमें **'संचितकर्म'** अतीत में किए गए कर्मों से उत्पन्न होते हैं, जिनका फल प्राप्त होना अभी आरम्भ नहीं हुआ है।

(ब) किन्तु जिन कर्मों का फल मिलना प्रारम्भ हो गया है, उन्हें **'प्रारब्ध–कर्म'** के नाम से जाना जाता है।

(स) इसके विपरीत जिन कर्मों का फल भविष्य में मिलना है, वर्तमान जीवन में किए गए उन कर्मों को यहाँ **'संचीयमान–कर्म'** कहा गया है।

(घ) **पुनर्जन्म में विश्वास–** यह सिद्धान्त वस्तुतः कर्नवाद एवं आत्मा की अमरता के सिद्धान्त पर टिका हुआ है। व्यक्ति जो कर्म करता है, उनका फल प्राप्त करने के लिए उसे फिर से इसी संसार में जन्म लेना पड़ता है, भले ही वे कर्म अच्छे हों या बुरे। चार्वाक–दर्शन को छोड़कर प्रायः सभी दर्शनों ने इसी को मान्यता प्रदान की है, क्योंकि चार्वाक, कर्मवाद एवं आत्मा की अमरता दोनों को ही स्वीकार नहीं करता है।

इस सिद्धान्त के अनुसार यह संसार, जन्म एवं मृत्यु का चक्र है, क्योंकि व्यक्ति यहाँ अपने कर्मों का फल एक ही जन्म में प्राप्त नहीं कर सकता है। अतः कर्मों का फल भोगने के लिए ही उसे इस संसार में बार–बार जन्म लेना पड़ता है तथा आत्मा नित्य एवं अविनाशी होने के कारण, मृत्यु के बाद एक शरीर से दूसरे शरीर में प्रवेश करती है। गीता में इसी को पुराने वस्त्रों को छोड़कर नए वस्त्रों को धारण करने के समान कहा है।[1]

(ङ) **व्यावहारिक–दृष्टि–** भारतीय–दर्शनों का जीवन के साथ अत्यन्त गहरा सम्बन्ध रहा है, क्योंकि इनका उद्देश्य केवल मानसिक

---

[1]. वासांसि जीर्णानि यथा विहाय नवानि गृह्णाति नरोऽपराणि।
तथा शरीराणि विहाय जीर्णान्यन्यानि संयाति नवानि देही।। 2/22।

उत्सुकता की निवृत्ति करना नहीं है, अपितु जीवन की समस्याओं पर व्यावहारिक दृष्टि से विचार करना भी है। उनके अनुसार–

'दर्शन जीवन का अभिन्न अंग है। अतः जीवन से अलग दर्शन की कल्पना करना भी असम्भव है।' प्रोफेसर हरियन्ना, चार्ल्समूर और डॉ. राधाकृष्णन् आदि प्रसिद्ध दार्शनिकों ने दर्शन को न केवल सोचने की पद्धति, अपितु जीवन–पद्धति माना है। इसलिए भारतीयदर्शन वस्तुतः जीवन के लिए है। अतः यहाँ व्यावहारिकता पर भी अत्यधिक बल दिया गया है।

(च) **अविद्या या अज्ञान ही बन्धन का मूलकारण**– चार्वाक–दर्शन को छोड़कर प्रायः सभी दर्शनों में अज्ञान अथवा अविद्या को जन्म के बन्धन का मूलकारण स्वीकार किया गया है। इसीकारण व्यक्ति एक जन्म से दूसरा जन्म ग्रहण करता हुआ, संसारचक्र में घूमता रहता है, किन्तु प्रत्येक दर्शन ने अज्ञान की व्याख्या भिन्न–भिन्न प्रकार से की है, जिसका विस्तृत विवेचन हम आगे करेंगे। ज्ञान के द्वारा ही अज्ञान का नाश सम्भव है। काव्यात्मक दृष्टि से अज्ञान की उपमा यहाँ अन्धकार से तथा ज्ञान की प्रकाश से दी गई है।

(छ) **तत्त्वज्ञान विद्या द्वारा मुक्ति–** भारतीय–दर्शन के अनुसार, व्यक्ति तात्त्विक ज्ञान द्वारा इस संसार के बन्धन से छुटकारा पा सकता है। ज्ञान से अभिप्राय यहाँ सत्य को जानने अर्थात् तत्त्वज्ञान से है, जिसे प्राप्त करने के लिए सभी दर्शनों ने भिन्न–भिन्न उपायों का उल्लेख किया है। सांख्य–दर्शन **व्यक्त, अव्यक्त** और **ज्ञ,** इन तीन तत्त्वों को जानने से मुक्ति स्वीकार करता है।

उल्लेखनीय है कि यहाँ ज्ञान से अभिप्राय केवल शास्त्रीय–ज्ञान से लेना उचित नहीं है, क्योंकि शास्त्रीय–ज्ञान के साथ–साथ चिन्तन, मनन एवं निदिध्यासन आदि भी आवश्यक हैं। तभी व्यक्ति तत्त्वज्ञानी बन सकता है। शास्त्रीय–ज्ञान वस्तुतः सैद्धान्तिक ज्ञान है। इसके प्रयोगात्मक स्वरूप स्वयं का चिन्तन, मनन आदि की यहाँ अनिवार्य

आवश्यकता प्रतिपादित की गई है, जिसे विद्वानों ने साधना–पक्ष भी कहा है।

(ज) **प्रमाण–मीमांसा पर आधारित–** प्रत्येक भारतीय–दर्शन में तत्त्वज्ञान हेतु प्रमाण–मीमांसा पर अत्यधिक बल दिया गया है, क्योंकि यथार्थ ज्ञान के लिए प्रमाण–ज्ञान अनिवार्य है। हाँ, प्रत्येक दर्शन यहाँ प्रमाणों की संख्या अलग–अलग मानता है। **जैसे–**

चार्वाक केवल 'प्रत्यक्ष' प्रमाण को ही मान्यता प्रदान करता है एवं सांख्य 'प्रत्यक्ष', 'अनुमान' एवं 'शब्दप्रमाण' को स्वीकार करता है। इसीप्रकार अन्य दर्शन भी तत्त्वज्ञान हेतु प्रमाणों की अनिवार्यता भिन्न–भिन्न संख्या में स्वीकार करते हैं, जिसका हम आगे विस्तार से विवेचन करेंगे।

(झ) **आत्मसंयम पर बल–** चार्वाक–दर्शन को छोड़कर प्रायः सभी भारतीय–दर्शनों में तत्त्वज्ञान हेतु प्रमाणों की अनिवार्यता के साथ–साथ आत्मसंयम पर भी विशेष बल दिया गया है। हमारी सभी स्थूल इन्द्रियाँ एवं मन सांसारिक विषयों की ओर आकर्षित होते हैं, जिनका भोग कर्मबन्धन देने वाला है। अतः उनसे 'मोक्ष' सम्भव नहीं है। इसलिए प्रायः सभी दर्शनों में इन्द्रियों पर नियन्त्रण अर्थात् आत्म संयम पर बल दिया गया है।

(ञ)**संसार एक रंगमंच–** भारतीयदर्शनों की महत्त्वपूर्ण विशेषता है कि चार्वाक को छोड़कर ये सभी संसार को रंगमंच के रूप में मान्यता प्रदान करते हैं। इनके अनुसार– जिसप्रकार अभिनेता रंगमंच पर आकर अलग–अलग भूमिकाओं में अभिनय करके लौट जाते हैं। उसीप्रकार इस शरीररूपी वस्त्र को धारण करके व्यक्ति इस संसार में आता है और विविध भूमिकाओं का निर्वहण करता हुआ, मृत्यु को प्राप्त करके फिर से दूसरी भूमिका के निर्वाह की तैयारी करता है। इस जन्म में किए गए उसके कर्म ही, उसके अगले जन्म की भूमिका तैयार करते हैं।

(ट) **वेदों की प्रमाणिकता–** सभी आस्तिक भारतीय–दर्शनों ने वेदों की प्रामाणिकता को स्वीकार किया है। वास्तविकता तो यह है कि समस्त भारतीय–दर्शनों की आस्तिक एवं नास्तिकरूप में विभाजक रेखा का मुख्य आधार ही इनका वेदों को प्रमाणरूप में मानना रहा है। नास्तिक–दर्शन बौद्ध, जैन, चार्वाक ये तीनों ही वेदों की प्रामाणिकता को नहीं मानते हैं, किन्तु दूसरे सभी छः आस्तिक–दर्शनों ने श्रुति अर्थात् वेदों को प्रमाण माना है। इनमें से कुछ ने तो पद–पद पर वेदवाक्यों को प्रमाणरूप में प्रस्तुत भी किया है।

(ठ) **जगत् की सत्ता में विश्वास–** प्रायः सभी भारतीय दर्शनों ने जगत् की सत्ता को स्वीकार किया है। इसका निर्माण पंच महाभूतों– आकाश, वायु, अग्नि, जल और पृथ्वी द्वारा होता है। सांख्य एवं योग इसे त्रिगुणात्मक प्रकृति द्वारा निर्मित मानता है। जैन–दर्शन ने इसे दिक् एवं काल में स्थित परमाणुओं द्वारा निर्मित कहा है। केवल वेदान्त–दर्शन जगत् की प्रातिभासिक सत्ता स्वीकार करते हुए **'ब्रह्म सत्यं जगन्मिथ्या'** कहकर इसका निषेध करता है। बौद्ध–दर्शन भी इसका अस्तित्व अनुभूति पर्यन्त मानता है। पुनरपि इतना तो अवश्य कहा जा सकता है कि इन दोनों दर्शनों ने भी किसी न किसी रूप में जगत् की सत्ता को मान्यता प्रदान की है।

(v) **भारतीय–दर्शन के प्रमुख तत्त्व**– यद्यपि बाद में हम सभी भारतीय दर्शनों के विषय में विस्तार से चर्चा करेंगे, किन्तु इससे पहले इन सभी दर्शनों को गहनता से समझने के लिए सर्वप्रथम इनके प्रमुख सिद्धान्तों को **तुलनात्मक दृष्टि** से समझना उचित होगा, जिसका हम यहाँ अत्यन्त संक्षेप में उल्लेख कर रहे हैं–

(क) **आत्मा**

आत्मतत्त्व पर विभिन्न दर्शनों की दृष्टि से विचार करने से पहले आत्मा के विषय में सामान्य जानकारी देना उचित होगा। प्रत्येक प्राणी में एक चेतनतत्त्व होता है, जिसके निकलने के बाद वह गति

करना बन्द कर देता है और मरा हुआ माना जाता है। उसी चेतनतत्त्व को दार्शनिक भाषा में 'आत्मा' नाम दिया गया। यह आत्मा वस्तुतः परमात्मा का ही अंश माना गया है। अतः इसमें वे सभी गुण विद्यमान हैं, जो परमात्मा में है।

इसके स्वरूप के विषय में गीताकार का कथन[1] है कि यह आत्मा न तो कभी उत्पन्न होता है, न मरता है। एक बार अस्तित्व में आने पर यह फिर से होने वाला भी नहीं है। यह तो अजन्मा, नित्य, सनातन और पुरातन है। शरीर के मरने पर भी यह नहीं मारा जाता है।[2] इससे स्पष्ट है कि आत्मा को कभी भी न मरने वाला और उत्पन्न न होने वाला 'नित्य' तत्त्व कहा गया है। सृष्टि के आरम्भ से पूर्व भी अस्तित्व में होने से यह 'सनातन' है। इसी को सम्पूर्ण दर्शनशास्त्र में चेतनतत्त्व की संज्ञा भी प्रदान की गई है।

वस्तुस्थिति यह है कि भारतीय दर्शनों की दृष्टि में प्रायः आत्मा को परमात्मा का ही अंश माना गया है। **जैसे**– समुद्र से अलग हुई एक बूँद में उसके सभी गुण विद्यमान होते हैं, ठीक उसीप्रकार आत्मा में भी वे सभी गुण विद्यमान हैं। मुक्ति अथवा 'मोक्ष' की स्थिति में यह आत्मा अपने मूलस्रोत्र परमात्मा में ही विलीन हो जाता है, जिसे समुद्र के जल की बूँद का वापस समुद्र के जल में मिलकर विलीन होने के समान ही स्वीकार किया गया है।

इसके अलावा इसे हम दैनिक जीवन के अनुभव में भी 'मैं' की अनुभूति से स्वीकार कर सकते हैं, क्योंकि सामान्य व्यक्ति एवं विद्वान् सभी लोग मैं, मेरा इसप्रकार का व्यवहार करते हैं। अब हम आस्तिक

---

[1] - न जायते म्रियते वा कदाचिन्नायंभूत्वा भविता वा न भूयः।
अजो नित्यः शाश्वतोऽयं पुराणोन हन्यते हन्यमाने शरीरे।। भगवद्गीता–2/20

[2] . लेखककृत 'चन्द्रिका' व्याख्या, गीता प्रथम एवं द्वितीय अध्याय की भूमिका में आत्मा का स्वरूप। प्रकाशक– धर्म–नीराजना प्रकाशन, दिल्ली, 1999 ।

एवं नास्तिक सभी भारतीय–दर्शनों की दृष्टि से आत्मतत्त्व पर विचार कर रहे हैं–

(क) **चार्वाक–** इसके मत में शरीर से अलग आत्मा जैसे तत्त्व को मानने की आवश्यकता नहीं है। स्वयं शरीर ही आत्मा है, जिसका अनुभव हम दैनिक व्यवहार में 'मैं' पद का प्रयोग करके करते हैं।

जैसे– मैं बालक हूँ, मैं बूढ़ा हूँ, मैं जवान हूँ आदि। इसलिए यह शरीर ही आत्मा है। इस सम्बन्ध में एक और प्रमाण है कि सभी प्राणी शरीर को ही सर्वाधिक प्रिय मानते हैं और मरने से भी डरते हैं। इसलिए शरीर को ही आत्मा मानना उचित प्रतीत होता है।

इसी प्रसंग में एक प्रश्न उठता है कि यदि शरीर ही आत्मा है तब तो मृत शरीर को भी आत्मा कहना उचित है, लेकिन ऐसा नहीं होता? इसके उत्तर में चार्वाक का कहना है कि– जीवित और मृत शरीरों की भौतिक परिस्थिति में अन्तर आ जाता है। जीवित शरीर से वायवीय एवं तेजस् कण अधिक मात्रा में बाहर निकल जाने से, उसे मरा हुआ मान लिया जाता है, क्योंकि वह निरुपयोगी हो जाता है।

चार्वाक के मत में– जैसे हम प्रतिदिन पान खाते हैं। वहाँ हमें लाल रंग दिखाई देता है, जो न तो पान में है, न सुपारी में, न चूने में और न ही कत्थे में है, किन्तु तीनों के विशेष मात्रा में संयोग होने पर हमारे मुँह में यह लाल रंग स्वतः ही आ जाता है। ठीक इसीप्रकार हमारा यह शरीर पृथ्वी, जल, अग्नि और वायु इन चार भूतों से बना है। इनका यथोचित संयोग ही 'चैतन्य' को उत्पन्न करने वाला है। आत्मा का अस्तित्व ही नहीं है, तो फिर उसकी नित्यता भी कैसे स्वीकार की जा सकती है? इसप्रकार यह दर्शन चार भूतों पृथ्वी, जल, अग्नि, वायु के संयोग से विशेष परिस्थिति में 'चैतन्य' उत्पन्न होता है, यही मानता है। इस सिद्धान्त में आकाश के योगदान को शरीर निर्माण में स्वीकार नहीं किया गया है।

(ख) **जैनदर्शन–** यह दर्शन आत्मा के अस्तित्व को मानता है। इसके मत में समस्त द्रव्य पदार्थों को **जीव–द्रव्य** एवं **अजीव–द्रव्य** दो भागों में विभाजित किया जा सकता है। 'अजीव' से अभिप्राय सम्पूर्ण जड़ जगत् से है तथा जीव–द्रव्य के अन्तर्गत सम्पूर्ण चेतन सत्ता आती है। इसी को 'जीवात्मा' कहा गया है, क्योंकि आत्मा की प्रमुख विशेषता ही उसका चैतन्य सम्पन्न होना है। जैनदर्शन में जीवात्मा के ज्ञान, अनुभूति एवं भोग तीन रूपों को स्वीकार किया गया है। जैन ग्रन्थ के विशेषावश्यक–भाष्य में, इन्द्रभूति एवं महावीर–संवाद के माध्यम से अत्यन्त सुन्दर ढंग से आत्मा का अस्तित्व सिद्ध किया है।[1] तदनुसार–

जीवात्मा के विषय में संदेहयुक्त ज्ञान ही इसके अस्तित्व को सिद्ध करता है, क्योंकि इसके विषय में सन्देह होने का अभिप्राय है कि संशय करने वाला भी विद्यमान है। 'मैं जाता हूँ', 'मैं खाता हूँ' इत्यादि स्वयं का अनुभव ही इस विषय में प्रमाण है।

जैनदर्शन के अनुसार– शरीर में दिखाई देने वाली चेतना ही आत्मा का गुण है। आत्मा का निवास स्थान यह शरीर ही है, जिसकी उपस्थिति से शरीर में चैतन्य उत्पन्न होता है। इसके अतिरिक्त आत्मा के न रहने पर, इस शरीर की चेतनता भी नष्ट हो जाती है, जिसे 'मृत्यु' नाम दिया गया है।

(ग) **बौद्धदर्शन–** यह आत्मा के शाश्वत अस्तित्व को स्वीकार नहीं करता है।[2] इसके अनुसार आत्मा रूप, वेदना, संज्ञा, संस्कार और विज्ञान नामक पाँच स्कन्धों का समूहमात्र है।[3] यहाँ भदन्त नागसेन एवं मिलिन्द के संवाद में आत्मा के स्वरूप का अत्यन्त सुन्दर वर्णन किया है। तदनुसार– जिसप्रकार रथ का कोई अवयव रथ नहीं है, सब अवयवों के संघात का नाम ही रथ है। इसीप्रकार आत्मा भी पंच

---

1. विशेषावश्यक भाष्य, यशोविजय ग्रन्थमाला, काशी 1550–53 ।
2. दीर्घनिकाय–पृष्ठ–13–195 ।
3. मिलिन्द प्रश्न में पृष्ठ– 30–33 ।

स्कन्धों के समुदाय का नाम है। यहाँ भूत तथा भौतिक पदार्थ अर्थात् शरीर को 'रूप', किसी वस्तु के साक्षात्कार करने को 'संज्ञा', उससे उत्पन्न दुःख, सुख तथा उदासीनता के भाव को 'वेदना', अतीत के अनुभव द्वारा उत्पन्न होने वाले स्मृति के कारणभूत सूक्ष्म मानसिक प्रवृत्ति को 'संस्कार' एवं 'चैतन्य' को 'विज्ञान' की संज्ञा दी गई है।[1]

डॉ. राधाकृष्णन् का इस विषय में कथन है कि– बुद्ध हमें स्पष्टरूप से यह तो बताते हैं कि क्या–क्या आत्मा नहीं हैं, किन्तु आत्मा क्या है, इसका भावात्मक वर्णन उन्होंने एकदम नहीं किया है। साथ ही बुद्ध के विषय में यह सोचना भी कि बुद्ध आत्मा को बिल्कुल ही नहीं मानते, एक असत्य धारणा है,[2] जबकि हरियन्ना इसे 'तरल आत्मा' का नाम देते हैं।[3]

आचार्य नरेन्द्रदेव आत्मा विषयक बौद्धधर्म, के विचारों को विचित्र बताते हुए कहते हैं– 'यह बौद्धधर्म की विचित्रता ही है कि यह आगम, कर्म और कर्मफल को तो मानता है, किन्तु कारक का प्रतिषेध करता है। कोई सत्त्व नहीं है, जिसका संचार हो, संक्रान्ति हो, किन्तु यह सन्तति जीवित है, मृत्यु से इसका उच्छेद नहीं होता। यह तो केवल उस क्षण को सूचित करती है..... वस्तुतः जिस सन्तति की कल्पना बौद्ध करते हैं, उसमें आत्मा के सभी सामर्थ्य पाए जाते हैं।[4]

उनके मत में स्कन्ध–सन्तति ही संसार में संसरण करती है। ठीक उसीप्रकार **जैसे–** अग्नि वन को जलाती है, तो कहा जाता है कि यह संचरण करती है, जबकि अग्नि के कण ही गति करते हैं।

(घ) **पूर्वमीमांसा–** यह दर्शन शरीर, इन्द्रिय तथा बुद्धि से अलग आत्मा का अस्तित्व स्वीकार करता है।[5] कुमारिलभट्ट के अनुसार–

---

[1]. भारतीय दर्शन, आचार्य बलदेव उपाध्याय, पृष्ठ– 126 ।

[2]. भारतीय–दर्शन, डॉ. राधाकृष्णन्, भाग–1, पृष्ठ– 354, 355 ।

[3]. भारतीय–दर्शन की रूपरेखा–हिरियन्ना, पृष्ठ– 147।

[4]. बौद्धधर्मदर्शन, आचार्य नरेन्द्रदेव शास्त्री, पृष्ठ– 285–86 ।

[5]. मीमांसासूत्र– 1/1/4 ।

'आत्मा शरीर से भिन्न, नित्य एवं सर्वव्यापक है। चैतन्यस्वरूप इसके अस्तित्व का अनुमान अहंभाव द्वारा होता है। मीमांसादर्शन के प्रसिद्ध विचारक कुमारिलभट्ट एवं प्रभाकरभट्ट यद्यपि आत्मा के स्वरूप के सम्बन्ध में मतभेद रखते हैं, किन्तु इसके अस्तित्व के विषय में ये दोनों एक मत हैं।

इस सम्बन्ध में डॉ. राधाकृष्णन् कहते हैं– मीमांसक आत्मा को शरीर, इन्द्रिय एवं बुद्धि से भिन्न मानते हैं। बुद्धि की उपस्थिति में भी यह आत्मा उपस्थित रहता है। यह एक ऐसी सत्ता है, जो इन्द्रियों से प्राप्त सामग्री का संश्लेषण करती है। शरीर तो अपने से परे निश्चित लक्ष्य का साधनमात्र है, जिसे आत्मा के प्रयोजन के लिए कहा जा सकता है, जो इसका संचालन करता है।[1]

कुमारिलभट्ट, आत्मा को नित्य मानते हुए भी विकारशील कहते हैं। उनके अनुसार– ज्ञान, आत्मा का एक विकार है तथा आत्मा परिणामशील होते हुए भी नित्य है। आत्मा के चित् और अचित् दो अंश होते हैं। चित् के द्वारा वह ज्ञान का अनुभव करता है तथा अचित् में परिणाम होता है, इच्छा, प्रयत्न आदि अचित् के ही परिणाम हैं।

आत्मा चैतन्यस्वरूप है। वे आत्मा को ज्ञान का विषय और विषयी दोनों मानते हैं, किन्तु प्रभाकरभट्ट इससे असहमति व्यक्त करते हैं। उनके अनुसार– कोई भी वस्तु एक साथ कर्ता और कर्म दोनों नहीं हो सकती है, क्योंकि इन दोनों के व्यापारों में विरोध होता है। आत्मा को हमेशा ही बोध के कर्तारूप में जाना जाता है, कर्मरूप में नहीं। आत्मा तो वस्तुतः बोध का आश्रय है।[2]

(ड) **वेदान्त–** ब्रह्म को ही सम्पूर्ण संसार का एकमात्र कारण मानता है। इसका मत है कि– सम्पूर्ण सृष्टि ब्रह्म से उत्पन्न होती है तथा प्रलयकाल में उसी में इसका लय हो जाता है। ब्रह्म ही इस

---

[1] . भारतीय–दर्शन, डॉ. राधाकृष्णन् भाग–2, पृष्ठ– 402 ।

[2] . श्लोकवार्तिक, मद्रास विश्वविद्यालय 1940, पृष्ठ– 707 ।

सृष्टि का निर्माता, पालक एवं संहारक है।[1] यह ब्रह्म सत्, चित् और आनन्दस्वरूप है और यही हमारे शरीर में आत्मारूप में रहता है। सम्पूर्ण जगत् 'माया' का प्रपंच है, जो वस्तुतः एक धोखा है, किन्तु यह ब्रह्म ही एकमात्र सत्य है।

इसी को वेदान्त ने **'ब्रह्म सत्यं जगन्मिथ्या'** इत्यादि महावाक्य द्वारा कहा है। यही ब्रह्मरूप आत्मतत्त्व, अविद्यारूप आवरण से आवृत्त होता है तो 'जीव' कहलाता है। ज्ञान द्वारा इस आवरण के हट जाने से 'जीव' अपने वास्तविक स्वरूप को प्राप्त कर ब्रह्मरूप ही हो जाता है। इसप्रकार ब्रह्म एवं जीव की एकता सिद्ध होती है, जिसे विवेक चूड़ामणिकार इसप्रकार कहते हैं–

'ब्रह्मैव जीवः स्वयम्।'

वेदान्त आत्मा को अनुभव से सिद्ध मानता है। उसके अनुसार, इसकी सिद्धि के लिए अनुमान आदि प्रमाणों की आवश्यकता नहीं है। हम प्रतिदिन सुख एवं दुःख का अनुभव करते हैं और अनुभव चैतन्य का गुण है, अचेतन का नहीं, क्योंकि ज्ञाता और ज्ञेय दोनों के अचेतन होने पर ज्ञान का उद्भव सम्भव ही नहीं है। चेतनतत्त्व के अभाव में सम्पूर्ण संसार अन्धे के समान ही होगा। इस चेतनता को यहाँ अग्नि की उष्णता का उदाहरण देकर समझाया गया है–

न ह्यग्नेरौष्ण्यमग्निना निराक्रियेत्।[2]

रामानुजाचार्य ने ब्रह्म को परमतत्त्व माना है, जो चिदचिद्विशिष्ट है। यहाँ चित् से अभिप्राय जीवात्मा तथा अचित् से अभिप्राय प्रकृति से है। ये दोनों नित्य हैं तथा ब्रह्म के साथ कभी अलग न होने वालों के समान संयुक्त रहते हैं। आत्मा स्वभाव से ज्ञाता, कर्मों का कर्ता तथा कर्मों के फल का भोक्ता, शरीर–सम्बन्ध का कारण ही होता है।[3]

---

[1]. ब्रह्मसूत्र शांकरभाष्य– 1/1/2 ।

[2]. ब्रह्मसूत्रशांकरभाष्य– 2/3/7 ।

[3]. भारतीय–दर्शनों में अन्तर्निहित समरूपता, डॉ. वागीश, पृष्ठ– 63।

(च) सांख्य एवं योग–दर्शन– ये दोनों दर्शन केवल दो ही तत्त्वों को नित्य मानते हैं– पुरुष एवं प्रकृति। पुरुष चेतन है, प्रकाश स्वरूप है तथा प्रकृति, सत्त्व, रजस्, तमोगुण की साम्यावस्था का नाम है, जो जड़ है। पुरुष का प्रकाश जब जड़ प्रकृति पर पड़ता है, तो सृष्टि की उत्पत्ति होती है। यह पुरुष ही यहाँ आत्मस्वरूप है तथा प्रत्येक शरीर में अलग–अलग विद्यमान है। सांख्य–दर्शन ने पुरुष बहुत्व के सिद्धान्त के प्रतिपादन के लिए कुछ युक्तियाँ प्रस्तुत की हैं–

जन्ममरणकरणानां प्रतिनियमादयुगपत्प्रवृत्तेश्च।
पुरुषबहुत्वं सिद्धं त्रैगुण्यविपर्ययाच्चैव।।

अर्थात् प्रत्येक शरीर के जन्म, मृत्यु एवं इन्द्रियों की स्वतन्त्र स्थिति होने के कारण, एक साथ प्रत्येक की सभी कार्यों में प्रवृत्ति न होने से, सत्त्व, रजस् और तमोगुण की भिन्न स्थिति के कारण, यही सिद्ध होता है कि प्रत्येक शरीर में पुरुष (आत्मा) भिन्न–भिन्न हैं[1], एक नहीं, सांख्यदर्शन के पुरुष बहुत्व के सिद्धान्त को हम इस प्रकार भी सरलता से समझ सकते हैं–

(चित्र–4)
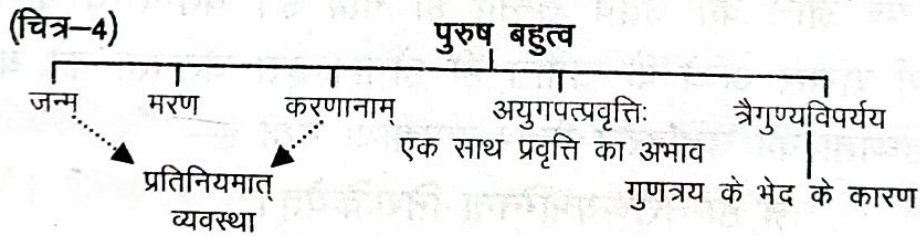
इसीप्रकार यहाँ पुरुष अर्थात् आत्मतत्त्व की सत्ता के लिए भी कुछ तथ्य प्रस्तुत किए गए–

संघात परार्थत्वात् त्रिगुणादिविपर्ययादधिष्ठानात्।
पुरुषोऽस्ति भोक्तृभावात् कैवल्यार्थं प्रवृत्तेश्च।।[2]

जितना भी प्रकृति का सृष्टि–विस्तार देखने में आता है, उस सबका दूसरे के लिए होना, सत्त्व, रजस् और तमस् तीन गुणों का

---

1. सांख्यकारिका– 18 ।
2. सांख्यकारिका– 17 ।

अभाव होना, इस सम्पूर्ण प्रपंच का कोई न कोई अधिष्ठाता होना, जगत् में भोक्ता, भोग्यभाव की स्थिति एवं 'कैवल्य' के प्रति प्रवृत्ति, ये सभी पुरुष के अस्तित्व को सिद्ध करते हैं। सांख्यदर्शन में पुरुष की सत्ता के सिद्धान्त को हम इस प्रकार भी सरलता से समझ सकते हैं–
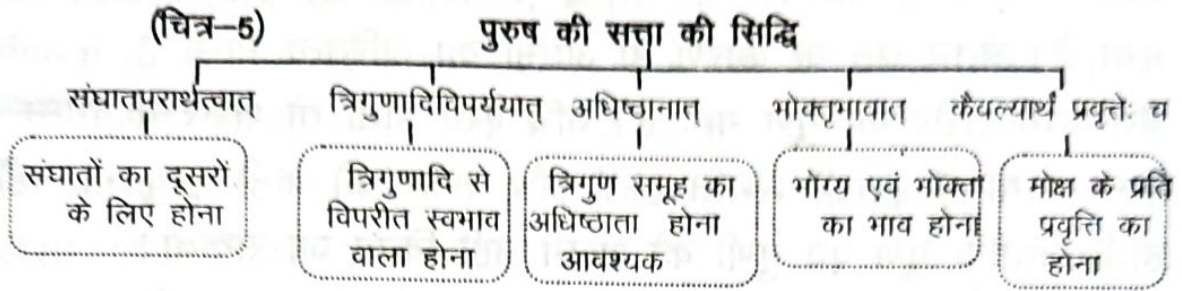
इसप्रकार सांख्य एवं योग–दर्शन आत्मा को ही पुरुषरूप में स्वीकार करते हैं। साथ ही, इनकी संख्या भी यहाँ अनेक मानी गई है। यह शरीर से भिन्न तत्त्व है। इसमें गुणत्रय का अभाव है। अतः सुख, दुःख, मोहात्मकता से भी रहित है। चेतन होने के कारण विवेकी एवं शब्दादि विषयों का उपभोक्ता है। यहाँ इसे न तो किसी का विकार माना गया है और न ही इससे किसी तत्त्व की उत्पत्ति को स्वीकार किया है। अतः यह न तो प्रकृति है और न विकृति–

'न प्रकृतिर्न विकृतिः पुरुषः।'

यह त्रिकाल अबाध्य, नित्य, सर्वव्यापक है। अपनी सत्ता के लिए यह किसी अन्य तत्त्व पर निर्भर भी नहीं है। यह द्रष्टामात्र, स्वरूपतः नित्य, मुक्त है। उल्लेखनीय है कि यहाँ पुरुष की सिद्धि 'अनुमान प्रमाण' से मानी गई है।

पुरुष के कर्तापन की प्रतीति लोहपिण्ड में स्थित अग्नि के समान है, जिसप्रकार गर्म लोहे से जलने पर 'लोहे ने जलाया', ऐसा कहा जाता है, जबकि लोहा तो जड़ है, उसमें जलाने का गुण नहीं हो सकता है। उसीप्रकार पुरुष में क्रियाशीलता एवं बुद्धि में चेतनता की प्रतीति होती है, जो वास्तविक नहीं है।

(छ) न्याय दर्शन– न्यायसूत्र में 'प्रमेय' पदार्थों की गणना करते हुए सबसे पहला स्थान 'आत्मा' को प्रदान किया गया।[1] आत्मा के अस्तित्व की सिद्धि अनुमान–प्रमाण द्वारा आप्त–प्रमाण से मानी गई है अनुभव में आने से प्रत्यक्ष प्रमाण से भी अनुभूति, स्मरण एवं इच्छा का आधार आत्मा के अस्तित्व की सिद्धि में सहायक है, ऐसा कथन किया गया है। चेतन धर्म के कारण ही आत्मा का अस्तित्व मान्य है, क्योंकि चैतन्यधर्म शरीर का गुण नहीं है। यदि ऐसा होता तो शरीर के भिन्न–भिन्न भागों में इसकी स्थिति होती और शरीर की कभी मृत्यु भी नहीं होती, क्योंकि गुण एवं गुणी को अलग नहीं किया जा सकता।

इसके अतिरिक्त अलग–अलग अनुभवों में एकत्व की स्थापना करने का कार्य भी यह आत्मा ही करता है, क्योंकि इन्द्रियाँ तो केवल साधनमात्र हैं तथा इनका उपयोग करने वाला इनसे अलग होता है और वह जीवात्मा ही है। जीवात्मा इन्द्रियों पर नियन्त्रण करता है तथा इनके द्वारा प्राप्त ज्ञान का संश्लेषण करता है।

जीवित शरीर का कोई भाग जलने पर कष्ट होता है, किन्तु उसी शरीर को मृत्यु के बाद जलाने पर, हमें कोई कष्ट नहीं होता। अतः यह कष्ट की अनुभूति शरीर का नहीं, अपितु आत्मा का विषय है। इस कारण आत्मा का अस्तित्व विद्यमान है। बन्धन की अवस्था में यह दर्शन आत्मा को सांसारिक दुःखों के अधीन बताता है। इस अवस्था में यह निरन्तर एक के बाद एक जन्म ग्रहण करता रहता है।

(ज) **वैशेषिक दर्शन–** आत्मा के विषय में वैशेषिक दर्शन, न्याय दर्शन के समान ही विचार रखता है, क्योंकि उसने भी आत्मा को द्रव्य गणना के अन्तर्गत ही रखा है।[2] यहाँ भी चैतन्य की आधारभूत सत्ता को 'आत्मा' कहा गया है, यही ज्ञान का आधार भी है।

---

[1]. न्यायसूत्र– 1/1/9 ।

[2]. वैशेषिक सूत्र– 1/1/5 ।

यहाँ आत्मा के दो भेद किए गए– (1) जीवात्मा (2) परमात्मा। जीवात्मा की चेतना सीमित एवं परमात्मा की असीमित बताई गई है। इसके अनुसार– जीवात्मा अनेक हैं, किन्तु परमात्मा एक। ज्ञान, सुख, दुःख, इच्छा, धर्म, अधर्म आत्मा के विशेष गुण हैं। प्रत्येक आत्मा में मन का निवास होता है। यह दर्शन आत्मा को अनादि, अनन्त एवं अमर मानता है. यहाँ परमात्मा को 'ईश्वर' कहा गया है, जिसका विवेचन हम आगे करेंगे, किन्तु इसी प्रसंग में यह भी विशेषरूप से उल्लेखनीय है कि आत्मा के विषय में न्याय एवं वैशेषिक इन दोनों ही दर्शनों की एक जैसी मान्यताएँ हैं।

यहाँ तक हमने सभी भारतीय–दर्शनों की दृष्टि में 'आत्मा' विषयक विचारों का अध्ययन किया। अब हम सभी दर्शनों में 'ईश्वर' विषयक विचारों का तुलनात्मक अध्ययन करेंगे।

(ख) **ईश्वर**

सामान्यतः ऐश्वर्यसम्पन्न 'ईश्वर' कहलाता है, किन्तु दर्शन की भाषा में इस पद से जगत् का नियन्ता, निर्माता आदि का ग्रहण होता हैं। यहाँ 'ईश्वर' एक महत्त्वपूर्ण तत्त्व है। यद्यपि इसके अस्तित्व के विषय में सभी दर्शन एक मत नहीं हैं। कुछ तो इसे सृष्टि की निर्मात्री, संचालन करने वाली, अदृश्य शक्ति स्वीकार करते हैं, किन्तु अन्य इसके निर्माण अथवा व्यवस्था के लिए 'ईश्वर' जैसी किसी सत्ता को मान्यता प्रदान नहीं करते हैं। अब हम यहाँ सभी दर्शनों की दृष्टि में इस विषय पर संक्षेप में चर्चा प्रस्तुत करते हैं–

(क) **चार्वाक–दर्शन–** इसके मत में, जगत् की व्यवस्था आदि के लिए 'ईश्वर' की कोई आवश्यकता नहीं है। संसार के सभी काम स्वभाववश स्वतः ही चलते रहते हैं। **जैसे–** पृथ्वी, जल, वायु, अग्नि ये चार भूत स्वभावतः उचित मात्रा में संयुक्त होकर सृष्टि का निर्माण करते हैं। पानी ठंडा है, अग्नि गर्म है, यह सब इनका स्वभाव ही है। **'ईश्वर' आदि में विश्वास करना दुर्बल लोगों का कार्य है। प्रकृति के**

सभी कार्य स्वयं ही चलते हैं। अतः किसी भी 'ईश्वर' जैसी अलौकिक सत्ता में विश्वास करना मूर्खता है।[1]

(ख) **जैनदर्शन–** यद्यपि सैद्धान्तिक दृष्टि से यह दर्शन 'ईश्वर' के अस्तित्व का खण्डन करता है, किन्तु व्यावहारिकरूप में यहाँ 'ईश्वर' के प्रति विश्वास दृष्टिगोचर होता है, क्योंकि इस दर्शन में 'ईश्वर' के स्थान पर तीर्थंकरों को मान्यता प्रदान की गई है। इनके अनुसार– तीर्थंकरों में अनन्त ज्ञान, अनन्त–दर्शन, अनन्त–शक्ति, अनन्त–सुख विद्यमान रहते हैं, ये मुक्त होते हैं। इसीलिए यहाँ पर इनकी श्रद्धा एवं भक्तिपूर्वक आराधना की जाती है। इनकी मूर्तियाँ बनाकर पूजन किया जाता है। प्रत्येक जैन धर्मावलम्बी का मानना है कि तीर्थंकर के बताए गए मार्ग पर चलने से 'मोक्ष' की प्राप्ति सम्भव है। यद्यपि जैनधर्म में मान्य, पंच परमेष्ठि अर्हत्, सिद्ध, आचार्य, उपाध्याय और साधु इन सभी को गुणादि की दृष्टि से 'ईश्वर' की श्रेणी में भी रखा जा सकता है। यह तो हुई व्यावहारिक बात।[2]

किन्तु सैद्धान्तिक दृष्टि से इस दर्शन को धर्म के इतिहास में भी अनीश्वरवादी वर्ग में रखा गया है। इसके अनुसार– यदि 'ईश्वर' को विश्व का कर्त्ता माना जाए, तो बिना शरीर के यह कैसे सम्भव है? क्योंकि इसे अवयवहीन माना गया है, हम प्रतिदिन के व्यवहार में देखते हैं कि कोई भी कार्य सशरीर प्रणाली द्वारा ही किया जाता है।

इसके अतिरिक्त 'ईश्वर' को एक, सर्वशक्तिमान्, नित्य एवं पूर्ण कहा गया है। इन सभी विशेषणों को जैनदर्शन भ्रामक कहता है। उसका मत है कि– विश्व में अनेक पदार्थ ऐसे हैं, जिनका निर्माता वह नहीं है। 'ईश्वर' को एक माना जाता है और तर्क यह दिया जाता है कि अनेक ईश्वरों को मानने से विश्व में सामंजस्य का अभाव होगा, किन्तु यह कथन उचित नहीं हैं, क्योंकि यदि कई शिल्पकार मिलकर

---

[1] . भारतीय दर्शन, डॉ, राधाकृष्णन् भाग–1, पृष्ठ– 257–58 ।

[2] . भारतीयदर्शन की रूपरेखा, हरेन्द्र प्रसाद सिन्हा, पृष्ठ– 163 ।

एक महल को बना सकते हैं तो कई 'ईश्वर' मिलकर सृष्टि का निर्माण क्यों नहीं कर सकते?[1] इसप्रकार जैनदर्शन सैद्धान्तिक दृष्टि से 'ईश्वर' की सत्ता का प्रबल विरोधी है, किन्तु व्यवहार में इसे तीर्थंकरों के रूप में मान्यता प्रदान करता है।

(ग) **बौद्धदर्शन–** बुद्ध ने 'ईश्वर' की सत्ता का निषेध किया। उन्होंने संसार का संचालन 'प्रतीत्यसमुत्पाद' नियम द्वारा स्वीकार किया है। उसके अनुसार– विश्व परिवर्तनशील एवं अनित्य है। सम्पूर्ण विश्व उत्पत्ति एवं विनाश के नियमों से शासित है। चेतनारूप कर्म से ही सभी पदार्थ अधिष्ठित हैं। जब 'ईश्वर' को नित्य और परिवर्तनशील कहा गया है तो फिर वह नश्वर एवं परिवर्तनशील जगत् का निर्माता कैसे हो सकता है? इसलिए 'ईश्वर' को सृष्टि का निर्माता मानना हास्यास्पद ही है।

बौद्धदर्शन के अनुसार– यदि हम थोड़ी देर के लिए 'ईश्वर' को विश्व का स्रष्टा मान भी लें, तो इसके निर्माण में उसके प्रयोजन का प्रश्न स्वाभाविक है और यदि वह विश्व का निर्माण किसी प्रयोजन के लिए करता है तो फिर उसे पूर्ण कैसे कहा जा सकता है? क्योंकि प्रयोजन व्यक्ति की किसी न किसी कमी को ही अभिव्यक्त करता है और यदि इसके निर्माण में उसका कोई प्रयोजन नहीं है तो फिर उसे 'ईश्वर' नहीं, अपितु 'पागल' ही कहा जाएगा। अतः 'ईश्वर' का अस्तित्व सिद्ध नहीं होता है। उनके अनुसार, पेड़–पौधे, मनुष्य, देवता आदि सभी कार्य–कारण के नियम के अधीन हैं, इनकी उत्पत्ति के लिए ईश्वर जैसी किसी सत्ता को मानने की आवश्यकता नहीं है।

बौद्धदर्शन बुद्धिवादी दर्शन है। इसीलिए यहाँ अनीश्वरवाद से प्रभावित होकर 'ईश्वर' पर निर्भर न रहने का उपदेश दिया गया है। इस दर्शन में आत्मनिर्भरता को प्रोत्साहित किया गया है। इसीलिए बुद्ध ने अपने शिष्यों को **'आत्मदीपो भव'** का उपदेश प्रदान करते हुए स्वयं

---

[1] . भारतीयदर्शन की रूपरेखा, हरेन्द्र प्रसाद सिन्हा, पृष्ठ– 163।

ही प्रकाश खोजने का आदेश प्रदान किया।[1] राहुल सांकृत्यायन ने भी कहा कि–

'**बुद्ध के दर्शन में 'ईश्वर' के लिए कोई स्थान नहीं है।**'[2]

(घ) **मीमांसादर्शन**– मीमांसक भी इस संसार के निर्माता अथवा प्रलयकर्त्ता के रूप में परमात्मा या 'ईश्वर' के अस्तित्व को नहीं मानते हैं। उनके अनुसार– संसार अनादि है, अनन्त है, शाश्वत है। प्राणियों की उत्पत्ति के लिए परमेश्वर जैसी किसी वस्तु की आवश्यकता ही नहीं है। परमात्मा कोई बढ़ई या लुहार नहीं है, जो बैठकर इस संसार को गढ़ता रहे। वस्तुतः प्राणिमात्र की उत्पत्ति जनन–क्रिया के नियमों के अनुसार माता–पिता द्वारा होती है।[3]

कुमारिलभट्ट एवं प्रभाकरभट्ट दोनों ही ने जगत् की सृष्टि या विनाश के लिए 'ईश्वर' की आवश्यकता अनुभव नहीं की। कुमारिलभट्ट तो वेद का निर्माता भी 'ईश्वर' को स्वीकार नहीं करते हैं। उनके अनुसार– यदि वेद की रचना 'ईश्वर' द्वारा मानी जाए, तो वेद संदिग्ध हो सकते हैं, जबकि वेद तो अपौरुषेय हैं। स्वयंप्रकाश हैं एवं स्वतःप्रमाण हैं।

इसी कारण कुछ विद्वानों ने मीमांसा के देवताओं को महाकाव्य के अमरपात्र के समान माना है। उनके अनुसार– उन्हें केवल आदर्श पुरुष कहा जा सकता है, इससे अधिक कुछ नहीं। इसीलिए उनके नाम पर केवल होम किया जाता है, उन्हें बलि प्रदान की जाती है। इसी कारण मीमांसा दर्शन निरीश्वरवादी है।

किन्तु प्रो. मैक्समूलर ने मीमांसादर्शन को निरीश्वरवादी कहने में अपनी असहमति व्यक्त की है। उनके अनुसार– यद्यपि मीमांसकों ने 'ईश्वर' के सृष्टिकार्य के विरोध में आक्षेप किया है, किन्तु इसका यह

---

[1]. भारतीय–दर्शन की रूपरेखा, हरेन्द्र प्रसाद सिन्हा, पृष्ठ–924 ।

[2]. दर्शन दिग्दर्शन– राहुल सांकृत्यायन, पृष्ठ– 522 ।

[3]. भारतीय–दर्शन का इतिहास– डॉ. एस.एन. दासगुप्त, भाग–1, पृष्ठ– 408 ।

अभिप्राय मानना उचित नहीं कि वे अनीश्वरवादी हैं, क्योंकि सृष्टि के अभाव में भी 'ईश्वर' को माना जा सकता है। वस्तुतः यह दर्शन वेद पर आधारित है और वेद में 'ईश्वर' का पूर्णरूप में संकेत मिलता है। अतः मीमांसकों को अनीश्वरवादी कहना तर्कसंगत प्रतीत नहीं होता। इसी कारण बाद में मीमांसा के अनुयायियों ने अपने दर्शन में 'ईश्वर' को स्थान दिया है। उन्होंने 'ईश्वर' को कर्मफल देने वाला एवं कर्मों का संचालन करने वाला माना है।[1]

(ड) **वेदान्त दर्शन–** यहाँ ब्रह्म को एक नित्य तत्त्व माना गया है, जो निर्गुण और निराकार है, किन्तु यदि हम विचार के माध्यम से इसे जानने का यत्न करते हैं तो यही 'ईश्वर' बन जाता है, क्योंकि **सगुण ब्रह्म ही 'ईश्वर' है।** यह सर्वज्ञ, सर्वव्यापक, स्वतन्त्र, अन्तर्यामी और संख्या में एक है। यहाँ 'ईश्वर' को संसार का निर्माण करने वाला, पालन करने वाला तथा प्रलयकाल में संहार करने वाला माना गया है। 'माया' इसकी शक्ति है, जिसके सहयोग से यह सृष्टि का निर्माण करता है।

इसके अतिरिक्त वेदान्तदर्शन में 'ईश्वर' को व्यक्तित्व सम्पन्न उपासना का विषय तथा कर्म–नियमों का अध्यक्ष बताया गया है। यही लोगों के शुभ, अशुभ कर्मों के फलस्वरूप उन्हें सुख एवं दुःख प्रदान करता है। 'ईश्वर' स्वयं में पूर्ण सत्ता है, वह सृष्टि का कारण है, किन्तु उसका कोई कारण नहीं है, वह एक है।

सृष्टि का निर्माण 'ईश्वर' का एक खेल है अथवा यों कहें कि यह इसका स्वभाव है, ठीक उसीप्रकार **जैसे–** श्वाँस लेना, समस्त प्राणी समुदाय का स्वभाव है। यहाँ 'ईश्वर' को सृष्टि का उपादान कारण एवं निमित्त कारण दोनों माना गया है, ठीक मकड़ी की तरह,

जैसे– मकड़ी अपने जाले के लिए स्वयं ही उपादान और निमित्तकरण होती है। यद्यपि 'ईश्वर' स्वभाव से निष्क्रिय है, किन्तु

---

[1] - भारतीय दर्शन की रूपरेखा, हरेन्द्र प्रसाद सिन्हा, पृष्ठ– 289

माया के सम्पर्क में आने पर वह सक्रिय हो जाता है। यहाँ माया को सत्त्व, रजस् और तमोगुण की साम्यावस्था कहा गया है। इस दर्शन के अनुसार– 'ईश्वर' इस सम्पूर्ण सृष्टि के कण–कण में व्याप्त है, किन्तु फिर भी वह निर्लिप्त है, विश्वातीत है। यहाँ इसे ब्रह्म का 'विवर्त' माना गया है।

(च) **सांख्यदर्शन–** सांख्य वस्तुतः अनीश्वरवादी है, क्योंकि यहाँ केवल पच्चीस तत्त्वों को ही मान्यता प्रदान की गई है। पुरुष, प्रकृति, ये दो तत्त्व नित्य हैं तथा पुरुष का प्रकाश जब सत्त्व, रजस् और तमोगुण की साम्यावस्था प्रकृति पर पड़ता है, तो सृष्टि का निर्माण होता है। इस क्रम में सर्वप्रथम महत्, उससे अहंकार, अहंकार से पंच तन्मात्राएँ, पंच ज्ञानेन्द्रियाँ, पंच कर्मेन्द्रियों और मन की उत्पत्ति होती है। अन्त में पंच तन्मात्राओं से पृथ्वी, जल, अग्नि, वायु एवं आकाश इन पंच महाभूतों की उत्पत्ति मानी गई है।

अतः स्पष्ट है कि इस सृष्टि प्रक्रिया में 'ईश्वर' के नाम का कहीं उल्लेख नहीं हुआ है, यद्यपि कुछ विद्वानों ने इसे ईश्वरवादी सिद्ध करने का प्रयास किया है, जिसे जटिल प्रक्रिया ही कहा जाएगा, क्योंकि महत् से लेकर पंचस्थूल महाभूतपर्यन्त सम्पूर्ण सृष्टि का निर्माण यहाँ प्रकृति द्वारा ही बताया गया है। इसलिए विश्व का कारण प्रकृति को ही मानना तर्कसंगत है, 'ईश्वर' आदि अन्य किसी सत्ता को नहीं। वाचस्पतिमिश्र, अनिरुद्ध आदि विद्वानों ने स्पष्टरूप से इसे अनीश्वरवादी ही माना है।

दासगुप्त ने भी इस विषय में स्पष्ट निर्देश किया है। उनके अनुसार– 'सांख्य और योग के मध्य मूल अन्तर यही है कि– सांख्य ईश्वरवाद का निषेध करता है, जबकि योग ईश्वरवाद की प्रस्थापना का पक्षपाती है। यही कारण है कि सांख्य को निरीश्वर और योग को सेश्वर सांख्य कहकर विवेचित किया जाता है।'[1]

---

[1]. भारतीय दर्शन का इतिहास, दासगुप्त, पृष्ठ– 253 ।

(छ) **योगदर्शन**– यह दर्शन स्पष्टरूप से 'ईश्वर' की सत्ता को स्वीकार करता है, क्योंकि सांख्य के पच्चीस तत्त्वों को मान्यता प्रदान करने के बाद, यह उसमें 'ईश्वर' का विचार संयुक्त कर देता है। इस कल्पना का मुख्य उद्देश्य 'ईश्वर' को भक्ति के लिए अत्यन्त उपयोगी मानना है, क्योंकि यहाँ 'ईश्वर' को ध्यान का सर्वश्रेष्ठ विषय माना गया है। योगदर्शन, यहाँ चित्तवृत्तियों के निरोध की महत्ता स्वीकार की गई है, इसमें 'ईश्वर' की परिकल्पना अत्यन्त सहायक रही है।

महर्षि पतंजलि ने स्पष्टरूप से 'ईश्वर' को एक विशेष प्रकार का पुरुष मानते हुए, उसे दुःख–कर्म विपाक से अछूता माना है।[1] यहाँ इसे सर्वज्ञ, पूर्ण, अनन्त, असीमित शक्तिसम्पन्न, नित्य, अनादि और सर्वव्यापी स्वीकार किया है और इस दर्शन में यह सत्त्व, रजस् और तमस् तीनों गुणों से अछूता है। यहाँ तक कि इसे मुक्तात्मा से भी भिन्न माना गया है, क्योंकि वह बन्धन में रहने के बाद मुक्त होता है, किन्तु यह तो नित्य मुक्त ही है।

इस दर्शन की 'ईश्वर' विषयक धारणा की एक महत्त्वपूर्ण विशेषता और है कि यहाँ 'ईश्वर' को सृष्टि का निर्माता, पालक एवं संहारक नहीं माना है, क्योंकि सृष्टि का निर्माण तो सांख्य–सिद्धान्त के अनुसार प्रकृति से ही हुआ है, किन्तु सांख्य के प्रकृति एवं पुरुष एक–दूसरे से भिन्न एवं विरुद्ध स्वभाव के होने के कारण, इन्हें संयुक्त करने के लिए ही यहाँ 'ईश्वर' की परिकल्पना की आवश्यकता अनुभव की गई। इसप्रकार योगदर्शन में 'ईश्वर' वस्तुतः सृष्टि का निमित्त कारण माना जा सकता है तथा प्रकृति को उपादान कारण कह सकते हैं।

इसके अनुसार– ईश्वर दयालु, वेदों का प्रणेता, अन्तर्यामी, धर्म, ज्ञान एवं ऐश्वर्य का स्वामी है। योग के मार्ग में आने वाली बाधाओं को दूर करने वाला, ऋषियों का गुरु भी है। यहाँ 'ओ३म्' 'ईश्वर' का

---

[1]. योगसूत्र– 9/28 ।

सर्वश्रेष्ठ नाम बताया गया है। उसकी भक्ति करने वालों की वह सहायता करता है।

(ज) **न्यायदर्शन–** यह भी ईश्वरवादी दर्शन है, क्योंकि यह 'ईश्वर' की सत्ता को स्वीकार करता है। आचार्य गौतम ने 'ईश्वर' का कथन किया है। महर्षि कणाद के अतिरिक्त प्रायः सभी न्यायाचार्यों ने 'ईश्वर' के स्वरूप पर विस्तार से विचार किया है अथवा यों भी कहा जा सकता है कि प्रमाण–शास्त्र के पश्चात् न्यायदर्शन का महत्त्वपूर्ण अंग, 'ईश्वर' विषयक विचार ही स्वीकार किया जा सकता है।

यहाँ 'ईश्वर' को चैतन्ययुक्त 'आत्मा' कहा गया है। आत्मा के दो प्रकार होते हैं– जीवात्मा एवं परमात्मा। वस्तुतः परमात्मा का ही दूसरा नाम 'ईश्वर' है, जो जीवात्मा से पूर्णतया भिन्न है। 'ईश्वर' पूर्ण, नित्य ज्ञानसम्पन्न एवं पूर्णतया मुक्त है। इस दर्शन में 'ईश्वर' का जीवात्मा के प्रति पिता–पुत्र के समान स्नेहिल व्यवहार माना गया है।

इसके अनुसार– 'ईश्वर' विश्व का निर्माता, पालनकर्ता एवं संहारकर्ता है। इस सृष्टि का निर्माण वह पृथ्वी, वायु, अग्नि, जल के परमाणुओं एवं आकाश, दिक्, काल, मन एवं आत्माओं के सहयोग से करता है। पृथ्वी आदि चार प्रकार के परमाणु गतिहीन होते हैं, उनमें गति के संचालन का कार्य यह 'ईश्वर' ही करता है। इस कारण 'ईश्वर' के अभाव में सृष्टि की परिकल्पना भी नहीं की जा सकती है। सर्वशक्तिमान् एवं सर्वज्ञ 'ईश्वर' ही विश्व की सभी वस्तुओं को स्थिर रखता है, यदि वह ऐसा नहीं करे तो इसका विनाश हो जाए।

'ईश्वर' के अतिरिक्त अन्य कोई भी इस सृष्टि को धारण करने में समर्थ नहीं है। यहाँ नैतिक एवं धार्मिक पतन होने पर अपनी विध्वंसक शक्तियों के माध्यम से यह विश्व का नाश करने में समर्थ है। यह दर्शन, अच्छे एवं बुरे कर्मों का अच्छा अथवा बुरा फल प्रदान करने वाला 'ईश्वर' को ही मानता है। यहाँ पर 'ईश्वर' को अत्यन्त दयालु कहा गया है। उसकी कृपा से ही व्यक्ति को मोक्ष–प्राप्ति सम्भव है।

न्यायदर्शन यद्यपि 'ईश्वर' को अनन्तगुण सम्पन्न मानता है तथापि यहाँ इसे आधिपत्य, वीर्य, यश, श्री, ज्ञान एवं वैराग्य आदि षड् ऐश्वर्य सम्पन्न भी बताया है, इन सभी गुणों का 'ईश्वर' में प्राधान्य माना गया है।

(झ) **वैशेषिक दर्शन–** न्यायदर्शन के समान ही वैशेषिक दर्शन भी परमात्मा को ही 'ईश्वर' संज्ञा प्रदान करता है तथा उसमें उन सभी विशेषताओं को मान्यता प्रदान करता है, जो न्यायदर्शन में बताई गई हैं। पुनरावृत्ति की दृष्टि से यहाँ उनका उल्लेख नहीं किया जा रहा है।

(ग) **जगत्–**

सम्पूर्ण दर्शन साहित्य में जगत् से अभिप्राय मात्र दृश्यमान जगत् से न होकर सम्पूर्ण ब्रह्माण्ड से है। अतः इसी दृष्टि से विभिन्न दर्शनों में विचार किया गया है। अब हम यहाँ अलग–अलग भारतीय–दर्शनों के अनुसार जगत् के विषय में अभिव्यक्त विचारों को प्रस्तुत करेंगे–

(क) **चार्वाक दर्शन–**यह दर्शन केवल प्रत्यक्ष प्रमाण के अन्तर्गत आने वाले दृश्यमान भौतिक जगत् के अस्तित्व को ही स्वीकार करता है। इसीलिए केवल यहीं तक चिन्तन भी करना चाहता है, इससे अधिक नहीं। इसके अनुसार– पृथ्वी, जल, तेज और वायु इन चार तत्त्वों के निश्चित मात्रा में मिलने पर दृश्यमान शरीर, इन्द्रिय तथा जगत् के सभी पदार्थों का निर्माण होता है।[1]

यद्यपि अन्य दर्शनों ने 'आकाश' को भी महाभूतों में स्वीकार किया है, किन्तु चार्वाक इसे भौतिकरूप में स्थित न होने के कारण मान्यता प्रदान नहीं करता है। इसके अनुसार– जगत् की उत्पत्ति एवं विनाश इनके स्वभाव के कारण ही होता है। **जैसे–** जल की शीतलता, अग्नि की उष्णता स्वभावतः सिद्ध है। इसीप्रकार व्यक्ति का युवा होना, बूढ़ा होना, मरना आदि, वनस्पतियों का उत्पन्न होना, बढ़ना, नष्ट होना

---

[1] . चार्वाक दर्शन की शास्त्रीय समीक्षा, सर्वानन्द पाठक, पृष्ठ–111,143 ।

आदि सभी कुछ स्वभाववश घटित होता है। इसे उत्पन्न करने अथवा नष्ट करने वाली कोई शक्ति नहीं है।

(ख) **जैनदर्शन**– यह दर्शन सम्पूर्ण भौतिक जगत् को पुद्गलों द्वारा निर्मित मानता है। इसके अनुसार– इन्द्रियाँ, इन्द्रियों के गोलक, समस्त प्राणियों के शरीर एवं सभी आकृतिमान पदार्थ, वनस्पति आदि सभी पुद्गल हैं। यहाँ पुद्गल के दो रूप माने गए हैं– अणु एवं संघात। पुद्गल का सर्वाधिक सूक्ष्म अवयवरहित अंश, जिसका विभाजन नहीं किया जा सकता 'अणु' कहलाता है। दो या दो से अधिक अणुओं के संयोग से 'संघात' या **'स्कन्ध'** का निर्माण होता है। इस संसार का प्रत्येक दिखाई देने वाला पदार्थ स्कन्ध की श्रेणी में आता है एवं सम्पूर्ण जगत् **'महास्कन्ध'** है।[1]

जैनदर्शन भौतिक जगत् के परिवर्तनों का कारण अणुओं के संश्लेषण एवं विश्लेषण को स्वीकार करता है। अणुओं का आदि, मध्य एवं अन्त नहीं होता। यहाँ इसे सूक्ष्म एवं नित्य माना गया है। सभी मूर्त पदार्थों का आधार यही अणु है। केवल सर्वज्ञ पुरुष ही इन अमूर्त अणुओं का प्रत्यक्ष करने में समर्थ होता है[2], क्योंकि अणुओं में उद्भव एवं विनाश होता रहता है, इसलिए इन्हें 'नश्वर' कहते हैं। पुद्गल में चार गुण होते हैं– रस, स्पर्श, गन्ध एवं वर्ण। इसके रूप 'अणु' में गुरुत्व होता है तथा अधिक गुरुत्व वाले अणु नीचे की ओर तथा हल्के अणु ऊपर की ओर गति करते हैं।

यहाँ अलग–अलग तत्त्वों के भेद से अलग–अलग अणुओं को स्वीकार नहीं किया गया है, अपितु एक प्रकार के अणु ही अलग–अलग संयोगों के माध्यम से अलग–अलग तत्त्वों का निर्माण करते हैं। जैनदर्शन, पृथ्वी आदि चार तत्त्वों को मान्यता देने के साथ–साथ, अशुद्ध जीव के **'स्थावर'** एवं **'त्रस्'** दो भेद करता है। इनमें स्थावर को

---

[1]. सर्वदर्शन संग्रह, पृष्ठ– 36।

[2]. भारतीय–दर्शन, डॉ, राधाकृष्णन् भाग–1, पृष्ठ–291 ।

एकेन्द्रिय कहा गया है। इसके पाँच भेद बताए हैं– पृथ्वीकाय, जल–काय, अग्निकाय, वायुकाय एवं वनस्पतिकाय।

इस दर्शन के अनुसार– विश्व का न तो अन्त है और न ही आरम्भ। इसीलिए इसका कोई निर्माता भी नहीं है। इसलिए इन्होंने 'ईश्वर' को भी मान्यता प्रदान नहीं की है। यह संसार स्वयं–सिद्ध एवं अनादि है। इनके अनुसार– उस क्षण की कल्पना करना भी असम्भव है, जिससे पहले कोई क्षण न रहा हो। समय कब से शुरु हुआ और कब समाप्त होगा, यह कहना सम्भव नहीं है।

इस दर्शन के अनुसार– जगत् में अनन्त चेतन, अनन्त पुद्‌ग–लाणु, एक आकाश, एक धर्मद्रव्य, एक अधर्मद्रव्य और असंख्य कालद्रव्य विद्यमान हैं, इनकी संख्या नियत है। इनमें न तो एक की वृद्धि हो सकती है और न एक की हानि। अनादिकाल से जितने द्रव्य विद्यमान थे, अनन्तकाल तक उतने ही रहेंगे।

(ग) **बौद्धदर्शन–** इसके अनुसार जगत् के सभी पदार्थों की सत्ता क्षणिक है, जिसप्रकार हम नदी के जिस जल में स्नान करते हैं, उसमें पुनः स्नान नहीं कर सकते हैं। ठीक इसीप्रकार संसार की प्रत्येक वस्तु का अस्तित्व प्रवाहरूप है। इसमें एक अवस्था उत्पन्न होती है, तो एक का प्रतिक्षण लय होता जाता है।

इसी **क्षणिकवाद** के सिद्धान्त के कारण हम प्रतिक्षण नई वस्तु का ही दर्शन करते हैं तथा जो वस्तु दो क्षणों में एक जैसी लगती है, वह हमारा भ्रम ही है। वस्तुतः वह सादृश्य है, एकरूपता नहीं। बौद्ध दर्शन शरीर को पृथ्वी, जल, तेज और वायु इन चार तत्त्वों से निर्मित मानता है। यहाँ **वैभाषिक** नामक **सम्प्रदाय** बाह्य जगत् की सत्ता को स्वीकार करते हुए, इसे परमाणुओं का 'संघात' कहता है।

किन्तु **सौत्रान्तिक** बाह्य जगत् की सत्ता को मानते हुए भी इसे प्रत्यक्ष का विषय स्वीकार नहीं करते हैं। वे इसे अनुमानगम्य कहते हैं, क्योंकि क्षणिकवाद के कारण जिस क्षण हम वस्तु का प्रत्यक्ष करते हैं,

उसी पल वह अतीत की वस्तु हो जाती है। उसका ज्ञानमात्र ही शेष रहता है। वस्तु को देखने से एक चित्र जो हमारे चित्त पर अंकित होता है, इसी से बाह्य वस्तुओं का हम केवल अनुमान ही करते हैं। इसके अतिरिक्त **माध्यमिक सम्प्रदाय** को विज्ञान की सत्ता भी मान्य नहीं है। इनके अनुसार– यदि संसार की सत्ता यथार्थ है, तो फिर उसमे परिवर्तन नहीं होना चाहिए, क्योंकि सभी वस्तुएँ प्रतीत्य समुत्पन्न हैं। इसलिए उनका अस्तित्व स्वीकार्य नहीं है।

अतः इनके मत में– संसार न तो सत् है, न असत्। न सद–सद् तथा न ही सदसद् विलक्षण, इसलिए संसार अनिर्वचनीय है। इसी प्रकार वस्तु का न तो भाव है और न ही अभाव, इसलिए यह शून्य ही है। जगत् को यथार्थ मानने वाले वैभाषिक एवं सौत्रान्तिक इसे अणुमय स्वीकार करते हैं। यहाँ परमाणुओं की संख्या चौदह बताई हैं– पाँच विज्ञानेन्द्रिय, पाँच विषय एवं चार महाभूत। परमाणु का प्रत्यक्ष नहीं होता है। यह परमाणु अविभाज्य, अविश्लेष्य, अदृश्य, अस्थायी एवं अस्पर्श्य है, यह श्रवण का विषय भी नहीं होता है।

इसके अनुसार– इन्द्रियों से प्रत्यक्ष होने वाले पदार्थ अणुओं के एकत्रीकरण द्वारा ही बने हैं। संयुक्त होने के बाद भी परमाणु दृष्टि–गोचर होते हैं। इसी इकाई को यहाँ 'अणु' संज्ञा प्रदान की गई। सभी भौतिक पदार्थों के 'रूप' की आधार–भूमि यहाँ वर्ण, गन्ध, स्वाद और स्पर्श के संग्रह को माना गया है।

(घ) **मीमांसा दर्शन–** यहाँ जगत् एवं उसके सभी विषयों को सत्य माना गया है। इसके अतिरिक्त यह दर्शन आत्मा, स्वर्ग, नरक तथा वैदिक यज्ञ के देवों के अस्तित्व को भी स्वीकार करता है। इनके अनुसार– परमाणु भी आत्मा के समान नित्य है एवं ये कर्म के नियम से गतिशील होते हैं, जिससे यह संसार जीवात्माओं के लिए कर्म–फल के भोग क़े योग्य बन जाता है। वस्तुतः यह संसार अनादि एवं अनन्त है।

इस दर्शन में सभी पदार्थों को **भाव** एवं **अभाव** दो श्रेणियों में विभाजित किया गया है। **इनमें** द्रव्य, गुण, कर्म एवं सामान्य भाव– पदार्थ हैं। इसी प्रकार 'अभाव' भी चार प्रकार के माने गए हैं– प्रागभाव, प्रध्वंसाभाव, अत्यन्ताभाव, अन्योन्याभाव।

मीमांसक जगत् की सृष्टि एवं प्रलय दोनों को ही नहीं मानते हैं। इनके मत में– संसार का प्रत्येक पदार्थ प्रतिक्षण उत्पन्न होता है तथा प्रतिक्षण उनका विनाश होता है। यही इनका दैनिक प्रलय है। यह क्रम अविच्छिन्नरूप से चल रहा है। कर्मों का यह क्रम तथा उससे होने वाले परिणाम बीज के अंकुर के समान अनादिकाल तक चलते रहते हैं,[1] इसमें लेशमात्र भी संदेह नहीं करना चाहिए। इस दर्शन के अनुसार– इस संसार में तीन प्रकार की वस्तुएँ हैं, जिनका ज्ञान हमें होता है।

(क) **भोगायतन–** जहाँ रहकर आत्मा सुख–दुःख का अनुभव करता है, वह शरीर **भोगायतन** कहलाता है।

(ख) **भोगसाधन–** जिसके द्वारा आत्मा सुख एवं दुःख का अनुभव करता है, वे इन्द्रियाँ **भोगसाधन** हैं।

(ग) **भोगविषयक–** आत्मा जिन पदार्थों का भोग करता है, वे सभी **भोगविषयक** हैं। इन तीनों वस्तुओं से युक्त नाना रूपात्मक यह जगत् अनादि एवं अनन्त है।[2]

मीमांसादर्शन के प्रमुख व्याख्याकार कुमारिलभट्ट नये द्रव्य की उत्पत्ति नहीं मानते, किन्तु परिवर्तन के सिद्धान्त को स्वीकार करते हैं। उनके मत में प्रत्येक द्रव्य 'नित्य' है, जो रूप एवं गुणों के परिवर्तित होने पर भी स्थायी रहता है। **जैसे–** मिट्टी कभी काली तो कभी पीली दिखाई देती है, किन्तु दोनों में तत्त्व एक से होते हैं।

---

[1] . भारतीय दर्शन, डॉ. राधाकृष्णन् भाग–1, पृष्ठ– 418 ।

[2] . भारतीय दर्शन, आचार्य बलदेव उपाध्याय, पृष्ठ– 327 ।

(ङ) **वेदान्त दर्शन–** शंकराचार्य के अनुसार– माया ही इस भौतिक जगत् का मूल कारण है। सम्पूर्ण भौतिक शरीरों एवं जड़ पदार्थों की उत्पत्ति इसी से हुई है। यहाँ माया को सत्त्व, रजस् और तमस् गुण द्वारा निर्मित माना गया है। इसे न तो सत् कहा जा सकता है और न असत्, अतः इसे अनिर्वचनीय, ज्ञानविरोधी एवं भावरूप कहा गया है। यहाँ इसे ब्रह्म की शक्ति माना है।

वेदान्त के अनुसार– सृष्टि का अर्थ किसी नवीन पदार्थ की उत्पत्ति से नहीं, अपितु अव्यक्त का व्यक्त होना है। यहाँ सृष्टि का क्रमिक विकास सूक्ष्मतमरूप से स्थूलतर रूप में माना गया है। इस क्रम में वेदान्त तीन अवस्थाओं को स्वीकार करता है–

(क) **कारणावस्था** (ख) **सूक्ष्मावस्था** (ग) **स्थूलावस्था।**

इस दर्शन के अनुसार– तमोगुण प्रधान माया की **'विक्षेप' नाम शक्ति** से उपाहित हुआ ब्रह्म ही **'ईश्वर'** कहलाता है और इसी ब्रह्म से सर्वप्रथम आकाश उत्पन्न हुआ। पुनः आकाश से वायु, वायु से अग्नि, अग्नि से जल तथा जल से पृथ्वी उत्पन्न होते हैं। इन पाँचों सूक्ष्म तन्मात्राओं से पंचीकरण की प्रक्रिया द्वारा, यहाँ स्थूल पंचमहाभूतों की उत्पत्ति मानी गई है।

पंचीकृत महाभूतों से चौदह भुवन तथा उनमें निवास करने वाले प्रत्येक प्राणी वर्ग के स्थूल शरीरों का निर्माण होता है। यह दर्शन आकाश आदि अपंचीकृत पंचतन्मात्राओं के सात्त्विक अंशों से क्रमशः अलग–अलग श्रोत्र, त्वक्, चक्षु, रसना और घ्राण आदि पाँच ज्ञानेन्द्रियों की उत्पत्ति मानता है तथा राजस् अंशों से वाक्, पाणि, पाद, पायु और उपस्थ पाँच कर्मेन्द्रियों एवं सम्मिलित रजोऽशों से प्राण, अपान, व्यान, समान और उदान पंचप्राण की उत्पत्ति मानने का पक्षधर है।

इसीप्रकार पंच तन्मात्राओं के सात्विक अंशों से मन और बुद्धि उत्पन्न होते हैं। इन्हीं दोनों में चित्त और अहंकार दोनों का अन्तर्भाव भी माना गया है। दस इन्द्रियाँ, पंच प्राण, मन और बुद्धि इन सत्रह

अवयवों के समूह से **'सूक्ष्म शरीर'** का निर्माण होता है। इसमें मनोमय, प्राणमय एवं विज्ञानमय, इन तीनों कोषों से युक्त होने के कारण इसमें ज्ञान, क्रिया तथा इच्छा इन तीन शक्तियों का योग रहता है।

वेदान्त दर्शन के अनुसार– कारण अवस्था में आनन्दमय कोष ही स्थित रहता है। अज्ञान या माया से आवृत्त ब्रह्म ही 'ईश्वर' एवं **आनन्दमय कोष** है। बुद्धि के साथ पंच ज्ञानेन्द्रियों के समूह को **विज्ञानमय कोष** कहते हैं। इस कोष से आवृत्त हुआ चैतन्य ही **'जीव'** कहलाता है। यही व्यावहारिक कार्यों को सम्पन्न करता है। मन के साथ ज्ञानेन्द्रियों के संयुक्त होने पर इसे **'मनोमय कोष'** की संज्ञा प्रदान की गई है। यही कोष इच्छाशक्ति सम्पन्न होता है।

इसीप्रकार पंच प्राण सहित कर्मेन्द्रियों का समूह **'प्राणमय कोष'** कहलाता है, इसमें क्रियाशीलता की प्रधानता है। यह दर्शन सृष्टि का अन्तिम विकास स्थूल शरीर या **'अन्नमय कोष'** को कहता है, जिसका निर्माण आकाश आदि पंचीकृत स्थूल भूतों से होता है। यह शरीर ही वस्तुतः व्यावहारिक दृष्टि से जन्म–मरण को प्राप्त होता है। जीवात्मा इसी के माध्यम से कर्म करता है तथा इसी से प्राप्त होने वाले फलों का उपभोग करता है। यह दर्शन स्थूलशरीर के चार भेदों को मान्यता प्रदान करता है–

(क) **जरायुज–** शरीरों से उत्पन्न होने वाले मनुष्य, पशु आदि।
(ख) **अण्डज–** अण्डे से उत्पन्न होने वाले पक्षी, सर्पादि।
(ग) **स्वदेज–** पसीने से उत्पन्न होने वाले जूँ, कीट आदि।
(घ) **उद्भिज्ज–** पृथ्वी से उत्पन्न होने वाले वृक्ष, लता आदि।

इस दर्शन ने उत्कृष्ट–कर्मों द्वारा उन्नत जीवन की प्राप्ति सम्भव बताई है तथा निकृष्ट–कर्मों के करने से व्यक्ति को निम्न–योनि की प्राप्ति होती है। यहाँ उद्भिज्ज योनि दुष्ट–कर्मों के करने पर प्राप्त होने वाली 'भोग–योनि' मानी गई है।

यहाँ तक हमने जगत् के स्वरूप एवं उसकी सृष्टि–प्रक्रिया का विभिन्न दर्शनों की दृष्टि से तुलनात्मक उल्लेख किया। अब हम इसके सम्बन्ध में वेदान्त दर्शन की मान्यता का विवेचन करेंगे–

यहाँ ब्रह्म को ही एकमात्र सत्य एवं जगत् को मिथ्या कहा गया है– **'ब्रह्म सत्यं जगन्मिथ्या'**। शंकराचार्य ने जगत् को रस्सी में दिखाई देने वाले सर्प की भ्रान्ति के समान असत्य माना है, जिसप्रकार रस्सी में दिखाई देने वाले सर्प का आधार रस्सी होती है। ठीक उसी प्रकार इस विश्व का आधार 'ब्रह्म' है। इसप्रकार यह जगत् अनित्य, अयथार्थ एवं परिवर्तनशील है। एक रूप में रहने वाला परमात्म तत्त्व ही परमार्थ है, सत् है। शंकराचार्य ने जगत् को जादू (इन्द्रजाल) की उपमा देकर भी बताने का प्रयास किया है।

1. वेदान्त का पंचीकरण– ध्यातव्य है कि वेदान्त दर्शन में स्थूलसृष्टि निर्माण की विशेष प्रक्रिया को स्वीकृति प्रदान की गयी है। इसे वेदान्त का महत्त्वपूर्ण सिद्धान्त भी कहा जा सकता है। इस विषय में पंचदशीकार का कथन विशेषरूप से उल्लेखनीय है। तदनुसार पहले चित्र के माध्यम से इस प्रक्रिया को समझना उचित होगा–
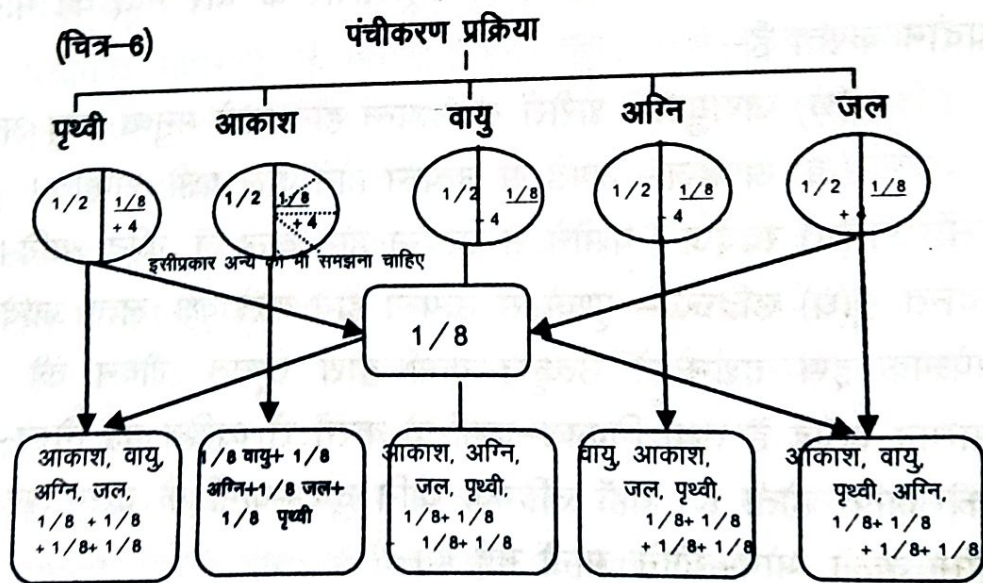
'द्विधा विधाय चैकैकं चतुर्धा प्रथमं पुनः।
स्वस्वेतरद्वित्तीयांशैर्योजनात्पंच पंच ते।।'

अर्थात् सबसे पहले आकाश आदि पंचतन्मात्राओं को बराबर दो भागों में विभाजित करके, इन दस भागों में प्रथम पाँच को छोड़कर अन्य पाँच भागों को चार–चार भागों में विभक्त करके, इसके प्रत्येक भाग को पहले आधे भाग के साथ जोड़कर पंचीकृत महाभूतों की उत्पत्ति होती है। वेदान्त दर्शन में सत्ता को तीन श्रेणियों में विभाजित किया गया है–

(अ) प्रातिभासिक सत्ता– इसके अन्तर्गत क्षणभर के लिए अस्तित्व में आने वाले विषय आते हैं, **जैसे–** स्वप्न, भ्रान्तिवश रस्सी में सर्प मानना, सीप में चाँदी की भ्रान्ति का होना। देखते समय यह यथार्थ प्रतीत होती है, किन्तु अग्रिम क्षण में ही इसका बाध हो जाता है।

(ब) व्यावहारिक सत्ता– इसके अन्तर्गत आने वाले विषय व्यवहाररूप में 'सत्' प्रतीत होते हैं। प्रत्यक्ष प्रमाण द्वारा उनके अस्तित्व को नकारा नहीं जा सकता है। ये रज्जु में सर्प के समान भ्रान्ति नहीं होते हुए भी 'असत्' ही होते हैं, क्योंकि ब्रह्मज्ञान होने पर इसका बाध हो जाता है। इसमें सांसारिक पदार्थ घट–पट आदि आते हैं, यह प्रातिभासिक सत्ता की अपेक्षा अधिक स्थायी है।

(स) पारमार्थिक सत्ता– यही पूर्णरूपेण सत्य है। इसका कभी बाध नहीं होता। इसके अन्तर्गत एक मात्र **'ब्रह्म'** को ही माना गया है। इसी 'सत्' तत्त्व ब्रह्म से व्यावहारिक सत्ता स्वरूप जगत् की उत्पत्ति वेदान्त में **'विवर्तवाद'** के अन्तर्गत आती है, जिसके विषय में प्रसंगवश अपेक्षाकृत विस्तार से उल्लेख किया जा रहा है–

विवर्तवाद– यह वेदान्तदर्शन का महत्त्वपूर्ण सिद्धान्त है। इसके अनुसार– अपने स्वरूप का परित्याग किए बिना एक वस्तु में, अन्य वस्तु की मिथ्या प्रतीति ही **'विवर्त'** कहलाता है, क्योंकि इसके कारण पहले रूप में ही कुछ समय विशेष के लिए अन्य रूप की प्रतीत होती है और कुछ काल के उपरान्त यह भ्रान्ति नष्ट होने पर वस्तु का

वास्तविक स्वरूप हमारे समक्ष आ जाता है। इसका सर्वश्रेष्ठ उदाहरण 'रस्सी में सर्प' या 'सीप में चाँदी' की भ्रान्ति होना दिया गया है।

(च) **सांख्य दर्शन–** यह दर्शन सम्पूर्ण भौतिक जगत् का मूल कारण 'प्रकृति' को मानता है, जो सत्त्व, रजस् और तमस् की साम्यावस्था है। यद्यपि यह जडात्मिका है, किन्तु पुरुष का प्रकाश इस पर पड़ने से इसमें स्थित उक्त तीनों गुण एक–दूसरे को दबाने का प्रयास करते हैं। बस, यहीं से जगत् की सृष्टि–प्रक्रिया प्रारम्भ होती है। सम्पूर्ण जगत् को स्थूल एवं सूक्ष्म दो भागों में विभाजित किया जा सकता है। सांख्यदर्शन इस सबकी उत्पत्ति प्रकृति से ही स्वीकार करता है।

प्रकृति अत्यन्त सूक्ष्म एवं त्रिगुण सम्पन्न है। इसी कारण संसार के सभी पदार्थ त्रिगुणमय हैं। प्रकृति के ये तीनों गुण मिथुन–वृत्ति बताए गए हैं। एक–दूसरे को दबाना इनका स्वभाव है। प्रत्येक गुण अपना कार्य करने के लिए दूसरे गुणों का आश्रय ग्रहण करता है।

(अ) इनमें **सत्त्व** गुण **लघु, प्रकाशक** और **प्रीति** उत्पन्न करने वाला है। वस्तुओं का ऊर्ध्वगमन इसी गुण की उपस्थिति दर्शाता है।

(ब) **रजोगुण उपष्टम्भक** एवं **चंचल** है। यह सत्त्व एवं तमोगुण में प्रेरणा देने वाला है, क्योंकि ये दोनों गुण प्रवृत्ति रहित हैं। वस्तुओं में गति इसी गुण के कारण देखने को मिलती है।

(स) इन दोनों गुणों के विपरीत **तमोगुण, गुरु** एवं **रोकने वाला** है। यह गति को रोकने वाला एवं मोह उत्पन्न करने वाला है। इस गुण के अभाव में संसार की समस्त वस्तुएँ निरन्तर बढ़ती ही चली जाएँ, अग्नि सभी वस्तुओं को जला डाले।

यद्यपि ये तीनों गुण परस्पर विरोधी स्वभाव वाले हैं तथापि ये तीनों **'दीपक की वृत्ति'** के समान सृष्टि कार्य में परस्पर सहयोग करते हैं अर्थात् जिसप्रकार दीपक में तेल, रुई और अग्नि परस्पर विरोधी स्वभाव वाले हैं, किन्तु इन तीनों को विशेष प्रकार से संयुक्त करने पर

ये हमें 'प्रकाश' प्रदान करते हैं। उसी प्रकार विरोधी स्वभाव वाले ये **गुण भी** आपस के सहयोग से संसार की सूक्ष्म एवं स्थूल सम्पूर्ण सृष्टि **रूप** प्रयोजन को सिद्ध करते हैं।

जगत् की सृष्टि– सृष्टि की इस प्रक्रिया में यह दर्शन सर्व प्रथम सूक्ष्मतत्त्वों की उत्पत्ति मानता है। **जैसे–** प्रकृति से यहाँ सर्वप्रथम बुद्धि की, बुद्धि से अहंकार तथा अहंकार से पंचतन्मात्राएँ, पंच ज्ञानेन्द्रियाँ, पंचकर्मेन्द्रियाँ और मन की उत्पत्ति स्वीकार करता है, जिसे इस दर्शन की **सूक्ष्म–सृष्टि** कही जा सकती है।

इसके पश्चात् पंच तन्मात्राओं से यह दर्शन पंच महाभूतों पृथ्वी, जल, आकाश, अग्नि एवं वायु की उत्पत्ति मानता है। सम्पूर्ण दृश्यमान जगत् तथा हमारा शरीर आदि इन्हीं स्थूल महाभूतों से उत्पन्न हुआ है। इसलिए इसे **स्थूल–सृष्टि** भी कहा गया है। प्रलयकाल में प्रत्येक पदार्थ अपने कारण में अर्थात् जिससे वह उत्पन्न हुआ है, समाहित होता चला जाता है। अन्त में पुरुष एवं प्रकृति केवल दो पदार्थ ही शेष बचते हैं।

जैसा कि हमने अभी बताया कि सांख्यदर्शन तन्मात्राओं से स्थूल महाभूतों की उत्पत्ति मानता है। इस क्रम में– गन्धतन्मात्रा से **पृथ्वी,** रस तन्मात्रा से **जल,** रूप तन्मात्रा से **अग्नि,** स्पर्श तन्मात्रा से **वायु** एवं शब्द तन्मात्रा से **आकाश** की उत्पत्ति होती है।

यहाँ प्रकृति के तीनों गुण अत्यन्त सूक्ष्म एवं निरन्तर परिवर्तन शील हैं तथा सम्पूर्ण सृष्टि इन्हीं से निर्मित होती है। इसलिए सम्पूर्ण सृष्टि भी परिवर्तनशील है। यही कारण है कि इसमें उत्पत्ति, वृद्धि एवं विनाश ये परिवर्तन हमेशा दृष्टिगोचर होते हैं। अतः यह दर्शन सम्पूर्ण जगत् को प्रतिक्षण परिवर्तनशील मानता है।

इसके अुनसार– पुरुष के भोग एवं अपवर्ग की सिद्धि के लिए ही प्रकृति सूक्ष्म से स्थूलरूप धारण करती है। पुरुष को विवेक होने की स्थिति में वह उलटी गति से अपनी मूल स्थिति में आ जाती है।

पुरुष के द्रष्टा होने तक ही प्रकृति का **सृष्टिरूप प्रपंच** रहता है। उसके 'मोक्ष' प्राप्त करने पर उसका यह नाटक का अभिनयरूप प्रपंच भी स्वतः समाप्त हो जाता है।

(छ) **योगदर्शन–** जगत् के विषय में योगदर्शन, सांख्य के विचारों से पूर्णतया सहमत है। अतः उसका यहाँ पुनरावृत्ति भय से उल्लेख नहीं किया जा रहा है।

(ज) **न्याय एवं वैशेषिक दर्शन–** जगत् के सम्बन्ध में न्याय एवं वैशेषिक दर्शन के एक जैसे विचार हैं। इसीलिए हम यहाँ इसे एक शीर्षक के अर्न्तगत प्रस्तुत कर रहे हैं। वस्तुतः वैशेषिक दर्शन ने जगत् के विषय में विस्तार से उल्लेख किया है तथा न्याय ने इस विषय में उसके सिद्धान्तों को लगभग ज्यों का त्यों स्वीकार कर लिया है।

अन्तर केवल यही है कि वैशेषिक दर्शन विश्व का अध्ययन तत्त्वमीमांसा की दृष्टि से करता है तथा न्याय इसका ज्ञान मीमांसा की दृष्टि से अवलोकन करता है। इनके सिद्धान्त एक–दूसरे के पूरक होने के साथ–साथ परस्पर पुष्टि भी करते हैं।

ये दोनों दर्शन् जगत् के निर्माण के विषय में परमाणुवाद को लेकर एकमत हैं। संसार का प्रत्येक पदार्थ अपने अवयव परमाणु के द्वारा बना है। परमाणु अविभाज्य एवं नित्य माना गया है, जिन पदार्थों को हम उत्पन्न और नष्ट होते हुए देखते हैं, उनका निर्माण अपने अवयवों के संयोग से हुआ है। इसप्रकार प्रत्येक पदार्थ के अवयव उसके उपादान कारण हैं।

इनके अनुसार– केवल परमाणु नित्य है, किन्तु उसके अवयवों के संयोग से निर्मित सभी पदार्थ अनित्य हैं। इसी कारण इस दृश्यमान जगत् का सम्पूर्ण पदार्थ–समूह नष्ट हो जाता है। अतः परमाणुओं का वियोग, वस्तु का विनाश है एवं संयोग, वस्तु का निर्माण, क्योंकि किसी भी वस्तु की उत्पत्ति शून्य से संभव नहीं है। इसे उदाहरण द्वारा भली

प्रकार समझा जा सकता है। **जैसे–** भले ही भवन नष्ट हो जाए, किन्तु जिन पत्थरों से उनका निर्माण होता है, वे स्थायी रहते हैं।[1]

परमाणु के विभाजन की एक सीमा है, जिसके बाद इसका विभाजन सम्भव नहीं हैं। वस्तुओं में पार्थक्य की प्रतीति के लिए वैशेषिक दर्शन ने परमाणुओं में एक **'विशेष'** नामक पदार्थ की परि–कल्पना की है, पदार्थों की भिन्नता प्रत्येक परमाणु की इसी 'विशेष' पदार्थ की विशेषता पर निर्भर है।

इसके अनुसार– दो परमाणुओं के संयोग द्वारा **'द्वयणुक'** का निर्माण होता है तथा तीन द्वयगुणकों के संयोग से त्र्यणुक का निर्माण होता है।[2] यह **'त्र्यणुक'** ही सूक्ष्मतम कार्य द्रव्य है, जिसे हम नेत्र द्वारा देख सकते हैं। बन्द कमरे में छिद्र से आने वाली किरणों में दिखाई देने वाले धूलि–कण 'त्र्यणुक' ही होते हैं। सम्पूर्ण दृश्यमान जगत् इन्हीं परमाणुओं के संयोग के परिणामस्वरूप ही प्रकाश में आता है।

न्याय–वैशेषिक दर्शन पृथ्वी, जल, अग्नि एवं वायु इन चार महाभूतों को ही मान्यता प्रदान करते हैं।[3] नौ द्रव्यों की गणना में भी वैशेषिक सूत्र ने इन्हीं चारों को प्राथमिकता प्रदान की है।[4] इसने पृथ्वी के चार गुणों– गन्ध, रस, रूप, एवं स्पर्श का कथन किया है। इसके अनुसार– जल में तीन गुण होते हैं– रस, रूप एवं स्पर्श। इसीप्रकार अग्नि के दो रूप एवं स्पर्श तथा वायु में केवल एक 'स्पर्श' नामक गुण ही होता है। ये सभी नित्य एवं अनित्य भेद से दो प्रकार के होते हैं।

इनके अनुसार– कार्यरूप पृथ्वी आदि अनित्य है तथा कारण रूप परमाणुओं में स्थित पृथ्वी आदि नित्य हैं। इनके कारणरूप परमाणुओं का हम प्रत्यक्ष नहीं कर सकते हैं। सृष्टि एवं प्रलय के

---

1. न्यायभाष्य– 4/2/16 ।
2. न्यायकन्दली– पृष्ठ–32 ।
3. न्यायसूत्र– 3/1/60–61 ।
4. वैशेषिक सूत्र– 2/114 ।

सम्बन्ध में न्याय दर्शन के विचारों को डॉ. राधाकृष्णन् ने अत्यन्त सुन्दर ढंग से प्रस्तुत किया है, तदनुसार–

'ईश्वर' की इच्छा से आत्माओं तथा भौतिक परमाणुओं के संयोग से शरीर एवं इन्द्रियों का निर्माण करने वाले परमाणुओं का पार्थक्य हो जाता है। जब परमाणुओं के समूह नष्ट हो जाते हैं तो उनसे निर्मित पदार्थ भी नष्ट हो जाते हैं, तब परमरूप भौतिक द्रव्यों– पृथ्वी, जल, अग्नि एवं वायु का एक–दूसरे में क्रमशः विलय हो जाता है। उस अवस्था में परमाणु एकाकी रह जाते हैं तथा आत्माएँ भी अपने पूर्व के पाप या पुण्य की क्षमताओं से व्याप्त अकेली रहती हैं। उसके बाद फिर प्राणियों को उनके पूर्वकर्मों का फलोपभोग कराने के लिए सर्वोपरि 'ईश्वर' सृष्टि–रचना की इच्छा करता है।

उस 'ईश्वर' के ही विचारमात्र से– अग्नि, वायु, जल एवं पृथ्वी तथा सम्पूर्ण जगत् उत्पन्न होता है। विश्व, नवीन रचना नाम की कोई वस्तु नहीं है। प्रत्येक विश्व अनादि शृंखलाओं में से एक है। प्रत्येक विश्व के पहले तथा बाद में एक विश्व रहता है। इसप्रकार यह सृष्टि का प्रवाह अनन्तकाल तक चलता रहता है।'[1]

(घ) **कार्यकारण सिद्धान्त**

भारतीय दर्शनों में कार्य–कारण सिद्धान्त विषयक विचार अत्यधिक प्राचीन है। चार्वाक को छोड़कर प्रायः सभी दर्शनों ने इस विषय पर प्रत्यक्ष, अप्रत्यक्षरूप से विचार किया है। इसका प्रमुख कारण है कि सभी दर्शनों को सृष्टि–प्रक्रिया विषयक सिद्धान्त की स्थापना के लिए इस सिद्धान्त का उल्लेख करना ही पड़ा तथापि इस विषय में सांख्य एवं न्याय दर्शनों में अत्यन्त विस्तार से विवेचना की गई है।

भारतीय–दर्शन विषयक सम्पूर्ण कार्यकारण सिद्धान्त को मुख्य रूप से तीन श्रेणियों में विभाजित किया जा सकता है–

---

[1]. भारतीय–दर्शन, डॉ. राधाकृष्णन, भाग–2, पृष्ठ–196–199 ।

(क) **सत् से सत् की उत्पत्ति**– इसके अनुसार 'सत्' पदार्थ कारण से ही 'सत्' कार्य की उत्पत्ति हो सकती है। अतः कार्य अपनी उत्पत्ति से पूर्व अपने कारण में विद्यमान रहता है, जिसे 'सत्कार्यवाद' नाम दिया गया। इसकी सांख्यदर्शन द्वारा विस्तार से व्याख्या प्रस्तुत की गई, जिसका आगे विवेचन किया जाएगा।

(ख) **असत् से सत् की उत्पत्ति**– न्याय, वैशेषिक, जैन, बौद्ध एवं मीमांसा ये सभी इसे मान्यता प्रदान करते हैं। इसके अनुसार कार्य की उत्पत्ति से पूर्व इसका अपने कारण में प्राक्–अभाव रहता है। अतः असत् कारण से सत् कार्य की उत्पत्ति होती है। कार्य का किसी कारण–विशेष से उत्पन्न होना, न्याय की दृष्टि से स्वभाववश होता है।

(ग) **सत् से असत् की उत्पत्ति**– इसके अनुसार सत् पदार्थ कारण से असत् कार्य की उत्पत्ति मानी गई है। वेदान्तदर्शन ने इस मान्यता को प्रस्थापित किया, क्योंकि वह 'सत्' ब्रह्म से 'असत्' जगत् की उत्पत्ति को स्वीकार करता है। अब हम सर्वप्रथम 'असत्कार्यवाद' का विवेचन प्रस्तुत करेंगे–

(1) **असत्कार्यवाद**– न्यायदर्शन के अनुसार– कार्य और कारण में अत्यन्त भेद होता है। अतः यह किसी रूप में भी कारण में विद्यमान नहीं रहता है। उत्पत्ति से पूर्व कार्य का कारण में **प्राक्–अभाव** रहता है तथा विनाश के बाद उसका **ध्वंस–अभाव** हो जाता है। इसी सिद्धान्त को **'आरम्भवाद'** कहा गया है, क्योंकि यह सिद्धान्त, कार्य को नए आरम्भ के रूप में स्वीकार करता है। सांख्यदर्शन ने इसके ठीक विपरीत, सत्कार्यवाद को मान्यता प्रदान की है। 'असत्कार्यवाद' को सिद्ध करने के लिए न्यायदर्शन निम्न तर्क प्रस्तुत करता है–

(अ) यदि उत्पत्ति से पहले कार्य, कारण में विद्यमान रहता, तो वह स्वयं ही उससे उत्पन्न होता, उसे उत्पन्न करने में किसी निमित्त अर्थात् कारण की आवश्यकता नहीं पड़ती। **जैसे**–घड़ा यदि मिट्टी में पहले से विद्यमान था, तो फिर उसे उत्पन्न करने के लिए कुम्हार की

कोई आवश्यकता नहीं है, किन्तु ऐसा नहीं होता। अतः 'असत्कार्यवाद' का सिद्धान्त मान्य है।

(आ) यदि कार्य उत्पत्ति से पहले वह कारण में विद्यमान था, तो फिर उसके उत्पन्न होने के बाद, 'यह उत्पन्न हुआ' ऐसा कहना पूर्णरूप से व्यर्थ है, किन्तु ऐसा व्यवहार में प्रयोग किया जाता है। अतः दैनिक व्यवहार में ऐसा प्रयोग 'असत्कार्यवाद' को सिद्ध करता है।

(इ) कार्य की उत्पत्ति से पहले उसके कारण में विद्यमान रहने पर दोनों में भेद करना भी असम्भव ही होता, किन्तु हमारा प्रतिदिन का अनुभव यह भेद करता है। **जैसे–** पट और तन्तु में भेद किया जाता है। अतः 'असत्कार्यवाद' मान्य है।

(ई) उत्पत्ति से पूर्व यदि कार्य, कारण में विद्यमान रहता, तो दोनों के लिए एक ही शब्द का प्रयोग करना चाहिए था, किन्तु दोनों के लिए भिन्न शब्दों का प्रयोग 'असत्कार्यवाद' की पुष्टि करता है।

(उ) इसके अतिरिक्त कार्य एवं कारण के आकार की भिन्नता भी कारण में कार्य की उत्पत्ति से पूर्व उसकी उपस्थिति को असिद्ध करता है। अतः 'असत्कार्यवाद' मान्य है।

भारतीय–दर्शनों में इस सिद्धान्त को न्याय ने प्रस्थापित किया, तथा वैशेषिक, जैन, बौद्ध एवं मीमांसा दर्शनों ने इसे स्वीकार किया। न्याय दर्शन ने कारण के समवायी, असमवायी और निमित्त इन तीन भेदों का उल्लेख किया।

(2) **सत्कार्यवाद–** जबकि सांख्यदर्शन ने प्रबल युक्तियाँ प्रस्तुत करते हुए कार्यकारण सिद्धान्त विषयक 'सत्कार्यवाद' का सिद्धान्त प्रतिपादित किया, जिसे इस दर्शन की आधारभित्ति कहा जा सकता है, क्योंकि यह दर्शन प्रकृति से ही शेष तेईस तत्त्वों की उत्पत्ति स्वीकार करने के साथ–साथ सृष्टि को अपने कारण, प्रकृति में पहले से ही सूक्ष्मरूप में विद्यमान मानता है। अतः इसके अनुसार– सत् से ही सत्

की उत्पत्ति सम्भव है, असत् से नहीं। अपने कथ्य की पुष्टि हेतु सांख्य निम्न तर्क प्रस्तुत करता है–

असदकरणादुपादानग्रहणात् सर्वसम्भवाभावात्।
शक्तस्य शक्यकरणात् कारणभावाच्च सत्कार्यम्।।[1]

(अ) **असद्–अकरणात्–** असत् अर्थात् जो नहीं है, उससे कार्य उत्पन्न नहीं होता, यदि ऐसा होता तो 'आकाश–पुष्प' या 'गदहे के सींग' की स्थिति है ही नहीं। इसलिए उससे कुछ उत्पन्न नहीं होता है। अतः 'सत्कार्यवाद' मान्य है।

(आ) उपादानग्रहणात्– सत्कार्यवाद् का सिद्धान्त ही उचित है, क्योंकि वस्तु–विशेष को उत्पन्न करने के लिए उसके कारण–विशेष उपादान को ही ग्रहण किया जाता है। **जैसे–** यदि हम दही प्राप्त करना चाहते हैं, तो हमें उसका उपादान दूध ही प्राप्त करना होगा, अन्य कोई वस्तु नहीं।

(इ) **सर्वसम्भव–अभावात्–** सत् कारण से ही सत् कार्य की उत्पत्ति का सिद्धान्त ही मान्य है, क्योंकि यदि ऐसा नहीं होता, तो किसी भी कारण से कोई भी कार्य उत्पन्न हो सकता था, किन्तु ऐसा नहीं होता है। रेत के कणों से तेल प्राप्त नहीं किया जा सकता है। अतः 'सत्कार्यवाद' मान्य है।

(ई) **शक्तस्य शक्यकरणात्–** प्रत्येक कारण में कार्य विशेष को उत्पन्न करने की शक्ति विद्यमान होती है। इसीलिए समर्थ कार्य की उत्पत्ति के लिए, समर्थ कारण को ही ग्रहण किया जाता है, अन्य को नहीं। अतः कारण–व्यापार से पहले कार्य का उसमें स्थित होना सिद्ध होता है, इसलिए 'सत्कार्यवाद' मान्य है।

(उ) कारणभावात्– कारण एवं कार्य में अभेद सम्बन्ध होता है। इस स्थिति में यदि कारण है, तो कार्य भी है, ऐसा मानना होगा।

---

[1] सांख्यकारिका– 9 ।

'असत्कार्यवाद' में यह सम्बन्ध नहीं बनता है। इसलिए कारण में कार्य की स्थिति मानना उचित है।

सांख्यदर्शन के अतिरिक्त योगदर्शन ने भी कार्यकारण सिद्धान्त के सम्बन्ध में 'सत्कार्यवाद' को ही मान्यता प्रदान की है। श्रीमद्भगवद् गीता में भी इसी सिद्धान्त को इसप्रकार प्रतिपादित किया गया है–

'नासतो विद्यते भावो नाभावो विद्यते सतः।[1]'

(3) **सत् से असत् की उत्पत्ति–** किन्तु इन दोनों सिद्धान्तों से भिन्न वेदान्त 'सत्' (ब्रह्म) से 'असत्' (जगत्) की उत्पत्ति मानकर सृष्टि प्रक्रिया को सिद्ध करने का प्रयास करता है, क्योंकि वेदान्त दर्शन संसार को ब्रह्म का 'विवर्त' मानता है। ब्रह्म सत् पदार्थ है और जगत् असत् अर्थात् मिथ्या है, इसीलिए यहाँ कहा गया–

'ब्रह्म सत्यं जगन्मिथ्या'

सामान्यरूप से उपादान और निमित्त दो कारण माने गए हैं। निमित्त कारण की सहायता से कार्य की उत्पत्ति होती है, जिसके द्वारा कार्य सम्पन्न होता है, वह उसका 'उपादान कारण' कहलाता है। **जैसे–** घड़े के लिए मिट्टी उपादान कारण है, कुम्हार, तुरी, वेमा आदि निमित्त कारण।

वेदान्तदर्शन ब्रह्म को ही दृश्यमान जगत् का उपादान एवं निमित्त दोनों कारण मानता है। ठीक उसीप्रकार **जैसे–** मकड़ी स्वयं द्वारा निर्मित जाल के लिए उपादान और निमित्त दोनों कारण होती है। विद्वानों ने इसे 'सत्कार्यवाद' का दूसरा रूप 'विवर्तवाद' नाम दिया है, जिसकी स्थापना के लिए वेदान्त 'मायावाद' का आश्रय लेता है।

कुछ अर्थों में चार्वाक भी कार्यकारण सिद्धान्त के विषय में इसी सिद्धान्त को मानता हुआ प्रतीत होता है, क्योंकि उसके अनुसार– वायु, अग्नि, जल और पृथ्वी इन चार भौतिक तत्त्वों के संयोग से इस संसार का निर्माण हुआ है। विश्व के उपादान एवं निमित्तिकारण चार प्रकार

---

[1]. श्रीमद्भगवद्गीता– 2/16 ।

के ये भौतिक तत्त्व ही हैं। चार्वाक के मत में– यह विश्व नाशवान् है, इससे उत्पन्न हुआ शरीर फिर से उत्पन्न नहीं होता है। इसीप्रकार वेदान्त का 'जगत्' भी मिथ्या है।

(ङ) कर्मफल का सिद्धान्त

भारतीय–दर्शन में कर्म–सिद्धान्त से अभिप्राय है– व्यक्ति जैसे कर्म करता है, उसे वैसे ही फल की प्राप्ति होती है। यदि मानव शरीर प्राप्त करने के बाद व्यक्ति अच्छे–कर्म अर्थात् शुभ–कर्म करता है, तो उसे सुख की प्राप्ति होगी तथा अशुभ–कर्म करने पर दुःखों की प्राप्ति सुनिश्चित है।

कर्म–सिद्धान्त को भारतीय दर्शन, चाहे वे आस्तिक हों अथवा नास्तिक, चार्वाक को छोडकर सभी ने स्वीकार किया है, क्योंकि चार्वाक दर्शन न तो पुनर्जन्म में विश्वास करता है और न ही कर्मफल के सिद्धान्त में। इसके मत में– जो कुछ भी है, वर्तमान में है, हमारे सामने है। अतः इस जन्म में ही सर्वाधिक सुख एवं आनन्द की प्राप्ति के प्रयास करने चाहिएँ। भले ही वे ऋण लेकर ही क्यों न किए जाएँ। इसीलिए चार्वाक कहता है–

'यावज्जीवेत् सुखं जीवेत् ऋणं कृत्वा घृतं पिबेत्।'

जहाँ तक मरने तथा पुनः जन्म लेने का प्रश्न है, इस विषय में चार्वाक का मत है–

'भस्मीभूतस्य देहस्य पुनरागमनं कुतः।'

यह शरीर मरने के बाद अग्नि द्वारा जला दिया जाता है। जलने के बाद राख हुए, इस शरीर का संसार में फिर से आगमन भला कैसे हो सकता है? इसलिए जब तक भी जियो, आनन्द के साथ जियो, भले ही इसके लिए आपको कुछ भी क्यों न करना पड़े। अच्छे, बुरे कर्म, स्वर्ग–नरक कुछ नहीं है, जो कुछ है वह सब आपके सामने है। इसलिए स्पष्ट है चार्वाक न तो पुनर्जन्म में विश्वास करता है और न ही कर्म–सिद्धान्त को मानता है।

किन्तु शेष सभी भारतीय–दर्शन आश्चर्यजनक ढंग से इन दोनों विषयों में मतैक्य रखते हैं। यहाँ तक कि बौद्ध एवं जैन दोनों नास्तिक दर्शन भी पुनर्जन्म एवं कर्म–सिद्धान्त को मान्यता प्रदान करते हैं। यहाँ कर्म–सिद्धान्त के साथ पुनर्जन्म के सिद्धान्त की चर्चा, हम इस कारण कर रहे हैं, क्योंकि पुनर्जन्म के सिद्धान्त को स्वीकार करने के अभाव में कर्म–सिद्धान्त की परिकल्पना असम्भव है, ये दोनों एक–दूसरे के पूरक हैं। एक के अभाव में दूसरे की सम्भावना, परिकल्पना, या स्थिति नहीं बनती है।

अब हम विभिन्न दर्शनों की दृष्टि से इन दोनों सिद्धान्तों का विवेचन प्रस्तुत करेंगे–

(क) **जैनदर्शन–** मुक्ति से पहले जीवात्मा कर्मबन्धन में फँसा होने के कारण, अनेक शरीरों को धारण करता है। मृत्यु होने पर जीवात्मा कुछ ही क्षणों में अपने कर्म–शरीर के साथ अगले शरीर को धारण कर लेता है, जो उसे कर्मों के आधार पर ही प्राप्त होता है। यहाँ कर्मबन्धन में स्थित जीवात्मा की चार अवस्थाओं का उल्लेख किया गया है–

(1) नारकीय अवस्था (2) पशु की अवस्था
(3) मनुष्य की अवस्था एवं (4) दैवी अवस्था।

अन्य प्राणियों को कष्ट देने, माँसाहार आदि दुष्ट–कर्मों को करने के फलस्वरूप जीवात्मा को **नारकीय–जीवन** की प्राप्ति होती है। दूसरों को धोखा देना, कपट करना आदि कर्मों के कारण, व्यक्ति को **पशु–जीवन** मिलता है। नम्रता, दया आदि गुणों द्वारा **मानव–जीवन** की प्राप्ति एवं तपस्या, व्रत आदि का पालन करने से **दैवी–अवस्था** प्राप्त होती है।

कर्मफल के विषय में जैनदर्शन का मानना है– इस जन्म में किए गए दुष्कर्मों का फल भोगने के लिए, जीवात्मा को दूसरा जन्म धारण करना होगा। पिछले या उससे भी पहले जन्मों के बुरे–कर्मों के

परिणामस्वरूप वर्तमान जीवन की प्राप्त हुई है। पूर्व जन्मों के दुष्कर्मों का फल यदि वर्तमान जीवन में नहीं भोगा गया, तो जीवात्मा को पुनः जन्म ग्रहण करना पड़ेगा। ये सभी बातें श्रेष्ठ कर्मों के फलों के बारे में भी लागू होंगी। इसप्रकार अच्छे या बुरे कर्मों के फल भोगने के लिए ही जीवात्मा का विभिन्न योनियों में आवागमन होता रहता है।

(ख) **बौद्धदर्शन–** बौद्धदर्शन के **प्रतीत्य–समुत्पाद** के बारह अंगों में पुनर्जन्म विषयक सिद्धान्त का विस्तारपूर्वक उल्लेख हुआ है। ये बारह अंग इस प्रकार है–

1) अविद्या
2) संस्कार
3) विज्ञान
4) नामरूप
5) षडायतन[1]
6) स्पर्श
7) वेदना
8) तृष्णा
9) उपादान
10) जन्म (जाति)
11) बुढापा एवं
12) मृत्यु[2]

इस सिद्धान्त के अनुसार– अविद्या से प्रेरित पूर्वजन्म में किए गए, कर्म ही इस जन्म के कारण हैं। संस्कार से 'भाव' तक के आठ अंगों का सम्बन्ध वर्तमान जीवन से है। इनमें 'भव' जीवात्मा की उस अवस्था को प्रदर्शित करता है, जिसके कारण उसे दूसरा जन्म धारण करना पड़ता है। इस जन्म के 'भव' द्वारा ही अन्तिम तीनों अंग– जन्म, जरा एवं मरण सम्पन्न होते हैं।

भगवान् बुद्ध के अनुसार– असंख्य जन्मों को धारण करते हुए जीवात्माएँ इसीप्रकार इस संसार में अनेक दुःख भोग रही हैं। यह शृंखला तब पूर्ण होगी, जब मनुष्य **भव–तृष्णा** को पूर्णरूप से पार कर लेगा अर्थात् उस पर विजय प्राप्त कर लेगा।

---

1. इसके अन्तर्गत पाँच ज्ञानेन्द्रियाँ एवं मन आते हैं ।
2. बौद्ध–दर्शन मीमांसा, आचार्य बलदेव उपाध्याय, पृष्ठ– 62–65 ।

(ग) **मीमांसा दर्शन–** यह दर्शन धर्म एवं अधर्म के व्यापार को पुनर्जन्म का प्रमुख कारण मानता है। इनके वश में हुआ जीव, अनेक योनियों में भटकता रहता है।[1] ज्ञान के द्वारा ही कर्म की समाप्ति सम्भव है, क्योंकि यही आगे के लिए जीव के पाप, पुण्य के संचय को रोकता है। हमारी रुचियाँ और अरुचियाँ ही भावी–जीवन का निर्णय करती हैं।[2]

(घ) **वेदान्तदर्शन–** इस दर्शन के अनुसार– आत्मा स्वयं में कभी नष्ट न होने वाला है। इसका शरीर के साथ संयोग ही जन्म है एवं वियोग ही मृत्यु । एक शरीर का परित्याग करके यह दूसरे शरीर को धारण कर लेता है। इसके लिए इसे एक सूक्ष्म–शरीर का आश्रय लेना पड़ता है। यही सूक्ष्म–शरीर आत्मा को शरीर से निष्क्रमण एवं उसमें प्रवेश के सम्बन्ध में **'वाहन'** का कार्य करता है।

मनुष्य अच्छे या बुरे, जो भी कर्म करता है, उसके 'संस्कार' सत्रह अवयवों से निर्मित इस सूक्ष्म–शरीर में अंकित हो जाते हैं, जिनके फलभोग के लिए जीव बार–बार शरीर धारण करता है। यह सूक्ष्म–शरीर जब तक रहता है, तब तक जीवात्मा इस संसार में शरीर धारण करके आवागमन के चक्कर में पड़ा रहता है।

निष्काम–कर्म करते हुए सम्यक्–ज्ञान की प्राप्ति से ही सूक्ष्म–शरीर की समाप्ति सम्भव है। यही वेदान्त की दृष्टि में 'मोक्ष' है। इसप्रकार सूक्ष्मशरीर एवं स्थूलशरीर द्वारा किए गए अच्छे अथवा बुरे कर्म ही जीवात्मा के पुनर्जन्म के कारण हैं। मोक्षप्राप्ति तक यह जन्ममरण का चक्र इसीप्रकार चलता रहता है।

(ङ) **सांख्य–योगदर्शन–**यें दोनों दर्शन भी पुनर्जन्म को स्वीकार करते हैं। यहाँ भी स्थूलशरीर के अतिरिक्त एक सूक्ष्मशरीर की परि–

---

[1]. धर्माधर्मवशीकृतो जीवस्तसु तासु योनिपु रांसरति।

प्रकरपंचिका–तत्त्वलोक पृष्ठ–156 ।

[2]. भारतीय–दर्शन, डॉ. राधाकृष्णन्, भाग– 2, पृष्ठ– 417 ।

कल्पना की गई है, जो मोक्षपर्यन्त विद्यमान रहता है। इसे 'लिंग–शरीर' भी कहा जाता है। सृष्टि के आरम्भ में एक ही सूक्ष्म–शरीर होता है, जो बाद में कर्म–विशेष के कारण व्यक्ति भेद से अनेक हो जाता है। यद्यपि यह सूक्ष्म–शरीर अनित्य है तथापि इसकी स्थिति महाप्रलय पर्यन्त बनी रहती है। इसकी गति अबाध होती है। यह कहीं भी जा सकता है, पत्थर में भी प्रवेश कर सकता है।

सूक्ष्म–शरीर द्वारा विषयों का भोग सम्भव न होने के कारण, यह स्थूल शरीर को धारण करता है। कर्मों की फलभोग समाप्ति पर्यन्त, यह अनेक योनियों में स्थूलशरीर धारण करता रहता है। सत्त्व प्रधान व्यक्ति ऊर्ध्व–लोकों को प्राप्त करते हैं। तमोगुण प्रधान प्राणी निकृष्ट लोकों में प्रस्थान करते हैं तथा रजोगुण प्रधान जीवात्माएँ मध्यम लोकों में जन्म लेती हैं।[1]

धर्म, अधर्म, ज्ञान, अज्ञान, विराग, राग, ऐश्वर्य, अनैश्वर्य इन आठ भावों से अधिवासित सूक्ष्म–शरीर अनेक लोकों में विविध योनियों के अन्तर्गत संचरण करता रहता है। इनमें ज्ञान को छोड़कर, शेष सभी सूक्ष्म–शरीर के बन्धन के कारण हैं तथा एकमात्र ज्ञान द्वारा इसका 'मोक्ष' होता है। हमें पूर्वजन्मों का स्मरण नहीं रहता है, किन्तु पूर्वजन्म की विशेषताओं का अनुमान कई बार वर्तमान जीवन की प्रवृत्तियों से लगाया जा सकता है।

(च) **न्याय–वैशेषिक–** ये दोनों दर्शन भी पुनर्जन्म एवं कर्मवाद में विश्वास रखते हैं। यहाँ भी अन्य दर्शनों के अनुसार ही सूक्ष्म–शरीर की परिकल्पना की गई है। न्यायसूत्र में प्रमेय पदार्थों के अन्तर्गत 'प्रेत्यभाग' की गणना हुई है।[2] जीवात्मा द्वारा धारण किए गए शरीरों का निर्धारण पूर्वजन्म के कर्मों के अनुसार होता है। न्यायदर्शन प्रलय काल में भी सूक्ष्म–शरीर की स्थिति को स्वीकार करता है।[3]

---

[1] . सांख्यसूत्र– 3/48–50 ।

[2] . पुनरुत्पत्तिः प्रेत्यभावः । 1/1/19।

[3] . न्यायभाष्य 1/1/19।

इसके अनुसार– यह अनिवार्य नहीं है कि पूर्वजन्मों में किए गए, सभी कर्मों को हम एक ही जन्म में भोग लें। अतः समस्त कर्मों के विपाक के लिए हमें अनेक जन्म धारण करने पड़ते हैं। प्रत्येक जन्म में किए गए कर्मों के कारण यह शृंखला निरन्तर बनी रहती है।

वैशेषिक दर्शन ने एक शरीर का परित्याग करके दूसरे शरीर को धारण करने का कारण **'अदृष्ट'** को माना है।[1] यहाँ बताए गए अदृष्ट का निर्माण भी मनुष्य द्वारा किए गए कर्मों द्वारा ही होता है। इसके अनुसार– संस्कारों की समाप्ति अनेक जन्मों में उनके **'विपाक'** द्वारा ही सम्भव है। ये दर्शन साधना एवं संयम आदि द्वारा पूर्वजन्मों की स्मृति को भी स्वीकार करते हैं। इसके लिए ये जन्म के समय बालक द्वारा अनुभव की जाने वाली प्रसन्नता, भय एवं रुदन आदि को उदाहरणरूप में प्रस्तुत करते हैं, क्योंकि वह सोते–सोते कभी हँसता है, तो कभी रोता है तथा कभी डर जाता है, यह सब उसकी पूर्वजन्म की स्मृति से ही होता है।

(च) **मोक्ष**

दुःखों की आवश्यक रूप से (ऐकान्तिक) एवं हमेशा के लिए (आत्यन्तिक) निवृत्ति ही सभी भारतीय दर्शनों का अन्तिम लक्ष्य है। दूसरे शब्दों में, इसे इसप्रकार भी कहा जा सकता है कि 'ऐसी अवस्था को प्राप्त करना ही 'मोक्ष' है, जहाँ सभी दुःखों की समाप्ति हो जाती है।'

उल्लेखनीय है कि इस अवस्था का नामकरण अलग–अलग दर्शनों ने भिन्न–भिन्न रूप में किया है। **जैसे–** जैनदर्शन इसे मुक्ति, बौद्धदर्शन निर्वाण, न्याय अपवर्ग, सांख्य एवं योग इसे कैवल्य, वेदान्त, मीमांसा एवं वैशेषिक इसे 'मोक्ष' कहता है। इस स्थिति में व्यक्ति (जीवात्मा) जन्म–मरण के चक्र से हमेशा के लिए छूट जाता है तथा उसे दुःखों से भी सदैव के लिए मुक्ति मिल जाती है।

---

[1]. वैशेषिकसूत्र– 5/2/17 ।

यद्यपि भारतीय दर्शनों में 'मोक्ष' के स्वरूप को लेकर यत्किंचित् मत वैमत्य भी मिलता है तथापि चार्वाक को छोडकर सभी दर्शन इस स्थिति को प्राप्त करने के लिए तत्त्वज्ञान की प्राप्ति की अनिवार्यता एवं लम्बे समय तक निश्चित साधना के अवलम्बन की आवश्यकता को प्रतिपादित करते हैं। चार्वाक दर्शन की दृष्टि में तो शरीर का मरण ही 'मोक्ष' है।

अतः अब हम शेष भारतीय–दर्शनों की मोक्ष–विषयक धारणा का अध्ययन करेंगे–

(क) **जैनदर्शन–** इसके मत में– जीव की 'अजीव' से मुक्ति ही 'मोक्ष' है। वस्तुतः बन्धन के कारणों का पूर्णतया अभाव एवं संचित कर्मों का क्षय ही जीव को 'मोक्ष' की ओर ले जाने वाला है। सांसारिक अवस्था में स्थित जीव के विकृत–गुण इस स्थिति में स्वाभाविक दशा को प्राप्त हो जाते हैं। अनादिकाल से जो आत्मा अशुद्धियों तथा कलुषताओं का पुँज बना हुआ था। वह 'मोक्ष' की स्थिति तक पहुँचते– पहुँचते निर्मल, निश्चल, अनन्त, चैतन्य सम्पन्न हो जाता है।[1]

इस अवस्था में संचित–कर्मों का पूर्णरूप से विनाश हो जाता है तथा आगे कर्म का अवसर नहीं रहता है, इस कारण फिर से शरीर धारण की स्थिति नहीं आती है। इस दर्शन के अनुसार– 'मोक्ष' को आत्मा की शून्य अवस्था नहीं कह सकते हैं, अपितु अन्तहीन परमानन्द में प्रवेश ही 'मोक्ष' है।

यह दर्शन, 'मोक्ष' को शरीर से आत्मा का वियोग तो मानता है, किन्तु इसे सत्ता से रहित होना स्वीकार नहीं करता है। इसीप्रकार जैनदर्शन पूर्व–जन्मों के सभी कर्मों के क्षीण होने से, सभी बन्धनों के टूट जाने से, ऊपर की ओर जाने की नैसर्गिक प्रवृत्ति के कारण आत्मा की ऊर्ध्वगति को स्वीकार करता है।

---

[1] . जैन दर्शन, डॉ. महेन्द्रकुमार जैन, पृष्ठ– 176 ।

(ख) **बौद्धदर्शन–** इस दर्शन के सभी सम्प्रदाय आत्मा का 'निर्वाण' स्वीकार करते हैं। उनके अनुसार– 'निर्वाण' पद की व्याख्या शब्दों के द्वारा सम्भव नहीं है, इसकी स्वयं द्वारा, अन्दर ही अन्दर केवल अनुभूति की जा सकती है। इसी कारण यहाँ इसे **'प्रत्यात्मवेद्य'** कहा गया है। बौद्धदर्शन 'अष्टांगमार्ग' द्वारा 'निर्वाण' की प्राप्ति का कथन करता है।

किन्तु इसके स्वरूप के विषय में इस दर्शन की 'हीनयान' और 'महायान' शाखाओं में शाब्दिक अन्तर है। **हीनयान** 'निर्वाण' को दुःख– का अभाव रूप मानता है, जबकि **महायान** ने इसे केवल दुःख का अभाव न मानकर सुखस्वरूप स्वीकार किया है। यहाँ 'निर्वाण' को ही परमार्थ सत्य कहा गया है, जहाँ ज्ञाता एवं ज्ञेय का भेद नहीं रहता है।[1]

विद्वानों ने बौद्धदर्शन के 'निर्वाण' पद की व्याख्या करते हुए इसे अभावात्मक माना है, जिनमें बर्थेलेमी, सेन्ट हिलेरी, चाइल्डर्स, रीज़ डेविडस, पिशेल आदि प्रमुख हैं।[2] वस्तुस्थिति यह है कि बौद्ध उपासक 'निर्वाण' को एक प्रकार का स्वर्ग ही मानते हैं।[3] यद्यपि इस विषय में बुद्ध इसे अतिवाद मानते हुए सदैव मौन ही रहे हैं।

(ग) **मीमांसादर्शन–** प्रसिद्ध मीमांसाकार प्रभाकरभट्ट ने धर्म एवं अधर्म के पूर्णतया नष्ट होने को ही 'मोक्ष' माना है, क्योंकि धर्म, अधर्म ही पुनर्जन्म के कारण बनते हैं। अतः यहाँ इनकी पूर्णरूप से समाप्ति को आवश्यक कहा गया है। इसके अनुसार– एकमात्र ज्ञान द्वारा मुक्ति का प्राप्त होना असम्भव है, इसके लिए कर्मों की समाप्ति अनिवार्य है। ज्ञान द्वारा तो केवल भावी पाप–पुण्य का संचय रोका जा सकता है।

---

[1] . भारतीय दर्शन, डॉ. राधाकृष्णन्, भाग–1, पृष्ठ– 304 ।

[2] . बौद्धदर्शन मीमांसा, पं. बलदेव उपाध्याय, पृष्ठ– 133–135 ।

[3] . बौद्ध धर्मदर्शन, आचार्य नरेन्द्र देव, पृष्ठ– 278 ।

इसके विपरीत कुमारिलभट्ट आत्मा के अपने स्वरूप में अवस्थान को ही 'मोक्ष' मानते हैं। उनके अनुसार– 'मोक्ष' वस्तुतः सुख–दुःख आदि से पूर्णतया रहित अवस्था है। 'मोक्ष' की नित्यता के लिए उसको निषेधात्मक मानना आवश्यक है।

यह दर्शन एक मत से मुमुक्षुओं के लिए निषिद्ध एवं काम्य दोनों प्रकार के कार्यों के परित्याग का निर्देश करता है। साथ ही, नित्य एवं बाध्यकारी कर्म करने की अनिवार्यता का कथन करता है, क्योंकि ज्ञानयुक्त कर्म 'मोक्ष' प्राप्ति में सहायक होते हैं।[1]

(घ) **वेदान्तदर्शन–** शंकराचार्य ने 'मोक्ष' को परमार्थ, कूटस्थ, नित्य, आकाश के समान सर्वव्यापी, विकारशून्य, नित्यतृप्त, अवयवरहित, स्वयं प्रकाशमान बताया है। उनके अनुसार– यहाँ पाप अथवा पुण्य कर्मों की स्थिति नहीं रहती है। अविद्या के विनाश के कारण जीवात्मा बादलों से रहित आकाश में प्रकाशित नक्षत्रों के समान स्वयं प्रकाशित होता है। इस अवस्था में यह अपने यथार्थस्वरूप को धारण कर लेता है।[2]

वेदान्त दर्शन में कर्म से मोक्ष प्राप्ति को स्वीकार नहीं किया गया है, अपितु यहाँ तत्त्व ज्ञान से ही मुक्ति मानी गई है।[3] इसके अनुसार 'मोक्ष' को नाशवान्, विकार अथवा उत्पाद्य नहीं माना जा सकता, अपितु अविद्या के नाश होने पर स्वतः आत्मबोध से इसकी स्थिति बनती है। इस दर्शन के अनुसार आत्मबोध होने के कुछ समय तक शरीर की स्थिति बनी रहती है, जिसे 'जीवन्मुक्त' की दशा कहा जाता है। इसे उदाहरण द्वारा इसप्रकार समझ सकते हैं–

जैसे– कुम्हार द्वारा चाक चलाना बन्द करने पर भी, वह कुछ देर तक चलता रहता है। ठीक इसीप्रकार यह शरीर पूर्व संस्कारवश

---

1. भारतीय दर्शन, डॉ. राधाकृष्णन्, भाग–2, पृष्ठ– 417।
2. ब्रह्मसूत्र शांकरभाष्य– 1/1/4, 1/3/19 ।
3. ऋते ज्ञानान्न मुक्तिः ।

कुछ समय तक बना रहता है। उसकी समाप्ति होने पर ही 'विदेह–मुक्ति' अर्थात् मोक्ष होता है।[1]

यहाँ 'मोक्ष' के लिए कर्म अथवा ज्ञान की अपेक्षा 'ईश्वर' की कृपा को अधिक प्रमुखता प्रदान की गई है, क्योंकि उसके अभाव में मोक्षप्राप्ति पूर्णतया असम्भव है। आचार्य बल्लभ ने ज्ञान एवं ईशकृपा के साथ–साथ भक्ति को भी मोक्षप्राप्ति का मुख्य साधन माना है।[2] इस दर्शन में एक–मत से 'मोक्ष' को पूर्णतः दुःखनिरोध की शाश्वत अवस्था के रूप में स्वीकार किया गया है।

(ड) **सांख्यदर्शन–** इस दर्शन में पुरुष एवं प्रकृति का संयोग ही सृष्टि है, जिसे दूसरे शब्दों में 'बन्धन' भी कह सकते हैं। इन दोनों का वियोग ही यहाँ 'मोक्ष' कहा गया है। बन्धन की स्थिति पुरुष एवं प्रकृति के भेद–ज्ञान पर्यन्त ही रहती है। भेद–ज्ञान होने पर मोक्ष–प्राप्ति हो जाती है।

यह ज्ञान यहाँ विशुद्ध अथवा विवेक के रूप में माना गया है। विवेक ज्ञान होने पर उसके प्रति प्रकृति का कार्य समाप्त हो जाता है। उस समय पुरुष विचार करता है कि– 'मैंने इसे जान लिया है तथा प्रकृति भी 'मुझे इसने देख लिया है', ऐसा सोचकर उस विवेकी के प्रति अपने प्रपंच–विस्तार को सिमेट लेती है। यहाँ इसे प्रकृति की 'सुकुमारता' बताया गया है, जिसे यहाँ नटी या नर्तकी का उदाहरण प्रस्तुत करते हुए सुन्दर ढंग से समझाया गया है।

सांख्यकारिकाकार ने इसे उदाहरण द्वारा इसप्रकार समझाया है– 'जिस प्रकार दर्शकों का एक बार मनोरंजन करने के बाद नर्तकी रंगमंच पर पुनः नहीं आती है। ठीक इसीप्रकार प्रकृति भी पुरुष के 'मोक्ष' प्राप्त करने पर उसके प्रति निवृत्त हो जाती है।[3]

---

1. ब्रह्मसूत्र शांकरभाष्य– 4/1/15 ।
2. भारतीय–दर्शन, डॉ. राधाकृष्णन्, भाग–2, पृष्ठ–760।
3. सांख्यकारिका– 59 ।

ध्यातव्य है कि विवेकी या ज्ञानी का शरीर भी कुछ समय तक प्रारब्ध–कर्मों के बल पर बना रहता है, किन्तु इस समय नए कर्मों का 'संचय' नहीं होता है। यही उसकी 'जीवन्मुक्त' की अवस्था होती है, जो वेदान्त के जीवन्मुक्त से मेल खाती है। प्रारब्ध–कर्मों की समाप्ति पर यह शरीर छूट जाता है तथा पुरुष को **'कैवल्य'** की प्राप्ति हो जाती है।

(च) **योगदर्शन**– यह दर्शन अंष्टायोग के अभ्यास द्वारा 'कैवल्य' की प्राप्ति मानता है। यहाँ 'कैवल्य' प्राप्ति के साधनों का विस्तार से उल्लेख किया गया है।[1] इसके अनुसार योग के निरन्तर अभ्यास से बुद्धि, शुद्ध हो जाती है तथा इस स्थिति में वह प्रकृति में लय होने लगती है। सृष्टि के आरम्भ में यहीं से इसका विकास आरम्भ हुआ था। पुरुष यह जान लेता है कि– 'मन' आदि के साथ उसका सम्बन्ध 'अज्ञान' पर आधारित था।' इस सम्बन्ध के समाप्त होने के पश्चात् ही पुरुष को 'कैवल्य' की प्राप्ति हो जाती है।

(छ)**न्यायदर्शन**–यहाँ दुःखों की आत्यन्तिक निवृत्ति को **'अपवर्ग'** संज्ञा प्रदान की गई है। इसके अनुसार– तत्त्वज्ञान से मिथ्याज्ञान विनष्ट हो जाता है तथा राग, द्वेष आदि दोषों की समाप्ति हो जाती है, जिससे जन्म का बन्धन टूट जाता है। जन्म–मरण के चक्र की समाप्ति से ही दुःखों की हमेशा के लिए निवृत्ति हो जाती है। बस, इसी स्थिति को यहाँ 'अपवर्ग' या 'मोक्ष' कहा गया है।[2]

(ज) **वैशेषिकदर्शन**– वैशेषिक सूत्र के अनुसार– सभी प्रकार के कर्मों की समाप्ति के पश्चात्, आत्मा का शरीर के साथ सम्बन्ध विच्छेद हो जाता है। जन्म–मरण से हमेशा के लिए उसे मुक्ति मिल जाती है। दुःखों की सदैव के लिए समाप्ति हो जाती है, इसी को यहाँ 'मोक्ष'

---

1. लेखककृत योगसूत्र, प्रकाशक– चौखम्भा ओरियन्टालिया, दिल्ली, 2020।
2. तदत्यन्तविमोक्षोऽपवर्गः। न्याय भाष्य– 1/1/22 ।

कहा गया है। इस स्थिति में जीवात्मा का गुणों के साथ कोई सम्बन्ध नहीं रहता है।

इसप्रकार हम देखते हैं कि– भारतीय–दर्शन दुःखों की ऐकान्तिक एवं आत्यन्तिक निवृत्ति को 'मोक्ष' या 'कैवल्य' संज्ञा प्रदान करते हैं। यह 'कैवल्य' अधिकांश दर्शन तत्त्व–ज्ञान द्वारा स्वीकारते हैं। वेदान्त एवं योग, ज्ञान के साथ–साथ 'ईश्वर' की कृपा को भी इस विषय में अनिवार्य मानता है। यह तत्त्व–ज्ञान अथवा विवेक किसी एक जन्म में प्राप्त करना सम्भव नहीं है। इसके लिए अनेक जन्मों की साधना की आवश्यकता है। मनुष्य के जीवन का लक्ष्य ही मोक्ष–प्राप्ति माना गया है। इसके लिए सद्गुरु का मार्गदर्शन, शास्त्रों का अध्ययन, चिन्तन–मनन एवं प्रतिदिन का अभ्यास अनिवार्य है। मनुष्य अपने पुण्य कर्मों के उदित हाने पर ही इस ओर प्रवृत्त होता है।

यहाँ तक हमने सभी भारतीय दर्शनों के विषय में संक्षिप्तरूप से परिचयात्मक दृष्टि प्रस्तुत की, जिससे पाठक को इनके विषय में सामान्य ज्ञान हो सके और वह आगे सभी दर्शनों को गहनता से जानने का प्रयास कर सके। इसलिए अब हम प्रत्येक दर्शन के सम्बन्ध में गम्भीर तथा विस्तृत दृष्टि प्रस्तुत करेंगे।

•••

सांख्य–दर्शन

(i) **सांख्यदर्शन का नामकरण**– सम् उपसर्गपूर्वक √ख्या (प्रकाशने) धातु से 'अङ्' प्रत्यय करने के बाद 'टाप्' करके 'संख्या' पद बनता है, जिसका अभिप्राय है–गणना। तत्पश्चात् इसी संख्या पद से 'तस्येदम्' सूत्र से 'अण्' प्रत्यय करने पर 'सांख्य' पद निर्मित होता है, जिसका अभिप्राय है– गणना से सम्बन्धित या गणना से जानने योग्य, क्योंकि सांख्यदर्शन में तत्त्वों की गणना अर्थात् पच्चीस की संख्या को अत्यधिक महत्त्व दिया गया है, इसीलिए इस दर्शन को 'सांख्य' कहा जाता है।[1] 'सांख्य' पद के प्रयोग के सम्बन्ध में महाभारत में भी इसी आशय का उल्लेख किया गया है–

संख्यां प्रकुर्वते चैव प्रकृतिं च प्रचक्षते।
तत्त्वानि च चतुर्विंश तेन सांख्यं प्रकीर्तितम्।।[2]

इसके अलावा अमरकोश[3] में संख्या पद के दो अर्थों का कथन किया गया है–चर्चा करना तथा विचारणा करना अर्थात् सांख्यशास्त्र में उन तत्त्वों के होने या न होने के विषय में विस्तार से चिन्तन प्रस्तुत किया गया है, जिनकी इस संसार में होने की सम्भावना है।

इसीप्रकार सांख्यतरंग के लेखक तर्कवागीश पं.रघुनाथ भी सांख्य नाम के पीछे इसी कारण को स्वीकार करते हैं।[4]

---

[1]. सांख्यकारिका, डॉ. ब्रजमोहन चतुर्वेदी, नेशनल पब्लिशिंग हाउस, दिल्ली, पृष्ठ– 4।

[2]. महाभारत–12/306/43 ।

[3]. अमरकोश– 1/5/3 ।

[4]. कस्मात् सांख्य इत्युच्यते? सम्यक् क्रमपूर्वकं ख्यानं कथनं यस्यां सा संख्या क्रमपूर्वा विचारणा। यत् ताम् अधिकृत्य कृतं तस्मात् सांख्यम्, इति उच्यते। **सांख्य तरंग** ।

(ii) **सांख्य दर्शन के मूलस्रोत–** सांख्यदर्शन अत्यन्त प्राचीन है, विश्व के सर्वाधिक प्राचीन ग्रन्थ ऋग्वेद में इसके बीजों को सहज ही स्वीकार किया जा सकता है, क्योंकि विश्व की संरचना एवं उसके संचालन के लिए ईश्वर, जीव और प्रकृति इन तीन तत्त्वों की सत्ता को यहाँ स्पष्टरूप से स्वीकार किया गया है–

द्वासुपर्णा सयुजा सखाया समानं वृक्षं परिषस्वजाते।
तयोरन्यः पिप्पलं स्वाद्वत्त्यनश्नन्नन्यो अभिचाकशीति।।[1]

यहाँ सम्पूर्ण विश्व को सांख्य की 'प्रकृति' तथा 'पिप्पल' को उसके भोग्य पदार्थ बताया गया है, जिन्हें भोगने वाला एक पक्षी 'जीव' तथा भोग न करने वाला, दूसरा पक्षी 'ईश्वर' है। अतः प्रस्तुत मन्त्र में इस दृष्टि से **सेश्वर–सांख्य** को सहज ही स्वीकार किया जा सकता है। इसीप्रकार नासदीय, हिरण्यगर्भ एवं पुरुष–सूक्त आदि में वर्णित विषयों के अन्तर्गत भी सांख्यदर्शन के मूल को सरलतापूर्वक खोजा जा सकता है।

यद्यपि सांख्यदर्शन के प्रकरण–ग्रन्थ सांख्यकारिका आदि के समान यहाँ व्यवस्थित सांख्य सिद्धान्तों का प्रतिपादन नहीं किया गया है, किन्तु इतना तो सुनिश्चित ही है कि सांख्यदर्शन का चिन्तन वैदिक संहिताओं एवं ब्राह्मण–ग्रन्थों से आरम्भ हो चुका था। इस तथ्य की पुष्टि हेतु कुछ उद्धरण देना उचित होगा–

ऋग्वेद के नासदीय–सूक्त में सांख्यदर्शन की प्रकृति के रजस् एवं तमोगुण का उल्लेख हुआ है–

'नासीद्रजो नो व्योमा परो यत्।'[2]
तम आसीत्तमसा गूळमग्रे।'[3]

इसके अतिरिक्त इसी सूक्त के अग्रिम मन्त्र में प्रयुक्त 'सत्' को विद्वानों ने 'सत्त्व' गुण के अर्थ में प्रयुक्त माना है।[1] इसीप्रकार

---

1. ऋग्वेद– 1/164/20 ।
2. ऋग्वेद– 10/129/1 ।
3. ऋग्वेद– 10/129/3 ।

'पुरुष एवेदं सर्वम्।'[2]

'यो अस्याध्यक्षः परमे व्योमन्।'[3]

इत्यादि मन्त्रों में सम्पूर्ण सृष्टि के स्वामी,[1] उत्कृष्ट, सत्य स्वरूप, प्रकाशमय, आनन्दरूप ईश्वर का उल्लेख हुआ है। अतः सूक्ष्मरूप से अन्वेषण करने पर, ऋग्वेद के मन्त्रों में अनेक स्थलों पर सांख्यदर्शन के सिद्धान्तों एवं तत्त्वों को मूलरूप में सहज ही देखा जा सकता है।

इतना ही नहीं, शुक्ल यजुर्वेद के 'शतपथ ब्राह्मण' में सांख्य दर्शन के आद्यप्रवर्तक आचार्य कपिल के शिष्य, आसुरि का उल्लेख इस तथ्य की पुष्टि करता है कि आचार्य कपिल द्वारा कहे गए, सांख्य सिद्धान्तों का पल्लवन, संहिता एवं उपनिषद्काल के बीच ब्राह्मण ग्रन्थों के समय में हुआ। प्रारम्भ में यह **'सेश्वर सांख्य'** के रूप में प्रचलित रहा, किन्तु बाद में आचार्य ईश्वरकृष्ण की सांख्यकारिका के समय तक आते–आते **'निरीश्वर–सांख्य'** के रूप में परिवर्तित होकर प्रसिद्धि को प्राप्त हुआ, किन्तु उपनिषदों में सांख्य सिद्धान्तों का अपेक्षाकृत परिष्कृत रूप परिलक्षित होता है, जिसका हम यहाँ संक्षेप में उल्लेख कर रहे हैं–

(iii) **उपनिषदों में सांख्य दर्शन–** यद्यपि सम्पूर्ण उपनिषद् साहित्य में दार्शनिक चिन्तन की उपलब्धि होती है तथापि सभी उपनिषदों में सांख्यदर्शन के सिद्धान्तों का उल्लेख नहीं हुआ है। इनमें से सर्वाधिक प्राचीन बृहदारण्यकोपनिषद् में हमें इसके संकेत उपलब्ध होते हैं। जहाँ पुरुष को द्रष्टा एवं क्रियाशून्य कहा गया है[4] और उसे

---

1. सतो बन्धुमसति निरविन्दन्। ऋग्वेद–10/129/4 ।
2. ऋग्वेद–10/90/2 ।
3. ऋग्वेद–10/129/7 ।
4. स वा एष एतस्मिन् संप्रसादे रत्वा चरित्वा द्रष्ट्वैव पुण्यं च पापं च पुनः प्रतिन्यायं प्रतियोन्याद्रवति स्वप्नायैव स यत्तन्न किंचित्पश्यत्यनन्वागतस्तेन भवत्यसंगो ह्ययं पुरुष इत्येवमेवैतद्याज्ञवल्क्य सोऽहं भगवते सहस्रं ददाम्यत ऊर्ध्वं विमोक्षायैव ब्रूहीति। बृहदारण्यकोपनिषद्– 4/3/15।

'असंगो ह्ययं पुरुषः' कहकर केवल 'साक्षीमात्र' प्रतिपादित किया गया है। इसी उपनिषद् में 'बुद्धि' के लिए प्रयुक्त सांख्य का पारिभाषिक शब्द 'महत्' भी प्रयुक्त हुआ है।[1]

'स यथा सैन्धवखिल्य... यतो यतस्त्वाददीत लवणमेवैवं वा अर इदं महद्भूतमनन्तमपारं विज्ञानघन एवं एतेभ्यो भूतेभ्यः समुत्थाय तान्येवाऽनुविनश्यति।'

इसी स्थल पर बुद्धि के ज्ञानात्मक स्वभाव की अभिव्यक्ति के लिए 'विज्ञानघन' शब्द का प्रयोग भी हुआ है। इसके अतिरिक्त छान्दोग्योपनिषद् में हमें सांख्य के प्रसिद्ध सिद्धान्त 'सत्कार्यवाद' के दर्शन भी होते हैं।[2] यहाँ पर,

तद्धैक आहुरसदेवेदमग्र आसीदेकमेवाद्वितीयं
तस्मादसतः सज्जायत।।1।।
.कथमसतः सज्जायेतेति।।
सत्त्वेव सोम्येदमग्र आसीदकमेवाद्वितीयम्।। 2।।

उपर्युक्त दोनों मन्त्रों में से प्रथम मन्त्र में एक मात्र अद्वितीय तत्त्व 'असत्' को अनादिकाल से स्थित बताते हुए, द्वितीय मन्त्र में 'सत्कार्यवाद' के सिद्धान्त का स्पष्टरूप से प्रतिपादन किया गया है। इतना ही नहीं, इसी उपनिषद् में एक अन्य स्थल पर[3] मृत्पिण्ड से बर्तनों के समान नाना रूपात्मक जगत् का 'सत्' से उत्पन्न होना बताया गया है–

'यथा सोम्यैकेन मृत्पिण्डेन सर्वं मृण्मयं विज्ञातं स्यात्।'

इसके अलावा इसी उपनिषद् में एक स्थल[4] पर प्रकृति के सत्त्व, रजस् और तमोगुण के रूप एवं रंग का भी उल्लेख हुआ है–

---

[1]. बृहदारण्यकोपनिषद्– 2/4/12 ।

[2]. 'सदेव' सौम्येदमग्र आसीदेकमेवाद्वितीयम्। छान्दोग्योपनिषद्– 6/2/1–2 ।

[3]. छान्दोग्योपनिषद् – 6/1/4 ।

[4]. छान्दोग्योपनिषद् – 6/4/1–2 ।

'त्रीणि रूपाणि इत्येव सत्यम्।'

इस मन्त्र में अग्नि की लालिमा में रजोगुण, जल की शुक्लता में सतोगुण तथा पृथिवी की कृष्णता में तमोगुण की परिकल्पना की गई है–

'यदग्ने रोहितं रूपं तेजसस्तद्रूपं यच्छुक्लं तदपां यत्कृष्णं तदन्नस्यापागादग्नेरग्नित्वं वाचारम्भणं विकारो नामधेयं त्रीणि रूपाणीत्येव सत्यम्।।'[1]

इन्हीं सब बातों का उल्लेख हमें अपेक्षाकृत अर्वाचीन श्वेताश्वतर, महानारायण एवं ईशोपनिषद् में भी मिलता है। जहाँ प्रकृति को अनादिकाल से स्थित 'अजा' कहा गया है तथा उसके घटकों– सत्त्व, रजस् एवं तमो गुणों का भी उल्लेख हुआ है–

"अजामेकां लोहितशुक्लकृष्णां बह्वीः प्रजाः सृजमानां सरूपाः।
अजो ह्येको जुषमाणोऽनुशेते जहात्येनां भुक्तभोगामजोऽन्यः।।[2]**"**

इसीप्रकार कठोपनिषद् में भी सांख्य के तत्त्व अव्यक्त एवं पुरुष का कथन किया गया है–

'महतः परमव्यक्तमव्यक्तात् पुरुषः परः।
पुरुषान्न परं किंचित् सा काष्ठा सा परा गतिः।।[3]

इसके अतिरिक्त मुण्डकोपनिषद् के एक मन्त्र[4] में वेदमन्त्र 'द्वा सुपर्णा' की पुनरावृत्ति हुई है। इसके पश्चात् श्वेताश्वतरोपनिषद् में सांख्य के सिद्धान्तों का व्यवस्थितरूप से उल्लेख प्राप्त होता है–

संयुक्तमेतत् क्षरमक्षरं च व्यक्ताव्यक्तंभरते विश्वमीशः।
ज्ञाज्ञौ द्वावजावीशनीशावजा ह्येका भोक्तृभोग्यार्थयुक्ता।।
क्षरं प्रधानममृताक्षरं हरः क्षरात्मानावीशते देव एकः।।[5]

---

1. छान्दोग्योपनिषद् – 6/4/1।
2. श्वेताश्वतरोपनिषद्, 5/4 एवं महानारायणोपनिषद्, पृष्ठ–4।
3. कठोपनिषद् – 3/11।
4. मुण्डकोपनिषद्– 3/1।
5. श्वेताश्वतरोपनिषद्– 1/8–10।

मायां तु प्रकृतिं विद्यान्मायिनं तु महेश्वरम्।
तस्यावयवभूतैस्तु व्याप्तं सर्वमिदं जगत्।।[1]

इसी उपनिषद् में सांख्य एवं उसके प्रवर्तक आचार्य कपिल की चर्चा भी की गई है, यद्यपि टीकाकारों में इस कपिल को लेकर पर्याप्त मत–वैमत्य मिलता है, किन्तु इस बात को स्वीकार करने में लेशमात्र भी अनौचित्य प्रतीत नहीं होता है कि अन्य उपनिषदों की अपेक्षा इसमें अधिक स्पष्ट एवं विस्तारपूर्वक सांख्यतत्त्वों का उल्लेख हुआ है।

सम्भवतः इसी कारण कीथ ने इस उपनिषद् में वर्णित सांख्य के सिद्धान्तों को मूल सिद्धान्त मानते हुए, यहीं से सांख्यदर्शन के विकास को स्वीकार किया है।[2] यद्यपि कीथ के मत से सभी विद्वान् सहमत नहीं हैं तथापि उपर्युक्त विवेचन के आधार पर इतना तो निःसन्देह रूप से कहा जा सकता है कि –

'सांख्य के बीज वैदिककाल से लेकर प्राचीन उपनिषदों तक बिखरे रहे होंगे, साथ ही पुनः अंकुरित होकर कठोपनिषद् से पहले ही पर्याप्तरूप में पल्लवित हो चुके होंगे।'

जैकोबी ने भी सांख्यदर्शन का उदय उपनिषदों के दो काल–खण्डों प्राचीन एवं अर्वाचीन के मध्य स्वीकार किया है।[3]

जबकि ए.ई.गफ़ ने अपने ग्रन्थ "फिलोसफी ऑफ दॉ उपनिषदाज़" में सांख्य–दर्शन को मूलरूप से वेदान्त के सैद्धान्तिक तत्त्वों का परिगणन मात्र बताया है।[4] विद्वानों की एक मान्यता–आचार्य कपिल द्वारा कहे गए, सांख्य के सिद्धान्तों का निरूपण संहिता, आरण्यक एवं उपनिषद्काल के मध्य स्वीकार करते हुए, सांख्यदर्शन का उद्भव ब्राह्मण–ग्रन्थों के समय में स्वीकार करती है, उनके

---

1. वही – 4/10 ।
2. फिलोसफी ऑफ दॉ उपनिषदाज़–कीथ, पृष्ठ– –200 ।
3. धर्मशास्त्र का इतिहास, डॉ.पी.वी. काणे, भाग– 3 ।
4. The Sankhya is originally an enumeration of principles of the vedant A.E. Gaugh. Philosophy of the Upanisadas, Page-200 .

अनुसार– इसी का प्रतिनिधित्व आचार्य ईश्वरकृष्ण का ग्रन्थ सांख्य–कारिका करता है।[1]

पुनरपि उपर्युक्त विवरण के आधार पर इतना तो अवश्य कहा जा सकता है कि **सेश्वर–सांख्य महात्मा बुद्ध एवं महाभारत से पहले अस्तित्व में आ चुका था** तथा प्राचीन उपनिषदों का भी यही समय रहा है। ब्रह्मसूत्र का रचनाकाल ई.पू. द्वितीय शताब्दी माना जाता है, जिसमें निरीश्वर सांख्य का निराकरण किया गया है। इसलिए निरीश्वर सांख्य की प्रतिष्ठा ई.पू. द्वितीय शताब्दी से पूर्व निश्चितरूपेण स्वीकार की जा सकती है। आचार्य बलदेव उपाध्याय ने अपने भारतीय–दर्शन के परिशिष्ट में सांख्यदर्शन के ऐतिहासिक विकास का विभाजन निम्न प्रकार किया है[2]–

(क) उपनिषद् एवं श्रीमद्भगवद्गीता का सांख्य (लगभग1000 से 800 ई.पू.)– इस काल में सांख्यदर्शन वेदान्त के साथ मिला हुआ दिखायी देता है तथा ईश्वरवाद का समर्थक होने से सेश्वर सांख्य की कोटि में आता है।

(ख) महाभारत एवं पुराणों का सांख्य (लगभग100 से 200 ई.पू.)– इस समय में सांख्यदर्शन, वेदान्तदर्शन के सिद्धान्तों से अलग होकर स्वतन्त्रदर्शन के रूप में स्थापित हुआ तथा इस काल में सांख्य सिद्धान्तों में विशेष विकास परिलक्षित होता है। चरक का सांख्य इसी काल के सांख्य से मिलता जुलता है।[3] इस समय के सांख्य को ही विद्वानों ने 'एपिक सांख्य' की संज्ञा प्रदान की है। यही कारण है कि चरक में वर्णित सांख्यदर्शन की अनेक विशेषताएँ– अव्यक्तावस्था में पुरुष की स्थिति को स्वीकार करना, तन्मात्राओं का सर्वथा अभाव, मुक्तावस्था में पुरुष की चेतनारहित दशा, इत्यादि महाभारत के सांख्य

---

1. सांख्यकारिका– डॉ. ब्रजमोहन चतुर्वेदी भूमिका, पृष्ठ–16 ।
2. भारतीय दर्शन– डॉ. बलदेव उपाध्याय, परिशिष्ट, पृष्ठ–602 ।
3. चरकसंहिता –शरीरस्थान, अध्याय– 1 ।

में भी उपलब्ध होती हैं।[1] इस आधार पर चरक को पंचशिख का अनुयायी भी कहा जा सकता है।

(ग) ब्रह्मसूत्र में निर्दिष्ट एवं सांख्यकारिका में वर्णित सांख्य (लगभग300 ई.पू. से 300 ई. तक)– इस काल का सांख्य निश्चितरूप से निरीश्वरवादी रहा है। प्रकृति एवं पुरुष को ही अन्तिम तत्त्व मानकर यहाँ विश्व की तात्त्विक व्याख्या की गई है। इस काल के सांख्य में ईश्वर के लिए कोई स्थान नहीं है।

(घ) विज्ञानभिक्षु का सांख्य सोलहवी शताब्दी (सोलहवीं शताब्दी)– विज्ञानभिक्षु एक विशिष्ट मौलिक चिन्तक एवं दार्शनिक थे। उन्होंने सांख्य से निरीश्वरवाद के लांछन को हटाकर, पुनः सेश्वरवाद की प्रतिष्ठा की है। सांख्यसूत्रों पर उनका प्रसिद्ध **'सांख्यप्रवचनभाष्य'** विद्वत्समुदाय में समादरणीय रहा है। उन्होंने सांख्य के लुप्त गौरव को पुनः प्रस्थापित किया तथा वेदान्त के साथ इसका सुन्दर समन्वय करके, इसे महाभारत कालीन व्यापकता प्रदान की।

i) **आचार्य गुणरत्न (1466 वि. से 1409 ई.)**[2]– आचार्य गुणरत्न ने हरिभद्र के षड्दर्शन समुच्चय की अत्यन्त विस्तृत एवं सुन्दर व्याख्या की है उन्होंने सांख्य के दो सम्प्रदायों का वर्णन किया है– मौलिक्य एवं उत्तर। मौलिक्य सांख्य में प्रत्येक आत्मा के लिए एक स्वतन्त्र प्रधान की परिकल्पना को स्वीकार किया गया है। यह सिद्धान्त चरक के सिद्धान्त से मेल खाता है। अतः महाभारत एवं चरककालीन सांख्य 'मौलिक' सांख्य का प्रतिनिधि प्रतीत होता है तथा उत्तरकालीन सांख्य सांख्यकारिका में वर्णित निरीश्वर सांख्य ही है।

ii) **विज्ञानभिक्षु**[3]– इन्हें वस्तुतः सांख्य का अन्तिम आचार्य कहा जा सकता है। सोलहवीं शताब्दी के पूर्वार्द्ध में ये काशी में विद्यमान थे।

---

1. महाभारत– 12/219 ।
2. भारतीय दर्शन, आचार्य बलदेव उपाध्याय। पृष्ठ–99 ।
3. भारतीय दर्शन, आचार्य बलदेव उपाध्याय, पृष्ठ–255।

ये अत्यन्त स्वतन्त्र विचार वाले सांख्याचार्य थे। इन्होंने उपनिषद् एवं पुराणों के युग के पश्चात् अलग–अलग होने वाले, सांख्य एवं वेदान्त में सामंजस्य को प्रदर्शित किया तथा अनेक स्थलों पर शंकराचार्य के मत की खरी–खरी आलोचना भी की है। ये सांख्य, योग एवं वेदान्त तीन दर्शनों में निष्णात थे, इसीलिए इन दर्शनों के ग्रन्थों पर इन्होंने भाष्य लिखे, जिनमें सांख्यदर्शन के 'सांख्यसूत्र' पर **सांख्यप्रवचनभाष्य,** योगदर्शन के व्यासभाष्य पर **योगवार्तिक,** वेदान्त के ब्रह्मसूत्र पर **विज्ञानामृतभाष्य**।

इसके अतिरिक्त 'सांख्यसार' एवं 'योगसार' नामक ग्रन्थों में, इन्होंने इन दर्शनों के सिद्धान्तों का संक्षिप्त एवं सरल ढंग से प्रतिपादन किया है। इनके समय में सांख्यतन्त्र का अध्ययन–अध्यापन क्षीण हो गया था। इसीकारण इन्होंने सांख्य को 'कालार्कभक्षित' कहा है–

कालार्कभक्षितं सांख्यशास्त्रं ज्ञानसुधाकरम्।
कलावशिष्टं भूयोऽपि पूरयिष्ये वचोऽमृतैः।।[1]

किन्तु इस तन्त्र को पुनर्जीवित एवं प्रतिष्ठित करने का श्लाघनीय परिश्रम, वस्तुतः इन्हीं आचार्य द्वारा किया गया।[2] इनके तीन विशिष्ट शिष्यों में 'भावागणेश' सांख्यशास्त्र के विशेषज्ञ थे। उन्होंने सांख्यदर्शन के ग्रन्थ तत्त्व–संग्रह पर 'तत्त्वयाथार्थ्यदीपन' नामक विद्वत्ता पूर्ण व्याख्या प्रस्तुत की।

(iv) **सांख्यदर्शन के प्रमुख आचार्य एवं रचनाएँ**– प्राचीन संस्कृत–साहित्य महाभारत, पुराण, स्मृतिग्रन्थ, सांख्यसूत्र एवं सांख्य–कारिका पर लिखी गई टीका, प्रटीकाओं में सांख्यदर्शन के अनेक विद्वान् आचार्यों का उल्लेख हुआ है, जिनमें कपिल, आसुरि, पंचशिख, विन्ध्यवास, वार्षगण्य, जैगीषव्य, वोढु, असित, देवल, सनक, सनन्दन, सनातन, सनत्कुमार, शुक्र, भृगु, काश्यप, पराशर, गर्ग, गौतम, नारद,

---

1. सांख्यप्रवचनभाष्य, विज्ञानभिक्षु, भूमिका, पृष्ठ–5।
2. भारतीय दर्शन, डॉ. बलदेव उपाध्याय, पृष्ठ–255 ।

अगस्त्य, पुलस्त्य, हारीत, उल्लूक, वाल्मीकि एवं शुक आदि आचार्य विशेषरूप से उल्लेखनीय हैं।

किन्तु यदि ऐतिहासिक दृष्टि से विचार करें, तो इन सभी आचार्यों की कृतियों की उपलब्धि न होने के कारण, इनके योगदान को प्रामाणिकरूप से स्वीकार नहीं किया जा सकता है तथापि जिन आचार्यों की कृतियाँ हमें उपलब्ध हैं अथवा जिनके विषय में प्रामाणिक सामग्री की उपलब्धता है, केवल उन्हीं सांख्याचार्यों का हम यहाँ विस्तार से उल्लेख कर रहे हैं–

(क) **आचार्य कपिल**– सम्पूर्ण भारतीय वाङ्मय महर्षि कपिल को सांख्यदर्शन के आद्य प्रवर्तक के रूप में स्वीकार करता है, उनमें भी महाभारत, पुराण एवं उपनिषद् विशेषरूप से उल्लेखनीय हैं। यद्यपि मैक्समूलर, कीथ[1] आदि अनेक विद्वानों ने इन्हें ऐतिहासिक व्यक्ति के रूप में ही मान्यता प्रदान नहीं की है[2] तथापि उनके इस मत को सभी विद्वानों ने स्वीकार नहीं किया है। श्रीमद्भागवत पुराण के अनुसार– 'इनके पिता का नाम **कर्दम** तथा माता का नाम **देवहूति** था,[3] वहाँ इन्हें विष्णु का पाँचवा अवतार बताया गया है। महाभारत एवं कुछ पुराणों में इन्हें ब्रह्मा का पुत्र एवं अग्नि का साक्षात् अवतार भी कहा गया है। तदनुसार– इन्होंने काल–कवलित सांख्यशास्त्र का आसुरि को उपदेश प्रदान करके उसका प्रवर्तन किया।

बौधायन गृह्यसूत्र में भी चार आश्रमों का विभाजन करने वाले, कपिल का उल्लेख मिलता है। इसके अतिरिक्त एक स्मृतिकार कपिल भी हुए हैं, जिन्होंने कपिल–स्मृति की संरचना की। राजा सगर के

---

1. सांख्यसिस्टम, कीथ, पृष्ठ–9 ।
2. That kapila the first teacher of sankhya, infact, the first enlighted human being, during the current Cycle, was not historical personage in the usually accepted sense of the trem, is without any doubt. जयमंगला टीका भूमिका, पृष्ठ– 2 ।
3. श्रीमद्भागवतपुराण– 2/24 ।

साठ हजार पुत्रों को भस्म करने वाले, कपिल के नाम का उल्लेख भी महाभारत एवं पुराणों में प्राप्त होता है। सम्भवतः इसी कारण कोलब्रुक आदि पाश्चात्य विद्वानों ने इनकी ऐतिहासिकता पर ही प्रश्न चिह्न लगा दिया है, किन्तु गार्बे नामक विद्वान् ने जोरदार शब्दों में, इस मान्यता का खण्डन करते हुए कहा कि–

'कपिल के नाम से जिन अनेक व्यक्तियों का उल्लेख मिलता है, उनमें से सभी व्यक्ति निश्चितरूप से ऐतिहासिक नहीं है, किन्तु सांख्यकारिकाकार ने महामुनि के रूप में जिन कपिल का उल्लेख किया है, उनकी ऐतिहासिकता में सन्देह के लिए कोई अवकाश नहीं है। यह अलग बात है कि हम उनके स्थितिकाल का निर्धारण यथावत् न कर सकें हों, किन्तु इतने से ही किसी व्यक्ति की ऐतिहासिकता का अपलाप नहीं किया जा सकता है।'

इसी आधार पर डॉ.राधाकृष्णन् ने महर्षि कपिल को ऐतिहासिक व्यक्ति स्वीकार करते हुए, उन्हें बुद्ध से ठीक पूर्व की शताब्दी में स्थित माना है। ये बहुत बड़े योगी थे तथा इन्हें धर्म, ज्ञान, वैराग्य एवं ऐश्वर्य जन्म से सिद्ध थे। इसके अतिरिक्त नाथपंथी साहित्य में भी कपिल के नाम का उल्लेख एक सिद्ध के रूप में हुआ है। गीता में– 'सिद्धानां कपिलो मुनिः' कहकर इनके अस्तित्व को सिद्धपुरुष के रूप में स्वीकार किया गया है। साथ ही, योगसूत्र पर प्राप्त व्यासभाष्य में स्पष्टरूप से कहा गया है कि आदि विद्वान् भगवान् कपिल ने कुछ निर्माण करने की भावना से जिज्ञासु शिष्य आसुरि को तन्त्र का उपदेश दिया–

'आदिविद्वान् निर्माणचित्तमधिष्ठाय कारुण्याद भगवान् परमर्षि–रासुरये जिज्ञासमानाय तन्त्रं प्रोवाच।'[1]

विद्वानों ने यहाँ प्रयुक्त तन्त्र पद को 'सांख्यशास्त्र' के लिए प्रयुक्त माना है। कुछ विद्वानों के अनुसार– यहाँ प्रयुक्त ''निर्माण–चित्तमधिष्ठाय'' से ऐसा प्रतीत होता है कि कपिल का शरीर भौतिक

1 . व्यासभाष्य–योगसूत्र– 1/125 ।

नहीं था। अतः इससे अभिप्राय योगबल द्वारा स्वयं निर्मित चित्त से लेना चाहिए। अपनी बात की पुष्टि के लिए वे श्वेताश्वतरोपनिषद् के उद्धरण को प्रस्तुत करते हैं, जहाँ सृष्टि के आरम्भ में कपिल के उत्पन्न होने एवं उन्हें सम्पूर्ण ज्ञान सामग्री प्रदान करने की बात का कथन हुआ है[1]–

'ऋषि प्रसूतं कपिलं यस्तमग्रे, ज्ञानैः
विभर्ति जायमानं च पश्येत्।'

भास्कराचार्य आदि विद्वानों ने यहाँ प्रयुक्त 'कपिल' शब्द को 'हिरण्यगर्भ' अर्थ में प्रयुक्त माना है। बलराम उदासीन ने जयमंगला टीका में प्रयुक्त 'आदिविद्वान्' से अभिप्राय सृष्टि के आरम्भ में आविर्भूत हिरण्यगर्भ से माना है, जो स्वयंभू हैं।

उपर्युक्त संक्षिप्त विवरण के आधार पर निश्चितरूप से कहा जा सकता है कि इतिहास में कपिल नाम के अनेक व्यक्ति हुए, किन्तु सांख्यदर्शन के प्रणेता कपिल स्वयं सिद्ध एवं तेजस्वी पुरुष थे, उन्हें धर्म, ज्ञान, वैराग्य एवं ऐश्वर्य जन्म से सिद्ध थे। इसी कारण उनकी उपमा 'हिरण्यगर्भ' से दी गयी है। उन्होंने अपने शिष्य आसुरि को सांख्यदर्शन का उपदेश किया। भागवत–पुराण से भी उक्त कथ्य की पुष्टि होती है–

पंचमे कपिलो नाम सिद्धेशः कालविप्लुतम्।
प्रोवाचासुरये सांख्यं तत्त्वग्रामविनिर्णयम् ।।1/3
कपिलस्तत्त्वसंख्याता भगवानात्ममायया।
जातः स्वयमजः साक्षादात्मप्रज्ञप्तये नृणाम्।। 3/25

ऐसा प्रतीत होता है कि महर्षि कपिल ने अपने से पूर्व पर्याप्तरूप से बिखरे हुए सांख्यदर्शन के सिद्धान्तों को व्यवस्थित करके, आसुरि को इनका उपदेश दिया होगा, जो वस्तुतः आरम्भ में 'प्रवचन' रूप में ही होगा, जिसे बाद में लिपिबद्ध किया। विद्वानों के मत में–

---

1. श्वेताश्वतरोपनिषद्– 5/2 ।

'सांख्यप्रवचनसूत्र' ही वह उपदेश है, जो महर्षि कपिल द्वारा आसुरि को प्रदान किया गया। कुछ विद्वान् 'षष्टितन्त्र' को आचार्य कपिल की कृति स्वीकार करते हैं, जबकि चीनी परम्परा 'षष्टितन्त्र' का प्रणेता उनके शिष्य पंचशिख को मानती है।

इसके अतिरिक्त ब्रह्मसूत्र के भाष्यकार आचार्य शंकर ने 'तन्त्र' नामक स्मृति को कपिल की कृति माना है, जिसे बाद में पंचशिख द्वारा विस्तृतरूप प्रदान किया गया। इसी को बाद में 'षष्टितन्त्र' के रूप में ख्याति प्राप्त हुई तथा पंचशिख इसके प्रणेतारूप में प्रस्थापित हुए। इस सम्बन्ध में जयमंगला टीकाकार का कथन विशेषरूप से उल्लेखनीय है–

"तेन च बहुधा कृतं तन्त्रम् अर्थात् पंचशिखेन मुनिना बहुधा कृतं तन्त्रम्। षष्टितन्त्राख्यं षष्टिखण्डकृतमिति"

इस आधार पर यही कहा जा सकता है कि 'तन्त्र' नामक मूलग्रन्थ की रचना, जो सम्भवतः उस समय लिखितरूप में न भी हो, महर्षि कपिल ने की, जिसका उपदेश उन्होंने सर्वप्रथम आसुरि को प्रदान किया, जिसका विस्तृत व्याख्यान, उनके प्रशिष्य पंचशिखाचार्य द्वारा 'षष्टितन्त्र' के रूप में बाद में किया गया। इस दृष्टि से महर्षि कपिल को सांख्यदर्शन के प्रणेता आचार्य के रूप में स्वीकार करने में कोई विप्रतिपत्ति प्रतीत नहीं होती है। सांख्यकारिकाकार आचार्य ईश्वर कृष्ण ने इस तथ्य को कारिका संख्या सत्तर में इसप्रकार उद्धृत किया है–

एतत् पवित्रमग्र्यं मुनिरासुरयेऽनुकम्पया प्रददौ।
आसुरिरपि पंचशिखाय तेन च बहुधा कृतं तन्त्रम्।। 70

(ख) **आचार्य आसुरि–** महर्षि कपिल के समान ही कुछ विद्वानों ने इन्हें भी ऐतिहासिक व्यक्ति मानने से इन्कार किया है, किन्तु महा–महोपाध्याय पण्डित गोपीनाथ कविराज ने इनकी ऐतिहासिक स्थिति को

मान्यता प्रदान की है।[1] गार्बे एवं कीथ ने भी इनकी ऐतिहासिकता पर सन्देह व्यक्त किया है तथापि गार्बे के अनुसार– 'यदि सांख्य से सम्बद्ध आसुरि ऐतिहासिक हैं, तो वे निश्चय ही शतपथब्राह्मण के आसुरि से भिन्न हैं।'[2]

जबकि 725 ईसा के लगभग स्थित हरिभद्रसूरि ने 'षडदर्शन समुच्चय' में एक श्लोक आसुरि के नाम से उद्धृत किया है।[3] इसके अतिरिक्त उससे भी बहुत समय पूर्व स्थित महाभारत में आसुरि को पंचशिख का गुरु कहा गया है।[4] साथ ही, श्रीमद्भागवत में एक स्थल पर महर्षि कपिल से आसुरि द्वारा विलुप्त सांख्य का उपदेश प्राप्त करने का भी कथन किया गया है।[5] इसके अलावा माठरवृत्ति एवं जयमंगला टीकाओं में भी इन्हें गृहस्थ धर्म का परित्याग करके, महर्षि कपिल से सांख्यशास्त्र के ज्ञान की प्राप्ति हेतु इनके शिष्यत्व का उल्लेख हुआ है।[6]

---

[1] The assumption of fuekZ-kdk; implies that the master has a physical body and his appearance beforevklqfj does not therefore reprcesents a historical fact, but it was certainly historical that vklqfj was a historical person and that his revival of was an actual in time. जयमंगला टीका की भूमिका, पृष्ठ– 3

[2] सांख्य एवं योग– गार्बे , पृष्ठ– 2–3 ।

[3] विविक्ते दृक्परिणतौ बुद्धौ भोगोऽस्य कथ्यते।
प्रतिबिम्बोदयः स्वच्छो यथा चन्द्रमोऽम्भसि ।।

[4] आसुरेः प्रथमं शिष्यं यमाहुश्चिरजीविनम्।
पंचस्रोतसि निष्णातः पंचरात्रविशारदः।।
पंचज्ञः पंचकृत् पंचगुणः पंचशिखः स्मृतः।। महा.शान्तिपर्व– 2/8 अध्याय।

[5] श्रीमद्भागवतपुराण– 1/3/11 ।

[6]. स एवं गृहस्थधर्ममपहाय पुत्रदारादिकं च प्रव्रजितो भगवतः किल कपिला–चार्यस्य योगिनः प्राणाः शिष्यो बभूव।।

सांख्यकारिका–माठरवृत्ति, चौखम्बा प्रकाशन, वाराणसी, पृष्ठ–5 ।

अतः उक्त सभी उल्लेखों के आधार पर आसुरि की ऐतिहासिकता में सन्देह उचित प्रतीत नहीं होता है। कुछ विद्वानों ने इस विषय में सम्भावना व्यक्त की है कि पंचशिखाचार्य ने कपिल द्वारा विरचित तन्त्र एवं आसुरि द्वारा प्रणीत **'वाङ्मय'** नामक ग्रन्थ को अपने षष्टितन्त्र नामक ग्रन्थ में समाविष्ट कर दिया। परिणामस्वरूप आज 'षष्टितन्त्र' के लुप्त होने के साथ ही कपिलतन्त्र एवं आसुरि–ग्रन्थ दोनों ही विलुप्त हो गए। महाभारत में एक स्थल पर पंचशिख को कापिलेय मुनि की संज्ञा प्रदान की गई है,[1] जो वस्तुतः आसुरि के प्रथम शिष्य माने गए हैं–

तत्र पंचशिखो नाम कापिलेयो महामुनिः ।।6।।
आसुरे प्रथमं शिष्यं यमाहुः चिरजीविनम् ।।10।।

इस प्रसंग में डॉ. ब्रजमोहन चतुर्वेदी के विचार विशेषरूप से उल्लेखनीय हैं, जो आसुरि की ऐतिहासिक स्थिति एवं महत्त्व को स्पष्ट करते हैं। तद्नुसार–'ऐसा प्रतीत होता है कि उन दिनों उपनिषदों द्वारा वैदिक कर्मकाण्ड की अध्यात्मपरक व्याख्या का अभियान प्रारम्भ नहीं हुआ था। इसके पूर्व ही कपिल ने आसुरि को सांख्य का उपदेश प्रदान किया होगा। वैदिक कर्मकाण्ड निश्चितरूप से व्यक्ति को कर्म में प्रवृत करता है। उससे ऊबने पर अध्यात्म–विद्या ही शान्ति प्रदान करती है। इसलिए आसुरि आदि वास्तविकरूप से कोई व्यक्ति हुए हैं, तो उनका समय उपनिषदों से पूर्व ब्राह्मणों का समय ही मानना होगा, क्योंकि उपनिषदों के रहते हुए आध्यात्मिक शान्ति या उपरति हेतु उपनिषदों में प्राप्त सामग्री कम पर्याप्त नहीं है कि उसके लिए सांख्य की शिक्षा अपेक्षित हो।[2]

(ग) **पंचशिखाचार्य**– ये भी सांख्य के प्रसिद्ध आचार्य हैं। सांख्य परम्परा इन्हें 'षष्टितन्त्र' का कर्ता स्वीकार करती है। ये सांख्य के प्रवर्तक आचार्य कपिल के प्रशिष्य थे। महाभारत की एक कथा के

---

1. महाभारत शान्तिपर्व– 218 अध्याय ।
2. सांख्यकारिका– डॉ. ब्रजमोहन चतुर्वेदी, भूमिका, पृष्ठ–20 ।

अनुसार– कपिला नाम ब्राह्मणी के दुग्धपान से भरणपोषण के कारण इनका नाम कापिलेय पड़ा –

ब्राह्मणी कपिला नाम काचिदासीत् कटुम्बिनी ।
तस्याः पुत्रत्वमागम्य स्त्रियः स पिबति स्तनौ।
ततः स कापिलेयत्वं लेभे बुद्धिं च नैष्ठिकीम्।।[1]

यही बालक आगे चलकर 'पंचशिख' नाम से विख्यात हुआ–

पंचस्रोतसि निष्णातः पंचरात्रविशारदः।
पंचज्ञः पंचकृत् पंचगुणः पंचशिखः स्मृतः।।[2]

गार्बे ने आचार्य 'पंचशिख' को ईसा की प्रथम शताब्दी में स्थित माना है, किन्तु महाभारत में विस्तारपूर्वक उल्लेख होने के कारण, इसके औचित्य में सन्देह प्रतीत होता है। महाभारत में ही एक स्थल पर इन्हें 'पराशरगोत्रीय' एवं 'भिक्षु' भी कहा गया है–

पराशर सगोत्रस्य वृद्धस्य सुमहात्मनः।
भिक्षोः पंचशिखस्याहं शिष्यः परमसम्मतः।।[3]

इनके पंचशिख नाम की व्युत्पति भी महाभारत के शन्तिपर्व में प्रस्तुत की गई है।[4] इतना सब कुछ होते हुए भी हमें पंचशिख के परिवार आदि की जानकारी उपलब्ध नहीं है। यद्यपि उनके द्वारा विरचित 'षष्टितन्त्र' आज उपलब्ध नहीं हैं, किन्तु सांख्य एवं योगशास्त्र के विभिन्न ग्रन्थों में पंचशिख के नाम से अनेक कथन प्राप्त होते हैं।[5]

इसके अतिरिक्त सांख्यकारिका की सत्रहवीं कारिका के गौड़पाद भाष्य में षष्टितन्त्र के नाम से 'पुरुषाधिष्ठितं प्रधानं प्रवर्तते' पाठ की उपलब्धि होती है। कुछ विद्वानों ने पंचशिख के अन्य ग्रन्थ

---

1. महाभारत, शान्तिपर्व– 12/218/15–16 ।
2. वही– 12/2/8 ।
3. महाभारत– 12/320/24 ।
4. वही– 12 /2 / 8 ।
5. योगसूत्र व्यासभाष्य, सांख्यतत्त्वकौमुदी–2। योगभाष्य– 71/4, 17, 37; 2/ 6, 20 । ब्रह्मसूत्र शांकरभाष्य– 2/1/10 । सांख्यसूत्र– 5/32, 6/68 ।

'भिक्षुसूत्र' का भी उल्लेख किया है तथा उन्हें आचार्य पाणिनि, बुद्ध एवं महाभारत से पूर्वकालिक माना है। चीनी परम्परा षष्टितन्त्र को पंचशिख की रचना स्वीकार करती है।

किन्तु योगभाष्य की तत्त्ववैशारदी टीका में वाचस्पतिमिश्र ने षष्टितन्त्र को योगशास्त्र का ग्रन्थ मानते हुए, उसे वार्षगण्य द्वारा विरचित बताया है,[1] जबकि इसी सम्बन्ध में महामहोपाध्याय पं. गोपीनाथ कविराज का मत है कि– वाचस्पतिमिश्र को षष्टितन्त्र वस्तुतः मिला ही नहीं था।[2] इसके विपरीत महामहोपाध्याय पं. रामावतार शर्मा का इस विषय में मानना है कि वाचस्पतिमिश्र षष्टितन्त्र से भलीप्रकार परिचित थे, उन्होंने षष्टितन्त्र के कर्ता पंचशिख एवं महाभारत में उल्लिखित पंचशिख दोनों में भिन्नता का प्रतिपादन किया है, क्योंकि उनके मत में दोनों के दार्शनिक विचारों में पर्याप्त अन्तर है।[3]

डॉ. ब्रजमोहन चतुर्वेदी ने अपने ग्रन्थ सांख्यकारिका की भूमिका में विस्तृत विवेचन के पश्चात् निष्कर्ष निकाला है कि– 'ईसा की चतुर्थ शताब्दी तक लोग पंचशिख की रचनाओं से पूर्णतया परिचित हो चुके थे। निश्चय ही, ये सांख्य के प्रमुख व्याख्याता आचार्य थे, इसीलिए प्रायः सभी सांख्यग्रन्थों में प्रत्यक्ष, अप्रत्यक्षरूप से इनके मतों का उल्लेख मिलता है।[4]

(घ) **विन्ध्यवासी**– इन्हीं का अन्य नाम 'विन्ध्यवास' भी आया है। कुछ विद्वानों ने इन्हें एवं आचार्य ईश्वरकृष्ण दोनों को एक ही माना है,[5] जबकि डॉ. हरदत्त शर्मा ने इन्हें भिन्न स्वीकार किया है।[6] वस्तुतः विन्ध्यपर्वत के वनों में रहने के कारण इन्हें 'विन्ध्यवासी' कहा गया है।

---

[1]. योगभाष्य– 4/13 पर द्रष्टव्य, तत्त्ववैशारदी टीका ।

[2]. जयमंगला टीका की भूमिका, पृष्ठ–5–6 ।

[3]. बालबोधिनी, पृष्ठ–226 ।

[4]. सांख्यकारिका , डॉ. ब्रजमोहन चतुर्वेदी, भूमिका, पृष्ठ–23 ।

[5]. JRASI 205 P 47-52 . Dr Tekakusul

[6]. सांख्यतत्त्वकौमुदी की भूमिका, अनुवादक. महामहोपाध्याय पं. गंगानाथ झा ।

इनका वास्तविक नाम **'रुदिल'** था। ये भी सांख्य के प्रसिद्ध आचार्य माने गए हैं। श्लोकवार्तिक तत्त्वसंग्रह पंजिका, योगसूत्र भोजवृत्ति, सांख्यकारिका की युक्तिदीपिका टीका आदि अनेक ग्रन्थों में इनके सिद्धान्तों का उल्लेख हुआ है। इस आधार पर यह कहा जा सकता है कि इन्होंने अवश्य ही किसी प्रौढ़ सांख्यग्रन्थ की रचना की होगी, जो आज उपलब्ध नहीं है। इनका समय विद्वानों ने ईसा की चतुर्थ शताब्दी के अन्तिम भाग से लेकर पंचमशती के मध्य तक स्थापित किया है।

सांख्यकारिका की माठरवृत्ति टीका की भूमिका में[1] तनुसुखराम शर्मा ने विन्ध्यवासी एवं प्रसिद्ध वैयाकरण 'व्याडि' को एक माना है। उनके अनुसार– ये व्याडि, वर्ष नामक प्रसिद्ध वैयाकरण के शिष्य तथा आचार्य पाणिनि के सहपाठी थे। इन्हें उन्होंने नन्दों के समय में स्वीकार किया है। उनके कथन का आधार त्रिकाण्डशेष, हैमकोश एवं संयमिनाम माला इत्यादि ग्रन्थ मुख्यरूप से रहे हैं।

व्याडि का जीवन कथासरित्सागर में विस्तारपूर्वक दिया गया है, उसके अनुसार ये नन्दों के मन्त्री भी थे। महाभाष्यकार पतंजलि ने इनके नाम का उल्लेख अत्यन्त आदरपूर्वक किया है। माठरवृत्ति की भूमिका में इन्हें पाणिनि सूत्रों की 'संग्रह' नामक टीका का कर्ता, कोश का रचयिता एवं पतंजलि का पूर्ववर्ती सांख्ययोगाचार्य कहा गया है।[2]

उपर्युक्त विवरण के आधार पर यही कहा जा सकता है कि विन्ध्यवासी एवं व्याडि वस्तुतः दोनों एक ही व्यक्ति के नाम हैं, जो ईसा की चतुर्थ शती पूर्व हुए। चीनी परम्परा के अनुसार विन्ध्यवासी ने ने 'हिरण्यसप्तति' नामक सांख्यग्रन्थ की रचना की, जबकि डॉ. बेलवल्कर ने 'हिरण्यसप्तति' को सांख्यकारिका की टीका ही माना है।

---

[1]. सांख्यकारिका माठरवृत्ति टीका, सम्पादक– तनुसुखराम शर्मा, भूमिका ।

[2]. स च भगवतो वर्षस्य शिष्यो नन्दसमकालीनः पाणिनिसूत्राणां संग्रहाख्यटीकाः कस्यचित् कोशस्य च कर्ता, दाक्षायणः पतंजलेरपि पुरोगामी सांख्ययोगाचार्यश्च । माठरवृत्ति– भूमिका, पृष्ठ–3 ।

इसके अतिरिक्त पंडित गोपीनाथ कविराज ने हिरण्यसप्तति, स्वर्णसप्तति आदि को एक ही मानते हुए आचार्य ईश्वरकृष्ण एवं विन्ध्यवास को एक ही स्वीकार किया है। जबकि डॉ हरदत्त शर्मा ने इस मत को मान्य नहीं किया है। उनके अनुसार– हिरण्यसप्तति या कनकसत्तारि के आधार पर विन्ध्यवास और ईश्वरकृष्ण को एक कहना उचित नहीं है, क्योंकि यदि व्याडि ही विन्ध्यवास के रूप में हिरण्य सप्तति के कर्ता हैं तो निश्चय ही, वे ईश्वरकृष्ण से भिन्न हैं। ऐसा न मानने की स्थिति में हमें आचार्य ईश्वरकृष्ण को चतुर्थ शताब्दी ई.पू. से भी पहले ले जाना होगा, जो किसी भी दृष्टि से उचित नहीं माना जाएगा।

डॉ. कीथ ने एक से अधिक विन्ध्य वासी की स्थिति मानते हुए इस समस्या का समाधान निकालने का प्रयास किया है। उनका मत है कि सांख्य के विन्ध्यवासी, वैयाकरण व्याडि तथा हिरण्यसप्तति का कर्ता वस्तुतः स्वतन्त्र एवं सर्वथा भिन्न है, उन्हें एक मानना उचित नहीं है।

(ङ) **जैगीषव्य**– ये भी सांख्यशास्त्र के प्रमुख आचार्य थे। कूर्म पुराण में इन्हें पंचशिख का सहपाठी बताया गया है तथा महाभारत में इन्हें सांख्यशास्त्र के आचार्य देवल का गुरु कहा गया है। इसके अतिरिक्त योगसूत्रों के व्यासभाष्य[1] में इन्हें जितेन्द्रिय की संज्ञा भी प्रदान की गयी है–

'चितैकाग्र्यादप्रतिपत्तिरेवेति जैगीवष्यः''[2]

इनकी कोई रचना आज उपलब्ध नहीं है, किन्तु महाभारत आदि ग्रन्थों में इनके सिद्धान्तों का उल्लेख मिलता है। इस कारण इन्हें महाभारत से पूर्ववर्ती माना जा सकता है। कुछ विद्वानों ने इन्हें

1. योगसूत्र, व्यासभाष्य– 2/55 ।
2. व्यासभाष्य –2/25 ।

पंचशिख का कुछ परवर्ती माना है। महाकवि अश्वघोष ने बुद्धचरित में[1] सांख्य–योग के प्राचीन आचार्य रूप में इनका उल्लेख किया है तथा सांख्य द्वारा मोक्ष–प्राप्ति की बात कही है। यही बात जयमंगला टीका की भूमिका में भी कही गयी है। आचार्य वाचस्पतिमिश्र ने सांख्य तत्त्वकौमुदी टीका में इन्हें अनेक जन्मों की घटनाओं को स्मरण करने वाला माना है। साथ ही, उन्होंने न्यायवार्तिक की तात्पर्यटीका में इनका धारणाशास्त्र के निर्माता रूप में उल्लेख भी किया है।

इसके अतिरिक्त भी सांख्यकारिकाकार से पूर्व में– वोढु, असित, देवल, सनक, सनन्दन, सनातन, सनत्कुमार, भृगु, शुक्र, काश्यप, पराशर, गर्ग, गौतम, नारद, अगस्त्य, पुलस्त्य, हारीत, उल्लूक, वाल्मीकि, बाद्धलि, कैरात, पौरिक, ऋषभेश्वर, पंचाधिकरण, पतंजलि, कौडिण्य एवं मूक आदि आचार्यों का भी स्मृति, पुराण, महाभारत, सांख्यकारिका, सांख्यसूत्र एवं सांख्यकारिका की टीका, प्रटीकाओं में नामोल्लेख हुआ है, किन्तु इनके ग्रन्थ आज उपलब्ध नहीं है, इनमें से केवल कुछ के मतों का उल्लेख अवश्य विभिन्न ग्रन्थों में हुआ है।

वस्तुतः ये सभी नाम उस समय से जुड़े हुए हैं, जिनका हमारे पास कोई विधिवत् इतिहास उपलब्ध नहीं है। साथ ही, यह पृथक् से शोध का विषय भी हो सकता है। ऐसा प्रतीत होता है कि एक समय में सांख्यशास्त्र अत्यन्त चर्चित दर्शन रहा। इसलिए तात्कालिक प्रायः सभी चिन्तकों ने खण्डन–मण्डन की दृष्टि से, जो भी सांख्य के विषय में कहा, उनके नामों एवं सिद्धान्तों का उल्लेख अन्यान्य ग्रन्थों में भी कर दिया गया। इस दृष्टि से विद्वत्परम्परा इन सभी आचार्यों का सांख्य के इतिहास में अत्यधिक महत्त्व स्वीकार नहीं करती है।

(च) वार्षगण्य– ये भी सांख्यदर्शन के प्रमुख आचार्यों में परि–गणित हैं। इनके विषय में बहुत अधिक जानकारी उपलब्ध नही है, क्योंकि न तो इनका कोई ग्रन्थ उपलब्ध है और न ही अन्य आचार्यों ने

---

[1] बुद्धचरित, अश्वघोष, 12/66 ।

इनकी विशेष चर्चा ही की है। कुछ ग्रन्थों में इनके सिद्धान्तों का नाम निर्देशपूर्वक उल्लेख अवश्य प्राप्त होता है। कुछ स्थलों पर इनके अनुयायियों की 'वार्षगणाः' इत्यादि नामोल्लेखपूर्वक इनके सिद्धान्तों की चर्चा अवश्य की गई है। **जैसे**–

(क) मूर्तिव्यवधि जातिभेदाभावान्नास्ति मूलपृथक्त्वमिति वार्षगण्यः।[1]

(ख) श्रोत्रादिवृत्तिरिति वार्षगणाः ।[2]

(ग) साधारणो हि महान् प्रकृतित्वात् इति वार्षगणानां पक्षः।[3]

(घ) तथा च वार्षगणाः पठन्ति।[4]

(ङ) एकरूपाणि तन्मात्राणीत्य, एकोत्तराणिति वार्षगण्यः ।[5]

(च) तथा च भगवान् वार्षगण्यः पठति।[6]

उपर्युक्त उल्लेखों के आधार पर इतना तो अवश्य कहा जा सकता है कि वार्षगण्य सांख्यशास्त्र के प्रतिष्ठित आचार्य रहे हैं। सांख्यदर्शन के सिद्धान्तों के बारे में उनकी अपनी कुछ मान्यताएँ रहीं, जो अन्य आचार्यों से भिन्नता रखती थीं। उनके अनुयायियों की सुदीर्घ परम्परा थी। इसीकारण उन्हें वार्षगणाः के रूप में उद्धृत किया गया तथा वार्षगण्य ने निश्चय ही, सांख्यदर्शन के किसी नूतनग्रन्थ की संरचना की होगी, जो आज विलुप्त हो गयी है।

ईसा की प्रथम शताब्दी में स्थित बौद्ध दार्शनिक महाकवि अश्वघोष ने बुद्धचरित में एक स्थल[7] पर इनके 'पंचपर्वा–अविद्या' वचन

---

[1]. योगभाष्य – 3/53 ।

[2]. युक्तिदीपिका– पृष्ठ–39 ।

[3]. युक्तिदीपिका, पृष्ठ–140 ।

[4]. युक्तिदीपिका, पृष्ठ–15 ।

[5]. युक्तिदीपिका, पृष्ठ–108 ।

[6]. युक्तिदीपिका, पृष्ठ–72 ।

[7]. बुद्धचरित, अश्वघोष– 12/33 ।

का उल्लेख किया है, जिसे सांख्यतत्त्वकौमुदीकार ने वार्षगण्य के नाम से उद्धृत किया है–

'पंचपर्वा–अविद्या' इत्याह स्म भगवान् वार्षगण्यः'[1]

अतः इस आधार पर कहा जा सकता है कि ईसा की प्रथम शताब्दी तक ये सांख्यशास्त्र के लब्धप्रतिष्ठ आचार्य के रूप में विख्यात हो चुके थे। इसलिए इनका समय ईसा की प्रथम शताब्दी से पर्याप्तपूर्व में निर्धारित करना उचित प्रतीत होता है। कुछ विद्वानों ने इन्हें 'षष्टितन्त्र' नामक ग्रन्थ का प्रणेता भी माना है, किन्तु इसे अधिकांश विद्वानों की सहमति प्राप्त नहीं हो सकी है, क्योंकि विद्वत्परम्परा मुख्य रूप से षष्टितन्त्र का प्रणेता आचार्य पंचशिख को ही स्वीकार करती है, जिसका हम पूर्व में विवेचन कर चुके हैं।

(छ) **अन्य–** पुनरपि सांख्याचार्यों के रूप में मान्यता प्राप्त वोढु, देवल एवं सनकादि का भी हम यहाँ संक्षेप में उल्लेख कर रहे हैं–

a) **वोढु–** ऋषितर्पण नामक ग्रन्थ में पंचशिख से पूर्व एवं आसुरि के पश्चात् इनके नाम का उल्लेख मिलता है। इनका कोई ग्रन्थ उपलब्ध नहीं है। वेबर ने भगवान् बुद्ध एवं वोढु को एक मानते हुए, इसे बुद्ध के नाम का ब्राह्मणीकरण माना है। डॉ कीथ ने इन्हें अथर्ववेद के परिशिष्ट के कर्ता के रूप में स्वीकार करते हुए, आसुरि से पूर्व स्थापित किया है।[2] इनका यत्र–तत्र केवल नामोल्लेख ही प्राप्त होता है।

b) **देवल–** महाभारत के शान्तिपर्व में नारद एवं असित देवल का संवाद अत्यन्त विस्तृतरूप में प्रयुक्त हुआ है।[3] इसी प्रसंग में सांख्य की आचारसंहिता के सम्बन्ध में भी विस्तारपूर्वक चर्चा की गई है। साथ

---

1. सांख्यतत्त्वकौमुदी, कारिका– 47 ।
2. सांख्य सिस्टम, कीथ, पृष्ठ–51 ।
3. महाभारत, शान्तिपर्व, 274/39 ।

ही वहाँ कहा गया है कि सांख्यदर्शन पाप एवं पुण्य दोनों का विनाशक है, जिससे प्रमाता ब्रह्मभाव को प्राप्त करके मोक्ष प्राप्त करता है–

पुण्यपापक्षयार्थे हि सांख्यज्ञानं विधीयते।
तत्क्षये ह्यस्य पश्यन्ति ब्रह्मभावे परां गतिम्।।[1]

महामहोपाध्याय डॉ. पाण्डुरंग वामन काणे ने अपने धर्मशास्त्र के इतिहास में स्मृतिकार के रूप में मानते हुए, इन्हें ईसा की चतुर्थ एवं षष्ठ शताब्दी के मध्य स्वीकार किया है।[2] माठरवृत्ति में उल्लिखित सांख्याचार्यों की परम्परा में 'आचार्य देवल' के नाम का अन्त में परि–गणन किया गया है। इसके पश्चात् ईश्वरकृष्ण का नाम आया है–

'कपिलादासुरिणा प्राप्तमिदं ज्ञानं ततः पंचशिखेन तस्माद् भार्ग–वोलूक–वाल्मीक–हारित–देवल–प्रभृतीनामागतम्। ततस्तेभ्य ईश्वरकृष्णेन प्राप्तम्।'[3]

साथ ही, देवल के साथ 'प्रभृति' पद के प्रयोग से देवल और ईश्वरकृष्ण के काल में पर्याप्त अन्तर की भी प्रतीति हो रही है, किन्तु प्रस्तुत प्रसंग में यह बात विशेषरूप से उल्लेखनीय है कि माठरवृत्ति में उल्लिखित आचार्यों की नामावली की यह परम्परा अन्य प्रमाणों से परिपुष्ट नहीं होती है, फिर भी इतना तो अवश्य स्वीकार किया जा सकता है कि आचार्य देवल की गणना निश्चय ही, सांख्य के प्रतिष्ठित आचार्यों में होती रही है तथा उन्हें ईश्वरकृष्ण का पूर्ववर्ती मानना उचित प्रतीत होता है।

c) **सनकादि**– सांख्यकारिका की प्रथम कारिका के गौड़पाद भाष्य में सनक, सनन्दन, सनातन, आसुरि, कपिल, वोढु एवं पंचशिख आदि सांख्यशास्त्रीय आचार्यों का उल्लेख किया गया है–

सनकश्च सनन्दश्च तृतीयश्च सनातनः।

---

[1]. वही ।

[2]. धर्मशास्त्र का इतिहास, डॉ. पी.वी. काणे, भाग– 3 ।

[3]. माठरवृत्ति– 71 ।

आसुरिः कपिलश्चैव वोढुः पंचशिखस्तथा।।

इत्येते ब्रह्मणः पुत्राः सप्तप्रोक्ता महर्षयः।।[1]

प्रस्तुत अंश में इन सातों आचार्यों को ब्रह्मा का पुत्र बताया गया है। महाभारत में भी शान्तिपर्व के अन्तर्गत कुछ भिन्नरूप में इन्हीं आचार्यों का परिगणन हुआ है।[2] इनमें कपिल को छोडकर अन्य नामों के सम्बन्ध में अधिक जानकारी उपलब्ध नहीं होती है। इसके अतिरिक्त सनन्दन का भी सांख्य के आचार्य रूप में उल्लेख मिलता है।[3]

आचार्य कपिल तो निर्विवादरूप से सांख्य के प्रवर्तक आचार्य हैं ही, किन्तु यहाँ वाल्मिकि और शुक के सांख्य–विषयक आचार्य होने के सम्बन्ध में अन्यत्र कोई प्रमाण उपलब्ध नहीं है। पुनरपि उपर्युक्त उल्लेख के आधार पर ऐसी सम्भावना की जा सकती है, कि इन विद्वानों ने निश्चय ही सांख्य पर कोई व्याख्यान किया होगा, जो आज उपलब्ध नहीं है तथा उसका अधिक प्रचार–प्रसार नहीं हो सका होगा।

यहाँ तक हमने सांख्य के प्रमुख आचार्यों के सम्बन्ध में उल्लेख किया। अब हम सांख्यशास्त्र के प्रमुख एवं महत्त्वपूर्ण ग्रन्थों का परिचय प्रस्तुत करेंगे। यह अत्यन्त आश्चर्य का विषय है कि भारतीय दर्शन–जगत् के सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण एवं प्रभावित करने वाले, सांख्यदर्शन के आचार्यों की परम्परा भले ही लम्बी हो, किन्तु इसका उपलब्ध साहित्य अत्यल्प ही है, क्योंकि यदि हम इस दर्शन में से सांख्यकारिका तथा उसके भाष्य–टीका साहित्य को निकाल दें, तो उपलब्ध साहित्य नगण्य ही होगा।

d) विज्ञानभिक्षु– द्रष्टव्य पूर्व में पृष्ठ संख्या– 99 ।

---

[1]. गौड़पादभाष्य– 1।

[2]. वहाँ इनके नाम–सनत् सनत्सुजात, सनक, सनन्दन, सनत्कुमार, कपिल, सनातन हैं। महाभारत शान्तिपर्व– 327 / 64–66 ।

[3]. गौड़पादभाष्य–1। लिंगशरीरनिमित्तक, इति सनन्दनाचार्यः।सांख्यसूत्र–6 / 69।

पुनरपि इस दर्शन के अनुपलब्ध, उपलब्ध, मौलिक एवं व्याख्या ग्रन्थों का यहाँ परिचय प्रस्तुत किया जा रहा है–

(v) **सांख्यदर्शन के प्रमुख ग्रन्थ–**

1. सांख्यसूत्र– भारतीयदर्शन की परम्परा रही है कि इनके प्रवर्तक ग्रन्थ प्रायः सूत्ररूप में लिखे गए। इसी आधार पर विद्वानों की मान्यता है कि सांख्य के प्रवर्तक आचार्य कपिल ने निश्चय ही सूत्ररूप में सांख्य सिद्धान्तों का निरूपण किया होगा, जिसका उल्लेख सांख्य कारिका आदि अनेक सांख्यग्रन्थों में हुआ भी है, किन्तु संयोगवश वह सूत्रात्मक ग्रन्थ आज उपलब्ध नहीं है। यह भी सम्भावना है कि वह श्रुतिपरम्परा में ही रहा हो, उसका लिपिबद्ध लेखन कभी हुआ ही न हो।

जो सांख्यसूत्र आज हमें उपलब्ध होता है, उसे विद्वत्परम्परा आद्य कपिल की रचना नहीं मानती है, क्योंकि उसका लेखन ईसा की नवम शताब्दी के लगभग माना गया है। इस विषय में विद्वानों का मानना है कि–'प्राचीन सांख्यसूत्र के रहते, ऐसा कोई कारण नहीं था कि प्राचीन भाष्यकार शंकराचार्य एवं माध्वाचार्य आदि सांख्य के तत्त्वों के प्रसंग में एक बार भी सांख्यसूत्र को उद्धृत न करके, केवल सांख्यकारिकाओं को ही उदाहरणरूप में प्रस्तुत करते।'

वस्तुतः स्वयं में एक प्रबल तर्क कहा जा सकता है। इसलिए इस सांख्यसूत्र के बारे में यही कहना उचित होगा कि सांख्य के प्रवर्तक आचार्य महर्षि कपिल द्वारा विरचित 'सांख्यसूत्र' के उनके समय में होने की पूर्ण सम्भावना है, किन्तु वर्तमान समय में वह उपलब्ध नहीं है। अतः इस विषय में कुछ भी निश्चयपूर्वक नहीं कहा जा सकता है कि उनकी संख्या कितनी थी ? अथवा वह कितने अध्याय या पादों में विभक्त था?

2. षष्टितन्त्र– इसे सांख्यशास्त्र का आकरग्रन्थ माना गया है। जयमंगला टीका में इसके अनेक उद्धरण प्रस्तुत किए गए हैं। विद्वत्

परम्परा इसे आसुरि शिष्य पंचशिख की रचना स्वीकार करती है।[1] इसके साठ अध्यायों में सांख्य के साठ तत्त्वों का विस्तारपूर्वक विवेचन किया गया है। योगभाष्य में इसके अनेक उद्धरणों का उल्लेख हुआ है।[2] इस ग्रन्थ के कर्ता के सम्बन्ध में विद्वत्समुदाय में मतैक्य नहीं है, क्योंकि इस ग्रन्थ के कर्तारूप में भिन्न–भिन्न विद्वानों के नामों का उल्लेख मिलता है। जैसे– योगभाष्य में उपलब्ध षष्टितन्त्र के –

'गुणानां परमं रूपं न दृष्टिपथमृच्छति ।

यत्तु दृष्टिपथं यातं तन्मायेव सुतुच्छकम्।।' सांख्यशास्त्र

इत्यादि कारिका को अपनी 'भामती' टीका में वाचस्पतिमिश्र ने वार्षगण्य द्वारा विरचित माना है तथा षष्टितन्त्र को योगशास्त्र का ग्रन्थ स्वीकार किया है।[3] भास्कराचार्य ने षष्टितन्त्र को महर्षि कपिल की रचना बताया है।[4] इसके अतिरिक्त ब्रह्मसूत्र शांकरभाष्य में परमर्षि प्रणीत 'तन्त्र' नामक स्मृति को भी वस्तुतः विद्वानों ने षष्टितन्त्र के लिए प्रयुक्त माना है।[5]

इसप्रकार मतवैमत्य होते हुए भी अधिकांश विद्वानों ने षष्टितन्त्र को आचार्य पंचशिख की रचना ही स्वीकार किया है और इसका मुख्य कारण सांख्यकारिका की प्रसिद्ध टीका जयमंगला के कर्ता द्वारा इसका बार–बार उल्लेख रहा है।

3. राजवार्तिक– आचार्य वाचस्पति मिश्र ने अपनी तत्त्वकौमुदी टीका में सांख्यकारिका की बहत्तरवीं कारिका की व्याख्या में उद्धृत

---

1. पंचशिखेन मुनिना बहुधाकृतं तन्त्रं षष्टितन्त्राख्यं षष्टिखण्डं कृतमिति। तत्रैव षष्टिरर्था व्याख्याताः। (जयमंगला टीका)

2. द्रष्टव्य, योगसूत्र, व्यासभाष्य सहित, व्याख्याकार, डॉ. राकेश शास्त्री, चौखम्भा ओरियन्टालिया, दिल्ली, 2020।

3. 'अतएव योगशास्त्रं व्युत्पादयिताह स्म भगवान् वार्षगण्यः...गुणानां... सुतुच्छकम् भामती टीका, ब्रह्मसूत्र– 2/1/3 ।

4. सांख्यकारिका, डॉ. ब्रजमोहन चतुर्वेदी, भूमिका, पृष्ठ–29 ।

5. वही ।

तीन श्लोकों के अन्तर्गत सांख्य के साठ तत्त्वों का नामोल्लेख किया है–

> **प्रधानास्तित्त्वमेकत्वमर्थवत्त्वमथान्यता।**
> **पारार्थ्यं च तथाऽनैक्यं वियोगो योग एव च ।।**
> **शेषवृत्तिरकर्तृत्वं मौलिकार्थाः स्मृता दश।**
> **विपर्ययः पंचविधस्तथोक्ता नव तुष्टयः।।**
> **करणानामसामर्थ्यमष्टाविंशतिधा स्मृतम्।**
> **इति षष्टिः पदार्थानामष्टभिः सह सिद्धिभिः।।**

गार्बे ने इनका प्रणेता राजा भोज को माना है, जबकि दासगुप्त इसे सांख्यकारिका की ही एक टीका मानते हैं, जो सम्प्रति उपलब्ध नहीं है। इन तीनों श्लोकों के अतिरिक्त अन्यत्र किसी सांख्याचार्य के ग्रन्थ में 'राजवार्तिक' का कोई उल्लेख नहीं मिलता है, जबकि जय मंगला, माठरवृत्ति, सांख्यतत्त्वविवेक, तत्त्वयथार्थदीपिका, तत्त्वसमास सूत्र एवं अहिर्बुध्न संहिता में राजवार्तिक के इन्हीं तीन श्लोंको में परिगणित सांख्यशास्त्र के तत्त्वों का उल्लेख हुआ है। अर्हिर्बुध्न संहिता में तो क्रम भी प्रायः यही स्वीकार किया गया है।

अतः इस आधार पर यह सम्भावना की जा सकती है कि यह भी कोई सांख्यकारिका की टीका रही होगी, जिसके महत्त्व को आचार्य मिश्र ने भी स्वीकार करते हुए, अपनी टीका में स्थान प्रदान किया, किन्तु किसी प्राचीन सांख्यग्रन्थ की टीका की सम्भावना से भी इन्कार नहीं किया जा सकता है।

4. एपिकसांख्य– महाभारत,[1] गीता,[2] श्रीमद्भागवत,[3] देवी भागवत,[4] वायुपुराण,[1] ब्रह्माण्डपुराण,[2] स्कन्दपुराण,[3] ब्रह्मपुराण,[4] पद्म

---

[1]. महाभारत, शान्तिपर्व, वनपर्व, आश्वमेधिकपर्व, उद्योगपर्व,भीष्मपर्व, अनुशासनपर्व।

[2] श्रीमद्भगवद्गीता– 13/5,19–20, 14/5–9, 7/4,13, 2/28, 7/6,8, 18/13, 14।

[3] श्रीमद्भागवत – 3/26 ।

[4] देवीभागवत – 6/15 ।

पुराण,[5] कूर्मपुराण,[6] मार्कण्डेयपुराण,[7] विष्णुपुराण,[8] मत्स्यपुराण[9] इसीप्रक मनुस्मृति,[10] शंखस्मृति,[11] याज्ञवलक्यस्मृति[12] आदि ग्रन्थों में भी सांख सिद्धान्तों का उल्लेख मिलता है। इनमें से कुछ ग्रन्थों में तो अत्यन प्रौढ़ एवं विस्तृत विवेचन भी उपलब्ध होता है। पुनरपि इनमें स सर्वाधिक गम्भीर एवं महत्वपूर्ण विवेचन महाभारत में हुआ है। अत आधुनिक विद्वानों ने इसे 'एपिक सांख्य' की संज्ञा प्रदान की है।[13]

महाभारत के वनपर्व में सांख्य के तीन गुण व्यक्त, अव्यक्त चौबीस तत्त्वों सहित पंच महाभूतों का विस्तृत एवं स्पष्ट उल्लेख हुआ है। इसीप्रकार शान्तिपर्व में पुरुष को निर्गुण एवं निर्विकार बताते हुए, प्रकृति को गुणों की सृष्टि करने वाला कहा गया है।[14] यहाँ गुण को आत्मा का धर्म होने से इन्कार किया है। 'सत्त्व' शब्द का प्रयोग यहाँ प्रकृति के लिए देखने को मिलता है। शान्तिपर्व में भी भीष्मपितामह ने सांख्य एवं योग का विशद विवेचन किया है।

---

1 वायुपुराण – 1/2/22–23, 28,29, 6/4/39–40 ।
2 ब्रह्माण्डपुराण 4/3/37–46, 2/32/71–76 ।
3 स्कन्दपुराण – प्रभासखण्ड ।
4 ब्रह्मपुराण– 1/33/35 , 33/3–4, 242/60–70, 75–76 ।
5 पद्मपुराण – पातालखण्ड , 85/11–18 , सृष्टिखण्ड – 2/88/103 ।
6 कूर्मपुराण– 1/4/13–35, 2/7/21–26 ।
7 मार्कण्डेय पुराण– 42/32–62 ।
8 विष्णुपुराण– 1/2/19–23, 25–62, 6/4/13–15, 17, 32/40 ।
9 मत्स्य पुराण– 3/14–29 ।
10 मनुस्मृति– 12/24, 50, 1/15, 27 ।
11 शंखस्मृति– 7/21/25।
12 याज्ञवल्क्यस्मृति– 3/91–92, 109, 177–178 ।
13 महाभारतीय सांख्य, लेखक– डॉ. राकेश शास्त्री, डॉ. प्रतिमा शास्त्री, प्रकाशक– चौखम्बा संस्कृत प्रतिष्ठान, दिल्ली, 2005 ।
14 महाभारत, शान्तिपर्व–110/17, 21, 33, 35 ।

इसके अतिरिक्त श्रीमद्भागवत तथा देवीभागवत पुराणों में सांख्य के तत्त्वों का अत्यन्त व्यवस्थित विवेचन मिलता है। इस सम्पूर्ण विवेचन की एक महत्त्वपूर्ण विशेषता यह है कि इसमें पुरुष एवं प्रकृति के अतिरिक्त एक अन्य तत्त्व **'ईश्वर'** को भी मान्यता प्रदान की गई है, जो पुरुष एवं प्रकृति दोनों का नियन्ता है। इसीलिए इसे 'सेश्वर सांख्य' कहा गया है। यहाँ ईश्वर वेदान्त के ब्रह्म से मिलता–जुलता है और इसी की आराधना से जीव को मोक्ष की प्राप्ति होती है।

भागवत पुराण के तृतीय अध्याय में सांख्य के सिद्धान्तों का विस्तारपूर्वक प्रतिपादन किया गया है। महाभारत एवं पौराणिक सांख्य विवेचन में अत्यधिक साम्य है। इसके अतिरिक्त ईस्वी पूर्व लगभग 200 वर्ष से लेकर लगभग ई. के मध्य लिखे गए स्मृति साहित्य में प्राचीन–तम मनुस्मृति के बारहवें अध्याय में सत्त्व, रजस् और तमोगुण के स्वरूप का विवेचन करते हुए आत्मज्ञान की सर्वोच्चता का प्रतिपादन हुआ है।

इसके अतिरिक्त याज्ञवलक्य स्मृति[1] में पंच ज्ञानेन्द्रिय, उनके पाँच पदार्थ, पंच कर्मेन्द्रिय और मन, इन सोलह के गण को अहंकार, बुद्धि, पंचतत्त्व, क्षेत्रज्ञ एवं ईश्वर के साथ उल्लिखित करते हुए[2] बुद्धि को अव्यक्त से, अहंकार को बुद्धि से तथा तन्मात्राओं को अहंकार से उत्पन्न माना है। इसीप्रकार शंखस्मृति में सांख्य के चौबीस तत्त्वों का विस्तार से वर्णन हुआ है, वहाँ पुरुष को विष्णु के रूप में कहा गया है।[3]

इस सम्पूर्ण विवेचन में प्रायः ईश्वर की सत्ता को स्वीकार किया गया है, इसलिए इसे 'सेश्वर–सांख्य' की संज्ञा प्रदान की गयी है। वस्तुतः सांख्य अपने आरम्भिक काल में सेश्वर रहा, किन्तु सांख्य

---

[1]. याज्ञवल्क्यस्मृति– 3/91–92 ।

[2]. याज्ञवल्क्यस्मृति– 3/177–178 ।

[3]. शंखस्मृति– 7/21/25 ।

कारिका, सांख्यसूत्र, समासतत्त्वसूत्र एवं उनकी टीकाओं तक आते-आते ईश्वर की मान्यता को पूर्णतया नकार दिया गया। इसीकारण इनमें प्रतिपादित सांख्य 'निरीश्वर सांख्य' की कोटि में आता है।

5. **अर्वाचीन सांख्यसूत्र**- छः अध्यायों एवं 527 सूत्रों में निबद्ध इस सूत्रग्रन्थ के प्रथम तीन अध्यायों के सांख्यदर्शन के सभी सिद्धान्तों का विस्तार से विवेचन किया गया है। चतुर्थ अध्याय में उदाहरण दिए गए हैं तथा पंचम अध्याय में विरोधियों के सिद्धान्तों का तर्कपूर्ण पद्धति से खण्डन हुआ है तथा अन्तिम षष्ठ अध्याय में पुनः सांख्य सिद्धान्तों की प्रस्थापना की गयी है।

कुछ विद्वानों ने इसे 'आदिकाल' की रचना स्वीकार किया है, जिनमें पं. उदयवीर शास्त्री का नाम विशेषरूप से उल्लेखनीय है। उन्होंने अपने 'एण्टीक्विटी आफ दा सांख्यसूत्र' नामक निबन्ध में कहा है कि 'कपिलकृत मूल सांख्यसूत्रों में अनेक सूत्र बाद में प्रक्षिप्त कर दिए गए, जिससे पूरे ग्रन्थ की रचना बाद में होने की भ्रान्ति होती है।'

उन्होंने इस रचना का इस रूप में आने का समय चतुर्थ शताब्दी ईस्वी पूर्व से लेकर पंचम शताब्दी ईस्वी तक स्वीकार किया है, जबकि आधुनिक विद्वानों का मत है कि उपलब्ध सांख्यसूत्र के रचयिता आदि कपिल नहीं है, क्योंकि इसका रचनाकाल ईसा की नवम शताब्दी है। उनका कथन है कि-

इन सूत्रों में अनेक वाक्य अन्य सांख्य ग्रन्थों से लिए गए हैं।[1] इसीप्रकार सांख्यसूत्र में प्रतिपादित वेद की प्रामाणिकता पर वेदान्त का प्रभाव स्पष्टरूप से परिलक्षित होता है। इसके अलावा सांख्यकारिका के अनेक वाक्यों का भी इन सूत्रों में प्रयोग किया गया है। साथ ही, उनका प्रबल तर्क है कि चौदहवीं शताब्दी में स्थित माधवाचार्य ने

---

[1]. आवृत्तिरसकृदुपदेशात् । सांख्यसूत्र-4/3, ब्रह्मसूत्र-4/1/1 ।
वृत्तयः पंचतनयः क्लिष्टा क्लिष्टाः । सांख्यसूत्र-2/33, योगसूत्र- 1/5 ।

'सर्वदर्शनसंग्रह' में एक बार भी इस 'सांख्यसूत्र' का उल्लेख नहीं किया है, जबकि उन्होंने सांख्यकारिका को उद्धृत किया है।

इसके अतिरिक्त इसके सर्वाधिक प्राचीन टीकाकार **अनिरूद्ध** के ही लगभग विद्यमान हैं। अतः यह रचना किसी भी दृष्टि से 'आदि कपिल' की नहीं हो सकती है। साथ ही, इन सूत्रों में पंचशिख का उल्लेख[1] भी इसे पर्याप्त अर्वाचीन सिद्ध करता है, क्योंकि ये तो निश्चय ही कपिल के शिष्य आसुरि के भी शिष्य होने के कारण निर्विवाद रूप से बहुत बाद के हैं।

इसके विपरीत डॉ. उदयवीर शास्त्री ने इसमें कुछ सूत्रों को प्रक्षिप्त मानते हुए, प्रक्षेपण का समय ई.पू. चतुर्थ शताब्दी से पंचम शताब्दी के मध्य स्वीकार किया है। उनके अनुसार– कुछ सूत्रों में सुघ्न एवं पाटलिपुत्र के नाम का उल्लेख हुआ है। इसलिए कहा जा सकता है कि इन सूत्रों का प्रक्षेप इन नगरों की सम्पूर्ण भारत में प्रसिद्धि के समय हुआ। अतः प्रक्षिप्त कुछ सूत्रों को इससे निकालने के पश्चात् 'सांख्यसूत्र' का प्राचीनतम रूप हमारे सामने आ जाता है।[2]

जबकि विपक्षी विद्वानों का मत है कि यदि शास्त्रीजी की सूत्रों में प्रक्षेप की बात स्वीकार कर भी ली जाए, तो भी इससे सांख्यसूत्रों की प्राचीनता सिद्ध नहीं होती, क्योंकि आचार्य शंकर एवं माधवाचार्य ने सांख्यतत्त्वों के विवेचन के लिए, सांख्यकारिका को ही उद्धृत किया है, सांख्यसूत्रों को नहीं। इस आधार पर भी यह स्वीकार करना उचित प्रतीत नहीं होता है कि उनके समय तक आदिकपिल द्वारा विरचित सांख्यसूत्र विलुप्त हो चुके थे, क्योंकि अन्य दर्शनों के सम्बन्ध में जहाँ शंकराचार्य ने हमेशा आर्षग्रन्थों को महत्ता प्रदान की है, वहीं सांख्य दर्शन के विषय में ऋषि कपिलकृत सूत्रों की उपेक्षा करके, वे आचार्य ईश्वरकृष्ण की सांख्यकारिका को कदापि महत्त्व प्रदान नहीं करते।

---

[1]. अविवेकनिमित्तो वा पंचशिखः । सांख्यसूत्र–6/68 ।

[2]. सांख्यशास्त्र का इतिहास – पं. उदयवीर शास्त्री ।

इसके अलावा सांख्यसूत्र एवं सांख्यकारिका में अनेक स्थलों पर अत्यधिक साम्य परिलक्षित होता है। कुछ स्थलों पर तो पदावली भी एक समान ही प्रयुक्त हुई है।[1] डॉ. उदयवीर शास्त्री इसे सांख्यसूत्र से ग्रहण किया मानते हैं, जबकि इस विषय में अन्य विद्वानों का मानना है कि सूत्रकार ने यह पदावली सांख्यकारिका से ग्रहण की है।

साथ ही, आचार्य वाचस्पतिमिश्र ने भी सांख्यसूत्र को आदिकाल की रचना स्वीकार न करते हुए, सांख्यकारिका पर ही टीका की है, जबकि अन्य दर्शनों में उन्होंने सूत्र एवं भाष्यों पर ही टीकाएँ की हैं। अतः उपर्युक्त विवेचन के आधार पर वर्तमान उपलब्ध सांख्यसूत्र को आदिकाल की रचना किसी भी दृष्टि से स्वीकार करना संगत प्रतीत नहीं होता है।

6. **वर्तमान सांख्यसूत्र की टीकाएँ**– अर्वाचीन होते हुए भी यह ग्रन्थ सांख्य सिद्धान्तों की दृष्टि से अत्यन्त महत्त्वपूर्ण कहा जा सकता है। यही कारण है कि इस पर अनेक विद्वानों ने टीकाओं का प्रणयन किया, जिनका हम यहाँ संक्षेप में उल्लेख कर रहे हैं–

(क) **अनिरुद्धवृत्ति**– इसके कर्ता अनिरूद्ध आचार्य हैं। इनका समय पन्द्रहवीं शती का उत्तरार्द्ध माना गया है।

(ख) **सांख्यवृत्तिसार**– यह स्वयंप्रकाशतीर्थ के शिष्य महादेव सरस्वती की रचना है, इन्हें **वेदान्ती महादेव** के नाम से भी जाना जाता है। इस पर अनिरूद्ध टीका का प्रभाव अनेकशः परिलक्षित होता है। इसी कारण कुछ विद्वान् तो इसे अनिरूद्ध टीका का संक्षिप्तरूप भी स्वीकार करते हैं, फिर भी अनेक स्थलों पर इसका मौलिक चिन्तन द्रष्टव्य है।

---

[1]. हेतुमदनित्यमव्यापि सक्रियमनेकमाश्रितं लिंगम्।

सांख्यसूत्र–1/124, सांख्यकारिका–10।

सात्त्विक एकादशकः प्रवर्तते वैकृतादहंकारात्।

सांख्यसूत्र–2/14, सांख्यकारिका–25 ।

सामान्यकरणवृत्तिः प्राणाद्या वायवः पंच। सांख्यसूत्र–2/31, सांख्यकारिका–29।

(ग) **सांख्यप्रवचनभाष्य**– वेदान्ती होते हुए भी विज्ञानभिक्षु ने सांख्य सूत्रों पर अत्यन्त विस्तृत भाष्य की रचना 'प्रवचनभाष्य' के नाम से की।

(घ) **लघुसांख्यवृत्ति**– आचार्य विज्ञानभिक्षु के भाष्य के आधार पर प्रसिद्ध वैयाकरण नागेश भट्ट ने सांख्यसूत्रों पर इसकी संरचना की।

(ङ) **सांख्यतरंग**–सांख्यकाष्ठचिह्व के नाम से प्रसिद्ध आचार्य विश्वेश्वर मिश्र ने सांख्यसूत्रों पर इस टीका का प्रणयन किया, जिन्हें बाद में स्वामी देवतीर्थ के रूप में प्रसिद्धि प्राप्त हुई।

7. **तत्त्वसमास अथवा समाससूत्र**– मात्र 25 सूत्रों में निबद्ध इस कृति को भी कुछ विद्वान् मूल सांख्यसूत्र की संज्ञा प्रदान करते हैं, किन्तु वाचस्पति मिश्र, आचार्य शंकर आदि की कृतियों में इसके उद्धरण प्रयुक्त न होने एवं माधवाचार्य के सर्वदर्शनसंग्रह में इसका उल्लेख न होने के कारण, अन्य विद्वान् इसे माधवाचार्य से भी बहुत बाद अर्थात् लगभग चौदहवीं शतीं की रचना स्वीकार करते हैं।

जबकि आचार्य विज्ञानभिक्षु ने सांख्यसूत्र, सांख्यसार एवं तत्त्व समास को एक ही व्यक्ति की कृति माना है। मैक्समूलर को भी पहले इसके प्राचीन एवं मौलिक होने का संदेह हुआ था, किन्तु बाद में उन्होंने स्वयं ही इसे सांख्यकारिका के पूर्व की रचना स्वीकार किया, क्योंकि सांख्यकारिका एवं तत्त्वसमास में से उन्होंने तत्त्वसमास के विवेचन को अधिक प्राचीन स्वीकार किया है। इसकी निम्न टीकाएँ मिलती हैं–

क) **सर्वोपकारिणी**– इसमें इसके कर्ता का नामोल्लेख नहीं हुआ है।

ख) **सांख्यसूत्र विवरण**–इसके कर्ता का नाम भी ज्ञात नहीं है।

ग) **सांख्यक्रमदीपिका**–इसे सांख्यालंकार अथवा सांख्यसूत्र प्रवेशिका के नाम से भी जाना जाता है। इसमें भी लेखक ने अपने नाम का कथन नहीं किया है।

(घ) **तत्त्वयाथार्थ्यदीपन**– यह टीका विज्ञानभिक्षु के शिष्य भावागणेश दीक्षित की है। इनके पिता का नाम भावाविश्वनाथ कहा गया है।

(ङ) **अनामव्याख्या**– इन सूत्रों पर एक अज्ञातनाम वाली अन्वयात्मक टीका रघुनन्दन दीक्षित के पुत्र क्षेमेन्द्र दीक्षित की भी उपलब्ध होती है।

(च) **सांख्यतत्त्वविवेचन**– शिवानन्दकृत टीका।[1]

यहाँ तक हमने सांख्यदर्शन पर उपलब्ध सांख्यकारिका से इतर साहित्य एवं उनके आचार्यों का संक्षेप में उल्लेख किया। अब हम आचार्य ईश्वरकृष्ण द्वारा विरचित सांख्यशास्त्र के प्रसिद्ध प्रकरणग्रन्थ सांख्यकारिका एवं उनकी टीका, प्रटीकाओं का विस्तारपूर्वक विवेचन करेंगे, जिनका सांख्यशास्त्र के इतिहास में महत्त्वपूर्ण योगदान रहा है–

(vi) **आचार्य ईश्वरकृष्ण एवं उनकी सांख्यकारिका–** आचार्य ईश्वरकृष्ण का नाम सांख्यशास्त्र के महत्त्वपूर्ण प्रकरणग्रन्थ के कर्तारूप में जाना जाता है, किन्तु इनके समय एवं जन्मस्थान के सम्बन्ध में कोई जानकारी उपलब्ध नहीं है। सांख्यकारिका की सत्तर से लेकर बहत्तर तक, तीन कारिकाओं में इन्होंने अपनी गुरुपरम्परा का उल्लेख अवश्य किया है, किन्तु स्वयं के माता–पिता, जन्म–स्थान एवं काल आदि के विषय में कोई उल्लेख नहीं किया है।

उसी स्थल पर इतना अवश्य कहा गया है कि– पंचशिख विरचित सांख्य के विस्तृत ग्रन्थ को आधार बनाकर, उसके सभी सिद्धान्तों एवं अभिप्रायों को अत्यन्त संक्षेप में सरल शैली में सत्तर कारिकाओं में निबद्ध किया गया है। षष्टितन्त्र में वर्णित आख्यान, तर्क, वितर्क आदि, जिनका प्रयोग दूसरे सिद्धान्तों के खण्डन के लिए किया गया है, यहाँ छोड़ दिया है–

सप्तत्यां किल येऽर्थास्तेऽर्थाः कृत्स्नस्य षष्टितन्त्रस्य।

---

[1]. पातंजलयोगप्रदीप– ओमानन्द तीर्थ, गीताप्रेस गोरखपुर, सं. 2024, पृष्ठ–91।

आख्यायिका–विरहिताः परवादविवर्जिताश्चापि ।।72।।

उनके अनुसार– यह सांख्यज्ञान कपिलमुनि ने कृपा करके, आसुरि को प्रदान किया तथा आसुरि ने यह पंचशिख को दिया, जिन्होंने एक 'तन्त्र' नामक ग्रन्थ की रचना की। वह तन्त्र अर्थात् षष्टि तन्त्र ही ईश्वरकृष्ण की सांख्यकारिका का उपजीव्य ग्रन्थ रहा है।[1]

(a) **आचार्य ईश्वरकृष्ण का समय**– आचार्य ईश्वरकृष्ण के समय के विषय में विद्वानों में अत्यधिक मतभेद है–

(क) डॉ. तकाकुसु के अनुसार– ईश्वरकृष्ण का समय ईस्वी के आसपास था।[2]

(ख) डॉ. विसेण्ट स्मिथ ने इन्हें वसुबन्धु से पूर्वकालीन मानते हुए, 240 ई. में स्थित माना है, क्योंकि वसुबन्धु को उन्होंने 328–260 ई. के मध्य स्वीकार किया है।[3]

(ग) डॉ. दासगुप्त ने इनका समय विस्तारपूर्वक विवेचन के उपरान्त 200 ई. निर्धारित किया है।[4]

(घ) गार्बे ने इन्हें एक सौ ई. में स्थित माना है।[5]

(ङ) डॉ. आद्याप्रसाद मिश्र इनका समय प्रथम शती ईस्वी से पर्याप्त पूर्व लगभग ई.पू प्रथम शती के आसपास स्वीकार करते हैं।[6]

(च) डॉ. बेल्वल्कर इन्हें तृतीय शतक के मध्य कहीं मानते हैं।[7]

---

1. एतत् पवित्रमग्र्यं मुनिरासुरयेऽनुकम्पया प्रददौ।
आसुरिरपि पंचशिखाय तेन बहुधा कृतं तन्त्रम्।। (कारिका– 70)
2. सांख्यकारिका– व्याख्याकार, डॉ. राकेश शास्त्री, भूमिका, पृष्ठ– 30 ।
3. जर्नल ऑफ रायल एशियाटिक सोसायटी, 1905, पृष्ट–47–52 ।
4. हिस्ट्री ऑफ इ.डियन फिलोसफी, डॉ.दासगुप्त, खण्ड –1, पृष्ठ– 218 ।
5. सांख्यकारिकाटीकानामालोचनात्मकमध्ययनम्, लक्ष्मीचन्द्र शास्त्री, पृष्ठ– 12 ।
6. सांख्यतत्त्वकौमुदी– डॉ. आद्याप्रसाद मिश्र, प्रभा टीका, भूमिका, पृष्ठ– 7 ।
7. **Bhandarkar Commemoraton Volume, Page 171–174 .।**

(छ) पण्डित गोपीनाथ कविराज ने भी जैनग्रन्थ 'अनुयोगद्वार सूत्र' को आधार बनाकर जयमंगला टीका की भूमिका में आचार्य ईश्वरकृष्ण को ई. पू. प्रथम शताब्दी में स्थित माना है।[1]

(ज) डॉ. कीथ के अनुसार – ईश्वरकृष्ण का समय 300 ई. के बाद नहीं ले जाया जा सकता है।[2]

(क) आचार्य बलदेव उपाध्याय[3] एवं कालीपद भट्टाचार्य[4] ने भी इन्हें ईसा की प्रथम शती से पूर्व ही स्वीकार किया है।

(ख) आचार्य उमेश मिश्र के अनुसार– इनका समय ईसा पूर्व द्वितीय शताब्दी कहा जा सकता है।[5]

(ग) डॉ. ब्रजमोहन चतुर्वेदी ने अपने ग्रन्थ सांख्यकारिका की भूमिका में इस विषय पर विस्तारपूर्वक चर्चा करते हुए, जहाँ अन्य विद्वानों के मतों का उल्लेख किया है, वही डॉ. त्रयम्बक गोविन्द माईणकर का विस्तारपूर्वक कथन किया है। उन्होंने आभ्यन्तर एवं बाह्य साक्ष्यों के आधार पर ईश्वरकृष्ण और कालिदास को एक व्यक्ति मानते हुए, सम्राट् समुद्रगुप्त एवं चन्द्रगुप्त द्वितीय, दोनों के समय में विद्यमान होने के प्रति अपनी सहमति व्यक्त की है।[6]

उस स्थल पर डॉ. चतुर्वेदी का कहना है कि– डॉ माईणकर की प्रस्थापना में अन्तर्विरोध कहीं नहीं है तथा विद्वद्वर्ग ने इसका समर्थन नहीं तो विरोध भी नहीं किया है। इसके स्वीकृत हो जाने पर ईश्वरकृष्ण के साथ–साथ कालिदास और भर्तृमीढ या भर्तृमेण्ठ के समय आदि की समस्या का भी समाधान भी स्वतः ही हो जाता है।

---

1. सांख्यकारिका, जयमंगला टीका, पं. गोपीनाथ कविराज, भूमिका, पृष्ठ–7।
2. सांख्यसिस्टम – डॉ कीथ, पृष्ठ– 43 ।
3. भारतीय दर्शन – डॉ. बलदेव उपाध्याय, पृष्ठ– 254 ।
4. इण्डियन हिस्टोरिकल क्वार्टरली, सितम्बर, 1932, पृष्ठ– 519–520 ।
5. भारतीय दर्शन– डॉ. उमेश मिश्र, पृष्ठ–276 ।
6. सांख्यकारिका, डॉ. ब्रजमोहन चतुर्वेदी, भूमिका, पृष्ठ– 31–34 ।

डॉ. माईणकर ने उत्तररामचरितम् के टीकाकार घनश्याम तथा राजशेखर के उल्लेखों के आधार पर, पर्याप्त अनुसन्धानपूर्वक सिद्ध किया है कि आचार्य ईश्वरकृष्ण, भर्तृमीढ और कालिदास एक ही व्यक्ति के भिन्न नाम हैं। उनके अनुसार– ईश्वरकृष्ण पहले अनीश्वर–वादी सांख्य सिद्धान्त के समर्थक थे, बाद में शैवमत के अनुयायी होकर कालिदास के रूप में विख्यात हुए। उन्होंने विन्ध्यवासी और ईश्वरकृष्ण को भी भिन्न व्यक्ति स्वीकार नहीं किया। उनका मानना है कि– 'सम्भवतः ईश्वरकृष्ण उनका घर का नाम था और कालिदास और भर्तृमीढ उनकी उपाधियाँ थीं।'[1]

हमारे मत में एक दर्शनशास्त्री को कालिदास की उपाधि प्रदान करने का औचित्य संदिग्ध प्रतीत होता है। अतः कालिदास एवं ईश्वर कृष्ण को एक मानना संगत प्रतीत नहीं होता। वस्तुतः ईश्वरकृष्ण को ई.पू. प्रथम शताब्दी के आस–पास स्वीकार किया जा सकता है।

अब हम आचार्य ईश्वरकृष्ण की कृति सांख्यकारिका के विषय में चर्चा करेंगे–

(b) **सांख्य का प्रतिनिधि ग्रन्थ सांख्यकारिका** – यह सांख्यशास्त्र के उपलब्ध शास्त्रीय ग्रन्थों में प्राचीनतम एवं प्रतिनिधि ग्रन्थ है। सांख्य सिद्धान्तों की लोकप्रियता के परिणामस्वरूप महाभारत, पुराण, स्मृति ग्रन्थ, आयुर्वेद, कामशास्त्र, शैव, वेदान्त, जैन, बौद्ध दार्शनिकों द्वारा इसका प्रत्यक्ष, अप्रत्यक्षरूप से उल्लेख किया गया है। ऐसा प्रतीत होता है कि प्राचीनतम समय में इस दर्शन की चर्चा के अभाव में मानो उनकी बात पूरी ही नहीं होती थी। ऐसी स्थिति में सांख्य के सिद्धान्तों के प्रतिपादन के लिए, एक ऐसे ग्रन्थ की आवश्यकता अनुभव की गई, जो इसके सिद्धान्तों को अत्यन्त सरल एवं संक्षिप्तरूप में परिपूर्णता के साथ प्रस्तुत कर सके।

---

1 . सांख्यकारिका, डॉ. ब्रजमोहन चतुर्वेदी, भूमिका, पृष्ठ– 31–34 ।

जिसे आचार्य ईश्वरकृष्ण ने 'सांख्यकारिका' ग्रन्थ का प्रणयन करके पूरा किया। सम्भव है इससे पूर्व सांख्य पर कुछ छुटपुट ग्रन्थ रहे हों, किन्तु वे सभी इसकी लोकप्रियता के सामने अप्रचलित होकर कालकवलित हो गए और एकमात्र सांख्यकारिका ही प्रतिनिधि–ग्रन्थ के रूप में आज भी विद्यमान है। इसकी प्राचीनता का प्रतिपादन आचार्य ईश्वरकृष्ण के कालनिर्धारण के अवसर पर हम पूर्व में ही कर चुके हैं।

(c) **सांख्यकारिका का वर्ण्यविषय**– इसमें कुल बहत्तर कारिकाएँ हैं। अन्तिम तीन कारिकाओं में सांख्यशास्त्र की आचार्य परम्परा का दिग्दर्शन कराया गया है। अवशिष्ट उनहत्तर कारिकाओं के अन्तर्गत सांख्य सिद्धान्तों का सूत्रात्मक शैली द्वारा अत्यन्त सरलरूप में प्रतिपादन किया गया है। सम्पूर्ण ग्रन्थ आर्या छन्द में निबद्ध है। एक विद्वत्परम्परा इसी ग्रन्थ को सांख्यसप्तति, हिरण्यसप्तति अथवा सुवर्ण सप्तति के रूप में स्वीकार करती है। इसका महत्त्वपूर्ण कारण इसकी सत्तर कारिकाओं में सांख्य सिद्धान्त का प्रतिपादन रहा है। यद्यपि यहाँ वह उनहत्तर कारिकाओं में ही मिलता है।[1]

इकसठवीं कारिका पर किया गया गौड़पादभाष्य, वस्तुतः एक नहीं दो कारिकाओं का है, क्योंकि उनमें प्रसंग के अभाव में ही 'केचित् ईश्वरं कारणं ब्रुवते' लिखकर ईश्वर, काल एवं स्वभाव की कारणता का निरूपण एवं निराकरण करते हुए, मात्र प्रकृति को ही जगत् का कारण बताया गया है, जिसकी संगति 61वीं कारिका के मूल से नहीं लगती है। लोकमान्य बालगंगाधर तिलक ने सम्भावित कारिका की परिकल्पना इसप्रकार की है–

कारणमीश्वरमेके ब्रुवते कालं परे स्वभावं वा।
प्रजाः कथं निर्गुणतो व्यक्ताः कालः स्वभावश्च।।[2]

---

1 . सांख्यकारिका, डॉ. ब्रजमोहन चतुर्वेदी, भूमिका, पृष्ठ– 33 ।

2 . गीता रहस्य– बालगंगाधर तिलक ।

जबकि डॉ. सूर्यनारायण शास्त्री[1] ने इसप्रकार की किसी कारिका के होने की सम्भावना से इन्कार किया है। उनके मत में आचार्य गौड़पाद एवं माठर दोनों ने ही 61वीं कारिका की व्याख्या में ईश्वर, काल एवं स्वभाव की कारणता का पूर्वपक्ष के रूप में विवेचन करके 61वीं कारिका के मूल अभिप्राय 'न पुनर्दर्शनमुपैति पुरुषस्य तथा सुकुमारतरं' की व्याख्या की है।

सांख्यकारिका की अन्तिम तीन कारिकाओं से ज्ञात होता है कि इसका प्रमुख उपजीव्य ग्रन्थ 'षष्टितन्त्र' रहा है। वहाँ सांख्य के सिद्धान्तों का अत्यन्त विस्तार किया गया था, अनेक उदाहरण एवं आख्यायिकाएँ देते हुए, विषय को भलीप्रकार समझाया गया था। उस समय प्रचलित अन्य सिद्धान्तों को पूर्वपक्ष के रूप में प्रस्तुत करके, उनका खण्डन किया गया था, किन्तु प्रस्तुत सांख्यकारिका में दृष्टान्त, आख्यायिकाएँ एवं प्रतिपक्षवादी के विवरण का परित्याग करते हुए, सांख्यदर्शन के सिद्धान्तों को अत्यन्त संक्षिप्त एवं सरल शैली में प्रस्तुत किया है।

इस ग्रन्थ के आरम्भ में 'प्रयोजन' का उल्लेख करते हुए, दुःख का विनाश करने वाले, वैदिक एवं लौकिक उपायों की निरर्थकता का प्रतिपादन करते हुए, दुःख की 'एकान्तिक' एवं 'आत्यन्तिक' निवृत्ति हेतु सांख्यज्ञान की अनिवार्यता का प्रतिपादन किया गया है।

तत्पश्चात् सांख्य के जानने योग्य पदार्थों में व्यक्त, अव्यक्त एवं ज्ञ का उल्लेख करके, इन्हें जानने हेतु प्रत्यक्ष, अनुमान और शब्द केवल तीन प्रमाणों की आवश्यकता का लक्षणोल्लेखपूर्वक कथन किया गया है। पुनः 'सत्कार्यवाद' नामक सांख्य के महत्त्वपूर्ण सिद्धान्त का प्रतिपादन हुआ है।

उसके बाद सत्त्व, रजस् और तमस् का विस्तार से उल्लेख हुआ है तथा व्यक्त, अव्यक्त एवं पुरुष की सत्ता सिद्ध करके, पुरुष–

---

1 . सांख्यकारिका– प्रो. सूर्यनारायण शास्त्री ।

बहुत्व के सिद्धान्त को प्रस्तुत किया है। पुनः पुरुष, प्रकृति के संयोग से सृष्टि की उत्पत्ति का कथन हुआ है। सृष्टिक्रम के अर्न्तगत–प्रकृति से महत्, महत् से अहंकार, अहंकार से पंचज्ञानेन्द्रियाँ, पंचकर्मेन्द्रियाँ, पंचतन्मात्रा और मन इस सोलह के गण की उत्पत्ति बताई गई है।

इसी प्रसंग में सूक्ष्म पंचतन्मात्राओं से पंचमहाभूतों की सृष्टि का उल्लेख किया गया है। तत्पश्चात् सूक्ष्मशरीर के स्वरूप की विस्तार से चर्चा के साथ, उसके धर्मादि भावों का भेदपूर्वक विवेचन किया गया है। पुनः भावों एवं लिंग का परस्पर सम्बन्ध बताकर, भौतिक सृष्टि के भेद एवं गुण सम्बन्धी विशेषताओं का कथन किया गया है।

तत्पश्चात् अचेतन प्रकृति किसकारण, किसप्रकार सृष्टिकार्य में प्रवृत्त होती है, वह पुरुष से कब निवृत्त होती है? वस्तुतः प्रकृति ही कर्मों से बद्ध एवं मुक्त होती है, पुरुष नहीं, इत्यादि विषयों की विस्तृत एवं गम्भीर चर्चा की गई है। अन्त में तत्त्वज्ञान के स्वरूप एवं फल का कथन करते हुए, कहा गया है कि विवेकज्ञान के पश्चात्, उस व्यक्ति के प्रति प्रकृति का सृष्टिव्यापार अवरुद्ध हो जाता है तथा प्रारब्धकर्मों के भोगपर्यन्त ही उसका स्थूलशरीर विद्यमान रहता है। इस शरीर के पात होने पर, तत्त्वज्ञानी को ऐकान्तिक एवं आत्यन्तिक मोक्ष की प्राप्ति हो जाती है।

(d) **सांख्यकारिका का महत्त्व–** सांख्यकारिका सांख्यशास्त्र का लोकप्रिय एवं प्रामाणिक ग्रन्थ है। शंकराचार्य जैसे दार्शनिक ने शारीरक भाष्य में सांख्य मत के प्रतिपादन के समय सांख्यसूत्र का निर्देश न करके, इसी की कारिकाओं को उद्धरणरूप में प्रस्तुत किया है। चीनी भाषा में इस ग्रन्थ का अनुवाद बौद्ध भिक्षु परमार्थ ने वृत्ति सहित छठी शताब्दी में किया, जो उसके समय के दार्शनिक जगत् में इस ग्रन्थ के महत्त्व को प्रदर्शित करता है।

महाभारत एवं पुराणों में प्रतिपादित सांख्य सेश्वर–सांख्य की कोटि में आता है, किन्तु सांख्यकारिका में ईश्वर के अस्तित्व को

स्वीकार नहीं किया गया है। अतः इसे निरीश्वर सांख्य के प्रतिपादन की दृष्टि से आद्यग्रन्थ माना गया है, क्योंकि यहाँ पुरुष और प्रकृति दो ही नित्य तत्त्व हैं, इनमें ऊपर अन्य किसी सत्ता को स्वीकार नहीं किया गया है। साथ ही, आदि कपिलकृत सांख्यसूत्र एवं षष्टितन्त्र आदि सांख्यग्रन्थों के आज उपलब्ध न होने के कारण यह ग्रन्थ ही सांख्य शास्त्र का प्रामाणिक, प्राचीन एवं प्रतिनिधि ग्रन्थ रह जाता है। अतः इसके महत्त्व को नकारा नहीं जा सकता है।

इसके अतिरिक्त वाचस्पति मिश्र ने भी इसके महत्त्व को स्वीकार किया है, तभी तो उन्होंने अन्य सांख्यसूत्रादि ग्रन्थों पर टीका न करके, सांख्यकारिका पर ही विस्तृत 'तत्त्वकौमुदी' नामक टीका लिखकर इसे मान्यता प्रदान की। इतना ही नहीं, मात्र बहत्तर कारिकाओं में निबद्ध इस लघु, किन्तु सरल सांख्यग्रन्थ की महत्ता को स्वीकार करके ही आचार्य गौडपादभाष्य, माठरवृत्ति, जयमंगला एवं युक्तिदीपिका[1] आदि महत्त्वपूर्ण टीकाओं की संरचना की गयी, जिनके विषय में हम यहाँ संक्षेप में उल्लेख कर रहे हैं–

(vii) **सांख्यकारिका की टीकाएँ**– प्रस्तुत ग्रन्थ का प्रमुख प्रयोजन भारतीय दर्शनशास्त्र का अन्तरंग चिन्तन एवं अध्ययन प्रस्तुत करना है। अतः हम इन टीकाओं के काल एवं वैशिष्ट्य विषय पर भी संक्षेप में चर्चा करेंगे–

(a) **माठरवृत्ति का काल एवं वैशिष्ट्य**– सांख्यकारिका की तेहत्तर कारिकाओं पर लिखी गई, आचार्य माठर की 'माठरवृत्ति' नामक टीका सर्वाधिक प्राचीन मानी गयी है, इसका प्रकाशन चौखम्बा संस्कृत सीरीज, बनारस से 1922 ई. में हुआ, किन्तु कुछ विद्वान् इसे प्रामाणिक एवं प्राचीन लेखक का स्वीकार नहीं करते हैं। डॉ. उमेश मिश्र ने अपने 'गौड़पादभाष्य एवं माठरवृत्ति' लेख के अन्तर्गत आचार्य माठर को 1000

---

1. भारतीय दर्शन का इतिहास– पं. हरिदत्त शास्त्री, पृष्ठ–291 ।

ई. के आसपास माना है।[1] डॉ. जानसन भी इस बात से सहमत प्रतीत होते हैं।[2]

जबकि पं.उदयवीर शास्त्री ने इसे सांख्यकारिका की सर्वाधिक प्राचीन टीका स्वीकार किया है[3], किन्तु पं. हरिदत्त शास्त्री के अनुसार– इनका समय पाँचवीं या छठी शताब्दी माना जा सकता है।[4] गौड़पाद भाष्य एवं माठरवृत्ति में अत्यन्त साम्य देखने को मिलता है। इतना ही नहीं, यदि गौड़पादभाष्य को माठरवृत्ति का संक्षिप्त रूपान्तर कहा जाए, तो भी कोई अतिशयोक्ति नहीं होगी। गौडपादभाष्य का समय विद्वानों ने विक्रम का षष्ठ शतक स्वीकार किया है। अतः माठरवृत्ति को इससे पर्याप्त पूर्व में स्थित मानना उचित प्रतीत होता है। इस सम्बन्ध में महत्त्वपूर्ण तथ्य यह है कि अत्यधिक गम्भीर एवं विस्तृत इस टीका में कर्ता के नाम का कहीं भी उल्लेख नहीं किया गया है।

इसके रचयिता को कुछ विद्वानों ने सम्राट् कनिष्क के काल में स्थित माना है। इस आधार पर इनका समय ईसा की प्रथम शताब्दी कहा जा सकता है, क्योंकि प्रथम शताब्दी ईस्वी के जैनग्रन्थ 'अनुयोगद्वार सूत्र' हरिभद्रसूरि की 'षड्दर्शनसमुच्चय' की 'गुणरत्नटीका' में माठरवृत्ति से उद्धरण दिए गए हैं, जिससे उक्त कथ्य की पुष्टि भी होती है।

यद्यपि ग्रन्थकार का 'माठर' मुख्य नाम है अथवा गोत्रनाम, इस विषय में विद्वानों में मतभेद रहा है, किन्तु इतना सुनिश्चित रूप से कहा जा सकता है कि सांख्यकारिका पर लिखी गयी, यह टीका माठरवृत्ति के नाम से ही प्रसिद्ध है और सांख्यकारिका की उपलब्ध सभी टीकाओं में सर्वाधिक प्राचीन भी है।

---

1. ऑल इण्डिया कॉन्फ्रेन्स के छठे अधिवेशन में पठित पत्र ।
2. अरली सांख्य – डॉ. जानसन, पृष्ठ–11 ।
3. सांख्यदर्शन का इतिहास – पं. उदयवीर शास्त्री, पृष्ठ–408 ।
4. भारतीय दर्शन का इतिहास –पं. हरिदत्त शास्त्री , पृष्ठ–408 ।

इसके अतिरिक्त सांख्यकारिका की एक अन्य प्राचीन टीका 'युक्तिदीपिका' में भी अनेक स्थलों पर 'माठरवृत्ति' के उद्धरणों को खण्डन–मण्डन के लिए प्रस्तुत किया गया है।[1] विद्वानों का मानना है कि युक्तिदीपिकाकार ने 'अपर आह' कहकर आचार्य माठर के मत को ही उद्धृत किया है। इस आधार पर कहा जा सकता है कि युक्ति–दीपिकाकार भी माठरवृत्ति से अत्यधिक प्रभावित रहे हैं। इस कथ्य की पुष्टि एक अन्य प्रमाण से भी होती है, क्योंकि कारिका संख्या अट्ठाईस की व्याख्या करते हुए, आचार्य माठर लिखते हैं कि–

'मात्र शब्दोऽविशेषार्थः यथा भिक्षामात्रं लभ्यते, नान्यो विशेषः'।

जबकि युक्तिदीपिकाकार इसी बात को इसप्रकार प्रस्तुत करते हैं–

'मात्र शब्दो विशेष निवृत्यर्थः तद्यथा भैक्ष्यमात्रमस्मिन् ग्रामे लभ्यत इत्युक्ते नान्यो विशेषः इति ज्ञायते।'

युक्तिदीपिका के लेखक के सम्बन्ध में कोई प्रामाणिक निर्णय नहीं हो सका है। कुछ विद्वानों का मानना है कि यह अज्ञात नाम वाले किसी राजा की रचना है। पं. उदयवीर शास्त्री ने युक्तिदीपिका का रचनाकाल अपने सांख्यदर्शन के इतिहास में पर्याप्त विवेचनपूर्वक विक्रम संवत् का पाँचवाँ शतक निर्धारित किया है। अतः माठरवृत्ति का समय निश्चय ही इससे पर्याप्त पहले होना चाहिए।

इसप्रकार उपर्युक्त विवेचन के आधार पर निष्कर्षरूप में कहा जा सकता है कि आचार्य माठर द्वारा विरचित माठरवृत्ति ही प्राचीन टीका सिद्ध होती है। इसके पश्चात् अज्ञातनामा विद्वान् द्वारा युक्ति–दीपिका की संरचना की गई तथा उसके बाद आचार्य गौडपाद ने सांख्यकारिका पर भाष्य लिखा, जो उन्हीं के नाम पर गौडपादभाष्य के नाम से प्रसिद्ध है, क्योंकि जैन सम्प्रदाय के 'अनुयोगद्वार सूत्र' नामक

---

[1]. **माठरवृत्ति–** आहरकं धारकं प्रकाशकं चतदितितत्राहारकमिन्द्रियलक्षणम् धारकमभिमानमनोलक्षणम् प्रकाशकं बुद्धिलक्षणम् ।

ग्रन्थ में कुछ आर्य ग्रन्थों के नामों के उल्लेख के साथ-साथ आचार्य माठर का भी कथन किया गया है।

आधुनिक विद्वानों ने पर्याप्त विवेचन के उपरान्त 'अनुयोगद्वार सूत्र' का समय ईसा की प्रथम शती स्वीकार किया है। अतः इस आधार पर कहा जा सकता है कि माठरवृत्ति का रचनाकाल ईसा के प्रथम शतक का प्रारम्भिक भाग होना चाहिए। डॉ. बलदेव उपाध्याय ने भी आचार्य माठर को महाराज कनिष्क के समसामयिक स्वीकार किया है।[1] अतः माठरवृत्ति सांख्यकारिका की सर्वाधिक प्राचीन टीकाओं में निःसन्देह रूप से स्वीकार की जा सकती है।

माठरवृत्ति पर डॉ वेलवल्कर ने अत्यन्त महत्त्वपूर्ण निबन्ध का लेखन किया है जो 'अबओरि' में प्रकाशित हुआ है।[2] उनमें विचार प्रकट करते हुए उन्होंने कहा कि-'माठरवृत्ति ही वह मूल टीका है, जिसका चीनी अनुवाद 'परमार्थ' द्वारा किया गया है। कालान्तर में इसमें अनेक बातें समाविष्ट हो गयीं। उनका मत है कि- गौडपाद की टीका वस्तुतः माठरवृत्ति का ही संक्षिप्त रूपान्तर है,[3] उन्होंने माठरवृत्ति के लेखन की अन्तिम सीमा 450 ई. मानी है।[4]

इस टीका के वैशिष्ट्य की दृष्टि से यदि हम विचार करें, तो भाषा की सरलता के साथ-साथ विषय प्रतिपादन की गम्भीरता भी हमें यहाँ देखने को मिलती है। वृत्तिकार ने कठिन एवं समासयुक्त शब्दों का इसमें प्रायः प्रयोग नहीं किया है। इसके अतिरिक्त कारिका के विषय को विस्तारपूर्वक लौकिक, व्यावहारिक एवं रोचक उदाहरण देकर अत्यन्त सुन्दर ढंग से समझाया है। इसके भाषा एवं शैलीगत वैशिष्ट्य के कारण ही इसके पश्चात् लिखी गयी युक्तिदीपिका एवं गौड़पादभाष्य

---

1 भारतीय दर्शन- डॉ. बलदेव उपाध्याय, पृष्ठ- 254 ।

2 अबओरी, खण्ड-5, पृष्ठ- 133-161 ।

3 अबओरी, खण्ड-5, पृष्ठ- 148 ।

4 अबओरी, खण्ड-5, पृष्ठ- 155 ।

आदि सांख्यकारिका की टीकाओं पर इसका अत्यधिक प्रभाव परिलक्षित होता है।

यही कारण है कि भाषा एवं विचारों की दृष्टि से 'गौडपाद भाष्य' तो माठरवृत्ति का ही संक्षिप्तरूप प्रतीत होता है। साथ ही, युक्ति दीपिकाकार ने अपनी व्याख्या माठरवृत्ति में प्रचुरमात्रा में उपयोग किया है, जिसकी ओर हम पूर्व में संकेत कर चुके हैं। युक्तिदीपिकाकार ने आचार्य माठर के मत को प्रायः 'अपर आह' इसप्रकार कहकर ही उद्धृत किया है, क्योंकि विद्वानों का विचार है कि 'अपर' से अभिप्राय यहाँ आचार्य माठर से ही ग्रहण करना चाहिए।[1]

आचार्य माठर द्वारा लौकिक जीवन से दिए गए, अत्यन्त रोचक एवं सटीक उदाहरण यहाँ प्रस्तुत किए गए हैं। प्रकृति के साथ पुरुष के संयोग को ग्रन्थकार, राजा और सेवक के उदाहरण द्वारा कुछ इसप्रकार समझाते हैं–

'यथा राजा पुरुषेण संयुज्येत प्रेषणं मे करिष्यतीति पुरुषोऽपि राज्ञा संयुज्येत वृत्ति मे दास्यतीति एवं तावद्रजपुरुषयोरहर्थहेतुकः सम्बन्धः तथा प्रधानपुरुषयोरप्यर्थहेतुकः सम्बन्धः संयोगः।'

अर्थात् राजा पुरुष को इसलिए चाहता है कि उससे सेवादि कार्य सम्पन्न कराए तथा पुरुष भी राजा को इसीलिए पसन्द करता है कि इससे उसकी आजीविका बनी रहे। अतः जिसप्रकार राजा और पुरुष का यहाँ परस्पर अर्थ–हेतुक सम्बन्ध है। उसीप्रकार प्रधान और पुरुष का भी अर्थहेतुक सम्बन्ध ही समझना चाहिए ।

इसी क्रम में ग्रन्थकार द्वारा प्रदत्त पंगु–अन्धे के उदाहरण को भी आचार्य माठर ने कथा के माध्यम से रोचक शैली में प्रस्तुत करते हुए, विस्तारपूर्वक समझाया है।[2] सरल शब्दों में समासरहित प्रयोग द्वारा भाषा का प्रसाद गुण सम्पन्न होना भी उक्त उदाहरण में दर्शनीय है।

---

[1]. सांख्यकारिका– माठरवृत्ति, पं. थानेशचन्द्र उप्रेती, भूमिका, 17–18 ।

[2]. द्रष्टव्य– कारिकासंख्या– 21 की माठरवृत्ति, पृष्ठ–1 ।

इसीप्रकार कारिकासंख्या–14 की व्याख्या में ग्रन्थकार प्रतिपक्षी द्वारा की गयी सम्भावित शंका को प्रस्तुत करते हैं। पुनः व्यावहारिक उदाहरण देते हुए, उसका एकदम सटीक तथा तार्किक उत्तर देते हुए कहते हैं कि –

"इह लोके यन्न विद्यते तन्नास्ति यथा द्वितीय मनीश्वरशिरः, तृतीयः पाणिः, शश–विषाणम्।।"

अर्थात् वन्ध्या–पुत्री के भ्रूविलासादि, जो चीज इस संसार में दिखाई नहीं देती वे नहीं है। उसीप्रकार प्रधान एवं पुरुष भी दिखायी नहीं देते हैं, इन दोनों का अस्तित्व है, इस बात को भला कैसे स्वीकार किया जाए? इसके उत्तर में कहते हैं कि हिमालय पर्वत पर बर्फ से ढके रहने के कारण पत्थरों का समूह दिखायी नहीं देता है, तो क्या वह नहीं है? इसीप्रकार प्रधान व पुरुष की प्रत्यक्षरूप से उपलब्धि न होने पर भी हेतु द्वारा उपलब्धि हो जाती है।

प्रस्तुत उद्धरण जहाँ वृत्तिकार की तार्किकशैली का उदाहरण कहा जा सकता है, वहीं उनका भाषागत सौष्ठव भी यहाँ परिलक्षित होता है। अर्थगाम्भीर्य एवं संक्षिप्तता के भी यहाँ दर्शन होते हैं। दार्शनिक विषय होते हुए भी भाषागत सरसता यहाँ अवलोकनीय है। 'अत्राह' एवं 'ननु' आदि का प्रयोग करके, इन्होंने प्रायः स्वयं ही विपक्षी की शंका को प्रस्तुत किया है तथा 'आचार्य विप्रतिपतिः' कहकर वेदान्त–दर्शन के मत को प्रस्तुत किया है।

(b) **युक्तिदीपिका का काल एवं वैशिष्ट्य–** युक्तिदीपिका सांख्यकारिका की प्राचीन टीकाओं में अत्यन्त महत्त्वपूर्ण, विस्तृत एवं मर्मस्पर्शी टीका मानी जाती है। इसके कर्ता का नामोल्लेख नहीं मिलता है। इसका श्री पुलिन विहारी चक्रवर्ती ने केवल एक हस्त–लिखित प्रति से सम्पादन करके, 'कलकत्ता संस्कृत सीरीज संख्या 23, 1938 ई. में प्रकाशन कराया है तथा मोतीलाल बनारसीदास, दिल्ली से भी इसका प्रकाशन हुआ है। डॉ पी. वी. काणे के अनुसार–

'यह एक अति मूल्यवान् टीका है, जो बडी बुद्धिमत्ता के साथ एक हस्तलिखित प्रति से सम्पादित की गई है।'

यद्यपि इसमें यत्र–तत्र स्थलभंग भी पाया जाता है, इस टीका में बहुत से उद्धरण एवं विवादात्मक विवेचन पाए जाते हैं।[1] सांख्य शास्त्र के इतिहास की जानकारी की दृष्टि से इस टीका को अत्यधिक उपयोगी माना गया है, क्योंकि इसमें वसुबन्धु और दिङ्नाग जैसे प्राचीन बौद्धाचार्यों के मतों का स्थान–स्थान पर उल्लेख किया गया है। इतना ही नहीं, इसमें शबरस्वामी के नाम का भी कथन हुआ है।

इसके अतिरिक्त सांख्यदर्शन के कुछ प्राचीन आचार्यों के सिद्धान्तों की भी इस टीका में चर्चा होने के कारण इसका महत्त्व बढ़ गया है, प्रसिद्ध मीमांसक कुमारिलभट्ट के नामों का उल्लेख, इस टीका में नहीं हुआ है, इसलिए विद्वानों ने इसे इन आचार्यों से पूर्व की रचना माना है। कुमारिलभट्ट को ईसा की सप्तमशती के अन्त एवं अष्टम शती के पूर्वार्द्ध में स्थित माना जाता है।

अतः विद्वत्समुदाय इसे सप्तम शती के पूर्वार्द्ध अथवा इससे भी पहले के मानने के पक्ष में है। हमारे मत में इसे विक्रम संवत् के पंचम शतक में मानना अधिक उपयुक्त प्रतीत होता है। माठरवृत्ति के काल के निर्धारण के अवसर पर हमने इस बात का उल्लेख किया है।

इस टीका के अन्त में 'कृतिरियं श्री वाचस्पतिमिश्राणाम्' लिखा होने के कारण कुछ विद्वानों ने इसे आचार्य वाचस्पति की कृति भी माना है, किन्तु अधिकांश विद्वानों ने इस मत से अपनी असहमति व्यक्त करते हुए, इसे एक भूल स्वीकार किया है।[2] इसमें अनेक स्थलों पर नई व्याख्याएँ की गयी हैं। आचार्य बलदेव उपाध्याय ने इसे अद्भुत टीका बताया है, जो प्राचीन सांख्याचार्यों के सिद्धान्तों से भरी पड़ी हैं।[3]

---

1. धर्मशास्त्र का इतिहास, पृष्ठ– 226 खण्ड– 5 ।
2. भारतीय दर्शन– उमेश मिश्र, पृष्ठ– 279 ।
3. भारतीय दर्शन– बलदेव उपाध्याय, पृष्ठ– 254 ।

डॉ. उदयवीर शास्त्री ने युक्तिदीपिका को माठरवृत्ति के बाद माना है। उनके अनुसार– 'युक्तिदीपिका में अनेक स्थानों पर ऐसे मतों का स्मरण किया गया है अथवा उनका खण्डन किया गया है, जो माठरवृत्ति में उपलब्ध हैं। युक्तिदीपिका के इन स्थलों से सहज ही निर्णय किया जा सकता है कि ये आचार्य माठर के हैं।'[1]

उक्त कथन के पश्चात् डॉ. शास्त्री ने ऐसे पाँच स्थलों का विस्तारपूर्वक उल्लेख किया है। इसके अतिरिक्त इस विषय में एक अन्य हेतु प्रस्तुत करते हुए, उन्होंने कहा कि– 'माठरवृत्ति में ऐसे अर्थ विषयक मतभेदों का अभाव होने के कारण, यह बात स्पष्टतः स्वीकार की जा सकती है, कि माठर का व्याख्याग्रन्थ ही उपलब्ध सभी टीकाओं में प्राचीन है।'

युक्तिदीपिका का इस दृष्टि से दूसरा स्थान है, क्योंकि यदि ऐसी बात न होती तो अन्य भाष्य अथवा टीकाओं के समान ही, उसमें भी अपने पूर्ववर्ती आचार्यों के मत मतान्तरों का उल्लेख अवश्य होता। इसमें भाषा शैली दार्शनिक होने से अपेक्षाकृत क्लिष्ट प्रयुक्त हुई है। सांख्यकारिका के संक्षिप्त विषय को विशिष्ट व्याख्या पद्धति का आश्रय लेकर विस्तार प्रदान करना ही युक्तिदीपिका का लक्ष्य था।

इसीकारण उन्होंने यहाँ सांख्यदर्शन के सिद्धान्तमात्र को प्रतिपादित करना पर्याप्त नहीं माना, अपितु सांख्य के विभिन्न आचार्यों के मतों पर भी तर्कपद्धति का आश्रय लेकर गहन विचार प्रस्तुत किया। इस टीका में शैली महाभाष्यकार पतंजलि एवं न्यायवार्तिककार उद्योत-कर की शैली का अनुकरण करती हुई, प्रांजल होते हुए भी अनेक अर्थों को अपने में संजोए हुए प्रतीत होती है।

यदि हम सूक्ष्मदृष्टि से विचार करें तो 'युक्तिदीपिका' के नाम की सार्थकता भी हमें यहाँ प्रतीत होती है, क्योंकि यहाँ 'युक्ति' पद से

---

1. सांख्यशास्त्र का इतिहास– पं. उदयवीर शास्त्री, पृष्ठ–408 ।

अभिप्राय गुण से है[1] अर्थात् तन्त्रशास्त्र के गुण। यह दीपिका वस्तुतः इस शास्त्र के गुणों की प्रकाशिका है तथा तन्त्रगुणों को स्वयं दीपिकाकार ने आरम्भ में प्रस्तुत किया है–

सूत्रप्रमाणावयवोपपत्तिरन्यूता संशयनिर्णयोक्तिः।
उद्देशनिर्देशमनुक्रमश्च संज्ञोपदेशाविह तन्त्रसम्पत्।।[2]

विद्वानों ने सांख्यशास्त्र के प्रमुख स्तम्भ ग्रन्थों की गणना करते हुए, इस टीका का मुख्यरूप से उल्लेख किया है। उनके अनुसार– सांख्यकारिका, तत्त्वकौमुदी, युक्तिदीपिका, षडध्यायी, सांख्यसूत्र तथा इसके सूत्रों पर सांख्यप्रवचनभाष्य इस दर्शन के प्रकाशस्तम्भ हैं। इनमें भी सांख्यतत्त्वकौमुदी के बाद 'युक्ति–दीपिका' को विशिष्ट महत्त्व प्राप्त है।

इस टीका में सांख्यदर्शन के अवान्तर भेद–प्रभेद के समस्त सिद्धान्तों का उल्लेख करते हुए, मत–मतान्तरों का भी युक्तियुक्त निराकरण किया गया है। यद्यपि सूत्रग्रन्थ में आख्यायिका सहित अन्य सिद्धान्तों का निराकरण हुआ है, किन्तु वह भी अपेक्षाकृत सूत्रमात्र ही कहा जा सकता है।

सांख्यदर्शन में आख्यायिकाओं का उल्लेख एवं उनके व्याख्यान दार्शनिक दृष्टि से भले ही अत्यन्त महत्त्व के न हों, किन्तु सांख्य विरोधी वादों की समालोचना भी अत्यावश्यक थी, जिसे युक्तिदीपिका–कार ने विस्तारपूर्वक प्रस्तुत किया है।[3]

आचार्य वाचस्पति मिश्र ने जहाँ सांख्यकारिकाकार की प्रतिज्ञा का अनुकरण करके, परवादों का परित्याग करते हुए, केवल सांख्य के सिद्धान्तों का ही विस्तार से प्रतिपादन किया,[4] वहीं युक्तिदीपिकाकार ने

---

1 . युक्तिदीपिका, केदारनाथत्रिपाठी, सं.सं.वि.वि.वाराणसी,1996, भूमिका, पृष्ठ–7।

2 . वही– प्रथमाह्निक, पृष्ठ–4 ।

3 . युक्तिदीपिका, केदारनाथत्रिपाठी – भूमिका, पृष्ठ–4।

4 . अस्य च युक्तायुक्तत्वे सूरिभिरेवावगन्तव्ये इति कृतं परदोषोद्भावनेन सिद्धान्त मात्र व्याख्या प्रवृत्तानां न इति।। सांख्यतत्त्वकौमुदी ।

उन समस्त परवादों को इसमें स्वीकार किया है, जिसमें इस टीका की उपयोगिता न केवल भारतीय विद्वानों, अपितु विदेशी मनीषियों ने भी मुक्तकण्ठ से स्वीकार की है।

(c) **गौडपादभाष्य काल एवं वैशिष्ट्य**– सांख्यकारिका की तीसरी टीका गौड़पादभाष्य है। यह सांख्यकारिका की प्राचीनतम टीकाओं में परिगणित है। इसे पं. उदयवीर शास्त्री पाँच सौ ईस्वी के लगभग स्वीकार करते हैं। उनके अनुसार इस भाष्य के कर्ता आचार्य गौड़पाद, आचार्य शंकर के परमगुरु एवं माण्डूक्य कारिकाओं के प्रसिद्ध रचयिता गौड़पादाचार्य से भिन्न हैं।[1] कुछ विद्वानों ने इन दोनों को एक माना है, किन्तु हमारे विचार में माण्डूक्यकारिकाओं के रचयिता आचार्य गौड़पाद और सांख्यकारिका की कारिकाओं के भाष्यकार दोनों परस्पर भिन्न व्यक्ति हैं। इनमें एक सांख्य के आचार्य हैं, तो दूसरे वेदान्त के।

इन दोनों की लेखनशैली की भिन्नता, इस विषय में प्रबल प्रमाण कही जा सकती है। इसके अतिरिक्त सूक्ष्मदृष्टि से अध्ययन करने पर दोनों की वैचारिक प्रौढ़ता का स्तर भी भिन्न प्रतीत होता है। आचार्य बलदेव उपाध्याय ने आचार्य गौड़पाद का समय सप्तम शतक के आसपास माना है।[2] इसके विपरीत गैरोला ने इन्हें पाँचवीं एवं छठी शताब्दी में स्थित माना है।[3]

इसका अनेक स्थलों से प्रकाशन हुआ है। चौखम्बा संस्कृत सीरीज, वाराणसी से पण्डित ढुंडिराज शास्त्री ने टिप्पणी सहित इसका प्रकाशन कराया, जिसका द्वितीय संस्करण विक्रम संवत् 2010 में प्रकाशित हुआ। इसके अतिरिक्त डॉ त्र्यम्बक गोविन्द माईणकर ने अंग्रेजी भाषा अनुवाद सहित इसका प्रकाशन ओरियण्टल बुक एजेन्सी पूना से भी कराया है।

---

1. सांख्य दर्शन का इतिहास– पं. उदयवीर शास्त्री, पृष्ठ– 55 ।
2. भारतीय दर्शन– डॉ. बलदेव उपाध्याय, पृष्ठ– 254 ।
3. भारतीय दर्शन– वाचस्पति गैरोला, पृष्ठ– 294 ।

इसके प्रारम्भ में मंगलाचरण करते हुए कपिल मुनि को नमन किया गया है, क्योंकि उन्होंने ही करुणापूर्वक अज्ञानरूपी सागर में डूबे हुए संसार को पार उतारने के लिए सांख्यशास्त्ररूपी नौका का निर्माण किया है–

कपिलाय नमस्तस्मै, येनाविद्योदधौ जगति मग्ने।
कारुण्यात् साङ्ख्यमयी, नौरिव विहिता प्रतरणाय।।[1]

इसी अवसर पर सनक, सनन्द, सनातन, आसुरि, कपिल, वोढु, पंचशिख आदि सात महर्षि ब्रह्मपुत्रों के नामों का भी उल्लेख किया है, जो सम्भवतः महाभारत से ग्रहण किया गया है। उनके अनुसार महर्षि कपिल को धर्म, ज्ञान, वैराग्य और ऐश्वर्य जन्म से ही सिद्ध थे। उन्होंने अत्यन्त करुणापूर्वक आसुरि गोत्र में उत्पन्न जिज्ञासु ब्राह्मण को इस शास्त्र के पच्चीस तत्त्वों का ज्ञान कराया, इन तत्त्वों के ज्ञान से व्यक्ति के दुःखों का क्षय होता है।

इसके पश्चात् ईश्वरकृष्ण की सांख्यकारिकाओं को आधार बनाकर प्रसादगुणयुक्त अत्यन्त सरल प्रवाहमयी भाषा में तत्त्वों का सुन्दरतापूर्वक विवेचन करते हुए, आचार्य गौड़पाद ने वस्तुतः सांख्य–कारिका की केवल 69 कारिकाओं पर ही भाष्य की संरचना की है। इसकी शैली प्रवाहमयी प्रयुक्त हुई है। इस भाष्य में समासयुक्त क्लिष्ट पदों का प्रायः अभाव ही है।

इसकी लोकप्रियता का एक महत्त्वपूर्ण कारण यह भी है कि माठरवृत्ति के समान ही इसे पढ़कर भी पाठक को इसका अर्थ सहज ही गम्य हो जाता है। यद्यपि कुछ विद्वानों ने इसे माठरवृत्ति का ही संक्षिप्तरूप माना है तथापि आचार्य गौड़पाद का व्यक्तित्व एवं उनके स्वतन्त्र विचार यहाँ पद–पद पर परिलक्षित होते हैं।

(d) **जयमंगला टीका काल एवं वैशिष्ट्य**– आचार्य शंकर के नाम से उपलब्ध यह टीका भी सांख्यकारिका की महत्त्वपूर्ण टीकाओं में

---

[1]. गौड़पाद भाष्य– 1 ।

मानी जाती है। यह सम्पूर्ण बहत्तर कारिकाओं पर उपलब्ध होती है। इसके लेखक और समय दोनों के सम्बन्ध में विद्वानों में भारी मतभेद है, क्योंकि डॉ. हरदत्त शर्मा ने इस टीका का सम्पादन करते हुए, इसकी भूमिका में लेखक का नाम शंकराचार्य सिद्ध किया है, जबकि पण्ड़ित गोपीनाथ कविराज ने इस लेखक को शंकराचार्य बताते हुए उसे बौद्ध माना है। इसका प्रकाशन कलकत्ता से हुआ है।

इसके विपरीत पं. उदयवीर शास्त्री इस लेखक के शंकर, शंकराचार्य अथवा शंकरार्य इन तीनों ही नामों से सहमत नहीं है, साथ ही, वे इसे बौद्ध भी स्वीकार करते हैं। उनके मत में इस टीका का समय 700 ई. के बाद नहीं हो सकता है,[1] जबकि आचार्य बलदेव उपाध्याय ने इसे 14वीं शती का ग्रन्थ स्वीकार किया है,[2] किन्तु इतना अवश्य है कि इस टीका को सभी विद्वान् एक मत से वाचस्पति मिश्र की तत्त्वकौमुदी से पूर्व की रचना स्वीकार करते हैं।

इसका एक अन्य प्रकाशन चौखम्बा संस्कृत ग्रन्थमाला की ग्रन्थ संख्या 56 के अन्तर्गत हुआ है, जिसका सम्पादन पण्डित विष्णु प्रसाद शर्मा ने किया है। इसका तृतीय संस्करण 1994 ई. में चौखम्बा संस्कृत सीरीज ने प्रकाशित किया, इस टीका के आरम्भ में इसके 'जयमंगला' नाम का ही प्रयोग हुआ है।[3] गौड़पादभाष्य के पाठों से इसमें कुछ स्थलों पर भिन्नता मिलती है।

(e) **तत्त्वकौमुदी का काल एवं वैशिष्ट्य**– सांख्यकारिका की उपर्युक्त चारों प्राचीन टीकाएँ अपना–अपना कुछ न कुछ वैशिष्ट्य रखती हैं, किन्तु विद्वानों ने आचार्य वाचस्पतिमिश्र की टीका 'सांख्य–तत्त्वकौमुदी' को इन सबसे बढ़कर स्वीकार किया है।[4] उनके अनुसार–

---

[1] . भारतीय दर्शन का इतिहास– डॉ. हरिदत्त शास्त्री, पृष्ठ–291 ।

[2] . भारतीय दर्शन– डॉ. बलदेव उपाध्याय, पृष्ठ–254 ।

[3] . अभिगत तत्त्वालोकं लोकोत्तरवादिनं प्रणम्य मुनिम्।
क्रियते सप्ततिकायाष्टीका 'जयमंगला' नाम ।।

[4] . तत्त्वकौमुदी प्रभा– डॉ. आद्या प्रसाद मिश्र, भूमिका पृष्ठ–35।

इतनी पाण्डित्यपूर्ण एवं गम्भीर टीका अन्य कोई नहीं है।[1] सांख्य–कारिका की अन्तिम कारिका की व्याख्या करते हुए, आचार्य वाचस्पति मिश्र ने इसे 'शास्त्र' संज्ञा प्रदान की है, उनके मत में शास्त्रीय ग्रन्थ का जैसा गम्भीर विवेचन होना चाहिए, वैसा ही हमें सांख्यतत्त्वकौमुदी में उपलब्ध होता है, जिसकी प्रायः सभी विद्वानों ने भूरि–भूरि प्रशंसा की है।

इसमें कोई संदेह नहीं है कि कुछ स्थल यहाँ अत्यन्त दुरूह बन पड़े हैं। इसके दो प्रमुख कारण हैं– **प्रथम,** आचार्य ईश्वरकृष्ण की कारिकाओं का सूत्रात्मक शैली में निबद्ध होना तथा **द्वितीय,** आचार्य वाचस्पति मिश्र का अगाध पाण्डित्य और उनकी नैयायिक शैली। आचार्य मिश्र वस्तुतः सभी दर्शनों में निष्णात थे। इसीलिए विद्वत्समुदाय द्वारा उन्हें 'द्वादश–कानन–पंचानन' की उपाधि से विभूषित किया गया।

उनकी जैसी गति शांकरवेदान्त में थी, वैसी ही न्याय–वैशेषिक एवं सांख्ययोग में भी थी। भामती–प्रस्थान के तो वे प्रवर्तक ही थे। ब्रह्मसूत्र शांकरभाष्य पर लिखी, उनकी टीका एवं योगसूत्रों के शांकर भाष्य पर 'तत्त्ववैशारदी' टीका, आज भी विद्वानों में समादरणीय बनी हुई है, इसके अतिरिक्त न्याय के अभिप्राय को सहजरूप में प्रदर्शित करने वाली उद्योतकर के न्यायवार्तिक पर तात्पर्यटीका तथा आचार्य मण्डनमिश्र के विधिविवेक पर 'न्यायकणिका' टीका भी उनके न्याय दर्शन विषयक पाण्डित्य का सुन्दर निदर्शन है।

जैसा कि हम पूर्व में भी उल्लेख कर चुके हैं कि सांख्य कारिका में कारिकाकार ने सांख्यदर्शन के सिद्धान्तों को, सूत्रात्मक शैली में संक्षेप में निबद्ध किया है, उन सबकी अत्यन्त विस्तारपूर्वक सोदाहरण व्याख्या ही तत्त्वकौमुदी की महती विशेषता रही है। इसका समय ईसा की अष्टम शती का अन्तिम चरण अर्थात् 783 ई. के

---

[1]. तत्त्वकौमुदी प्रभा– डॉ. आद्या प्रसाद मिश्र, भूमिका पृष्ठ–35।

लगभग माना गया है। कुछ विद्वान् इन्हें नवम तथा दशम शताब्दी में भी स्थित मानते हैं।

इसमें अनेक स्थलों पर गौड़पादभाष्य एवं जयमंगला टीका का अत्यन्त मर्यादापूर्वक खण्डन किया गया है। विद्वानों का मत है कि- यदि हम सांख्यदर्शन को ठीक–ठीक समझना चाहते हैं, तो इसके लिए तत्त्वकौमुदी टीका का अध्ययन अनिवार्य है। इतना ही नहीं, इसे सांख्य के सीधे–सादे प्रतीत होने वाले सिद्धान्तों की सारगर्भित एवं सूक्ष्म–विवेचनी व्याख्या भी कहा गया है। इसके अलावा वेदान्तदर्शन के 'ब्रह्मतत्त्व समीक्षा' मीमांसा के 'तत्त्व–बिन्दु' के 'न्यायसूचीनिबन्ध' आदि ग्रन्थों की भी आचार्य वाचस्पति ने संरचना की। इनमें से 'ब्रह्म तत्त्वसमीक्षा' नामक ग्रन्थ आज उपलब्ध नहीं है।

आचार्य वाचस्पति मिश्र मिथिला के निवासी थे। न्यायशास्त्र का अध्ययन इन्होंने कर्नाटक निवासी त्रिलोचन नामक आचार्य से किया था। अन्य सभी दर्शनों में वैशिष्ट्य सम्पन्न होते हुए भी ये मुख्यरूप से नैयायिक थे, इसी कारण इन्होंने न्याय की दृष्टि से ही सांख्य के तत्त्वों का विवेचन किया है, जिसकी आलोचना भी विद्वानों द्वारा की गई है।[1]

सभी दर्शनों के ग्रन्थों की व्याख्या करते समय, उनकी एक महत्त्वपूर्ण विशेषता हमें देखने को मिलती है कि तत्तत् ग्रन्थ की व्याख्या उन्होंने उसी दर्शन के सिद्धान्तों का अनुसरण करते हुए प्रस्तुत की है। प्रतिपाद्य विषय का स्पष्टीकरण उन्होंने उसी ग्रन्थ के सिद्धान्तों के परिप्रेक्ष्य में किया है। कहीं भी अपने सिद्धान्त एवं मान्यताओं को थोपने का प्रयास नहीं किया है और न ही, कहीं उनकी अनावश्यक आलोचना ही की है।

जैसा कि हम पूर्व में उल्लेख कर चुके हैं कि तत्त्वकौमुदी की न्यायनिष्ठ शैली के कारण सामान्य अध्येता के लिए यह व्याख्या कुछ

---

1 भारतीय दर्शन– डॉ. उमेश मिश्र, पृष्ठ– 279 ।

क्लिष्ट हो गई है। इसीलिए अनेक विद्वानों ने इस टीका की पुनः प्रटीकाएँ भी कीं, जिनका यहाँ हम संकेतरूप में उल्लेख कर रहे हैं–

(f) **सांख्यतत्त्वकौमुदी की टीकाएँ–** 1. निर्णयसागर प्रेस, बम्बई से प्रकाशित पं. शिवनारायण शास्त्री की सारबोधिनी टीका। 2. बलराम उदासीन की विद्वत्तोषिणी टीका। 3. बंशीधरमिश्र की सांख्यतरु दिवाकर टीका। 4. श्रीकृष्ण बल्लभाचार्य की किरणावली टीका। 5. पण्डित हरीराम शुक्ल की सुषमा टीका। 6. पंचानन शास्त्री मुसलगाँवकर की तत्त्वप्रकाशिका टीका। 7. पंचानन भट्टाचार्य की पूर्णिमा टीका। 8. कृष्ण नाथ न्यायपंचानन की आवरणवारिणी टीका । 9. डॉ. आद्याप्रसाद मिश्र की प्रभा हिन्दी टीका। 10. डॉ. रमाशंकर भट्टाचार्य की ज्योतिष्मती हिन्दी टीका एवं 11. महामहोपाध्याय गंगानाथ झा का अंग्रेजी अनुवाद आदि विशेषरूप से उल्लेखनीय हैं, किन्तु इन सभी में पं. शिवनारायण शास्त्री की सारबोधिनी टीका विस्तार एवं गहनता की दृष्टि से अत्यन्त महत्त्वपूर्ण स्थान रखती है।

(g) **सांख्यकारिका की अन्य टीकाएँ–** उपरोक्त प्रमुख पाँच टीकाओं तथा अन्य कुछ महत्त्वपूर्ण ग्रन्थों को ही हमने प्रस्तुत अध्ययन में ग्रहण किया है तथापि इनके अतिरिक्त सांख्यकारिका पर लिखी गई टीकाओं में 'चन्द्रिका' टीका भी अत्यन्त महत्त्वपूर्ण है। इसका समय ईसा की 17 वीं शती का उत्तरार्द्ध एवं 18वीं शती का पूर्वार्द्ध माना गया है।[1] आचार्य बलदेव उपाध्याय ने इसे 17वीं शताब्दी में स्थित माना है।[2] इसके लेखक नारायणतीर्थ हैं। यह टीका सांख्यतत्त्वकौमुदी का ही अनुकरण करती है।

इसके अलावा मुडुम्ब नरसिंह स्वामिन् नामक विद्वान् आचार्य द्वारा सांख्यकारिका पर 'सांख्यतरुवसन्त' नामक टीका का भी प्रणयन

---

1. सांख्यकारिका– डॉ. रामकृष्ण आचार्य, भूमिका, पृष्ठ–28 ।
2. भारतीय दर्शन– डॉ. बलदेव उपाध्याय, पृष्ठ–254 ।

किया गया, यह अभी तक अप्रकाशित है।[1] इसमें सांख्य एवं वेदान्त में मूलरूप से भेद स्वीकार नहीं किया गया है। 'सरल सांख्ययोग' नामक टीका का बंगला भाषा में हुगली के प्रसिद्ध विद्वान् 'हरिहरारण्यक' ने बीसवीं सदी में प्रणयन किया।

उक्त संस्कृत टीकाओं के अतिरिक्त अनेक विद्वानों ने सांख्य–कारिका की क्लिष्टता को दूर करने का प्रयास करते हुए, अनेक व्याख्याएँ की, जिनमें डॉ. ब्रजमोहन चतुर्वेदी की 'वसुमति' व्याख्या, डॉ रामकृष्ण आचार्य की हिन्दी व्याख्या, डॉ. रामचन्द्र पाण्डेय की हिन्दी व्याख्या एवं **प्रस्तुत ग्रन्थ के लेखक द्वारा डायग्रामानुसारी 'चन्द्रिका' हिन्दी व्याख्या** विशेष रूप से उल्लेखनीय हैं। सांख्यदर्शन के जिज्ञासु अध्येताओं के लिए उक्त सभी ग्रन्थों का अवलोकन एवं गहन अध्ययन करना चाहिए। इन ग्रन्थों के प्रकाशक एवं प्रकाशन वर्ष आदि का विस्तृत उल्लेख अन्त में सन्दर्भग्रन्थ सूची में किया गया है।

सांख्यदर्शन के प्रमुख सिद्धान्त–

1. प्रयोजन– इस संसार में दुःख का अस्तित्व है, इसमें कोई संदेह नहीं है, क्योंकि व्यक्ति का स्वयं का अनुभव इसमें प्रमाण है। 'मैं दुःखी हूँ' ऐसा अनुभव उसे प्रत्येक क्षण होता रहता है। इसके अतिरिक्त प्रत्येक प्राणी का स्वभाव है कि वह दुःख से बचना चाहता है, उसके लिए वह हर सम्भव प्रयास भी करता है, किन्तु इसमें उसे सफलता ही मिले यह आवश्यक नहीं है। साथ ही, उस प्रयास अथवा उपाय के बाद पुनः उस दुःख की प्राप्ति नहीं होगी, यह भी आवश्यक नहीं है।

इसके विपरीत सांख्यशास्त्र का मानना है कि इसके अध्ययन के परिणामस्वरूप होने वाले ज्ञान से त्रिविध दुःखों की निश्चितरूप से अर्थात् एकान्तिक एवं हमेशा के लिए अर्थात् आत्यन्तिक निवृत्ति सम्भव है। अतः जो व्यक्ति दुःखों से हमेशा के लिए छुटकारा पाना चाहता है

---

[1] भारतीय दर्शन– डॉ. बलदेव उपाध्याय, पृष्ठ–254 ।

उसे अवश्य ही सांख्यशास्त्र का अध्ययन करना चाहिए। सांख्य का प्रमुख विवेच्य है– व्यक्त, अव्यक्त और ज्ञ। इन्हीं तीन का सांख्य के प्रकरणग्रन्थ सांख्यकारिका में 70 कारिकाओं के अन्तर्गत विवेचन हुआ है, यहाँ ये तीनों ही प्रमेय पदार्थ हैं। इसीलिए सांख्य 'प्रमेयशास्त्र' भी कहलाता है, जिन्हें प्रत्यक्ष, अनुमान एवं आप्तप्रमाण द्वारा भलीप्रकार जान लेने पर दुःखों की हमेशा के लिए निवृत्ति हो जाती है तथा मोक्ष जिसे 'कैवल्य' भी कहते हैं, की प्राप्ति होती है। इसप्रकार सांख्यशास्त्र का मुख्य प्रयोजन हुआ– 'दुःखों की एकान्तिक तथा आत्यन्तिक रूप से निवृत्ति का होना।'

इस प्रसंग में जिज्ञासा सम्भव है कि यह 'दुःखत्रय' है क्या? जिसकी निवृत्ति की बात इस शास्त्र के अध्ययन द्वारा की जा रही है। साथ ही, शास्त्र–अध्ययन जैसे कठिन उपाय के अतिरिक्त क्या अन्य किसी उपाय द्वारा उसकी निवृत्ति सम्भव नहीं है? यदि सम्भव है तो उसका प्रयोग आप क्यों नहीं कर रहे हैं? इन जिज्ञासाओं का क्रमशः उत्तर है–

(क) **दुःखत्रय–** दुःख तीन प्रकार का होता है– 1. आध्यात्मिक 2. आधिभौतिक 3. आधिदैविक।

(1) **आध्यात्मिक–** इसका सम्बन्ध शरीर में स्थित आत्मा को छोड़कर आन्तरिक तत्त्वों से है। किसी भी प्रकार के दुःख का सम्बन्ध आत्मा से नहीं होता, क्योंकि पुरुष रूप आत्मा में दुःखों के मूलकारण सत्त्व, रजस्, और तमस् का अभाव रहता है, अपितु ये मन, बुद्धि, अहंकार, ज्ञानेन्द्रिय एवं कर्मेन्द्रिय से युक्त शरीर में होते हैं। इसी दृष्टि से आध्यात्मिक दुःख दो प्रकार का कहा गया है–

(क) **शारीरिक**–शरीर के प्रमुख तत्त्व– 'वात', 'पित्त', एवं 'कफ', की विषमता के कारण उत्पन्न होने वाला दुःख शारीरिक कहलाता है। **जैसे–** ज्वर आदि। यह पुनः दो प्रकार का होता है– (अ) **नैसर्गिक–** भूख आदि (ब) **त्रिदोषजन्य–** बुखार आदि।

(ख) **मानसिक–** काम, क्रोध, लोभ, मोह, ईर्ष्या, भय आदि भावों के कारण होने वाला दुःख 'मानसिक' कहलाता है। इसीप्रकार किसी इच्छित वस्तु के प्राप्त न होने और अनिच्छित वस्तु के प्राप्त होने की स्थिति में होने वाला कष्ट भी मानसिक दुःख की श्रेणी में ही रखा गया है।

(2) **आधिभौतिक–** जिन्हें हम देख सकते हैं, ऐसे बाह्य कारणों अथवा पदार्थों से उत्पन्न होने वाला दुःख आधिभौतिक कहलाता है। **जैसे–** शेर, व्याध, सर्प, मनुष्य आदि प्राणियों से उत्पन्न होने वाला दुःख अथवा कष्ट।

(3) **आधिदैविक–** प्रत्यक्ष दिखाई न देने वाली देव योनियों– यक्ष, भूतप्रेत, राक्षस, पिशाच, किन्नर, ग्रह आदि, वायु, अग्नि, जल आदि देवों के प्रकोप से होने वाले आँधी–तूफान, अग्निकाण्ड, बाढ़ आदि आधिभौतिक कष्ट की श्रेणी में आते हैं। ये ही त्रिविध दुःख हैं, जिन्हें हम चित्र के माध्यम से इसप्रकार भी सरलतापूर्वक समझ सकते हैं–
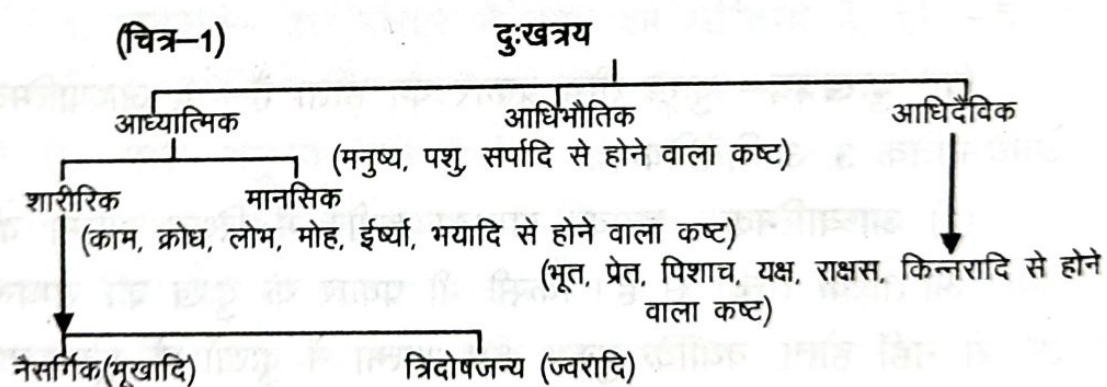
इन्हें जानने के बाद कोई भी व्यक्ति सहजरूप से कह सकता है कि इनसे छुटकारा पाने के लिए तो आपके सांख्यशास्त्र के अध्ययन जैसे उपाय की आवश्यकता नहीं हैं, क्योंकि इन दुःखों से छुटकारा पाने के अनेक लौकिक उपाय, जो आसान भी है, विद्यमान हैं।

जैसे– शारीरिक रोग 'बुखार' आदि को दूर करने के लिए अनेक प्रकार की औषधियों, जड़ीबूटियों आदि का विधान हमारे आयुर्वेद आदि चिकित्सा शास्त्रों द्वारा बताया गया है। इसीप्रकार नैसर्गिक

शारीरिक दुःख भूख आदि को भोजनादि करके दूर किया जा सकता है।

मानसिक दुःखों की शान्ति मनोनुकूल सुन्दर पदार्थों को प्राप्त करने एवं उनका उपभोग करने से आसानी से हो जाती है। इसीप्रकार दैवीप्रकोपों से होने वाले आधिदैविक दुःखों को भी व्यक्ति मणिमन्त्र आदि के उचित प्रयोग से सहज ही शान्त कर सकता है तथा आधि–भौतिक दुःखों से बचने के लिए, नीतिशास्त्रों एवं शिष्टजनों द्वारा कहे गए उपदेशों के अनुसार सावधानीपूर्वक आचरण करना ही पर्याप्त है।

इसप्रकार उक्त त्रिविधदुःख की शान्ति के लिए अनेक लौकिक उपायों के होते हुए जो सभी को सहज ही उपलब्ध भी है, कोई भी व्यक्ति सांख्यशास्त्र के अध्ययनरूप कठिन उपाय का प्रयोग क्यों करेगा? क्योंकि कहा भी गया है कि यदि किसी व्यक्ति को अपने घर के कोने में ही शहद मिल जाए तो उसे प्राप्त करने के लिए वह जंगल में भटकने के लिए क्यों जाएगा? इसलिए इन त्रिविध दुःखों की निवृत्ति के लिए आपका यह सांख्यदर्शन लेखन और इसका अध्ययन व्यर्थ ही है।

प्रतिपक्षी द्वारा ऐसी शंका करने पर ग्रन्थकार कहते हैं– जिन लौकिक उपायों से दुःखों को दूर करने की बात आप कर रहे हैं, उनके विषय में यह भी तो जरा विचार करें कि क्या वे उपाय दुःख को एकान्तिक एवं आत्यन्तिक रूप से दूर करने में समर्थ हैं? अर्थात् रोग विशेष की प्रसिद्ध औषधि लेने से क्या वह अनिवार्यरूप से दूर हो जाएगा? क्योंकि ऐसा भी देखने में आता है कि प्रसिद्ध औषधियाँ भी सभी को हमेशा लाभ नहीं करती हैं। यह तो हुई दुःख के एकान्तिक अर्थात् अनिवार्य रूप से विनाश की बात।

उस रोग विशेष की हमेशा के लिए निवृत्ति ही दूसरा आत्यन्तिक रूप है अर्थात् जो औषधि आपने ली है, उससे ज्वरादि यदि ठीक हो भी जाते हैं, तो क्या वे दोबारा उत्पन्न नहीं होंगे? यदि नहीं

तो दुःख की आत्यन्तिक निवृत्ति नहीं होने से आपके लौकिक उपायों की व्यर्थता स्वतः ही सिद्ध हो जाती है। इसलिए यदि आप दुःख की एकान्तिक एवं आत्यन्तिक निवृत्ति चाहते हैं, तो हमारे सांख्यशास्त्र के प्रति आपको जिज्ञासा करनी होगी, उसका गहन अध्ययन करना होगा।

इसी प्रसंग में प्रतिपक्षी दूसरी शंका करता है कि ठीक है आप लौकिक उपायों को दुःख के विनाश में एकान्तिक एवं आत्यन्तिक रूप से अनुपयोगी कहते हैं, जिसे हम मान भी लेते हैं, किन्तु वेदोक्त उपाय भी तो हैं, जिनके द्वारा दुःखों से हमेशा के लिए छुटकारा प्राप्त किया जा सकता है। **जैसे–** कहा जाता है कि 'स्वर्गकामो यजेत्' स्वर्ग प्राप्त करने के लिए यज्ञ करना चाहिए तथा 'अपाम सोममृता अभूम' यज्ञ में सोमपान से हम अमर हो जाएँगे।

इसप्रकार यज्ञ के द्वारा व्यक्ति स्वर्ग की प्राप्ति में सक्षम है। यहाँ तक कि अमर होने की बात भी श्रुतियों में कही गई है। अतः इन वेदोक्त उपायों द्वारा दुःख की एकान्तिक एवं आत्यन्तिक निवृत्ति सम्भव है। अतः आपकी शास्त्र–जिज्ञासा व्यर्थ है। इसे कौन पढ़ेगा? क्योंकि व्यक्ति धन कमाकर, यज्ञ करके मरने के बाद स्वर्ग जा सकता है, जहाँ किसी भी वस्तु का अभाव न होने से दुःख का अस्तित्व ही नहीं है।

इसप्रकार की शंका के विषय में ग्रन्थकार कहते हैं कि यह बात तो आपकी ठीक है कि वेदोक्त उपायों से दुःख की निवृत्ति सम्भव है, किन्तु इसे भी तो पूर्णतया दोषमुक्त नहीं कहा जा सकता, क्योंकि इनमें 'अविशुद्धि', 'क्षय', 'अतिशय' तीन दोषों की स्थिति प्रत्यक्ष प्रतीत होती है। अतः सांख्यशास्त्र के अध्ययन से दुःखों की पूर्णतया दोषमुक्त एकान्तिक एवं आत्यन्तिक निवृत्ति करना, मोक्ष प्राप्त करना ही उचित एवं विवेकपूर्ण है। इस प्रसंग में आए, अविशुद्धि, क्षय और अतिशय पद व्याख्या की अपेक्षा रखते हैं।

(क) **अविशुद्धि–** यदि हम कोई छोटा सा यज्ञ भी करते हैं, तो भी अनेक जीवों की हिंसा होती है, फिर भी स्वर्ग प्राप्त करने के लिए बड़े–बड़े यज्ञों[1] की तो बात ही क्या? इसलिए यज्ञ से होने वाले अल्पाल्प पापों को भी तो भोगना ही होगा। अतः बड़े–बड़े यज्ञों से प्राप्त स्वर्गादि रूप सुख को पूर्णतया दोषमुक्त नहीं कहा जा सकता, अतः आपका यह उपाय भी त्याज्य है।

(ख) **क्षय–** इसके अलावा वेदोक्त उपाय यज्ञादि के द्वारा होने वाले पुण्यों से स्वर्ग की प्राप्ति तो सम्भव है, किन्तु वहाँ स्थिति शाश्वत नहीं हैं, क्योंकि कहा भी गया है कि– **'क्षीणे पुण्ये मर्त्यलोकं विशन्ति'**[2] अर्थात् पुण्यों के क्षीण होने पर व्यक्ति स्वर्गलोक से पुनः मृत्युलोक में प्रवेश करते हैं। इसलिए वेदोक्त उपायों से प्राप्त होने वाले स्वर्ग आदि की स्थिति केवल पुण्यों के अस्तित्व तक ही सीमित है। अतः इस उपाय द्वारा भी दुःख की आत्यन्तिक निवृत्ति न होने से यह त्याज्य है।

(ग) **अतिशयता–** दुःख दूर करने के वेदोक्त उपाय यज्ञादि में एक अतिशयता का दोष भी विद्यमान है। अतः इस उपाय द्वारा पूर्णतया दुःखरहित होना सम्भव नहीं है। **जैसे–** यदि कोई व्यक्ति ज्योतिष्टोम याग करता है तो उसे स्वर्ग की प्राप्ति होती है और अन्य व्यक्ति धन वा सामर्थ्य की अधिकता होने से यदि वाजपेययाग करता है, तो उसे इन्द्रत्व की प्राप्ति होती है। इस स्थिति में पहले व्यक्ति को अन्य व्यक्ति के अधीन रहना होगा। साथ ही, कम फल वाले व्यक्ति को अधिक फल वाले व्यक्ति का उत्कर्ष देखकर ईर्ष्या आदि के कारण दुःख होना स्वाभाविक है।

अतः दुःख की आत्यन्तिक निवृत्ति के लिए वेदोक्त उपायों की निरर्थकता स्वतः सिद्ध है। इसलिए यदि आप दुःखों से हमेशा के लिए

---

1. 'ज्योतिष्टोमेन स्वर्गकामो यजेत्'
2. श्रीमद्भगवद्गीता 1/29 ।

अनिवार्यरूप से छुटकारा पाना चाहते हैं तो आपको हमारे सांख्यशास्त्र का अध्ययन करना होगा, जिसका मुख्य विवेच्य 'व्यक्त, अव्यक्त और ज्ञ' ये तीन प्रमेय पदार्थ हैं। इन्हें जान लेने से व्यक्ति को 'कैवल्य' की प्राप्ति होती है तथा वह दुःखों से हमेशा के लिए छुटकारा प्राप्त कर सकता है, यही हमारे इस शास्त्र का मुख्य प्रयोजन है। दुःखत्रय के सम्बन्ध में उपर्युक्त विवेचन को संक्षेप में हम इसप्रकार भी प्रदर्शित कर सकते हैं–
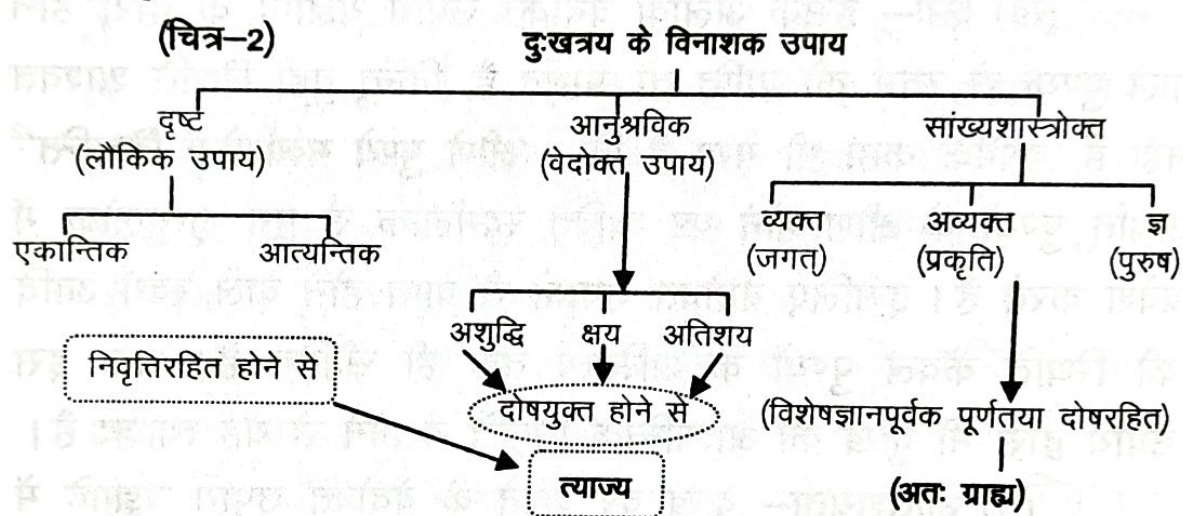
अब हम सांख्यदर्शन के प्रमेय पदार्थों का विवेचन करेंगे–

(2) **सांख्यदर्शन का पुरुष**(ज्ञ)– सांख्यकारिकाकार ने ग्रन्थ का प्रयोजन बताते हुए व्यक्त, अव्यक्त और ज्ञ, इन तीन प्रमेय पदार्थों को जान लेने से 'कैवल्य' की प्राप्ति का कथन किया है। वहाँ उन्होंने विवेचन का क्रम क्रमशः व्यक्त, अव्यक्त और ज्ञ रखा है, किन्तु यहाँ हम इसे उल्टे क्रम से प्रस्तुत कर रहे हैं, जिससे समझने में आसानी रहे।

सांख्य मूलरूप से दो तत्त्वों को स्वीकार करता है, जो नित्य हैं– पुरुष और प्रकृति। इनमें पुरुष को ही 'आत्मा' भी कहा जा सकता है। इसी को 'ज्ञ' नाम भी दिया गया है 'मैं हूँ' अथवा 'मैं नहीं हूँ', 'यह मेरी लेखनी है।' इसप्रकार के अनुभव में 'मैं' की अनुभूति 'पुरुष' के अस्तित्व की सत्ता को सिद्ध करती है।

यह सर्वथा शुद्ध एवं चैतन्यस्वरूप है। यहाँ एक बात विशेष रूप से ध्यातव्य है कि 'चैतन्य' पुरुष का गुण नहीं, अपितु स्वभाव है। यह निष्क्रिय, उदासीन एवं प्रकाशवान् है। जगत् को उत्पन्न करने वाली प्रकृति है, पुरुष तो उसकी लीला देखते हुए मात्र साक्षीरूप में विद्यमान रहता है। सुख एवं दुःख शरीर एवं मन के धर्म हैं, पुरुष के नहीं। वह इनसे लेशमात्र भी सम्बद्ध नहीं होता है। वह तो वस्तुतः असंग है।

पुरुष में किसी प्रकार का विकार, परिणाम उत्पन्न नहीं होता, अतः वह अविकारी है। काम, संकल्प, श्रद्धा, धैर्य, विचिकित्सा आदि भाव एवं क्रियाएँ मन, बुद्धि एवं अहंकार से सम्बद्ध हैं, पुरुष से नहीं। पुरुष में कर्तापन की प्रतीति हमें लोहे के टुकड़े में अग्नि के समान होती है, क्योंकि अग्नि से लाल लोहपिण्ड को यह अग्नि है, ऐसा कहा जाता है। इसीप्रकार जल में सूर्य के बिम्ब को भी 'जल में सूर्य' ऐसा कहते हैं। ठीक इसीप्रकार दैनिक जीवन में सुखदुःखादि भावों की अनुभूति 'मेरी है', इस अनुभव के साथ पुरुष रूप आत्मतत्त्व की प्रतीत होती है, जबकि वे वस्तुतः पुरुष की नहीं है।

सांख्य में पुरुष को 'अनाश्रित', अलिंग, 'स्वतन्त्र', 'निरवयव', 'अत्रिगुण', 'विवेकी', 'अविषय', 'असामान्य', 'चेतन', 'अप्रसवधर्मी', 'साक्षी', 'कैवल्य', 'मध्यस्थ', 'उदासीन', 'द्रष्टा', आदि विशेषताओं से युक्त बताया गया है। यद्यपि यहाँ पुरुष बहुत्व के सिद्धान्त को मान्यता प्रदान की गई है, जिसका विस्तृत विवेचन हम आगे करेंगे, फिर भी इसे 'बद्धपुरुष' और 'मुक्तपुरुष' दो वर्गों में विभाजित किया जा सकता है।

सृष्टिकाल से पूर्व एवं विवेक होने पर 'मुक्तपुरुष' होता है, अन्यथा सामान्य स्थिति में अनादिकाल से प्रत्येक पुरुष 'बद्ध' है। सांख्य का पुरुष बहुत्व का सिद्धान्त बद्धपुरुषों पर लागू होता है, मुक्त पर नहीं, क्योंकि पुरुष बहुत्व की सिद्धि में साधक– 'जन्म, मरण और

करण विषयक युक्तियाँ केवल बद्धपुरुष पर ही चरितार्थ होती हैं। मुक्त पुरुष का तो न जन्म होता है, न मरण और न ही उसकी इन्द्रियाँ ही होती हैं। निर्गुण होने से उसमें प्रकृति का पूर्णतया अभाव है और वह संख्या में एक ही होता है। बद्धपुरुष भी विवेकज्ञान से मुक्त होकर 'मुक्तपुरुष' के साथ मिलकर ठीक उसीप्रकार एक हो जाता है, **जैसे–** जल की एक बूँद समुद्र के साथ मिलकर उसके आकार से आकारित होकर एक हो जाती है।

चैतन्यस्वरूप, प्रकाशवान् पुरुष का 'प्रकाश' जब जड़ात्मिका प्रकृति जो सत्त्व, रजस्, तमस् की साम्यावस्था है, पर पड़ता है तो तीनों गुणों की साम्यावस्था में उथलपुथल होने से उत्पन्न वैषम्य के कारण सृष्टि की उत्पत्ति होती है। प्रस्तुत वर्ण्यविषय में हमारा अभिप्राय मुक्तपुरुष से है, बद्ध से नहीं।

पुरुष की सत्ता अनुमान और शब्द प्रमाण से सिद्ध होती है। ग्रन्थकार ने इसके लिए कुछ युक्तियाँ प्रस्तुत की हैं, जिनका यहाँ उल्लेख किया जा रहा है–

(क) **इस संसार के सभी पदार्थ संघातमय हैं, जैसे–** घर, ईंट पत्थर, सीमेंट आदि वस्तुओं का समुदाय है। अतः संघातमय है। संगठित वस्तुओं का स्वभाव होता है कि वे किसी अन्य के उपभोग के लिए होती हैं। इसलिए प्रकृति से उत्पन्न यह संघातरूप संसार निश्चय ही प्रकृति से भिन्न के लिए होना चाहिए और वह 'अन्य' और कोई नहीं, अपितु पुरुष ही है।

(ख) **प्रकृति जड़ात्मिका है** और जड़ में चेतन के बिना प्रवृत्ति दिखाई नहीं दे सकती, क्योंकि जड़ रथ तभी एक स्थान से दूसरे स्थान पर जा सकता है, जब उस पर नियन्त्रण करने वाला चेतन सारथि विराजमान होता है। संसाररूप रथ का नियन्ता अन्य कोई नहीं, अपितु यह पुरुष ही है।

(ग) **संसार के सभी विषय भोग हैं।** इसलिए इनका भोग करने वाला, 'भोक्ता' भी कोई न कोई अवश्य होना चाहिए, जो इससे पूर्णतया भिन्न एवं विलक्षण हो और वह अन्य कोई नहीं केवल पुरुष ही हो सकता है।

(घ) इस संसार में कुछ मनुष्यों द्वारा सब कुछ सुविधाएँ रहते हुए भी **सांसारिक बन्धनों से मुक्त होने की इच्छा** देखी जाती है, बुद्ध एवं महावीर इसमें प्रमाण हैं, जिसके लिए वे प्रयत्नशील भी रहते हैं। किसी भी वस्तु की प्राप्ति के लिए जड़ संसार द्वारा इसप्रकार के प्रयत्न की सम्भावना नहीं की जा सकती है। अतः मुक्ति की यह इच्छा एवं प्रयत्न इस बात को सिद्ध करता है कि सांसारिक वस्तुओं से भिन्न कोई तत्त्व अवश्य है और वह तत्त्व अन्य कोई नहीं, अपितु पुरुष ही हो सकता है। 'कैवल्य' ही इसका स्वरूप है, जिसे पाने के लिए व्यक्ति में व्याकुलता देखी जाती है।

(ङ) **यह सम्पूर्ण संसार त्रिगुणात्मक है,** भोग्य है और उपभोक्ता के लिए आवश्यक है कि वह त्रिगुणातीत हो, क्योंकि त्रिगुण सम्पन्न होने पर वह भी संसार के समान उपकरण ही होगा। अतः उसका त्रिगुणातीत होना ही उपभोक्ता रूप पुरुष के अनुमान में सहायक है।

वस्तुतः यह चेतन पुरुष ही अचेतन प्रकृति का अधिष्ठाता है, जो बुद्धि, मन आदि अन्तःकरण और नेत्र आदि बाह्यकरण रूप इन्द्रियों द्वारा उसीप्रकार संसाररूप संघात का उपयोग करता है, जिसप्रकार रथ का सारथि अश्वों के माध्यम से रथ का प्रयोग करता है। इस कथन की पुष्टि इस बात से भी होती है कि इन्द्रियों एवं सांसारिक विषयों के रहते हुए भी चैतन्य के अभाव में किसीप्रकार की क्रिया देखने को नहीं मिलती है।

सांख्य के दो प्रमुख एवं नित्य तत्त्वों पुरुष एवं प्रकृति में से पुरुष में सत्त्व, रजस् और तमस् का पूर्णतया अभाव होने के कारण दुःख एवं मोहात्मकता का सर्वथा अभाव रहता है। साथ ही, वह किसी

का विकार न होने तथा न ही किसी को उत्पन्न कर सकने के कारण **न विकृति है और न प्रकृति ही है।**

इसके अतिरिक्त यह प्रलयावस्था में भी स्थित रहने के कारण नित्य तथा सर्वव्यापक होने से 'विभु' है। अपने अस्तित्व के लिए किसी अन्य पर निर्भर न होने के कारण ही इसे **'अनाश्रित'** कहा गया है। प्रकृति–पुरुष के सम्बन्ध का मुख्य प्रयोजन पुरुष के लिए भोग एवं अपवर्ग मोक्ष की सिद्धि करना है।

सांख्यसिद्धान्त के अनुसार– चेतन एवं प्रकाशवान् पुरुष का प्रकाश जब त्रिगुणात्मिका एवं जड़ात्मिका प्रकृति पर पड़ता है, तो प्रकृति में स्थित गुणों में गति उत्पन्न हो जाती है, जिसके परिणाम स्वरूप ये तीनों गुण एक दूसरे को दबाने का प्रयास करते हैं और इस क्रम में सर्वप्रथम महत्, पुनः उससे अहंकार आदि की उत्पत्ति होती है।[1] इसप्रकार सृष्टि प्रक्रिया में पुरुष का महत्त्वपूर्ण स्थान होते हुए भी यह उदासीन है।

सामान्य अवस्था में जरामरण आदि से होने वाले दुःख वस्तुतः पुरुष के न होते हुए भी उसके प्रतीत होते हैं, क्योंकि पुरुष सूक्ष्मशरीर के साथ अत्यन्त 'सम्पृक्त' अर्थात् जुड़ा रहता है। यह प्रतीति ठीक उसीप्रकार की होती है। **जैसे–** जल में पड़ा हुआ सूर्य का प्रतिबिम्ब हिलता हुआ प्रतीत होता है, जबकि वह हिलता नहीं है। कहने का तात्पर्य यही है कि संसार में प्राप्त होने वाले सुख, दुःख वस्तुतः पुरुष के प्रतीत होते हैं, जबकि वे उसके नहीं होते हैं।

इसीप्रकार जड़ प्रकृति का सम्पूर्ण कार्य पुरुष के मोक्ष के लिए स्वतः ही होता रहता है, ठीक उसीप्रकार **जैसे–** बछड़े के पोषण के लिए दूध स्वतः ही गाय के थनों में आ जाता है। यह पुरुष पूर्णतया अनुपकारी और गुणरहित है। उपकारिणी एवं निस्वार्थभाव से सेवा

---

[1]. द्रष्टव्य –उपोदघात' में प्रयुक्त चित्र संख्या– 3 पृष्ठ, 31–32।

करने वाली दासी के समान प्रकृति, भोग एवं अपवर्ग की सामग्री प्रदान करते हुए पुरुष की सदैव मोक्ष हेतु सेवा करती रहती है–

नानाविधैरुपायैरुपकारिण्यनुपकारिणः पुंसः।
गुणवत्यगुणस्य सतस्तस्यार्थमपार्थकं चरति।।60।।

पुरुष का बन्धन वस्तुतः हमें दिखाई देता है, जबकि बन्धन एवं मोक्ष पुरुष का न होकर प्रकृति का होता है।[1] ज्ञान की अवस्था में पुरुष को वस्तुस्थिति का भान होता है और वह प्रेक्षक के रामान तटस्थभाव से दूर खड़ा होकर प्रकृति से स्वयं को अलग समझ लेता है–

एवं तत्त्वाभ्यासान्नास्मि न मे नाहमित्यमपरिशेषम्।
अविपर्ययाद् विशुद्धं केवलमुत्पद्यते ज्ञानम्।। 64।।

संशय, भ्रमादि से रहित विशुद्ध 'कैवल्य' स्वरूप इस ज्ञान के होने के पश्चात् प्रकृति इस पुरुष के प्रति अपने सृष्टिरूप प्रपंच को ठीक उसीप्रकार सिमेट लेती है जिसप्रकार कोई नृत्यांगना जिन दर्शकों के सामने एक बार नृत्य प्रस्तुत कर देती है, उनके समक्ष दोबारा जाना पसन्द नहीं करती है अथवा ऐसी कुलांगना के समान जिसे स्नान करते हुए अनावृतरूप में किसी पुरुष ने देख लिया हो, उसके सामने फिर से आने से वह कतराती है।[2]

पुरुष भी प्रकृति के स्वरूप को जान लेने के पश्चात् 'मैंने इसे देख लिया है' ऐसा सोचकर उसके प्रति उपेक्षाभाव धारण करता है।[3] इसप्रकार के 'ज्ञानवान् पुरुष' का शरीरपात के पश्चात् अर्थात् पूर्वजन्म के सभी कर्मों का फल, भोग लेने पर 'कैवल्य' हो जाता है। उसका फिर से इस संसार में आगमन नहीं होता है और वह अपने विराट

---

[1]. रूपैः सप्तभिरेव तु बध्नात्यात्मानमात्मना प्रकृतिः। कारिका– 63।

[2]. रंगस्य दर्शयित्वा निवर्तत्ते नर्तकी यथा नृत्यात्। कारिका– 59।

[3]. दृष्टा मया इति उपेक्षक एकः।

स्वरूप में ठीक उसीप्रकार मिल जाता है। **जैसे**– समुद्र के जल में जल की बूँद मिलकर एकाकार हो जाती है। यही पुरुष का मोक्ष तथा दुःखों की एकान्तिक एवं आत्यन्तिक निवृत्ति होती है।

(3) **सांख्यदर्शन की प्रकृति**– सांख्य का दूसरा एवं महत्त्वपूर्ण नित्यतत्त्व है, प्रकृति। इसी को 'प्रधान', 'अव्यक्त', एवं 'मूल प्रकृति' आदि नामों से भी जाना जाता है। इससे 'महत्' आदि तेईस तत्त्वों की उत्पत्ति होती है– **'प्रकर्षेण क्रियन्ते यस्याः सा प्रकृतिः'**। अतः यह प्रकृति कहलाती है। इन्द्रियगोचर न होने के कारण इसे 'अव्यक्त' कहा जाता है तथा प्रलयकाल में सभी भौतिकतत्त्वों के इसमें समा जाने के कारण– **प्रकर्षेण धीयते स्थाप्यते अत्र, अखिलम् इति,** इसे 'प्रधान' भी कहते हैं।

सत्त्व, रजस् और तमस् इन तीनों गुणों की साम्यावस्था का नाम ही 'प्रकृति' है। इसके अवयव गुणों के विषय में हम आगे विस्तार से चर्चा करेंगे। यहाँ केवल प्रकृति के विषय में ही उल्लेख करते हैं–

प्रलयावस्था में जब सृष्टि नहीं होती, सांख्य केवल दो तत्त्वों 'पुरुष' एवं 'प्रकृति' की स्थिति को स्वीकार करता है। प्रकृति जड़ है और पुरुष चेतन। पुरुष का प्रकाश जड़ प्रकृति पर पड़ता है तो उसके गुणों में क्षोभ उत्पन्न होता है तथा वे एक दूसरे को दबाने का प्रयास करते हैं। परिणामस्वरूप सृष्टिकार्य प्रारम्भ होता है। इस क्रम में सर्व प्रथम 'महत्' अर्थात् बुद्धि, महत् से अहंकार, अहंकार से पाँच ज्ञानेन्द्रियाँ, पाँच कर्मेन्द्रियाँ, मन, पंचतन्मात्राएँ उत्पन्न होती हैं। पुनः पंचतन्मात्राओं से पंचमहाभूत कुल मिलाकर 23 तत्त्वों की उत्पत्ति होती है। इन सभी का सृष्टिप्रक्रिया के शीर्षक के अन्तर्गत हम विस्तार से आगे उल्लेख करेंगे। यहाँ केवल इतना बताने का अभिप्राय है कि इन सभी 23 व्यक्त तत्त्वों की उत्पत्ति का मूलकारण प्रकृति ही है। प्रलय काल में ये सभी तत्त्व, जिस क्रम से उत्पन्न होते हैं, उसी में उलटे

क्रम से अपने–अपने कारण में समाते हुए अन्त में मूलकारण प्रकृति में अन्तर्भूत हो जाते हैं।

प्रकृति पूर्णतया स्वतन्त्र एवं नित्य होती है, वह अपने व्यापार के लिए किसी पर आश्रित नहीं है। सम्पूर्ण संसार को उत्पन्न करने वाली होते हुए भी वह स्वयं किसी से उत्पन्न नहीं होती है, इसी कारण इसे प्रकृति तथा **'अहेतुमत्'** कहा गया है। अत्यन्त सूक्ष्म होने के कारण इसका प्रत्यक्ष नहीं होता है, किन्तु इसके कार्यों को देखते हुए 'शेषवत् अनुमान' प्रमाण से कार्य को देखकर कारण की प्रतीति द्वारा इसका प्रत्यक्ष किया जा सकता है, क्योंकि 'महत्' आदि इसके कार्य हैं और कारण के बिना कार्य की उत्पत्ति सम्भव नहीं होती है। अतः महत् आदि रूप कार्यों से इनके कारण मूलप्रकृति की सत्ता सिद्ध होती है।

इस प्रसंग में एक शंका की जा सकती है कि आप जिसप्रकार 'महत्' आदि के 'कारण' मूल–प्रकृति की कल्पना कर रहे हैं, ठीक उसीप्रकार मूल–प्रकृति के 'कारण' किसी अन्य के अस्तित्व की कल्पना भी तो सम्भव है? इसका उत्तर तो यही होगा कि इसप्रकार की कल्पना से 'अनवस्था' दोष उत्पन्न होगा, क्योंकि इस कल्पना की तो कोई सीमा ही नहीं होगी, अतः आपका यह विचार त्याज्य है। ध्यातव्य है कि प्रकृति के अस्तित्व की सिद्धि के लिए कारिकाकार ने पाँच युक्तियों का उल्लेख किया है–

(क) **भेदानां परिमाणात्–** संसार के समस्त कार्य सीमित परिमाण वाले एवं परतन्त्र हैं। सीमित परिमाण वाले कार्यों को उत्पन्न करने के लिए किसी एक व्यापक मूलकारण का होना अत्यावश्यक है, जो अपरिमित और स्वतन्त्र हो। प्रकृति, अव्यक्त अथवा प्रधान है, अतः यही वह व्यापक कारण है।

(ख) **भेदानां समन्वयात्–** प्रकृति से उत्पन्न होने वाले 'महत्' आदि तत्त्व यद्यपि भिन्न–भिन्न हैं तथापि इन्हें एक सूत्र में बाँधने वाला

कोई एक साधारणधर्म होना चाहिए, जो इनमें परस्पर समन्वय करने वाला हो, यह तत्त्व वस्तुतः प्रधान ही है।

(ग) **भेदानां शक्तितः प्रवृत्तेश्च**– 'महत्' आदि तत्त्वों में सरूप एवं विरूप परिणाम के लिए प्रवृत्ति देखी जाती है। इसका मुख्य कारण व्यक्त पदार्थों में शक्तिविशेष का होना है तथा उस शक्ति को अलग-अलग पदार्थों में अलग-अलग मानने का औचित्य प्रतीत नहीं होता, क्योंकि ऐसा करने से **'गौरव'** नामक **दोष** की प्राप्ति होगी। इसलिए एक शक्ति को ही मूल आश्रय के रूप में मानना आवश्यक है, जो सभी व्यक्त पदार्थों में सरूप एवं विरूप परिणाम को उत्पन्न करने में समर्थ हो। वह अन्य कोई नहीं, अपितु तीनों गुणों की साम्यावस्था 'अव्यक्त' ही है, क्योंकि गुणों में ही परिणाम की शक्ति भी रहती है।

(घ) **कारण–कार्य–विभागात्**– संसार में प्रत्येक वस्तु का कोई न कोई कारण होता है अर्थात् सभी पदार्थों में कार्य–कारण विभाग देखा जाता है, **जैसे**– बीजरूप कारण का कार्य वृक्ष है। इसीप्रकार महत् कारण है, अहंकार उसका कार्य है। अतः महत् रूपकार्य का भी तो कोई कारण होगा। इसलिए वह कारण अन्य कोई नहीं, अपितु प्रकृति अथवा अव्यक्त ही है, अतः उसका अस्तित्व मानना आवश्यक है।

(ङ) **अविभागाद् वैश्वरूपस्य**– सांख्यदर्शन कारण और कार्य के एकीभाव को स्वीकार करता है। इस कारण सदृश परिणाम के समय कार्य अपने कारण में लीन होकर एकाकार हो जाता है। इसे प्रलय काल में होने वाली 'व्युत्क्रम–प्रक्रिया' भी कहा जा सकता है, जिसके अनुसार– प्रत्येक कार्य अपने कारण में लीन हो जाता है। ऐसी स्थिति में महत् आदि कार्यों का अपने कारण में लीन होना अत्यावश्यक है, तभी सम्पूर्ण संसार में कारण–कार्य का अभेद प्रतीत होगा। इसलिए वह कारण ही अव्यक्त है, जिसमें महत् आदि सभी कार्य लीन होकर एक प्रतीत होते हैं।

इसप्रकार सभी कार्यों के कारणरूप में एक 'अव्यक्त' अथवा प्रधान की सिद्धि होती है, जो नित्य, व्यापक और निष्क्रिय है। यद्यपि इसके गर्भ में रजोगुण की स्थिति के कारण क्रियाशीलता का होना स्वाभाविक है, क्योंकि रजोगुण क्रियाशील होता है, किन्तु यह क्रिया–शीलता प्रलयकाल में साम्यावस्था के रूप में ही विद्यमान रहती है। वैषम्य के अभाव में क्रिया उत्पन्न न होने के कारण प्रकृति को **निष्क्रिय** भी कहा जाता है, यद्यपि सृष्टिकाल में पुरुष के संसर्ग के कारण उसमें क्रियाशीलता विद्यमान रहती है।

इसप्रकार महत् से लेकर स्थूलभूत पर्यन्त सम्पूर्ण व्यक्त संसार का मूलकारण प्रकृति है, जो अपनी त्रिगुणता एवं क्रियाशीलता के कारण व्यक्तरूप में परिणत होता है। जिसप्रकार वर्षा का जल नारियल, इमली, आँवला आदि में मीठा, खट्टा, कषाय आदि अनेक स्वादों में परिणत हो जाता है। उसीप्रकार त्रिगुणात्मिका प्रकृति ही मन, बुद्धि, अहंकार आदि कारणों एवं स्थूल एवं सूक्ष्मभूतों के रूप में परिणत हो जाती है। इनमें भेद का कारण तीनों गुणों का अलग–अलग अनुपात में मिश्रित होना है।

इसके अतिरिक्त यह एक है, अधिक नहीं। साथ ही, किसी के ऊपर आश्रित न होने के कारण **'अनाश्रित'** भी है। प्रलयकाल में भी यह विद्यमान रहती है, इसका लय नहीं होता है। यद्यपि सत्त्व, रजस्, तमस् ये तीन गुण प्रकृति में साम्यावस्था में विद्यमान रहते हैं तथापि इसे **'निरवयव'** कहा जाता है, क्योंकि यहाँ वे विषमरूप में नहीं होते हैं तथा उन्हें प्रकृति से अलग नहीं किया जा सकता है।

इसीप्रकार प्रकृति किसी के अधीन भी नहीं है, अतः स्वतन्त्र है। अपने क्रियाकलाप में यह पूर्णतया **स्वतन्त्र** है, स्वाधीन है। इन सभी दृष्टियों से यह व्यक्त पदार्थों, जिनका सृष्टिप्रक्रिया में उल्लेख किया जाएगा, भिन्न कही जा सकती है, किन्तु व्यक्त एवं अव्यक्त दोनों में

कुछ समानताएँ त्रिगुणत्व, अविवेकत्व, विषयत्व, सामान्यत्व, अचेतनत्व, प्रसवधर्मित्व भी देखने को मिलती हैं।

सांख्यकारिकाकार ने मोक्ष की अवस्था में इसकी उपमा ऐसी 'नृत्यांगना' से दी है, जो दर्शकों के सामने एक बार नृत्य प्रस्तुत करके विरत हो जाती है। ठीक इसीप्रकार प्रकृति भी पुरुष के समक्ष स्वयं को प्रकट कर निवृत्त हो जाती है–

रंगस्य दर्शयित्वा निवर्तते नर्तकी यथा नृत्यात्।
पुरुषस्य तथाऽऽत्मानं प्रकाश्य विनिवर्तते प्रकृतिः।।59।।

इसका सम्पूर्ण सृष्टिरूप प्रयास पुरुष के भोगापवर्ग के लिए ही होता है। यह पूर्णतया निःस्वार्थभाव से उपकारिणी सेविका के समान निर्गुण, प्रत्युपकाररहित पुरुष की अनेक उपायों द्वारा सेवा करती रहती है। यह प्रकृति सुकुमार भावनाओं से युक्त कुलांगना के समान पर पुरुष द्वारा एक बार अनावृत्त रूप से देख लिए जाने के बाद पुनः उसके सामने नहीं आती है।[1]

यह प्रकृति अपने धर्म–अधर्म, अज्ञान, राग–विराग, ऐश्वर्य–अनैश्वर्य आदि सात रूपों के द्वारा स्वयं ही अपने को बाँधती है तथा एक ज्ञानरूप द्वारा पुरुष के मोक्ष के लिए स्वयं को मुक्त करती है।[2] इसलिए वस्तुतः किसी भी पुरुष का बन्धन और संसरण आदि नहीं होता है, अपितु नानाश्रया प्रकृति का ही बन्धन, संसरण और मोक्ष होता है–

तस्मान्न बध्यतेऽद्धा न मुच्यते नापि संसरति कश्चित्।
संसरति बध्यते मुच्यते च नानाश्रया प्रकृतिः।।62।।

त्रिगुण– यहाँ तक प्रकृति का स्वरूप क्रिया–कलाप आदि का उल्लेख हुआ। अब हम इसके तीन गुणों का परिचय प्रस्तुत करेंगे। सामान्यरूप से गुण का अर्थ होता है– रस्सी अथवा डोरी। सत्त्व आदि

---

1. या दृष्टाऽस्मीति पुनर्न दर्शनमुपैति पुरुषस्य।
2. सांख्यकारिका–63 ।

गुण प्रकृति अथवा पुरुष को बाँधने का कार्य करते हैं। अतः रस्सी के समान कार्य करने के कारण इन्हें 'गुण' कहा जाता है, ऐसा आचार्य विज्ञानभिक्षु का मानना है।

सांख्यदर्शन में ये प्रकृति के स्वरूपाधायक तत्त्व हैं तथा पुरुष के भोगापवर्ग रूप सिद्धि में सहायक होते हैं। इस दृष्टि से भी ये गुण कहलाते हैं। यहाँ ये वैशेषिक दर्शन के समान रूप, रस, गन्ध आदि द्रव्यों में रहने वाले पदार्थरूप गुण नहीं हैं, अपितु इनमें गुरुत्व, लघुत्व होने, क्रिया तथा द्रव्यधर्मों से युक्त होने तथा संयोग एवं वियोग होने के कारण वास्तव में 'द्रव्य' ही होते हैं।

समस्त संसार में सुख, दुःख एवं मोह की सर्वव्यापकता को देखते हुए ही सांख्य ने इनके मूलभूत आधार सुख के मूल 'सत्त्व', दुःख के मूल 'रजस्' और मोह के मूलकारण 'तमस्' की परिकल्पना अनुमान के आधार पर की है, क्योंकि वे सभी सुख–दुःख मोहात्मक है और संसार के सभी पदार्थों में इन तीनों गुणों की स्थिति विद्यमान है।

उदाहरण के लिए पेड़ से पका हुआ आम गिरा, दो लड़के उसे पाने के लिए दौड़े, जिसे मिल गया वह आनन्दित होता है, जिसे नहीं मिला, वह दुःखी होता है तथा इस सम्पूर्ण क्रियाकलाप को दूर खड़ा तीसरा लड़का तटस्थभाव से देखता है और उदासीन रहता है। यह तीन प्रकार की भिन्न प्रतीति प्रत्येक वस्तु में स्थित तीन गुणों का ही परिणाम है।

इसीप्रकार अन्य उदाहरण देखिए– एक सुन्दर स्त्री अपने प्रिय को सुख प्रदान करती है, अपनी सौतों को वही दुःख देने वाली होती है तथा वही दूसरे पुरुषों में मोह उत्पन्न करती है। सांख्य, सत्कार्यवाद के सिद्धान्त को मान्यता प्रदान करता है, जिसका विस्तृत विवेचन हम आगे करेंगे। तदनुसार जो विशेषताएँ कार्य में होती है, वे सभी कारण में भी रहती है, क्योंकि जगत् के मूलकारण प्रकृति में ये तीनों गुण विद्यमान रहते हैं, इसीलिए हमें प्रत्येक पदार्थ में उनसे उत्पन्न होने

वाले सुख–दुःख आदि की अनुभूति होती है, क्योंकि सुख–दुःख मोहात्मक होना, इन गुणों का स्वभाव है। गुणों की सत्ता–सिद्धि के बाद इनके स्वरूपादि पर विचार करते हैं–

(अ) **सत्त्वगुण–** सत्त्वगुण हल्का, लघु, प्रकाशक तथा आनन्द स्वरूप, सुखस्वरूप, इष्ट होता है। इसकी उपस्थिति से वस्तुएँ हलकी होने से ऊपर उठती हैं, **जैसे–** आग की लपटों का ऊपर उठना, भाप का ऊपर की ओर जाना। इसीप्रकार मनुष्यादि सभी प्राणियों को सुख, हर्ष, सन्तोष एवं आदि श्रेष्ठ भावनाओं की अनुभूति सत्त्व के कारण ही होती है, जिनसे वह स्वयं को हलका अनुभव करता है। इन्द्रियाँ अपने रूपादि विषयों को ग्रहण करती हैं तथा ज्ञान विषयों को प्रकाशित करता है, यह केवल सत्त्वगुण की उपस्थिति से या उसके प्रभाव से ही होता है।

प्रलयावस्था में यह केवल अपने ही प्रवाह में निरन्तर प्रवाहित होता रहता है, जो प्रकृति की वस्तुतः साम्यावस्था है, किन्तु सृष्टिकाल में यह दूसरे गुणों रजस्, तमस् के साथ मिश्रितभाव को प्राप्त होता है। यही स्थिति अन्य गुणों की भी होती है। अपने मूलरूप में यह निष्क्रिय है, किन्तु रजोगुण के प्रभाव से सक्रिय हो जाता है।

(ब) **रजोगुण–** रजोगुण स्वयं भी चंचल होता है तथा जिसके सम्पर्क में आता है, उसे भी चंचल बनाता है। सांसारिक पदार्थों वायु आदि में जो भी चंचलता अथवा गतिशीलता दिखाई देती है, वह इसी गुण का प्रभाव है। इसी के कारण मन की चंचलता है, इन्द्रियों का दौड़कर अपने विषय को ग्रहण करना आदि क्रियाएँ देखने को मिलती हैं।

सत्त्व और तमस् ये दोनों गुण निष्क्रिय होते हैं, उनमें यही रजोगुण गति प्रदान करता है। यह दुःखात्मक है। अतः संसार की वस्तुओं से प्राप्त होने वाला दुःख इसी गुण के प्रभाव के कारण होता है। दुःखी होने वाले व्यक्ति में रजोगुण का प्रभाव देखा जाता है।

(स) **तमोगुण–** तमोगुण भारी और रोकने वाला होता है।[1] यह सत्त्व एवं रजोगुणों का विरोधी है। यदि यह गुण न होता तो रजोगुण हमेशा ही चलायमान रहता, इसलिए यह उसकी गति को नियन्त्रित करता है। यह गुण जड़ता एवं निष्क्रियता का प्रतीक है। इसके कारण प्रकाश में कमी होने से अन्धकार तथा बुद्धि में विषयों को प्रकाशित करने का अभाव होने से मूर्खता का आधान होता है। यह प्रमाद, निद्रा और तन्द्रा को देने वाला है।

तीनों गुणों में परस्पर विरोधी होने पर भी जो अत्यन्त तालमेल रहता है, उसे दीपक के उदाहरण द्वारा समझा जा सकता है, क्योंकि दीपक में स्थित तेल, बत्ती और अग्नि आपस में विरोधी होने पर भी एक साथ मिलकर प्रकाश का कारण होते हैं। ठीक इसीप्रकार वात, पित्त और कफ परस्पर विरोधी होते हुए भी जिसप्रकार शरीर धारण का कारण बनते हैं।

ठीक उसीप्रकार ये तीनों गुण परस्पर विरुद्ध होते हुए भी मिलकर पुरुष के प्रयोजन को सिद्ध करते हैं। ये तीनों सदैव एक साथ रहते हैं, कभी एक दूसरे से वियुक्त नहीं होते हैं (मिथुनवृत्तिः)। एक दूसरे को दबाना इनका स्वभाव है। इसलिए सत्त्वगुण रजस् और तमस् को दबाकर प्रभावी होता है। इसीप्रकार रजस् भी सत्त्व और तमस् को दबाता है तथा तमोगुण भी सत्त्व और रजस् को दबाकर अपना कार्य करता है। इसी को कारिकाकार ने **'अभिभववृत्ति'** पद द्वारा कहा है।

ये तीनों गुण सदैव परिवर्तन अथवा विकार उत्पन्न करने वाले हैं, जो दो प्रकार का होता है। प्रलयकाल में एक गुण अन्य गुणों से स्वयं को अलग करके अपने ही रूप में परिणत होता रहता है। इस समय इनसे कुछ उत्पन्न नहीं होता है, अपितु सृष्टिकाल में इनके आपस में मिलने और विषमता के कारण, एक दूसरे को दबाने की प्रवृत्ति के परिणामस्वरूप व्यक्त जगत् की उत्पत्ति होती है। जब तक

---

[1]. गुरु वरणकमेव तमः ।

एक गुण प्रबल होकर दूसरे को नहीं दबाता, तब तक सृष्टिरूप कार्य की उत्पत्ति सम्भव नहीं होती।

इसलिए प्रलयकालीन अवस्था में होने वाला गुणों का परिणाम समानरूप में परिणत होने के कारण **'स्वरूप परिणाम'** होता है। अतः उस समय सृष्टि कार्य नहीं होता है। यही तीनों गुणों की साम्यावस्था अर्थात् 'प्रकृति' होती है। इसके अतिरिक्त सृष्टिकाल में होने वाला परिणाम **'विरूप परिणाम'** कहलाता है, क्योंकि इस स्थिति में एक गुण प्रबल होकर अन्य दो गुणों को वश में कर लेता है और सृष्टि उत्पन्न होती है।

(4) **सांख्यदर्शन की सृष्टिप्रक्रिया–** सांख्यदर्शन के अनुसार चेतन एवं तेजोरूप पुरुष का प्रकाश जब त्रिगुणात्मिका एवं जड़ प्रकृति के ऊपर पड़ता है तो प्रकृति के तीनों गुणों में क्षोभ उत्पन्न होता है, जिसके परिणाम स्वरूप सृष्टि–प्रक्रिया प्रारम्भ होती है। दूसरे शब्दों में, पुरुष और प्रकृति का संयोग ही सृष्टि का एकमात्र कारण है, अन्यथा स्वभाव से जड़ प्रकृति तथा स्वभाव से निष्क्रिय पुरुष स्वतन्त्ररूप से इस कार्य में सक्षम नहीं होते। वस्तुतः चेतन पुरुष की अध्यक्षता में ही प्रकृति सृष्टि कार्य में समर्थ होती है।

परस्पर विरुद्ध स्वभाव वाले इन दोनों के संयोग को कारिका–कार ने अन्धे और लंगड़े के उदाहरण द्वारा अत्यन्त सुन्दर ढंग से प्रस्तुत किया है। **जैसे–** अन्धा चल तो सकता है, किन्तु नेत्रेन्द्रिय में विकार के कारण देख नहीं पाता। अतः उसे मार्ग का ज्ञान नहीं होता। इसके विपरीत लंगड़े के पैर खराब होने के कारण वह चल नहीं पाता, किन्तु नेत्रेन्द्रिय ठीक होने से वह मार्ग को देखने में पूर्णतया सक्षम होता है। यदि ये दोनों एक दूसरे से मिल जाएँ तो परस्पर सहयोग से ये कहीं पर भी सरलता से आ, जा सकते हैं और कुछ भी कार्य सम्पन्न कर सकते हैं। इसीप्रकार जड़ रजोगुण के कारण सक्रिय प्रकृति जो चल तो सकती है, किन्तु देख नहीं सकती, निष्क्रिय, किन्तु

चेतन पुरुष, जो देख तो सकता है, किन्तु चल नहीं सकता है उसके परस्पर सहयोग से सृष्टिरूप कार्य सरलतापूर्वक सम्पन्न हो जाता है।

पुरुष भोक्ता है और प्रकृति भोग्या, भोक्ता के अभाव में भोग पदार्थों की निरर्थकता स्वतःसिद्ध है। पुरुष–प्रकृति का यह संयोग सृष्टि के माध्यम से विवेकज्ञान द्वारा 'कैवल्य' की प्राप्ति कराता है। भोक्ता पुरुष द्वारा देख लिए जाने तक ही प्रकृति सृष्टिरूप कार्य को सम्पादित करती है।

प्रकृति से महत्– पुरुष का प्रकाश पड़ने पर समानभाव में स्थित तीनों गुणों में क्षोभ उत्पन्न होने से, वे एक दूसरे को दबाने तथा अपने वश में करने के लिए प्रयत्नशील हो जाते हैं। बस यहीं से सृष्टिकार्य प्रारम्भ हो जाता है तथा इस क्रम में सर्वप्रथम 'महत्' तत्त्व जिसे 'बुद्धि' भी कहते हैं, संसार के विस्तार में महत्त्वपूर्ण भूमिका निर्वाह करने के कारण जिसे 'महत्' कहा जाता है, संसार का मानो बीज रूप है, उसकी उत्पत्ति होती है।

'बुद्धि' जिसका स्वरूप ही निश्चयात्मक अथवा अध्यवसायात्मक होता है, प्रत्येक प्राणी में विद्यमान रहती है, स्वयं को तथा अपने सम्पर्क में आने वाले विषयों को प्रकाशित करती है। कारिकाकार ने इसके **चार सात्विक–** धर्म, ज्ञान, वैराग्य तथा ऐश्वर्य एवं **चार ताम–सिक–** अधर्म, अज्ञान, राग, अनैश्वर्य आदि कुल आठ भावों का उल्लेख किया है। इनमें से 'ज्ञान' के द्वारा उसका मोक्ष होता है, जो वस्तुतः हमें पुरुष का प्रतीत होता है।

जड़ात्मिका प्रकृति का कार्य होने के कारण 'बुद्धि' स्वयं तो जड़ है, किन्तु पुरुष से अत्यधिक निकटता के कारण उसके चैतन्य का प्रतिबिम्ब इसके ऊपर पड़ने से वह चेतन के समान प्रतीत होने लगती है। यह मेरा है अथवा यह मेरा नहीं है। यह मुझे करना है, यह मुझे नहीं करना है। इसप्रकार का निश्चय अथवा अध्यवसाय करना ही बुद्धि का कार्य है।

इन्द्रिय और मन का सम्पूर्ण व्यापार बुद्धि के लिए तथा बुद्धि का सम्पूर्ण व्यापार पुरुष के लिए होता है, जिसे कारिकाकार ने अनेकशः 'पुरुषार्थम्' पद का प्रयोग करके निर्दिष्ट किया है। सुख–दुःख आदि का अनुभव भी सर्वप्रथम बुद्धि को ही होता है। उसके बाद ही वह उसे पुरुष को प्रदान करती है, जिसका भोक्ता के रूप में पुरुष भोग करता है। यही बुद्धि अपने 'ज्ञान' रूप भाव द्वारा पुरुष और प्रकृति की भिन्नता का प्रदर्शन करती है। इसी के सहयोग से पुरुष स्वयं को प्रकृति से भिन्न तथा स्वतन्त्र मानता है, जो उसके अपवर्ग का मार्ग प्रशस्त करने वाला है।

अहंकार– 'महत्' तत्त्व से 'अहंकार' नामक दूसरे व्यक्त तत्त्व की उत्पत्ति होती है। मैं भोक्ता हूँ, मैं कर्ता हूँ, इत्यादि भ्रान्त धारणाओं के अन्तर्गत स्थित 'मैं' और 'मेरा' अभिमान करना ही इसका स्वरूप है। इन्द्रिय और मन स्वयं के द्वारा अनुभूत एवं चिन्तित विषयों को इसी अहंकार को प्रदान करते हैं। इसी कारण यह उन विषयों के साथ सम्बद्ध हो जाता है, जो सम्बद्धता अनेक प्रकार के अभिमानरूप में होती है, **जैसे–** मैं इसके लिए हूँ, मैं इस कार्य में समर्थ नहीं हूँ आदि।

सात्त्विक अहंकार– किसी भी कार्य की सम्पन्नता में अहंकार की भावना का अत्यधिक महत्त्व है। इसके अभाव में व्यक्ति किसी भी कार्य को करने में प्रवृत्त नहीं होगा। अतः 'अहं' की भावना ही संसार के सभी कार्यों एवं व्यवहारों का मूल है। कारिकाकार ने गुणों की विषमता के कारण अहंकार के तीन स्वरूपों का उल्लेख किया है–

(क) सात्त्विक (ख) तैजस् (ग) तामस् अथवा भूतादि। इनमें सात्त्विक अहंकार को ही **'वैकृत'** नाम भी दिया गया है। इसमें सत्त्वगुण की प्रधानता रहती है। इससे पाँच ज्ञानेन्द्रियाँ, पाँच कर्मेन्द्रियाँ और मन, ये कुल ग्यारह इन्द्रियाँ उत्पन्न होती है।

ज्ञान की साधक होने से इन्हें 'ज्ञानेन्द्रिय' कहा जाता है। इसकी संख्या पाँच है– नेत्रेन्द्रिय, श्रोत्रेन्द्रिय, घ्राणेन्द्रिय, रसेन्द्रिय तथा

त्वगेन्द्रिय, जो क्रमशः रूप, शब्द, गन्ध, रस और स्पर्श आदि विषयों को ग्रहण करती हैं। ये ज्ञानेन्द्रियाँ क्रमशः आँख, कान, नाक, जीभ और खाल अर्थात् त्वचा में निवास करती हैं। इनका केवल अनुमान के द्वारा ही ज्ञान होता है, कभी प्रत्यक्ष नहीं होता है।

इसी प्रसंग में यह भी ध्यातव्य है कि इन अंगों को ही इन्द्रियाँ नहीं मानना चाहिए, जिन अंगों में ये रहती हैं, उनसे तो इनकी केवल अभिव्यक्ति होती है। यही कारण है कि 'लकवा' आदि दोष होने पर उस–उस इन्द्रिय के दिखाई देने पर भी उस–उस इन्द्रिय की शक्ति नष्ट हो जाती है तथा वह अपने विषय को ग्रहण करने में असमर्थ रहती है, यही बात कर्मेन्द्रियों पर भी लागू होती है।

सात्त्विक अहंकार से उत्पन्न होने वाली कर्मेन्द्रियों की संख्या भी पाँच है– वाक्, पाणि, पाद, पायु और उपस्थ, ये क्रमशः मुख, हाथ, पैर, मलद्वार तथा जननेन्द्रिय में निवास करती हैं तथा बोलना, किसी वस्तु को पकड़ना, चलना, मल बाहर निकालना तथा सन्तान उत्पन्न करना एवं आनन्द प्रदान करना इत्यादि कार्यों को सम्पन्न करती हैं।

सांख्यदर्शन के अनुसार **'मन'** ग्यारहवीं इन्द्रिय है। इसकी उत्पत्ति भी सात्त्विक अहंकार से ही मानी गई है। यह ज्ञानेन्द्रिय और कर्मेन्द्रिय दोनों होने के कारण **उभयात्मक** होती है, क्योंकि इसका कार्य ज्ञानेन्द्रिय और कर्मेन्द्रिय दोनों को अनेक कार्यों में प्रवृत्त करना है। इन्द्रियों के साथ मन का तालमेल होने पर ही वे अपने विषयों को ग्रहण करने में सक्षम होती हैं, क्योंकि अनेक बार हम कोई वस्तु देख रहे होते हैं, कोई बात सुन रहे होते हैं, किन्तु मन की अन्यत्र स्थिति होने से वह हमें दिखाई नहीं देती, सुनाई नहीं देती है। इससे यह सिद्ध होता है कि मन से अधिष्ठित होने पर ही इन्द्रियाँ अपने–अपने कार्यों को करने में सक्षम होती हैं। इसीलिए इसे उभयात्मक कहा गया है– **उभयात्मकं मनः।**

(5) शब्द–स्पर्श–रूप–रस और गन्ध तन्मात्राओं के योग से **'पृथिवी'** की उत्पत्ति होती है।

इसीकारण 'आकाश' में केवल शब्दगुण विद्यमान रहता है। 'वायु' में शब्द और स्पर्श तथा 'अग्नि' में शब्द, स्पर्श और रूप गुण विद्यमान रहते हैं। इसीप्रकार जल में शब्द, स्पर्श, रूप और रस इन चार गुणों की उपस्थिति रहती है तथा पृथिवीरूप महाभूत में पाँचों गुण– शब्द, स्पर्श, रूप, रस और गन्ध स्थित रहते हैं। वस्तुतः ये पंचमहाभूत– आकाश, वायु, अग्नि, जल और पृथिवी क्रमशः शब्द, स्पर्श, रूप, रस और गन्ध इन विशिष्ट विषय रूप गुणों को धारण करने वाले होते हैं, फिर भी पूर्व–पूर्व के महाभूतों के गुण भी इनमें विद्यमान रहते हैं।

जैसे– यद्यपि जल का अपना विशिष्ट गुण रस है, किन्तु उसमें हमें शब्द, स्पर्श और रूप गुणों की भी प्रतीति होती है। हम उसकी कल–कल ध्वनि को सुन सकते हैं। उसका शीतल और उष्णरूप में स्पर्श होता है तथा उसे हम अपनी चक्षु इन्द्रिय द्वारा देख सकते हैं, यह प्रतीति उसमें स्थित रूप गुण के कारण ही सम्भव है तथा रस गुण का आभास तो हमारी रसेन्द्रिय द्वारा होता ही है।

यद्यपि इन महाभूतों से वृक्ष, पौधे, वनस्पति, घट, पट आदि पुनः उत्पन्न होते हैं तथापि सांख्य उन्हें पंचमहाभूतों के रूप में ही स्वीकार करके केवल तेईस व्यक्त पदार्थों को ही मान्यता प्रदान करता है। यही सांख्य की सृष्टिप्रक्रिया है,[1] जिसे कारिकाकार इसप्रकार प्रस्तुत करते हैं–

प्रकतेर्महांस्ततोऽहंकारस्तमाद् गणश्च षोडशकः।
तस्मादपि षोडषकात् पंचभ्यः पंचभूतानि।।22।।

सांख्य के अनुसार–महत् से लेकर पंचमहाभूतों तक कुल तेईस पदार्थ 'व्यक्त' कहलाते हैं। इनमें से महत्, अहंकार और पंचतन्मात्राएँ

---

[1]. द्रष्टव्य –उपोद्घात' में प्रयुक्त चित्र संख्या– 3 पृष्ठ, 31–32।

ये सात **प्रकृति और विकृति** दोनों होते हैं, क्योंकि प्रकृति से उत्पन्न होने के कारण महत्, **प्रकृति की विकृति** तथा अहंकार को उत्पन्न करने के कारण उसके लिए **प्रकृति** हुआ। ठीक इसीप्रकार अहंकार, महत् से उत्पन्न होने के कारण 'महत् की विकृति तथा पाँच ज्ञानेन्द्रियों, पाँच कर्मेन्द्रियों, मन और पंचतन्मात्राओं को उत्पन्न करने के कारण इन सबकी प्रकृति अर्थात् मूलकारण हुआ। ऐसे ही पंच तन्मात्राएँ 'तामस् अहंकार' से उत्पन्न होने के कारण उसकी 'विकृति' तथा पंचमहाभूतों को उत्पन्न करने के कारण उनकी 'प्रकृति' हुए।

किन्तु पंचकर्मेन्द्रियाँ, पंचज्ञानेन्द्रियाँ, मन तथा पंचमहाभूत ये सोलह पदार्थ **केवल विकृति** होते हैं, क्योंकि ये उत्पन्न तो होते हैं, किन्तु किसी को उत्पन्न करते नहीं हैं। इसी बात को कारिकाकार इसप्रकार कहते हैं–

मूलप्रकृतिरविकृतिर्महदाद्याः प्रकृतिविकृतयः सप्त।
षोडकस्तु विकारो न प्रकृतिर्न विकृतिः पुरुषः।।3।।

अभी हमने तन्मात्रसृष्टि का कथन किया। अब बुद्धि की सृष्टि का उल्लेख किया जाता है। इसी को **प्रत्ययसर्ग** अथवा भावसर्ग भी कहते हैं। धर्मादि आठ भावों से युक्त होकर ही बुद्धि उनसे युक्त सूक्ष्मशरीर की संरचना करती है। **भावसर्ग** में विपर्यय, अशक्ति, तुष्टि एवं सिद्धि ये चार परिगणित हैं, जिनके कुल पचास भेदों का उल्लेख कारिकाकार ने किया है।

अज्ञान या मिथ्याज्ञान को **'विपर्यय'** कहते हैं। तम, मोह, महा-मोह, तामिस्र एवं अन्धतामिस्र विपयर्य के पाँच भेद माने गए हैं, जिन्हें क्रमशः अविद्या, अस्मिता, राग, द्वेष और अभिनिवेशरूप में पंचक्लेशों के नाम से भी जाना जाता है। इन्द्रिय एवं बुद्धि की अपने विषय को ग्रहण करने की असामर्थ्य ही 'अशक्ति' है। कारिकाकार ने इसके अट्ठाईस भेदों का उल्लेख किया है, जिनमें ग्यारह इन्द्रियों के वध, नौ अतुष्टियाँ तथा आठ असिद्धियाँ परिगणित हैं। भौतिक विषयों से ही

संतुष्ट रहना **तुष्टि** है, जो प्रकृति, उपादान, काल एवं भाग चार आभ्यन्तर तथा विषयों के अर्जन, रक्षण, क्षय, भोग एवं हिंसा आदि दोषों से उत्पन्न पाँच बाह्य, कुल मिलाकर नौ हो जाती है।

परमपुरुषार्थ की प्राप्ति ही **सिद्धि** कहलाती है, जो अध्ययन, शब्द, ऊह, सुहृत्प्राप्ति, दान तथा त्रिविध दुःख की तीन प्रकार की निवृत्ति भेद से **आठ प्रकार** की होती है। ग्रन्थकार ने इनकी कारिका 46 से लेकर 51 तक विस्तृत चर्चा की है। अतः इनके विस्तृत अध्ययन के लिए इन कारिकाओं की लेखककृत 'चन्द्रिका' व्याख्या दर्शनीय है।

(5) **सांख्यदर्शन की प्रलयावस्था–** सांख्य में जिसप्रकार सृष्टि–प्रक्रिया का कथन हुआ है, उसीप्रकार प्रलय की स्थिति की भी कल्पना की गई है। यद्यपि कारिकाकार ने प्रत्यक्षतः इसका उल्लेख नहीं किया है। इसके अनुसार– प्रलय की अवस्था में प्रत्येक व्यक्त पदार्थ अपने–अपने कारण में लीन हो जाता है और अन्त में पुरुष एवं प्रकृति केवल दो तत्त्व शेष रहते हैं, क्योंकि सांख्य इन दोनों को ही नित्य मानता है।

इसप्रकार प्रलयकाल में सम्पूर्ण जगत् पंचमहाभूतों में तथा पंचमहाभूत जिस क्रम में उत्पन्न हुए थे, उसी क्रम में उलटे क्रम से अपने–अपने कारण सूक्ष्म तन्मात्राओं में विलीन होते जाते हैं। पंचतन्मात्राएँ अपने कारण तामस् अहंकार में तथा 5 ज्ञानेन्द्रियाँ 5 कर्मेन्द्रियाँ और मन ये सभी ग्यारह करण अपने कारण सात्त्विक अहंकार में समा जाते हैं और अहंकार अपने कारण 'महत्' में विलीन हो जाता है तथा अन्त में महत् अर्थात् बुद्धि भी अपने मूलकारण प्रकृति में समा जाती है और प्रकृति जो तीन गुणों की साम्यावस्था है, विराजमान रहती है तथा चेतन पुरुष भी शेष रहता है।

इसप्रकार प्रलयकाल में पुरुष और प्रकृति केवल दो पदार्थ ही शेष बचते हैं। इस अवस्था में भी प्रकृति के तीन गुणों में परिणाम होता रहता है, किन्तु वह विरूप–परिणाम न होकर सरूपपरिणाम होता है,

जिसमें ये केवल अपने प्रवाह में ही निरन्तर बहते रहते हैं। दूसरे शब्दों में, प्रलयावस्था में भी इन गुणों में गति बनी रहती है, किन्तु दूसरे गुणों के साथ इनका मिश्रण नहीं होता है। उल्लेखनीय है इस अवस्था में पुरुष का प्रकाश प्रकृति पर नहीं पड़ता है अर्थात् उनका संयोग नहीं होता है।

(6) **सांख्यदर्शन में सूक्ष्मशरीर–** अभी हमने तन्मात्रसृष्टि का निरूपण किया, इसी को **लिंगसर्ग** भी कहते हैं। इसके अतिरिक्त बुद्धि की सृष्टि का भी सांख्यदर्शन में उल्लेख हुआ है। इसी को प्रत्यय–सर्ग अथवा भाव–सर्ग भी कहा जाता है। कारिकाकार ने इसकी विस्तार से चर्चा करते हुए इसके कुल पचास भेदों का उल्लेख किया है (कारिका 43)। धर्म आदि भावों से युक्त होकर ही बुद्धि उनसे युक्त सूक्ष्मशरीर की संरचना करती है, क्योंकि लिंग की भावना अथवा सृष्टि इन्हीं के द्वारा सम्पन्न होती है। इसी कारण इन्हें **'भाव'** कहा जाता है। इनकी संख्या आठ मानी गई है– धर्म–अधर्म, ज्ञान–अज्ञान, विराग–राग, ऐश्वर्य–अनैश्वर्य आदि।

व्यक्ति अच्छा बुरा जो कुछ भी करता है, उसके परिणामस्वरूप बनने वाले संस्कारों को 'भाव' कहते हैं। ये संस्कार ही उत्तम अथवा निकृष्ट भोगों को प्रदान करते हैं। स्थूलशरीर का निर्धारण भी इसी संस्कार अथवा भावों के अनुसार होता है। इन भावों का आश्रय कौन है? इनकी कार्य प्रणाली क्या है? इसके लिए सांख्य ने एक सूक्ष्मशरीर अथवा **लिंगशरीर** की कल्पना की है।

इनके अनुसार– • सृष्टि के प्रारम्भ में प्रकृति, प्रत्येक पुरुष के लिए एक विशेष प्रकार का आवरण उत्पन्न करती है, जिसे सूक्ष्मशरीर कहते हैं, जो सृष्टिकाल से लेकर प्रलयकाल तक बना रहता है अथवा इसकी स्थिति पुरुष के मोक्ष प्राप्त करने के समय तक रहती है। इसी दृष्टि से इसे नियत तथा नित्य कहा जाता है। इसकी गति सर्वत्र होती है, यहाँ तक कि यह शिला में भी प्रविष्ट हो सकता है।

इसकी रचना मन, बुद्धि, अहंकार सहित दस इन्द्रियों और पाँच तन्मात्राओं कुल मिलाकर अट्ठारह तत्त्वों से होती है। कुछ विद्वानों ने इन तत्त्वों की संख्या सत्रह मानी है। उनकी दृष्टि में इसमें अहंकार का परिगणन करना उचित नहीं है, क्योंकि इसकी प्रतीति केवल अनुमान प्रमाण से सम्भव है।

किए गए कर्मों से निर्मित संस्कारों से युक्त होकर यह सूक्ष्म शरीर ही पूर्व–पूर्व स्थूल शरीर का परित्याग करने के पश्चात् अपने कर्मों के फलभोग के अनुरूप अलग–अलग प्रकार के नये स्थूलशरीर को धारण करता रहता है। केवल स्थूलशरीर, सूक्ष्मशरीर के अभाव में पुरुष के भोग का साधन नहीं हो सकता। इसीप्रकार सूक्ष्मशरीर भी स्थूल शरीर के बिना फलों के भोगों को प्राप्त नहीं कर सकता है। यद्यपि पुरुष को सुख–दुःख का अनुभव भी इसी सूक्ष्मशरीर के माध्यम से होता है, स्थूलशरीर से नहीं। ऐसा सांख्यसूत्रकार का मानना है।[1]

धर्म–अधर्म आदि आठ भावों से युक्त यह 'सूक्ष्मशरीर' पुरुष के भोगापवर्ग के सम्पादन के लिए नाना प्रकार के लोकों एवं योनियों में स्थूलशरीर को धारण करता हुआ संसरण करता है।[2] कुछ विद्वानों ने लिंग और सूक्ष्मशरीर को भिन्न माना है, जिसका औचित्य संदिग्ध प्रतीत होता है।

सूक्ष्मशरीर में बुद्धि की प्रधानता होती है। इसी कारण बुद्धि के आठ भाव यहाँ प्रभावी रहते हैं। इन्हीं आठ में से **'ज्ञान'** नामक भाव पुरुष के अपवर्ग का कारण बनता है। शेष सात भावों से भोग व बन्धन सम्पन्न होता है। सूक्ष्मशरीर कभी आश्रयरहित नहीं रहता है, स्थूल शरीर ही इसका आश्रय है। जब यह सूक्ष्मशरीर एक स्थूलशरीर का परित्याग करता है तो उसे छोड़ने के साथ–साथ ही अगले नूतन स्थूलशरीर का ठीक उसीप्रकार आश्रय ले लेता है, जिसप्रकार **'जोक'** नामक जीवविशेष किसी वस्तु के एक छोर को छोड़ने से पहले अगले तिनके का आश्रय ले लेता है।

---

[1]. सांख्यसूत्र– 3/4 ।

[2]. संसरति निरुपभोगं भावैरधिवासितं लिंगम्। सांख्यकारिका– 40।

(7) **सांख्यदर्शन में स्थूलशरीर–** जैसा कि पूर्व में उल्लेख किया गया कि सूक्ष्म शरीर की उत्पत्ति पुरुष का भोग–अपवर्ग सम्पादन करने के लिए हुई है, किन्तु वह स्वतन्त्ररूप से विषयों का उपभोग करने में समर्थ नहीं है। स्थूलशरीर के माध्यम से ही भोगापवर्ग की सिद्धि सम्भव है। स्थूलशरीर पंचमहाभूतों के योग से निर्मित होता है। इसी कारण इसका नेत्रेन्द्रिय आदि से प्रत्यक्ष सम्भव होता है।

इनकी संख्या अनन्त है, किन्तु योनि–भेद से इनका वर्गीकरण किया जा सकता है। जिनकी संख्या शास्त्रों द्वारा करोड़ों बताई गई है। अलग–अलग योनि में स्थित स्थूलशरीर का अलग–अलग प्रकार से निर्माण होता है, फिर भी यह प्रक्रिया कई दृष्टि से मिलती–जुलती है। यहाँ हम मनुष्य के स्थूलशरीर की रचना प्रक्रिया का उल्लेख कर रहे हैं। यद्यपि विद्वान् इस विषय में एक मत नहीं है।

बुद्धि के धर्म 'राग' के कारण रजोगुण की प्रेरणा से स्त्री–पुरुष का संगम होता है, जिससे गर्भाशय में स्त्री के रज और पुरुष के वीर्य का मिश्रण होता है। पहले माह में वात, पित्त, श्लेष के क्षोभ से चैतन्य युक्त **'कलल'** मात्र की उत्पत्ति होती है। दूसरे माह में वह 'कलल' **अर्बुद** अर्थात् माँस के लोदें के समान हो जाता है। उसके बाद उसमें अंगों की संरचना होती है।

आचार्य धन्वन्तरि गर्भ में शरीर के अंगों की रचना को एक साथ स्वीकार करते हैं, किन्तु आचार्य शौनक के अनुसार पहले सिर का निर्माण होता है। ऋषि मार्कण्डेय हाथ पैरों की रचना पहले मानते हैं। आचार्य पराशर्य ने गर्भ का पोषण, नाभि से होने के कारण नाभि की रचना सर्वप्रथम मानी है। कृतवीर्य, हृदय की रचना पहले स्वीकार करते हैं, क्योंकि हृदय से ही रक्त का संचार सारे शरीर में होता है, किन्तु आचार्य गौतम ने शरीर के मध्य भाग की संरचना सर्वप्रथम होती है, ऐसा स्वीकार किया है।

गर्भ में स्थित शिशु के रक्त, रोम और मांस का निर्माण माता के रज से होता है। हड्डी, स्नायु, और मज्जा पिता के वीर्य से बनते हैं। इन छः तत्त्वों से युक्त होने के कारण ही इस **स्थूलशरीर** को

षाट्कौषिक अर्थात् छः कोशों वाला कहा जाता है। यह शरीर ही शब्द, स्पर्श, रूप, रस, गन्ध आदि विषयों का उपभोग पुरुष को कराने में एक माध्यम का कार्य करता है, क्योंकि केवल सूक्ष्मशरीर के माध्यम से पुरुष के भोगापवर्ग की सिद्धि सम्भव नहीं है।

· (8) **सांख्यदर्शन में प्रमाण–** सांख्य एक प्रमेयशास्त्र है और सांख्यकारिका एक प्रकरणग्रन्थ, क्योंकि यहाँ सांख्य को अभिप्रेत पच्चीस पदार्थों की विस्तार से चर्चा की गई है। इन प्रमेय पदार्थों की सिद्धि के लिए प्रमाणों की आवश्यकता होती है।[1] अतः सांख्य ने केवल तीन प्रमाणों की आवश्यकता ही प्रतिपादित की है।[2] अलग–अलग दर्शन, प्रमाणों की भिन्न–भिन्न संख्या मानते हैं। **जैसे–**

'चार्वाक' केवल **'प्रत्यक्ष'** प्रमाण को मानता है। बौद्धदर्शन 'प्रत्यक्ष' और **'अनुमान'** दो प्रमाणों को मान्यता प्रदान करता है। न्याय और वैशेषिक प्रत्यक्ष, अनुमान, **उपमान** और **शब्द** इन चार प्रमाणों को मानते हैं। इसके अलावा 'मीमांसक' उक्त चार प्रमाणों के अतिरिक्त **'अर्थापत्ति'** प्रमाण को भी स्वीकार करते हैं। भाट्टमीमांसक और अद्वैतवेदान्ती उक्त पाँच प्रमाणों के साथ ही **'अभाव'** नामक प्रमाण को भी मान्यता प्रदान करते हैं तथा पौराणिकों ने **'सम्भव'** और **'ऐतिह्य'** दो अतिरिक्त प्रमाणों को स्वीकार करते हुए प्रमाणों की कुल आठ संख्या स्वीकार की है।

किन्तु सांख्य के मत में– इन्द्रियगोचर विषयों का ज्ञान 'प्रत्यक्ष' प्रमाण से होता है तथा कुछ अतीन्द्रिय विषयों का ज्ञान 'अनुमान' प्रमाण से होता है तथा जिनका अनुमान–प्रमाण से ज्ञान नहीं होता, ऐसे अतीन्द्रिय विषय अर्थात् परोक्ष विषयों का ज्ञान शब्द–प्रमाण द्वारा हो जाला है। इसलिए सम्पूर्ण ब्रह्माण्ड में स्थित सभी प्रकार के विषयों का ज्ञान केवल इन्हीं तीन प्रमाणों से हो जाता है, क्योंकि अन्य विद्वानों द्वारा बताए गए उपमान, अर्थापत्ति, अभाव, ऐतिह्य एवं सम्भव आदि

---

[1]. प्रमेयसिद्धिः प्रमाणाद्धि।

[2]. त्रिविधं प्रमाणमिष्टं, सर्वप्रमाणसिद्धत्वात्।

प्रमाणों का अन्तर्भाव इन्हीं तीन में होने के कारण सांख्य अधिक प्रमाणों को मान्यता प्रदान नहीं करता है।

उक्त अतिरिक्त प्रमाणों में से 'अभाव' प्रमाण सांख्य द्वारा स्वीकृत 'प्रत्यक्ष' प्रमाण में उपमान, अर्थापत्ति, सम्भव, और चेष्टा का 'अनुमान' में एतिह्य और सम्भव आदि का 'शब्द' प्रमाण में सहज ही अन्तर्भाव हो जाता है। अतः तीन प्रमाणों से अधिक को सांख्याचार्यों ने मान्यता प्रदान नहीं की है। अब हम यहाँ इन तीनों प्रमाणों का क्रमशः उल्लेख करेंगे–

(क) **प्रत्यक्षप्रमाण–** शब्द, स्पर्श, रूप, रस और गन्ध आदि सांसारिक विषयों के सम्पर्क में आने पर इन्द्रियों के माध्यम से बुद्धि में होने वाला 'निश्चयात्मक' ज्ञान ही प्रत्यक्ष प्रमाण कहलाता है।[1] 'विषयं' विषयं प्रति वर्तते, इस व्युत्पत्ति के अनुसार इन्द्रियाँ ही प्रतिविषय कहलाती हैं तथा इनके माध्यम से विषयों के सम्पर्क में आने पर शब्दादि विषयों का जो ज्ञान होता है, उसी को प्रत्यक्ष प्रमाण की श्रेणी में रखते हैं। यह ज्ञान बुद्धि के द्वारा होने के कारण निश्चयात्मक होता है। निश्चयात्मक कहने से संशय और मिथ्या दोनों प्रकार के ज्ञान का यहाँ निराकरण किया गया है।

प्रत्यक्ष की प्रक्रिया में सर्वप्रथम इन्द्रियाँ विषय के सम्पर्क में आकर तदाकार से आकारित हो जाती हैं तथा इसकी सूचना मन तक पहुँचाती हैं। यह सूचना 'यह कुछ है' इस रूप में होती है। मन, संकल्प–विकल्प द्वारा इसे नाम–गुण–जाति–क्रिया आदि की योजना सहित अहंकार को अर्पित कर देता है। अहंकार 'ये मेरे हैं' अथवा 'मेरे नहीं है', इसप्रकार के बोध के साथ बुंद्धि को प्रदान कर देता है। अन्त में बुद्धि 'तम' का तिरोधान और 'सत्त्व' का उद्रेक होने से उस विषय में निश्चयात्मक निर्णय करती है। यही बुद्धि का **अध्यवसाय** है, सांख्य ने इसे ही 'प्रत्यक्ष प्रमाण' की संज्ञा प्रदान की है।

इस प्रसंग में एक शंका की जा सकती है कि बुद्धि तो वस्तुतः जड़ प्रकृति का परिणाम होने के कारण 'अचेतन' है। अतः जड़ बुद्धि

---

[1] . प्रतिविषयाध्यवसायो द्रष्टम् ।

का परिणाम 'अध्यवसाय' भी जड़ होना चाहिए? इसका उत्तर है कि – यह जड़ बुद्धि, चेतन पुरुष का प्रकाश पड़ने से चेतन के समान प्रतीत होने लगती है और तभी यह विषय को ग्रहण करती है, ठीक दर्पण के समान, क्योंकि जड़ दर्पण भी चेतन प्रकाश के सहयोग से वस्तुओं को प्रकाशित करता ही है।

जैसे– यदि पुरुष को दीपक प्रकाशरूप माने तथा बुद्धि को दर्पण स्वीकार करें, तो निर्मल दर्पण में दीपक का प्रकाश पड़ने से जड़ दर्पण में भी अन्यान्य वस्तुएँ आलोकित हो उठती हैं। ठीक उसीप्रकार सात्त्विक बुद्धि में पुरुष के चैतन्य का प्रतिबिम्ब पड़ने से बुद्धि की वृत्ति प्रकाशित हो उठती है और उससे विषयों का निश्चयात्मक–ज्ञान हमें प्राप्त होता है। यही प्रत्यक्ष ज्ञान है, जिसे सांख्य प्रथम प्रमाणरूप में स्वीकार करता है। दैनिक जीवन में इसका सर्वाधिक प्रयोग होता है।

(ख) **अनुमानप्रमाण–** किसी चिह्न को देखकर वस्तु का अनुमान पूर्वक ज्ञान अनुमानप्रमाण कहलाता है।[1] ऐसी वस्तुएँ जो इन्द्रियों की पहुँच से बाहर होती हैं, का प्रत्यक्ष ज्ञान किसी लिंग अर्थात् चिह्न का सहयोग लेकर अनुमान प्रमाण द्वारा किया जाता है। इससे होने वाला ज्ञान भी तर्कपद्धति पर आधारित होने से निश्चयात्मक ही होता है।

जैसे– दूर पर्वत पर धुआँ उठता देखकर कोई कहे कि यह पर्वत अग्नि वाला है। पर्वत दूर होने के कारण यद्यपि उसे अग्नि प्रत्यक्षरूप से दिखाई नहीं दे रही है, फिर भी **'पर्वतोऽयं वह्निमान्'** ऐसा निश्चयात्मक ज्ञान, अनुमान प्रमाण से ही सम्भव है। इसमें **पंचावयव वाक्यों** की आवश्यकता पड़ती है–

1. **प्रतिज्ञावाक्य–** यह पर्वत अग्निवाला है
2. **हेतुवाक्य–** धूमवाला होने से।
3. **उदाहरणवाक्य–** जो–जो धूमवाला होता है, वह अग्निवाला होता है। **जैसे–** रसोईघर में।
4. **उपनय–** वैसा ही धूमवाला यह पर्वत भी है।

---

[1] तल्लिंगलिंगिपूर्वकम् ।

5. **निगमन–** इसलिए यह पर्वत भी वैसा अर्थात् अग्निवाला है।

यहाँ अग्नि साध्य है और धूम हेतु अर्थात् लिंग। चार्वाक को छोड़कर अन्य सभी दर्शनों ने इस प्रमाण को मान्यता प्रदान की है। इसका दैनिक जीवन में अपेक्षाकृत कम प्रयोग होता है। यह तीन प्रकार का होता है।[1] **पूर्ववत्, शेषवत्** और **सामान्यतोदृष्ट**, जिनका हम यहाँ विस्तार से उल्लेख कर रहे हैं–

(अ) **पूर्ववत् अनुमान–** जिसमें हेतु का, विषय अथवा साध्य में व्याप्त होना पहले ही विशेषरूप से देखा जा चुका है, पूर्ववत् अनुमान कहलाता है। **जैसे–** धुएँ को देखकर पर्वत आदि में अग्नि का अनुमान करना। यहाँ साध्यरूप अग्नि और उसके हेतु रूप धुएँ का साहचर्य रसोईघर में पहले से देखकर हम विशेषरूप से निश्चय कर चुके हैं। अतः यह पूर्ववत् अनुमान हुआ।

(ब) **शेषवत् अनुमान–** जहाँ 'साध्य' की सिद्धि केवल व्यतिरेक व्याप्ति वाले 'हेतु' द्वारा की जाए, वहाँ शेषवत् अनुमान होता है। **जैसे–** जीवित शरीर आत्मा से युक्त होता है, क्योंकि वह प्राणवान् है। यहाँ 'प्राणवान' रूप हेतु, जो आत्मायुक्त नहीं है, वह प्राणवान् भी नहीं है– **जैसे–** घट। इस व्यतिरेक व्याप्ति से युक्त है।

जो प्राणवान होता है, वह आत्मायुक्त होता है' इस अन्वयरूप व्याप्ति का प्रदर्शन यहाँ सम्भव नहीं है, क्योंकि सम्पूर्ण जीवित शरीर यहाँ पक्ष है, जिनमें हम आत्मा को सिद्ध करना चाहते हैं। इसलिए उन्हें उदाहरणरूप में प्रस्तुत नहीं किया जा सकता । अतः यह केवल व्यतिरेक हेतु कहा जाएगा और इसप्रकार के हेतु द्वारा कराया गया निश्चयात्मकज्ञान अर्थात् साध्य की सिद्धि शेषवत् अनुमान की श्रेणी में आएगी।

(स) **सामान्यतोदृष्ट अनुमान–** जहाँ विषय अथवा साध्य और हेतु अथवा साधन का साहचर्य पूर्ववत् अनुमान के समान विशेषरूप से

---

[1] . त्रिविधमनुमानमाख्यातम् ।

रसोई घर आदि में ही न देखा जाकर, सामान्यरूप से सर्वत्र देखा जाए, वहाँ सामान्यतो दृष्ट अनुमान कहलाता है। **जैसे–** किसी कार्य को देखकर कारण का अनुमान।

कारण और कार्य का नित्य साहचर्य सर्वत्र देखा जाता है **जैसे–** घड़े रूप कार्य को देखकर उसके कारणरूप कुम्हार का अनुमान। इसीप्रकार वस्त्र को देखकर उसके निर्माता जुलाहे का अनुमान। सृष्टि को देखकर उसके स्रष्टा ईश्वर का अनुमान आदि सामान्यतोदृष्ट अनुमान की श्रेणी में आएँगे। इनमें भी अन्वय–व्यतिरेक व्याप्ति के आधार पर पूर्ववत् अनुमान को **'केवलान्वयी'** तथा शेषवत् अनुमान को **केवलव्यतिरेकी** एवं सामान्यतोदृष्ट को **अन्वय–व्यतिरेकी** अनुमान भी कहा जाता है। अनुमान विषयक उपर्युक्त विवेचन को इसप्रकार भी सरलतापूर्वक प्रस्तुत कर सकते हैं–
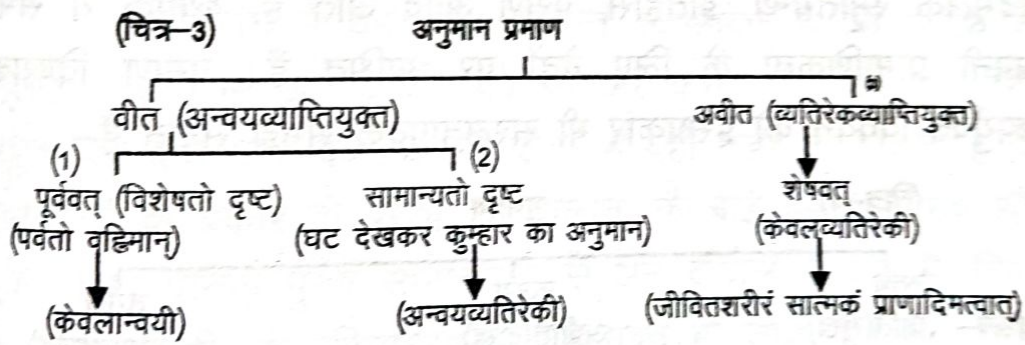
कुछ विद्वान् इन अनुमानों को पहले **वीत** और **अवीत** दो श्रेणियों में विभाजित करते हैं। पुनः वीत के पूर्ववत् और सामान्यतोदृष्ट दो भेद तथा अवीत के अन्तर्गत केवल 'शेषवत्' अनुमान की गणना करते हैं, इसे भी समीचीन कहा जा सकता है। समझने में जो सरल प्रतीत हो हमारे विचार से उसे स्वीकार कर लेना चाहिए।

(ग) **शब्दप्रमाण–** इसे 'आगम' अथवा 'आप्त प्रमाण' भी कहते हैं। इसके अन्तर्गत प्रामाणिक अथवा यथार्थ बात कहने वाले व्यक्ति अथवा शास्त्रों में कहे गए 'वाक्य' आते हैं, जिनमें किसी वस्तु, व्यक्ति, घटना आदि का ज्ञान होता है। यह ज्ञान भी निश्चयात्मक होने से

प्रमाण की कोटि में आता है। नास्तिक दर्शनों को छोड़कर सभी दर्शनों ने वेदों को आप्तप्रमाण की श्रेणी में रखा है।[1]

'जो वस्तु जैसी है, उसे वैसी ही बताने वाला व्यक्ति 'आप्त पुरुष' कहलाता है। अतः आप्तव्यक्ति द्वारा कहे गए वाक्यों से उत्पन्न होने वाला ज्ञान ही आप्तश्रुति है, जो शब्दप्रमाण की कोटि में आता है। अपौरुषेय वेदवाक्यों से भी स्वतन्त्ररूप से यथार्थज्ञान होता है। अतः उन्हें भी शब्द या आगमप्रमाण माना गया है।

वाक्य या शब्द से उत्पन्न ज्ञान दो प्रकार का होता है–1. **स्वतःप्रमाण** और 2. **परतः प्रमाण**। प्रत्यक्ष अथवा अनुमान प्रमाणों के सहयोग के बिना ही एकमात्र वेदवाक्य से उत्पन्न ज्ञान 'स्वतःप्रमाण' कहलाता है, जबकि अपने अर्थ की पुष्टि के लिए जिसे प्रमाणान्तर की अपेक्षा हो, वह परतःप्रमाण की श्रेणी में गिना जाएगा। इसके अन्तर्गत वेदमूलक स्मृतिग्रन्थ, इतिहास, पुराण आदि आते हैं, क्योंकि ये सभी अपनी प्रामाणिकता के लिए वेदों पर आश्रित हैं। प्रमाण विषयक उपर्युक्त विवेवन को इसप्रकार भी सरलतापूर्वक समझ सकते हैं–

(चित्र–4)
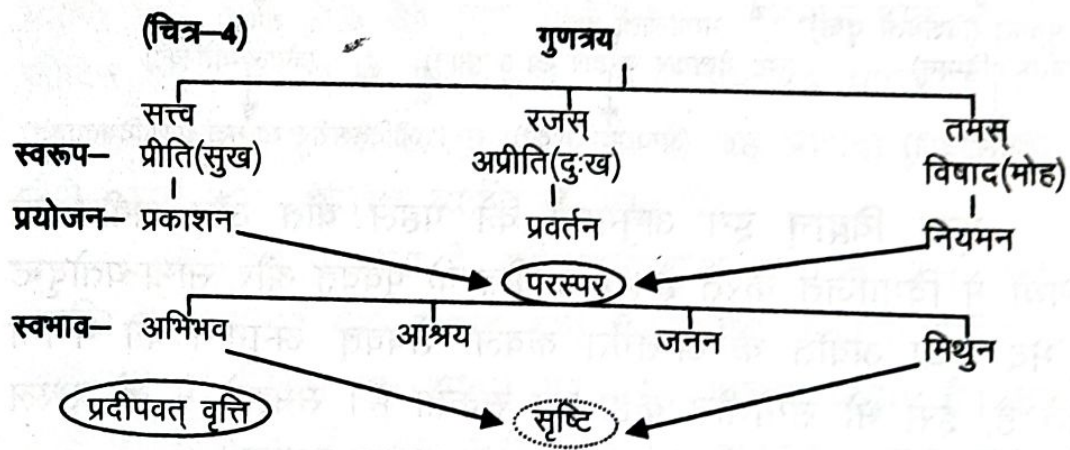
(9) **पुरुष–बहुत्व–** सृष्टि की अवस्था में सांख्य अनेक पुरुषों के अस्तित्व को स्वीकार करता है, यही सांख्य का 'पुरुष–बहुत्व' का सिद्धान्त कहलाता है। इसके अनुसार जितने जीव हैं, उतने ही पुरुष होते हैं। यही कारण है कि उनका जन्म एवं मरण एक साथ नहीं होता

---

[1]. आप्तश्रुतिः आप्तवचनं तु।

है। इनका बोलना, चलना, ग्रहण करना आदि क्रियाएँ भी एक साथ नहीं होती हैं। यदि पुरुष एक होता, तो ये सभी बातें सभी में एक साथ दिखाई देनी चाहिए थीं, किन्तु ऐसा नहीं होता है। अतः पुरुषों की संख्या एक नहीं अनेक माननी चाहिए–

जननमरणकरणानां प्रतिनियमादयुगपत्प्रवृत्तेश्च।
पुरुषबहुत्वं सिद्धं त्रैगुण्यविपर्ययाच्चैव।। 18।।

जो विविधताएँ हमें दृष्टिगोचर होती हैं, उसका सबसे बड़ा कारण प्रत्येक जीव में सत्त्व, रजस् और तमोगुण का अलग–अलग अनुपात में नियोजन है। हमें पुरुषबहुत्व के सिद्धान्त को इसलिए भी स्वीकार करना होगा, क्योंकि अनेक जीवों के मुक्त हो जाने पर भी इस समय अनेक जीव बद्धरूप में इस संसार में विराजमान रहते हैं। अतः उनकी संख्या एक नहीं, अपितु अनन्त है।

इस प्रसंग में यह शंका अत्यन्त स्वाभाविक है कि सांख्य तो मूलतः एक पुरुष और प्रकृति को स्वीकार करता है, फिर यह पुरुष बहुत्व की बात भला क्यों? इसके उत्तर में यही कहा जा सकता है कि सांख्य में दो प्रकार के पुरुषों की कल्पना की गई है– बद्धपुरुष और मुक्तपुरुष। प्रत्येक पुरुष सामान्यरूप से अनादिकाल से बद्ध है, किन्तु शास्त्रज्ञान आदि के परिणामस्वरूप वह मुक्त हो जाता है। अतः पुरुष बहुत्व की कल्पना बद्धपुरुष के विषय में चरितार्थ होती है, मुक्तपुरुष के विषय में नहीं। सम्पूर्ण संसार की सृष्टि के मूलकारण प्रकृति का संयोग भी बद्धपुरुष के साथ ही होता है, मुक्त से नहीं।

प्रलयकाल की अवस्था में कोई भी बद्धपुरुष शेष नहीं रहता, अपितु एक मात्र चेतन, साक्षीस्वरूप, तेजोरूप एक पुरुष ही बचता है। सृष्टि की स्थिति में ज्ञान के अनन्तर मुक्तपुरुष भी इस तेजोमयरूप सम्पन्न चेतनपुरुष में लीन हो जाते हैं और बद्धपुरुष संसार में संसरण करते रहते हैं।

प्रकृति और पुरुष के सम्बन्ध का मुख्य प्रयोजन भी पुरुष को 'कैवल्य' अर्थात् मोक्ष की प्राप्ति कराना है। अतः सांख्य का पुरुषबहुत्व

का सिद्धान्त बद्धपुरुष के ऊपर लागू होता है, मुक्त पर नहीं। उपर्युक्त विवेचन को इसप्रकार भी सरलतापूर्वक प्रस्तुत कर सकते हैं–
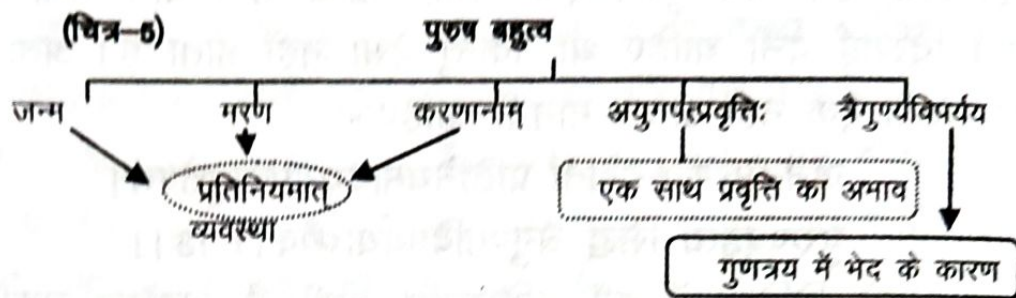
(10) **सांख्यदर्शन में बन्धन–** सांख्य मुख्यरूप से दो तत्त्वों को मान्यता प्रदान करता है-- पुरुष और प्रकृति। पुरुष–निर्गुण, निष्क्रिय, देश, काल आदि के बन्धनों से रहित पूर्णतया शुद्धचैतन्यस्वरूप है। वह तो केवल द्रष्टा मात्र होता है, जबकि गुण, क्रिया आदि का सम्बन्ध प्रकृति से होता है। धर्म–अधर्म आदि बुद्धि के धर्म ही मनुष्य को कार्यों में प्रवृत्त करते हैं। इसकारण सुख–दुःख आदि भी बुद्धि के धर्म हैं, आत्मारूप पुरुष के नहीं, वह तो इन सबसे पूर्णतया मुक्त, नित्य एवं एकरस होता है।

किन्तु 'अज्ञान' के कारण जब यह पुरुष बुद्धि आदि से स्वयं को अलग न मानते हुए, उसके सभी धर्मों को अपने ऊपर आरोपित कर लेता है। यही 'अज्ञान' अथवा 'अविवेक' उसके बन्धन का कारण बन जाता है।

प्रकृति जड़ है, अतः उससे उत्पन्न होने वाली 'बुद्धि' का भी जड़ होना स्वाभाविक है। इसके विपरीत पुरुष चेतन है, निसंग है, किन्तु स्वभाववश वह प्रकृति के सभी धर्मों को अपना ही समझता है। बुद्धि जो भी सुख अथवा दुःख अनुभव करती है, उस सबको पुरुष स्वयं के ऊपर ले लेता है, अपने मान लेता है। अतः स्वयं को ही सुखी अथवा दुःखी मानता है।

ठीक उसीप्रकार जैसे कोई स्वामी अपने सेवक के अपमान को अपना मान लेता है। पिता, पुत्र के सम्मानित होने पर स्वयं को सम्मानित अनुभव करता है। बस यही अज्ञान पुरुष के बन्धन का कारण है। यों तो सांख्य की दृष्टि में वस्तुतः पुरुष का बन्धन होता ही

नहीं है। अतः उसका मोक्ष भी कैसे सम्भव है, क्योंकि बन्धन, मोक्ष अथवा संसरण तो प्रकृति का ही होता है, जिसका कारिकाकार ने स्पष्टरूप से उल्लेख किया है–

तस्मान्न बध्यतेऽद्धा न मुच्यते नापि संसरति कश्चित्।
संसरति बध्यते मुच्यते च नानाश्रया प्रकृतिः।।62।।

यह त्रिगुणात्मिका प्रकृति स्वयं के सात रूपों– धर्म–अधर्म अज्ञान, राग–विराग, ऐश्वर्य–अनैश्वर्य के द्वारा स्वयं का ही बन्धन करती है–

रूपैः सप्तभिरेव तु बध्नात्यात्मानमात्मना प्रकृतिः।।63।।

प्रकृति के इन सात रूपों में भी 'अज्ञान' सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण भूमिका निर्वाह करता है। इसीकारण एकमात्र ज्ञान के द्वारा प्रकृति सभी बन्धनों से मुक्त हो जाती है।[1] सांख्य की इस बन्धन प्रक्रिया को संक्षेप में इसप्रकार भी समझा जा सकता है–

सृष्टि का मुख्य प्रयोजन भोग एवं अपवर्ग की सिद्धि है, क्योंकि सम्पूर्ण सांख्य में भोग एवं अपवर्ग, इन दो को ही पुरुषार्थ माना गया है। इनमें भी भोग, अपवर्ग का साधन है, जिसकी सिद्धि के लिए सृष्टि के प्रारम्भ में प्रत्येक जीव के लिए अलग–अलग सूक्ष्मशरीर की व्यवस्था की गई है तथा प्रत्येक सूक्ष्मशरीर के साथ समुद्र की बूँद के समान पुरुषरूप समुद्र का एक अंश विद्यमान रहता है। सूक्ष्मशरीर में यों तो अट्ठारह तत्त्व सूक्ष्मरूप में विद्यमान रहते हैं, किन्तु प्रधानता बुद्धितत्त्व की ही होती है। यह बुद्धि अपने धर्म–अधर्म आदि आठ भावों से युक्त होती है तथा पुरुष के साथ इतनी अधिक जुड़ी होती है कि उसका चैतन्य इसमें आभासित होता है और यह जड़ होते हुए भी चेतनवत् प्रतीत होती है। पुरुष भी इसके लिए किए गए प्रत्येक कार्य को अज्ञानवश अपना मानता है।

पुरुष से अधिष्ठित यही सूक्ष्मशरीर भोगापवर्ग की सिद्धि के लिए बुद्धि के धर्म–अधर्म आदि भावों के अनुसार विभिन्न योनियों में

---

[1] सैव च पुरुषार्थं प्रति विमोचयत्येकरूपेण।

स्थूल शरीर धारण कर भोगादि सम्पन्न करता है और पुरुष अज्ञानवश उन्हें अपना मान लेता है, जिससे उन कर्मों से होने वाला पाप–पुण्य आदि का पुरुष द्रष्टा न होकर भोक्ता हो जाता है, जिनके भोग के लिए वह अग्रिम जन्म में पुनः किसी योनि में स्थूलशरीर धारण करके पूर्वजन्म में किए कर्मफलों को भोगता है तथा अग्रिम जन्म के लिए अनेक कर्मों को करता है। यह प्रक्रिया अनेक जन्मों तक प्रलयकाल पर्यन्त चलती रहती है। सूक्ष्मशरीर के अट्ठारह तत्त्वों को हम इसप्रकार समझ सकते हैं–
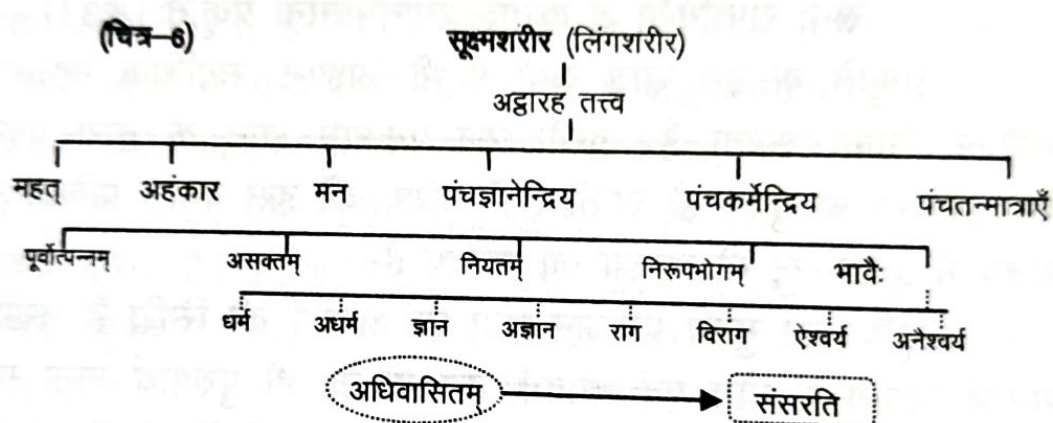
इसप्रकार इस सम्पूर्ण बन्धनप्रक्रिया के मूल में पुरुष का यही अज्ञान रहता है कि वह सूक्ष्मशरीर के रूप में स्थित प्रकृति के सभी कर्मों एवं कर्म–फलों को अपना मानता रहता है, जबकि वे सब उसके होते नहीं हैं। इसी कारण उसे एक शरीर से दूसरे शरीर में जाना पड़ता है और वह मुक्त नहीं होता। प्रलयावस्था अथवा ज्ञान ही उसकी मुक्ति का कारण होता है।

(11) **सांख्यदर्शन में मोक्ष** (कैवल्य)– अभी हमने बताया कि बन्धन एवं मोक्ष जो प्रत्यक्षतः पुरुष के प्रतीत होते हैं, पुरुष के नहीं होते, अपितु जड़ात्मिका प्रकृति के होते हैं।[1] पुरुष तो प्रकृति के बन्धन और मोक्ष की लीला का द्रष्टामात्र होता है। इसी कारण उसे 'साक्षी' भी कहा जाता है। प्रकृति ही अपने कार्य बुद्धि के सात धर्मों– अज्ञान, धर्म–अधर्म, राग–विराग, ऐश्वर्य–अनैश्वर्य के द्वारा स्वयं का बन्धन

---

[1]. संसरति बध्यते मुच्यते च नानाश्रया प्रकृतिः ।

करती है और बुद्धि के ही 'ज्ञान' नामक धर्म से स्वयं को मुक्त कर लेती है।

वस्तुतः प्रकृति और पुरुष दोनों भिन्न–भिन्न तत्त्व हैं। इसप्रकार सद्गुरु के निर्देश एवं शास्त्र के निरन्तर चिन्तन, मनन एवं निदिध्यासन आदि द्वारा व्यक्ति में एक प्रकार का बोध अर्थात् ज्ञान जाग्रत होता है, जिससे उसे व्यक्त महत् आदि तेईस पदार्थ, अव्यक्त प्रकृति और ज्ञ पुरुष की अलग–अलग प्रतीति होती है।

वह समझ लेता है कि क्रियाशीलता गुणों में है, पुरुष में नहीं। उसकी अधिष्ठात्री प्रकृति है, पुरुष नहीं। बुद्धि, अहंकार और मन सहित त्रयोदश अन्तःकरण प्रकृति के हैं, मेरे नहीं। संशय एवं मिथ्याज्ञान से रहित यह सम्यक् ज्ञान ही पुरुष के **'कैवल्य'** का कारण है।

इस सम्यक्ज्ञान के जाग्रत होने पर पुरुष, प्रकृति के सम्पूर्ण क्रियाकलापों को कमल के पत्ते पर पड़ी बूँद के समान पूर्णतया असम्पृक्त होकर देखता रहता है, जिसे कारिकाकार ने प्रेक्षक के समान कहा है–

प्रकृतिं पश्यति पुरुषः प्रेक्षकवदवस्थितः सुस्थः।।65।।

परिणामस्वरूप उस पुरुष के प्रति प्रकृति के क्रियाकलाप समाप्त हो जाते हैं। उसके सामने प्रकृति का केवल ज्ञानात्मक स्वरूप ही शेष रहता है। पुरुष का यह दर्शन ही वस्तुतः विवेक है, ज्ञान है अथवा सम्यक् ज्ञान है, जिसके उत्पन्न होने पर सृष्टि की कोई उपयोगिता नहीं रहती है और प्रकृति भी इसके समक्ष यह सोचकर अपने प्रपंच का विस्तार नहीं करती कि इसके द्वारा मैं देख ली गई हूँ, अतः उससे विरत हो जाती है।

सम्यक् ज्ञान होने के पश्चात् व्यक्ति को धर्म, ज्ञान, विराग और ऐश्वर्य आदि सात्त्विकभावों की प्राप्ति अनायास ही हो जाती है, किन्तु वह षाट्कौशिक स्थूलशरीर को पूर्वजन्मों के कर्मों के संस्कारवश उसीप्रकार धारण किए रहता है। **जैसे–** कुम्हार के द्वारा चलाया गया चाक, चलाना बन्द कर देने पर भी स्वतः ही चलता रहता है। इस अवस्था में व्यक्ति **'जीवनमुक्त'** कहलाता है। वह दैनिक क्रियाओं को करता हुआ भी उनसे पूर्णतया असम्पृक्त रहता है।

पुनः प्रारब्धकर्मों के भोगों के अनन्तर इसके षाट्कौशिक शरीर के पात हो जाने पर, इसे ऐकान्तिक एवं आत्यन्तिक मुक्ति मिल जाती है। इसका सूक्ष्म शरीर भुने हुए बीज में समान पुनः संस्काररूप अंकुरों के उत्पादन में समर्थ नहीं होता है। परिणामस्वरूप ज्ञान की अग्नि में जल कर नष्ट हो जाता है। बिन्दुरूप पुरुष अपने समुद्र स्वरूप विराट् अंश में विलीन हो जाता है, जिसके परिणामस्वरूप उसका पुनर्जन्म अथवा लोक–लोकान्तर में संसरण नहीं होता। यही सांख्य की 'कैवल्य' अवस्था अथवा मोक्ष है, जिसे कारिकाकार ने इसप्रकार प्रतिपादित किया है–

प्राप्ते शरीरभेदे चरितार्थत्वात् प्रधानविनिवृत्तौ।
ऐकानितकमात्यन्तिकमुभयं कैवल्यमाप्नोति।।68।।

(12) **सांख्यदर्शन में सत्कार्यवाद**– सत्कार्यवाद सांख्यदर्शन का महत्त्वपूर्ण सिद्धान्त है। इसके अनुसार– कार्य अपने कारण में सूक्ष्मरूप से विद्यमान रहता है। सृष्टि की स्थिति में वह उसकी केवल अभिव्यक्ति होती है, जबकि प्रलयकाल में यह अपने कारण में ही विलीन हो जाता है। यह सिद्धान्त वस्तुतः सांख्यदर्शन की रीढ़ की हड्डी कहा जा सकता है, क्योंकि यह दर्शन इसी के सिद्धान्त के ऊपर टिका हुआ है।

तदनुसार– सृष्टि की अवस्था में कारणरूप प्रकृति से महत् आदि व्यक्त पदार्थ इसीलिए उत्पन्न होते हैं, क्योंकि वे अपने कारण प्रकृति में पहले से विद्यमान रहते हैं, सृष्टि तो उनकी अभिमात्र है। प्रलय की अवस्था में प्रत्येक कार्य अपने–अपने कारण में विलीन होता रहता है तथा अन्त में सभी का मूलकारण प्रकृति ही शेष रहती है, क्योंकि वह किसी का कार्य अर्थात् विकृति नहीं होती है। इस सिद्धान्त की सिद्धि के लिए कारिकाकार ने पाँच तर्कों को प्रस्तुत किया है–

(क) **असत् अकरणात्**– यदि इस सिद्धान्त को स्वीकार न किया जाए, तो प्रत्येक वस्तु में असत् वस्तु को जो उसमें विद्यमान नही है, उत्पन्न करने की क्षमता होनी चाहिए, किन्तु व्यवहार में ऐसा नहीं होता है। जैसे– व्यक्ति को तेल प्राप्त करने के लिए तिल, सरसों आदि को लेना ही पड़ता है, वह कभी भी रेत से तेल को प्राप्त नहीं कर सकता है, क्योंकि वह इस बात से सर्वथा विदित होता है कि रेत

से असत् वस्तु तेल की प्राप्ति असम्भव है। इसीलिए सत्कार्यवाद का सिद्धान्त मानना उचित है।

(ख) **उपादान ग्रहणात्**– किसी भी वस्तु के निर्माण के लिए उसके मूल कारण अर्थात् उपादान को ग्रहण करना आवश्यक है। जैसे– घड़ा बनाने के लिए उसका मूल उपादान कारण मिट्टी लेना अनिवार्य है, क्योंकि इसके अभाव में घड़े का निर्माण सम्भव नहीं है। इसीप्रकार मेज बनाने के लिए लकड़ी, मकान बनाने के लिए ईंट, लोहा, सिमेन्ट आदि उपादान कारण को ही ग्रहण किया जाता है। जिसमें उस कार्य को उत्पन्न करने की क्षमता होती है, दूसरी किसी वस्तु को इसके लिए स्वीकार नहीं किया जाता है। इसीप्रकार दही प्राप्त करने के लिए उसका उपादान दूध लिया जाता है, क्योंकि दूध में दही पहले से ही विद्यमान है, इसके अलावा दूसरी किसी वस्तु से दही की प्राप्ति असम्भव है।

(ग) **सर्वसम्भव अभावात्**– सत्कार्यवाद के सिद्धान्त को न मानने पर प्रत्येक वस्तु से प्रत्येक वस्तु को मानना होगा। **जैसे**– तेल, रेत, चावल, गेहूँ, मिट्टी आदि सभी पदार्थों से प्राप्त हो जाना चाहिए, किन्तु ऐसा नहीं होता है, क्योंकि कारण में पहले से ही कार्य विद्यमान रहता है। इसीलिए निश्चित कारण से ही निश्चित कार्य की उत्पत्ति होती है। सभी से सभी कार्यों की उत्पत्ति नहीं होती है। अतः उत्पत्ति से पहले कार्य को कारण में स्थिति मानना अर्थात् सत्कार्यवाद को स्वीकार करना उचित है।

(घ) **शक्तस्य शक्यकरणात्**– कार्य विशेष को उत्पन्न करने की शक्ति रखने वाला, शक्त कारण ही, जिसमें कार्य को उत्पन्न करने की सामर्थ्य विद्यमान है, उस शक्य कार्य को उत्पन्न करता है। जैसे– तिलों में ही तेल उत्पन्न करने की शक्ति होती है, रेत में नहीं। अतः तेलरूप कार्य को उत्पन्न करने की शक्ति रखने के कारण 'तिल' ही शक्त कारण हुआ, जो तेलरूप शक्य कार्य को ही उत्पन्न करता है।

इस सिद्धान्त को न मानने पर एक ही वस्तु से असम्बद्ध अनेक वस्तुओं की उत्पत्ति माननी होगी, किन्तु ऐसा नहीं होता है। इसलिए कारण और कार्य में शक्त तथा शक्य के सम्बन्ध को स्वीकार

करना ही होगा, जिससे सत्कार्यवाद का सिद्धान्त ही सत्य सिद्ध होता है।

(ङ) **कारण भावात्**– वस्तुस्थिति यह है कि कारण से अलग कार्य उसी का एक रूप होता है, क्योंकि कारण ही विकसित रूप में कार्य है तथा कार्य ही अविकसित रूप में कारण होता है। यही कारण है कि कारण के गुण कार्य में विद्यमान रहते हैं। जैसे– मूल प्रकृति में सुखदुःखमोहात्मक सत्त्व, रजस् और तमस् ये तीन गुण विद्यमान रहतें हैं। इसलिए उससे उत्पन्न होने वाले व्यक्त जगत् में ये तीनों गुण स्थित हैं, क्योंकि जगत् के सभी पदार्थ सुखदुःखमोहात्मक होते हैं।

यदि हम सूक्ष्मदृष्टि से विचार करें तो कारण एवं कार्य परस्पर सापेक्ष प्रतीत होते हैं, क्योंकि किसी को कार्य तभी कहा जाता है, जब उसका कोई कारण होता है तथा कारण की अपेक्षा से ही उसे कार्य स्वीकार करते हैं। इन दोनों को एक ही वस्तु के दो पहलू भी कहा जा सकता है। इसीलिए सत्कार्यवाद का सिद्धान्त मान्य है। इस अभिप्राय को हम संक्षेप में इसप्रकार भी समझ सकते हैं–

(चित्र–7)
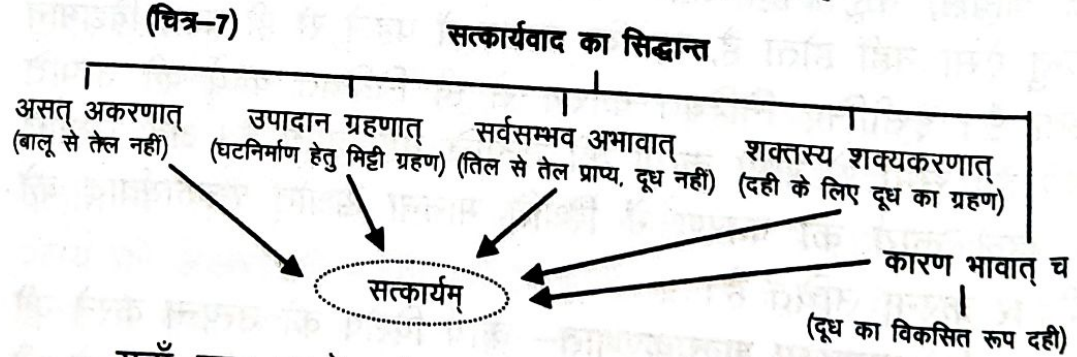
यहाँ तक हमने सांख्यदर्शन के इतिहास एवं इसके सिद्धान्तों के विषय में विस्तारभय से संक्षेप में उल्लेख किया। इससे अधिक गहन अध्ययन के लिए लेखककृत सांख्यकारिका की 'चन्द्रिका' व्याख्या अवलोकनीय है। इसके बाद अग्रिम अध्याय में योगदर्शन के विषय में विवेचन प्रस्तुत करेंगे।

•••

योग–दर्शन

1. **योगदर्शन का नामकरण–** 'युज्यते अनेनेति, योगः' इस व्युत्पत्ति के अनुसार √युज् धातु से 'करण' अर्थ में 'घञ्' प्रत्यय करने पर 'योगः' शब्द निष्पन्न होता है। पाणिनि ने धातुपाठ में √युज् धातु का तीन बार प्रयोग करते हुए, इसके क्रमशः समाधि, योग और संयमन, इन तीन अर्थों का उल्लेख किया है।[1] यहाँ प्रयुक्त 'समाधि' पद वस्तुतः 'स्थिरता' एवं 'संयमन' शब्द स्थिरता के उपाय की ओर संकेत करता प्रतीत होता है। इसका अभिप्राय यही हुआ कि आचार्य पाणिनि भी यहाँ √युज् धातु से निर्मित 'योग' पद को मन की स्थिरता, उसके उपाय तथा परिणामरूप में उसकी एकाग्रता को स्वीकार करने के पक्षधर हैं, जिसे ग्रन्थकार ने अपने योगसूत्र में ज्यों का त्यों ग्रहण कर लिया है, क्योंकि उन्होंने भी योग को परिभाषित करते हुए[2] इसके धारणा, ध्यान और समाधि तीन महत्त्वपूर्ण अंगों को **'संयम'** संज्ञा प्रदान की है।[3] इस दर्शन में 'संयम' का अत्यधिक महत्त्व रहा है, जिसका हम आगे विस्तार से उल्लेख करेंगे।

इसप्रकार आचार्य पाणिनि के धातुपाठ के अन्तर्गत प्रयुक्त √युज् धातु के 'समाधि' और 'संयम' अर्थ के निर्देशानुसार ही वस्तुतः पाणिनि के काल तथा उससे भी पूर्वकाल से महर्षि पतंजलि के 'योगसूत्र' में प्रयुक्त 'योग' शब्द की उपर्युक्त परिभाषा का परम्परागत

---

1. **युज समाधौ,** दिवादि.–66,**युजिर् योगे**, रुधादि.–7, **युज संयमने,** चुरादि.–231
2. योगश्चित्तवृत्तिः निरोधः। योगसूत्र–1/2 ।
3. त्रयमेकत्रसंयमः। वही– 3/4।

होना सूचित होता है। इस आधार पर पतंजलि के योगदर्शन के ग्रन्थ 'योगसूत्र' का नामकरण, पाणिनीय परम्परासम्मत एवं सटीक अभिप्राय को लिए हुए है।

2. **योगदर्शन के मूलस्रोत**– सांख्यदर्शन के समान ही योग-दर्शन भी अत्यधिक प्राचीन रहा है। विश्व के सर्वाधिक प्राचीन ग्रन्थ 'ऋग्वेद' में इस दर्शन के मूलस्रोत का अवलोकन किया जा सकता है, क्योंकि विश्व की संरचना एवं उसके संचालन हेतु यहाँ स्वीकृत ईश्वर, जीव और प्रकृति, इन तीन तत्त्वों की सत्ता को स्पष्टरूप से अपनी स्वीकारोक्ति प्रदान की है–

द्वा सुपर्णा सयुजा सखाया समानं वृक्षं परिषस्वजाते।
तयोरन्यः पिप्पलं स्वाद्वत्त्यनश्नन्नन्यो अभिचाकशीति।।[1]

प्रस्तुत मन्त्र में सम्पूर्ण विश्व 'प्रकृति' के रूप में बताया गया है, जबकि 'पिप्पल' उसके भोग्य पदार्थ हैं। इसीप्रकार भोगने वाला, एक पक्षी 'जीव' तथा न भोगने वाला, दूसरा पक्षी 'ईश्वर' वर्णित हुआ है। इस दृष्टि से इसे **'सेश्वरसांख्य'** अर्थात् योगदर्शन के बीजरूप में देखा जा सकता है।

इसीप्रकार ऋग्वेद में ही प्रयुक्त दूसरे दार्शनिक सूक्तों– नासदीय, हिरण्यगर्भ तथा पुरुष–सूक्त में भी योगदर्शन का अवलोकन किया जा सकता है, क्योंकि योगदर्शन में वर्णित प्रकृति के तीन गुणों सत्त्व, रजस् और तमस् का भी नासदीयसूक्त में उल्लेख किया गया है।[2] इतना ही नहीं, इसी सूक्त में आगे प्रयुक्त 'सत्' पद को विद्वानों ने 'सत्त्व' अर्थ में ही प्रयुक्त माना है। इसीप्रकार इसी सूक्त में आगे प्रयुक्त मन्त्रों में तथा पुरुष–सूक्त में वर्णित 'पुरुष' को भी वस्तुतः योग–दर्शन का 'पुरुष' ही कहा जा सकता है।

---

[1]. ऋग्वेद– 1/164/20 ।

[2].(क) नासीद्रजो नो व्योमा परो यत्। ऋग्वेद– 10/129/1।

(ख) तम आसीत्तमसा गूळमग्रे। वही– 10/129/3 ।

(ग) सतो बन्धुमसति निरविन्दन्। वही 10/129/4 ।

क्योंकि यहाँ ईश्वर सृष्टि के स्वामी, उत्कृष्ट, सत्य, प्रकाश–स्वरूप, आनन्दस्वरूप ईश्वर का ही प्रणिधान रहा है। इसप्रकार सूक्ष्म–दृष्टि से अवलोकन करने पर, हमें ऋग्वेद के मन्त्रों में अनेक स्थलों पर, हमारे विवेच्य 'योग–दर्शन' के सिद्धान्तों एवं तत्त्वों को, सहजरूप में देखा जा सकता है। इसके अलावा इसका नाम सम्पूर्ण वैदिक–साहित्य तथा महाभारत काल तक भी 'सांख्ययोग' देखने को मिलता है। सांख्य और योग के ऐक्य को गीताकार ने भी स्वीकार किया है–

सांख्ययोगौ पृथग्बालाः प्रवदन्ति न पण्डिताः।
एकमप्यास्थितः सम्यगुभयोर्विन्दते फलम्।।
यत्सांख्यैः प्राप्यते स्थानं तद्योगैरपि गम्यते।
एकं सांख्यं च योगं च यः पश्यति स पश्यति।।[1]

उपर्युक्त विवेचन के आधार पर इतना तो अवश्य स्वीकार किया जा सकता है कि 'सांख्ययोग' शब्द वैदिककाल तथा उसके बाद महाभारत काल तक, एक ही दर्शन के अर्थ में प्रयुक्त हुआ, जिसमें योग की उपस्थिति को अमान्य नहीं किया जा सकता है। इस दृष्टि से योग–दर्शन का पल्लवन हमें परवर्ती वैदिक संहिताओं, ब्राह्मण ग्रन्थों तथा उपनिषदों में भी अभिलक्षित होता है।

इसी श्रृंखला में आगे चलकर यह दर्शन महाभारत[2] और पौराणिक साहित्य में भी वर्णित हुआ है, जो वस्तुतः योगदर्शन के इतिहास, गाम्भीर्य तथा विस्तार को जानने में सहायक सिद्ध हो सकता है। इसके अतिरिक्त श्रीमद्भगवद्गीता, देवीभागवत पुराण, श्रीमद्–भागवत पुराण, वायु पुराण, स्कन्दपुराण (प्रभास खण्ड), मनुस्मृति, शंख–स्मृति और याज्ञवल्क्य स्मृतियों में हमें इसी सांख्ययोग दर्शन के विस्तृत विवेचन उपलब्ध होते हैं, जिन पर गहन शोध की आज भी

---

[1]. गीता– 5/4–5।

[2]. द्रष्टव्य–लेखककृत **महाभारतीय–सांख्य**, प्रकाशक–चौखम्बा संस्कृत प्रतिष्ठान, दिल्ली–2011 ।

आवश्यकता है, क्योंकि उक्त ग्रन्थों में से कुछ में तो इस दर्शन का अत्यन्त प्रौढ़ शैली में विस्तृत विवेचन भी किया गया है।

वस्तुस्थिति तो यह है कि पुरातनकाल में सांख्य और योग एक ही दर्शन के रूप, क्रमशः सैद्धान्तिक तथा क्रियात्मक रूप में प्रचलित थे। इन्हें भिन्न दर्शनों के रूप में मान्यता सांख्यकारिका के प्रणेता आचार्य ईश्वरकृष्ण के समय में ई.पू. प्रथम शती में प्राप्त हुई।[1]

3. **ब्राह्मण–ग्रन्थों में योग–दर्शन**–जैसा कि हम पूर्व में प्रतिपादित कर चुके हैं कि प्राचीनकाल में सांख्य और योग, ये दोनों ही दर्शन, एक ही अर्थ में प्रयुक्त होते रहे हैं तथा सांख्य के प्रणेता आचार्य के रूप में महर्षि कपिल को प्रायः सभी विद्वानों ने एक मत से स्वीकृति प्रदान की है, किन्तु यदि सूक्ष्मदृष्टि से विचार करें तो, ये दोनों ही दर्शन क्रमशः सैद्धान्तिक तथा क्रियात्मक पक्ष की दृष्टि से एक ही हैं। अतः इस आधार पर निश्चयपूर्वक कहा जा सकता है कि– वैदिक साहित्य में वर्णित सांख्य भी वस्तुतः योग ही है तथा योग भी सांख्य ही है। इसका महत्त्वपूर्ण कारण इन दोनों का तात्त्विक दृष्टि से एक होना रहा है।

शांखायन ब्राह्मण में एक स्थल पर स्वतन्त्ररूप से आत्मा को पंचविंश कहा गया है।[2] इसीप्रकार शांखायन आरण्यक में व्यक्त वाणी से संयुक्त आत्मा की प्रशंसा का उल्लेख हुआ है–

'स एष आत्मा पंचविंशस्तन्नदेनोपसृष्टं शंसत्यात्मा वै पंचविंश।'[3]

इसीप्रकार शतपथ ब्राह्मण में भी अनेक स्थलों पर आत्मा को पंचविंशरूप में वर्णित किया गया है।[4] इसके अलावा तैत्तिरीय आरण्यक

---

1. **सांख्यकारिका**– डॉ. राकेश शास्त्री, प्रकाशक–संस्कृत ग्रन्थागार, दिल्ली–1998, भूमिका, पृष्ठ–31 ।
2. आत्मा वै पंचविंश। शांखायन ब्राह्मण– 17/1।
3. शांखायन आरण्यक– 2/2 ।
4. **शतपथ ब्राह्मण– 9/1/1/44, 9/3/3/19, 10/1/2/8,9।**

में भी एक स्थल पर सांख्य–योग दर्शनों की भावना को अपेक्षाकृत अधिक स्पष्टरूप से अभिव्यक्ति प्रदान की गयी है–

अजामेकां लोहितशुक्लकृष्णां बह्वी प्रजां जनयन्तीं सरूपाम्।
अजा ह्येका जुषमाणोऽनुशेते जहात्येनां भुक्तभोगामजोऽन्यः।।[1]

स्पष्ट है कि यहाँ भी प्रकृति और पुरुष के सम्बन्ध को सांख्ययोग दर्शनों के अनुसार ही प्रदर्शित किया गया है, क्योंकि लोहित, शुक्ल, तथा कृष्णरूपा प्रकृति वस्तुतः सत्त्व, रजस् और तमस्, इन तीन गुणों की साम्यावस्था ही है, जो कभी स्वयं उत्पन्न नहीं होती है, जबकि उसके द्वारा त्रिगुणात्मक, अनेक प्रजाओं को उत्पन्न किया जाता है। इसके अलावा यह 'अज' रूप पुरुष (आत्मा), जीव के रूप में सांसारिक भोगों को भोगता हुआ, उसमें उलझा रहता है, जबकि प्रकृति और पुरुष के विवेक को जानने वाला, दूसरा 'अज' अर्थात् जीव इसे छोड़कर मुक्त हो जाता है।

उपर्युक्त विवेचन से स्पष्ट है कि–यहाँ प्रयुक्त 'अजा' वस्तुतः सांख्य–योग की 'प्रकृति' है, जो सत्त्व, रजस् और तमस् की साम्या–वस्था है तथा 'अज' वस्तुतः सांख्ययोग में वर्णित पुरुष ही है, जो अज्ञानावस्था में 'जीव' है, यही स्थूल–शरीर में विद्यमान रहता है। इस आधार पर निश्चयपूर्वक कहा जा सकता है कि ब्राह्मण और आरण्यक दोनों ही स्थलों पर हमें योग के दर्शन होते हैं, जिसे योगदर्शन के विकास की एक कड़ी के रूप में देखा जा सकता है। इस विषय पर गहनता से विचार करने पर, हम एक स्वतन्त्र शोधप्रबन्ध की संरचना करने में समर्थ हैं। अतः विषयान्तर की दृष्टि से इसका यहाँ विस्तार से विवेचन प्रस्तुत नहीं कर रहे हैं।

4. उपनिषदों में योगदर्शन– यहाँ तक संहिता, ब्राह्मण और आरण्यक ग्रन्थों में योगदर्शन की स्थिति को स्पष्ट करने के बाद अब

---

[1] तैत्तिरीय आरण्यक– 10/10/5।

हम उपनिषदों में उन स्थलों की चर्चा करेंगे, जो सांख्य–योग के सिद्धान्तों से प्रभावित रहे हैं–

(i) **कठोपनिषद** में अनेक स्थलों पर आत्मज्ञान के एकमात्र साधनरूप में 'योग' को ही स्वीकृति प्रदान की गयी है[1] तथा सांख्य योग के तत्त्वों की ओर संकेत किया गया है,[2] जहाँ रथ और रथी की सुन्दर परिकल्पना के माध्यम से आत्मा (पुरुष), स्थूलशरीर, मन, बुद्धि, इन्द्रियों के विषयों का उल्लेख करते हुए, आत्मा को उसका उपभोक्ता बताया है। इसके अलावा यहाँ मन, बुद्धि, अहंकार के साथ–साथ तन्मात्रा, पुरुष, प्रकृति का भी कथन हुआ है–

इन्द्रियेभ्यः परा ह्यर्था अर्थेभ्यश्च परं मनः।
मनस्तु परा बुद्धि बुर्द्धेरात्मा महान् परः।।[3]
महतः परमव्यक्तमव्यक्तात् पुरुषः परः।
पुरुषान्न परं किंचित् सा काष्ठा सा परागतिः।।[4]

(ii) इसीप्रकार **प्रश्नोपनिषद्** के आरम्भ में पृथिवी आदि स्थूल भूत, पंचतन्मात्रा, पंचज्ञानेन्द्रिय, पंचकर्मेन्द्रिय, मन, बुद्धि और अहंकार आदि का विस्तारपूर्वक कथन करने के बाद सांसारिक क्रियाओं में लिप्त पुरुष का उल्लेख तथा उसके बाद भी श्रेष्ठ और अक्षर पुरुष का प्रतिपादन वस्तुतः वर्तमान योग–सिद्धान्त के अनुरूप कहा जा सकता है–

अरा इव रथ नाभौ कला यस्मिन् प्रतिष्ठिताः।

---

[1]. (क) परांचि खानि व्यतृणत् स्वयंभूः तस्मात् पराक् पश्यति नान्तरात्मन्। कश्चिद् धीरः प्रत्यकात्मानमैक्षदावृतचक्षुरमृतत्वमिच्छन्। कठो. 2/1/1।
(ख) अध्यात्मयोगाधिगमेन देवं मत्वा धीरो हर्षशोकौ जहाति। वही –1/2/2।
(ग) तां योगमिति मन्यन्ते स्थिरामिन्द्रियधारणम्।
अप्रमत्तस्तदा भवति यागो हि प्रभवाप्ययौ । वही – 2/6/1 ।

[2]. कठोपनिषद्–6/4/7 ।

[3]. कठोपनिषद्– 1/3/10 ।

[4]. कठोपनिषद्–1/3/11 ।

तं वेद्यं पुरुषं वेद यथा मा वो मृत्युः परिव्यथा इति।।[1]

(iv) इसके अतिरिक्त मण्डलब्राह्मणोपनिषद्[2] तथा मैत्र्युपनिषद्[3], श्वेताश्वतरोपनिषद्[4] एवं बृहदारण्यकोपनिषद्[5] इत्यादि में अनेक स्थलों पर सांख्य–योगदर्शन के सिद्धान्तों का कथन किया गया है, जिसकी ओर सांख्य–दर्शन विवेचन प्रसंग में हमने उल्लेख किया है।

5. **पुराणों में योग–दर्शन–** योगशास्त्र का उल्लेख हमें अनेक पुराणों में भी पर्याप्तरूप से दृष्टिगोचर होता है, जिससे इस शास्त्र की प्राचीन समय में लोकप्रियता की प्रतीति होती है। अब हम यहाँ इस सम्बन्ध में संक्षेप में उल्लेख कर रहे हैं –

(क) **विष्णु पुराण–** इस पुराण में 'चित्त' को सांसारिक विषयों से हटाकर परमपिता परमात्मा के चिन्तन में नियोजित करना चाहिए। ऐसा करने से व्यक्ति को 'ब्रह्म' की प्राप्ति होती है। इसके अतिरिक्त यहाँ एक स्थल पर मन की विशिष्ट अवस्था को 'योग' के नाम से भी अभिहित किया गया है।[6]

(ख) **गरुड़ पुराण–** इस पुराण के अन्तर्गत योग के विशिष्ट प्रकार ध्यान–योग तथा 'अष्टांग–योग' का विस्तृत विवेचन किया गया है, जिसे पातंजलयोग से पूर्णरूप से प्रभावित कहा जा सकता है,

---

1. प्रश्नोपनिषद्–6/6 ।
2. मण्डलब्राह्मणोपनिषद्–1/4 ।
3. मैत्र्युपनिषद्–3/1–2, 2/7, 5/1 ।
4. श्वेताश्वतरोपनिषद्–2/12, 13, 5/2 ।
5. बृहदारण्यकोपनिषद्–4/4/23 ।
6. विषयेभ्यः समाहृत्य विज्ञानात्मा मनो मुने।
चिन्तयेन्मुक्तये तेन ब्रह्मभूय परमेश्वरम्।।
आत्मभावं नयत्येवं.......
आत्मप्रयत्नसापेक्षा विशिष्टा या मनोगतिः।
तस्याः ब्रह्मणि संयोगो योग इत्यभिधीयते।। विष्णुपुराण–6/3।

क्योंकि यहाँ पर ग्रन्थकार ने यम, नियम, आसन, प्राणायाम, प्रत्याहार, धारणा, ध्यान तथा समाधि का विस्तार से उल्लेख किया है।[1]

(ग) ब्रह्मवैवर्त पुराण– इस पुराण में योग–शास्त्र की उत्पत्ति के सम्बन्ध में प्रकाश डाला गया है। तदनुसार– योग का आरम्भ ब्रह्मा से हुआ है, क्योंकि एक बार देवाधिदेव ब्रह्मा ने अपनी सुषुम्णा आदि छः नाड़ियों को अवरूद्ध करके, मूलाधार आदि छः चक्रों का लंघन करने के बाद, अपने ब्रह्मरन्ध्र में प्राणों को स्थापित करके, योग में स्थित हो गए। इसी अवसर पर योगीराज विष्णु द्वारा प्रदत्त एकाक्षर 'प्रणव' मन्त्र का जप करते हुए, भगवान् के चरणों में ध्यान किया। इसप्रकार इस योगसाधना से उन्होंने परमेश्वर को प्रसन्न कर लिया।[2] योग शास्त्र में 'ईश्वर–प्रणिधान' के अन्तर्गत प्रणव–जप का अत्यधिक महत्त्व है। इसका भी यहाँ प्रतिपादन किया गया है।

(घ) अग्नि पुराण– इसीप्रकार अग्नि पुराण में भी क्रिया–योग को 'मोक्ष' का साधन स्वीकार किया गया है–

समाराध्य जगन्नाथं क्रियायोगेन याऽथवा।
अग्नौ मोक्षं परं जग्मुः तस्मात्तन्मोक्षकारणम्।।

(ङ) **भागवत पुराण–** इस पुराण में भी योग के तीन भेद ज्ञान–योग, भक्ति–योग तथा कर्म–योग का विवेचन प्रस्तुत किया गया है।

(च) **देवीभागवत पुराण**[3]–इस पुराण तथा इसकी टीका नीलकण्ठी[4] के अन्तर्गत 'प्रेम–योग' का विशेषरूप से उल्लेख हुआ है, जिसे हम पातंजल–योग का 'ईश्वर–प्रणिधान' अथवा 'भक्ति–योग' भी कह सकते हैं।

---

1. गरुड़ पुराण– अध्याय–49 ।
2. ब्रह्मवैवर्तपुराण, श्रीकृष्णखण्ड, अध्याय–20 ।
3. ताम्प्रेमदामनुचकार स योगयुक्तः। देवी भागवत पुराण– 3/15/18 ।
4. योगयुक्तः प्रेमयुक्तः। इति नीलकण्ठकृता टीका, वही।

(छ) ब्रह्मपुराण– इस पुराण में भी चित्त की एकाग्रता के रूप में उसके साधनों यम, नियम, आसन, प्राणायाम, प्रत्याहार, धारणा, ध्यान एवं समाधि आदि सभी योगांगों का उल्लेख किया गया है।[1]

(ज) लिंगपुराण– इसीप्रकार लिंग पुराण में भी योग–साधना के विवेचन प्रसंग में, यहाँ उपस्थित होने वाले विघ्नों का कथन विस्तृतरूप में किया गया है।[2]

(ज) मार्कण्डेय पुराण–यहाँ प्रयुक्त 'योगधर्म में ओंकार वर्णन' नामक उनतालीसवें अध्याय में पातंजल–योग में प्रतिपादित 'ईश्वर' के नाम 'प्रणव' का विस्तार से विवेचन[3] करते हुए, योगी द्वारा 'संसार–चक्र' से मुक्ति की बात का कथन किया गया है।[4]

उपर्युक्त संक्षिप्त विवेचन से स्पष्ट है कि पुराणों में पातंजल–योग के विषय में विस्तार से उल्लेख किया गया है, जिससे इस दर्शन की प्राचीनता की पुष्टि होती है। यह विषय वस्तुतः इतना अधिक विस्तृत है कि इस पर स्वतन्त्ररूप से शोध–प्रबन्ध का लेखन किया जा सकता है। इसप्रकार के प्रयास से हमें योग–दर्शन के क्रमिक इतिहास लेखन में भी सहयोग प्राप्त हो सकेगा। हमने यहाँ इसका अत्यन्त संक्षिप्तरूप से संकेतमात्र किया है।

---

[1]. मय्येकचित्तता योग इति पूर्वं निरूपितम्।
साधनान्यष्टधा तस्य प्रवक्ष्याम्यधुना शृणु।।
यमाश्च नियमास्तावदासनान्यति षण्मुख।
प्राणायामस्ततः प्रोक्तः प्रत्याहारश्च धारणा।।
ध्यानं तथा समाधिश्च योगांगानि प्रचक्षते। ब्रह्मपुराण– 12/1–2 ।

[2]. लिंगपुराण– अध्याय–9।

[3]. द्रष्टव्य, लेखककृत मार्कण्डेय महापुराण का हिन्दी अनुवाद, प्रकाशक– संशोधित एवं परिवर्धित संस्करण, चौखम्बा ओरियण्टालिया, दिल्ली, 2021।

[4]. तत्र युक्तस्तु यो योगी स तल्लयमवाप्नुयात्।
अकारस्त्वथ भूर्लोक उकारश्चोच्यते भुवः। मार्कण्डेयपुराण–39/10।
यस्तु वेद नरः सम्यक् तथा ध्यायति वा पुनः।
संसारचक्रमुत्सृज्य त्यक्तत्रिविधबन्धनः।। वही 39/15।।

6. **योगसूत्र के प्रणेता महर्षि पतंजलि**– संस्कृत वाङ्मय के अन्तर्गत महर्षि पतंजलि के नाम से तीन महत्त्वपूर्ण ग्रन्थों की उपलब्धि होती है– **योगसूत्र**, अष्टाध्यायी पर विरचित पतंजलिकृत **महाभाष्य** तथा आयुर्वेद शास्त्र का प्रसिद्ध ग्रन्थ **'चरक–संहिता'**। यद्यपि इस विषय में विद्वानों में पर्याप्त मतभेद है, किन्तु प्राचीन भारतीय परम्परा इन तीनों ही ग्रन्थों को महर्षि पतंजलि द्वारा विरचित मानने की पक्षधर रही है।

(अ) दोनों व्यक्तित्वों का भिन्नत्व– योगभाष्यकार पतंजलि तथा महाभाष्यकार पतंजलि को भिन्न मानने वाले विद्वानों में प्रमुखरूप से श्री जे. एच. वुड्स, पं. उदयवीर शास्त्री, प्रो. कीथ, प्रो. जैकोबी, एन. पेरी तथा विन्टरनित्ज़ आदि का नाम विशेषरूप से उल्लेखनीय है। इन विद्वानों ने अपने–अपने तरीके से तर्क प्रस्तुत करके, उक्त दोनों पतंजलियों की भिन्नता प्रतिपादित की है। इनके तर्क इसप्रकार हैं–

(1) प्रो. जे. एच. वुड्स का मानना है कि–योगसूत्र[1] में बौद्धों के निरालम्ब सम्प्रदाय का खण्डन किया गया है और यह सम्प्रदाय बौद्धों की विज्ञानवादी धारा से जुड़ा हुआ है, जिसे कभी आचार्य वसुबन्धु द्वारा प्रस्थापित किया गया था तथा वसुबन्धु का समय अधिकांश विद्वान् चतुर्थ शती मानते हैं। इस आधार पर योगसूत्रकार को वसुबन्धु के बाद में स्थित मानना ज़ुचित प्रतीत होता है।

(2) नागार्जुन ने योगसूत्रकार पतंजलि का उल्लेख अपने ग्रन्थों में नहीं किया है। इस आधार पर योगसूत्रकार पतंजलि को उनका परवर्ती मानना न्यायसंगत प्रतीत होता है।

(3) जैन आचार्य उमास्वाति ने अपने तत्त्वार्थाधिगमसूत्र[2] में योग–सूत्र[3] का उल्लेख किया है। उमास्वाति का समय विद्वानों ने छठी शताब्दी के पूर्व माना है। इसलिए योगसूत्रकार पतंजलि को पंचम शती से पूर्व स्वीकार करना उचित प्रतीत होता है।

---

[1]. योगसूत्र–3/14–15, 4/14–21 ।

[2]. तत्त्वार्थाधिगमसूत्र–2/52 ।

[3]. योगसूत्र–3/22 ।

(4) 550 ई. से पहले स्थित 'दिङ्नाग' ने योगसूत्रकार पतंजलि का उल्लेख नहीं किया है। इस आधार पर भी इनका वैयाकरण पतंजलि से भिन्नत्व प्रतीत होता है।

(5) इसीप्रकार सप्तम शती में स्थित महाकवि माघ ने योगसूत्र[1] का उल्लेख किया है। इसलिए योगसूत्रकार पतंजलि को इससे पूर्ववर्ती मानना समीचीन प्रतीत होता है।

(6) इसके अलावा 700 ई. के लगभग स्थित आचार्य गौड़पाद ने योगसूत्र[2] तथा योगसूत्रकार पतंजलि के नाम का उल्लेख सांख्य–कारिका[3] में किया है। इस आधार पर योगसूत्रकार को सप्तम शती से पूर्ववर्ती मानना संगत है।

उक्त तर्कों के आधार पर प्रो. वुड्स ने योगसूत्रकार पतंजलि तथा वैयाकरण पतंजलि इन दोनों का भिन्न–भिन्न होना सिद्ध करने का प्रयास किया है। साथ ही, उन्होंने योगसूत्रकार पतंजलि को 300–400 ई. के मध्य स्थित माना है।

(ब) इसी क्रम में ध्यातव्य है कि– प्रो. जैकोबी, प्रो. कीथ, प्रो. बेबर तथा पं. उदयवीर शास्त्री विद्वान् भी वैयाकरण पतंजलि तथा योग सूत्रकार पतंजलि दोनों को अलग–अलग व्यक्तित्व के रूप में मान्यता प्रदान करते हैं। उनके तर्क इसप्रकार हैं–

(1) **प्रो. बेबर** का मानना है कि– बृहदारण्यकोपनिषद् में उल्लिखित 'काप्यपातंजल' वस्तुतः कपिल के अनुयायी पतंजलि ही हैं। इस आधार पर योगसूत्रकार पतंजलि को उपनिषदों का पूर्ववर्ती मानना उचित है, जिससे वैयाकरण पतंजलि से इनका भिन्नत्व स्वतः ही सिद्ध हो जाता है।

(2)इसके अलावा **पं. उदयवीरशास्त्री** भी उक्त दोनों पतंजलियों को भिन्न मानने के पक्षधर हैं। उन्होंने पाणिनि एवं कात्यायन द्वारा

---

[1]. योगसूत्र– 1/33 ।

[2]. योगसूत्र– 2/30, 32 ।

[3]. सांख्यकारिका के भाष्य–कारिका संख्या, 23 ।

उद्धृत स्थल पर पतंजलि को ही योगसूत्रकार के रूप में अपनी स्वीकृति प्रदान की है।

(3) इसीप्रकार **प्रो. जैकोबी** निम्न आधार पर उक्त दोनों पतंजलियों का भिन्नत्व प्रतिपादित करते हैं–

i) योगसूत्रकार पतंजलि ने अन्तःकरण के विभुत्व तथा परमाणुओं के अस्तित्व को अपनी स्वीकृति प्रदान की है। योग के ऊपर इस प्रभाव को हम वैशेषिक दर्शन का मान सकते हैं। अतः योग–सूत्रकार पतंजलि को वैशेषिकों से परवर्ती मानना समीचीन प्रतीत होता है।

ii) योगसूत्रकार पतंजलि ने यद्यपि स्पष्टरूप से स्फोट–सिद्धान्त का उल्लेख नहीं किया है, किन्तु उन्होंने अप्रत्यक्षरूप से योगसूत्र[1]में इसकी चर्चा अवश्य की है, जिसे भाष्यकार व्यास द्वारा पर्याप्त विस्तार प्रदान किया गया है। निश्चय ही, इसे महाभाष्यकार पतंजलि के प्रभाव के रूप में देखा जा सकता है। इसलिए योग–सूत्रकार पतंजलि तथा वैयाकरण पतंजलि को अलग–अलग मानना उचित प्रतीत होता है।

iii) इसके अतिरिक्त काल की सत्ता को काल्पनिक तथा क्षणों को वास्तविक मानने को सौत्रान्तिकों के प्रभाव के रूप में देखा जा सकता है। इस आधार पर योगसूत्रकार पतंजलि का महाभाष्यकार का परवर्ती होना सिद्ध होता है।

यहाँ तक हमने योगसूत्रकार पतंजलि तथा वैयाकरण पतंजलि को भिन्न–भिन्न स्वीकार करने वाले, विद्वानों द्वारा प्रस्तुत की गयी युक्तियों का अत्यन्त संक्षेप में उल्लेख किया। इन युक्तियों के आधार पर ये विद्वान् प्रायः योगसूत्रकार पतंजलि को **तृतीय एवं चतुर्थ शती के मध्य** मानने के पक्षधर रहे हैं।

---

[1] .योगसूत्र–3/17 ।

(ब) दोनों व्यक्तित्वों का अभिन्नत्व– अब हम उक्त दोनों व्यक्तित्वों को एक मानकर, जो विद्वान् चिन्तन करते हैं, उनके तर्कों को प्रस्तुत करेंगे। जैसा कि पूर्व में उल्लेख किया जा चुका है कि पश्चात्वर्ती अनेक विद्वान् भी दोनों व्यक्तित्वों को एक स्वीकार करने की इस मान्यता से अपनी सहमति व्यक्त करते हैं, जिनमें डॉ. एस. एन. दास गुप्त, पं. ज्वालाप्रसाद शर्मा, रिचर्ड गार्बे, श्री बी. लाइबिश, तथा एलिएड आदि अनेक विद्वान् भारतीय परम्परा का अनुसरण करते हुए, भिन्न–भिन्न तर्कों के आधार पर योगसूत्रकार तथा महाभाष्यकार पतंजलि को एक ही व्यक्ति के रूप में स्वीकार करते हैं तथा इन दोनों का समय **ईसा पूर्व द्वितीय शताब्दी** निर्धारित करने के पक्षधर हैं। उनके द्वारा प्रस्तुत तर्कों को हम यहाँ संक्षेप में प्रस्तुत कर रहे हैं–

(क) परम्परागत उक्त मत की पुष्टि में विद्वानों द्वारा महाकवि भर्तृहरि विरचित 'वाक्यपदीय' के निम्न श्लोक को उद्धृत किया गया है, जिसमें महर्षि पतंजलि द्वारा उक्त तीनों ग्रन्थों के लेखन की चर्चा की गयी है–

कायवाग्बुद्धिविषयाः ये मलाः समवस्थिताः।
चिकित्सालक्षणाध्यात्मशास्त्रैस्तेषां विशुद्धयः।।[1]

प्रस्तुत श्लोक में शारीरिक, मानसिक तथा वाचिक तीन प्रकार के कर्मों के सम्पादित करने से, तीन उपादानों का उल्लेख हुआ है, जिन्हें निर्मल करने वाले, तीन शास्त्रों चिकित्साशास्त्र चरक, व्याकरण तथा योग का कथन उक्त श्लोक में किया गया है।

'वाक्यपदीय' के टीकाकार 'पुण्यराज' ने उपर्युक्त श्लोक का अर्थ महर्षि पतंजलि की प्रशंसा में इसंप्रकार किया है कि– 'जिन महर्षि ने तीन प्रकार के मलों को शोधित करने के लिए, 'चरक संहिता', 'योगसूत्र' तथा 'महाभाष्य' की रचना की है।'

---

1. वाक्यपदीय–1 / 148 ।

(ख) 18वीं शती में स्थित श्री रामचन्द्र दीक्षित द्वारा विरचित 'पतंजलि चरितम्' में भी कवि ने महर्षि पतंजलि को वैद्यकशास्त्र तथा योगविषयक ग्रन्थों का प्रणेता मानकर उन्हें नमन किया है–

योगेन चित्तस्य पदेन वाचां मलं शरीरस्य च वैद्यकेन।
योऽपाकरोत्तं प्रवरं मुनीनां पतंजलिं प्रांजलिरानतोऽस्मि।।[1]

(ग) इसके अलावा व्याकरणशास्त्र के अध्ययन से पहले मंगलाचरण के रूप में निम्न श्लोक के उच्चारण की सुदीर्घकालीन भारतीय परम्परा रही है, जिसमें महर्षि पतंजलि का उक्त तीनों ग्रन्थों के प्रणेता के रूप में, अत्यन्त आदर के साथ उल्लेख किया गया है। इस श्लोक में महाभाष्य के पाठ को आरम्भ करने से पूर्व पाठ करने का निर्देश दिया गया है–

वाक्याकारं वररुचिं भाष्यकारं पतंजलिं
पाणिनिं सूत्रकारं च प्रणतोऽस्मि मुनित्रयम्।
योगेन चित्तस्य पदेन वाचां मलं शरीरस्य च वैद्यकेन
योऽपाकरोत्तं मुनीनां पतंजलिं प्रांजलिरानतोऽस्मि।।

यद्यपि उपर्युक्त श्लोक कहाँ का है, इस विषय में समुचित प्रमाणों का अभाव है, किन्तु श्रोत्रपरम्परा से चले आ रहे, इसकी प्रामाणिकता को पूर्णरूप से अस्वीकार भी नहीं किया जा सकता है, क्योंकि कोई भी 'जनश्रुति' निर्मूल नहीं होती है।[2] ध्यातव्य है कि उक्त श्लोक महाकवि सुबन्धु की वासवदत्ता के ऊपर लिखी गयी, शिवरामकृत टीका तथा योगदर्शन पर आचार्य शंकर के 'भाष्यविवरण' इन दोनों ही स्थलों पर प्राप्त होता है।

(घ) उक्त तीनों ही ग्रन्थ एक ही पतंजलि द्वारा लिखे गए हैं, इस विषय में एक अन्य तर्क इसप्रकार प्रस्तुत किया गया है– योगसूत्रों

---

1. (क) आचार्य शिवरामकृत वासवदत्ता टीका– पृष्ठ, 239 तथा
(ख) आचार्य शंकरकृत योगभाष्य विवरण– पृष्ठ– 370 ।

2. न ह्यमूला जनश्रुतिः।

की भाषा एवं महाभाष्य की भाषा दोनों में पर्याप्त समानताएँ दृष्टिगोचर होती हैं। अतः इस आधार पर इन दोनों ग्रन्थों के अभिन्न कर्तृत्व से इंकार नहीं किया जा सकता है।[1]

(ङ) इसके अतिरिक्त रामचन्द्रदीक्षित द्वारा विरचित **'पतंजलि चरितम्'**[2] में स्पष्टरूप से उल्लेख किया गया है कि– **'गोणिका'** के पुत्र 'शेषावतार पतंजलि' ने व्याकरण महाभाष्य के प्रणयन के बाद योगसूत्रों तथा वैद्यक शास्त्र वार्तिकों की संरचना की थी।

उपर्युक्त उल्लेख से हमें तीन महत्त्वपूर्ण बातों का पता चलता है– **प्रथम,** महर्षि पतंजलि ने ही उक्त तीनों ग्रन्थों का प्रणयन किया। **द्वितीय,** उनकी माता का नाम 'गोणिका' था। पतंजलि का अन्य नाम 'शेष' भी था। उनके शेषावतार होने का उल्लेख भी हमें अनेक स्थलों पर देखने को मिलता है।[3] जिसके विषय में हम आगे विस्तार से चिन्तन प्रस्तुत करेंगे।

(ङ) इसीप्रकार ग्यारहवीं शती में स्थित चरक–संहिता के टीकाकार 'चक्रपाणिदत्त' ने महर्षि पतंजलि को उक्त तीनों ग्रन्थों के प्रणेता के रूप में नमन किया है–

पातंजलमहाभाष्यचरकप्रतिसंस्कृतैः।
मनोवाक्कायदोषाणां हन्त्रेऽहिपतये नमः।।

(च) इसके अलावा सोलहवीं शती में स्थित वैयाकरण नागेश ने भी अपनी कृति 'वैयाकरण लघुमंजूषा' में महर्षि पतंजलि को उपर्युक्त तीनों ग्रन्थों का रचयिता माना है।[4]

---

[1]. डॉ. एस. एन. दास गुप्त, योग दर्शन, पृ. 57 ।

[2]. सूत्राणि योगशास्त्रे वैद्यकशास्त्रे च वार्तिकानि कृत्वा ततः पतंजलिमुनिः.... नमस्कृत्य गोणिकां जननी तस्यां त्रिदिवं गतायां तस्थौ शेषः स्वयं स मुनिः।

पतंजलिचरितम्– 5/25–26।

[3]. पातंजलयोगदर्शनम्, व्याख्याकार, डॉ. सुरेशचन्द्र श्रीवास्तव, चौखम्बा सुरभारती प्रकाशन, वाराणसी, 2018, 20–21 ।

[4]. (क) आप्तो नाम अनुभवेन वस्तुतत्त्वस्य कात्स्न्येन निश्चयवान्, रागादिवशादपि नान्यथावादी यः स' इति चरके पतंजलिः। वैयाकरणसिद्धान्तमंजूषा, पृष्ठ–.12।

(छ) इसीप्रकार उक्त दोनों ग्रन्थों को आरम्भ करने की शैली में अद्‌भुत साम्य है, क्योंकि यहाँ महाभाष्य का आरम्भ ग्रन्थकार– 'अथ शब्दानुशासनम्'[1]से करते हैं, तो योगभाष्यकार इसे–'अथ योगानुशासनम्'[2] वाक्य से करते हैं। इन दोनों ही स्थलों पर 'अनुशासनम्' पद विशेषरूप से चिन्तनीय है, क्योंकि योगभाष्यकार सम्भवतः इन दोनों रचयिताओं को एक मानकर ही महाभाष्यकार के उक्त सूत्र में प्रयुक्त भाव[3] को ग्रहण करके योगभाष्य में–

'अथेत्ययमधिकारार्थः। योगानुशासनं शास्त्रमधिकृतं वेदितव्यम्'

(ज) इस प्रसंग में उल्लेखनीय यह भी है कि– महाभाष्य में सांख्ययोग के अनेकानेक सिद्धान्तों का उल्लेख[4] किया गया है, जो इन दोनों ग्रन्थों के एक कर्तृत्व को ही सिद्ध करता है।

(झ) इसके अतिरिक्त योगसूत्रकार महर्षि पतंजलि को प्रायः सभी भाष्यकारों ने शेषावतार, फणिपति, अनन्त आदि शब्दों से सम्बोधित किया है। इतना ही नहीं, तेरहवीं शती में स्थित आचार्य मल्लिनाथ ने भी अपने प्रसिद्ध श्लोक[5] में योगशास्त्र को **'पन्नगगवीगुम्फ'** संज्ञा प्रदान की है। इस प्रसंग में विशेषरूप से ध्यातव्य है कि– पतंजलि के नाम से तो एकाधिक व्यक्तित्वों के होने की सम्भावना की जा सकती है, किन्तु इस विषय में यह सुनिश्चितरूप से कहा जा सकता है कि– 'शेषावतार' के नाम से पतंजलि के

(ख) तदुक्तं चरके पतंजलिना। सेन्द्रियं चेतनं द्रव्यं निरिन्द्रियमचेतनम्। वही

(ग) योगसूत्रे पतंजल्युक्तेः। महाभाष्य पस्पशाह्निक, उद्योत, पृष्ठ– 58 ।

[1]. शब्दानुशासनम्–1/1/1 ।

[2]. योगानुशासनम्–1/1 ।

[3]. अथेत्ययं शब्दोऽधिकारार्थः प्रयुज्यते। शब्दानुशासनं नाम शास्त्रमधिकृतं वेदितव्यम्। महाभाष्य– 1/1/1 ।

[4]. द्रष्टव्य–महाभाष्य का गुणसिद्धान्त (4/1/3), सत्कार्यवाद(1/2/64), काल विषयक सिद्धान्त (2/2/5, 3/2/10–11) एवं बुद्धि परिणाम के सिद्धान्त आदि।

[5]. वाणीं काणभुजीमजीगणदवाशासीच्च वैयासिकीम्। अन्तस्तन्त्ररंस्त पन्नगगवीगुम्फेषु चाजागरीत्।

अतिरिक्त अन्य किसी कृतिकार को सम्पूर्ण संस्कृत साहित्य में सम्बोधित नहीं किया गया है।'

उपर्युक्त विवेचन से स्पष्ट है कि–महाभाष्यकार पतंजलि एवं योगसूत्रकार महर्षि पतंजलि वस्तुतः दोनों एक ही व्यक्ति रहे हैं तथा उनके समय के निर्धारण में किसी प्रकार की विप्रतिपत्ति भी नहीं है, क्योंकि महाभाष्य में महर्षि पतंजलि ने अनेकशः अपने आश्रयदाता के नाम का आदरपूर्वक उल्लेख किया है।[1]

(स) **महर्षि पतंजलि के अन्य नाम व जन्म स्थान–** इस सम्बन्ध में विद्वन्मान्यता इसप्रकार की सम्भावना को व्यक्त करती है कि– पतंजलि शेषावतार या नागराज नाम से कदाचित् इसीलिए प्रसिद्ध रहे होंगे कि– ये कश्मीर में रहने वाले 'नागू' जाति के ब्राह्मण के कुल में उत्पन्न हुए थे तथा ये उनके मुखिया भी थे। इसके अलावा अद्भुत शास्त्रज्ञान तथा विविध भाषाओं का प्रकाण्ड पाण्डित्य होने के कारण भी इनके सहस्र–जिह्वत्व की कल्पना ने इन्हें 'शेषावतार' के रूप में प्रसिद्ध किया होगा।

इसीप्रकार शेषनाग के समान श्वेतत्व, जो काश्मीरियों में प्रायः दृष्टिगोचर होता है, इनमें भी अधिक रहा होगा। इसलिए इन्हें इस नाम से कहा गया होगा। इसके अतिरिक्त नागजाति में नागों की पूजा का विधान भी अवश्य रहा होगा। ये सभी आधार इन्हें नागराज, शेषावतार, अनन्त के रूप में प्रतिष्ठित करते प्रतीत होते हैं।[2]

इस प्रसंग में यह भी उल्लेखनीय है कि–कुछ विद्वानों ने यद्यपि पतंजलि को 'गोनर्दीय' मानकर उन्हें 'गोण्डा' निवासी भी सिद्ध करने का प्रयास किया है, किन्तु महाभाष्यकार द्वारा 'गोनर्दीय' आचार्य का अनेक स्थलों पर खण्डन किया गया है। इस आधार पर

---

1. पुष्पमित्रं यजामहे। पुष्यमित्रसभा। पुष्यमित्रं याजयामः। इत्यादि

2. पातंजलयोगदर्शनम्, व्याख्याकार, डॉ. सुरेशचन्द्र श्रीवास्तव, चौखम्बा सुरभारती प्रकाशन, वाराणसी, 2018, 20–21 ।

महाभाष्यकार को 'गोण्डा' निवासी सिद्ध करने का औचित्य ही प्रतीत नहीं होता है। शांखायन ब्राह्मण में इन्हें कश्मीर निवासी मानने का संकेत उपलब्ध होता है।[1]

उपर्युक्त संक्षिप्त विवेचन के आधार पर निश्चयपूर्वक कहा जा सकता है कि– महर्षि पतंजलि वस्तुतः काश्मीर निवासी ही थे, क्योंकि उपर्युक्त तथ्यों के अतिरिक्त महाभाष्य में उनका विशेष आग्रह 'कश्मीर' के प्रति स्पष्टरूप से देखा जा सकता है।[2]

7. **योगदर्शन के प्रमुख आचार्य**– उल्लेखनीय है कि योग–शास्त्र के अध्येताओं की दृष्टि से योगसूत्र के समान ही इस ग्रन्थ पर वेदव्यास द्वारा लिखित भाष्य तथा दूसरी कुछ टीकाओं का भी अत्यधिक महत्त्व है। इसलिए अब हम इस ग्रन्थ के भाष्यकारों एवं इस पर लिखी गयीं टीकाओं पर चिन्तन प्रस्तुत करेंगे–

(क) **वेदव्यास**– वस्तुस्थिति तो यह है कि योगसूत्र की अपेक्षा योगभाष्य का अध्ययन, अध्यापन विद्वानों के मध्य में अपेक्षाकृत अधिक रहा है। आचार्य व्यास इस सम्बन्ध में अग्रणी रहे हैं। इनके द्वारा विरचित इस कृति की प्रसिद्धि विद्वत्समाज में अनेक नामों से देखी जाती है, क्योंकि इसी को **योगभाष्य, व्यासभाष्य** तथा **'सांख्यप्रवचन भाष्य'** इत्यादि नामों से भी पुकारा जाता है। इन सबकी अपेक्षा इसे 'सांख्यप्रवचन भाष्य' कहना अधिक समीचीन प्रतीत होता है, क्योंकि इस भाष्य की सभी पुरातन प्रतियों में इसके चारों पादों के अन्त में प्रयुक्त पुष्पिकाओं में, इसे इसी नाम से कहा गया है।[3]

योगसूत्र के आधार पर योगदर्शन का सांगोपांग विवेचन ही इस भाष्य की महत्त्वपूर्ण विशेषता कही जा सकती है,. क्योंकि यह भाष्य

---

1. द्रष्टव्य लेखक द्वारा सम्पादित एवं अनूदित शांखायन ब्राह्मण (दो खण्डों में) प्रकाशित, प्रकाशक– चौखम्बा ओरियण्टालिया, दिल्ली, 2020, 15/5 ।

2. (क) काश्मीरान् गमिष्यामो देवदत्त! तत्र सक्तून् पास्यामः। महाभाष्य
(ख) अभिजानासि देवदत्त! यत् काश्मीरेषु वत्स्यामः। वही।

3. इति पातंजले सांख्यप्रवचने योगशास्त्रे समाधिपादः प्रथमोऽध्यायः।

वस्तुतः योगियों में प्रसिद्ध प्रमाणों के आधार पर सूत्र में प्रदत्त अर्थ को परिपुष्ट करता है। साथ ही, इसके अन्तर्गत भाष्यकार के समय में योगदर्शन के विरोध में प्रचलित मान्यताओं का खण्डन भी अत्यन्त परिष्कृत शैली में किया गया है।

कुछ समीक्षक विद्वानों ने इस भाष्य पर व्याकरण महाभाष्य, शाबरभाष्य तथा शांकरभाष्य की तुलना में भाषा की प्रांजलता न होने का आरोप अवश्य लगाया है, किन्तु हमारी दृष्टि में प्रतिपाद्य योग विषय को स्पष्ट करने में यह भाष्य सर्वथा उपयुक्त सिद्ध होता है, जिस प्रभावशालिता के साथ यहाँ सूत्र की आत्मा को दृष्टिगत रखते हुए, उसकी व्याख्या की गयी है, उसे विषय की सर्वांगीण, उत्कृष्ट एवं ओजस्विनी व्याख्या की श्रेणी में रखा जा सकता है।

इस प्रसंग में महत्त्वपूर्ण तथ्य यह भी उल्लेखनीय है कि– इस भाष्य की सभी चारों पुष्पिकाओं में यद्यपि किसी में भी वेदव्यास के नाम का उल्लेख नहीं हुआ है, किन्तु सर्वत्र इस भाष्य को 'वेदव्यास' की कृति के रूप में ही उद्धृत किया गया है। जैसे–

आचार्य वाचस्पति मिश्र की 'तत्त्ववैशारदी टीका' के आरम्भ में इसे वेदव्यास विरचित ही कहा गया है। इसीप्रकार विज्ञानभिक्षु द्वारा विरचित प्रसिद्ध योगभाष्य में भी इसे वेदव्यास द्वारा प्रणीत ही स्वीकार किया गया है।[1] इसीप्रकार प्रसिद्ध 'भास्वती' टीका के प्रणेता स्वामी हरिहरानन्द आरण्यक ने भी इसके आरम्भ में 'तं भाष्यकृद् व्यासमुनिं नमामि' तथा 'रत्नाकरः प्रवादानां भाष्यं व्यासनिर्मितम्' इत्यादि का उल्लेख करते हुए, व्यास को ही इस भाष्य का रचयिता माना है।

कहने का अभिप्राय यही है कि– स्वकृत भाष्य में कहीं भी अपने नाम का उल्लेख न करने पर भी, इस विषय में विद्वानों में लेशमात्र भी विप्रतिपत्ति दृष्टिगोचर नहीं होती है। पुनरपि इतना अवश्य कहा जा सकता है कि– 'महाभारतकार पराशरपुत्र कृष्णद्वैपायन वेद

---

1. सर्ववेदार्थसारभूत, वेदव्यासेन भाषितम्। विज्ञानभिक्षु भाष्य।

व्यास' ही ये व्यास है अथवा अन्य कोई और, यह निश्चयपूर्वक कहना मुश्किल है, क्योंकि इस विषय पर स्वतन्त्ररूप से ग्रन्थ–लेखन की आवश्यकता है अतः विस्तारभय से इस विषय को हम यहाँ ग्रहण नहीं कर रहे हैं।

(ख) **योगभाष्य का रचना काल**– जैसा कि पूर्व में हम उल्लेख कर चुके हैं कि वेदव्यास के समय के विषय में विद्वान् एक मत नहीं हैं, किन्तु अनेक प्रकार से समीक्षक विद्वानों द्वारा इस सम्बन्ध में चिन्तन किया गया है, जिसका हम यहाँ अत्यन्त संक्षेप में उल्लेख कर रहे हैं–

(क) व्यासभाष्य में 'आचार्य वार्षगण्य' के नामोल्लेख सहित मत का स्पष्टरूप से कथन करने के आधार पर, श्री जे. एच. वुड्स ने इसका समय चतुर्थ शती के बाद में स्वीकार किया है। उनके अनुसार– वार्षगण्य तृतीय अथवा चतुर्थ शताब्दी के आचार्य वसुबन्धु के काल में विद्यमान थे, किन्तु अन्य विद्वानों ने वुड्स महोदय के इस विचार से अपनी असहमति व्यक्त की है, क्योंकि वस्तुस्थिति तो यह है कि आचार्य 'वार्षगण्य', पाणिनि से भी पर्याप्त पहले अर्थात् सप्तम शती ई.पू. में विद्यमान थे। यही कारण है कि वैयाकरण पाणिनि ने वार्षगण्य पद की व्युत्पत्ति 'गर्गादिभ्यो यञ्' सूत्र के उदाहरण में प्रस्तुत की है। अतः इसमें लेशमात्र भी संदेह का अवसर प्रतीत नहीं होता है, क्योंकि इस नाम के व्यक्ति के अभाव में आचार्य पाणिनि निश्चय ही, इस व्युत्पत्ति का उल्लेख अपनी कृति में नहीं करते।

(ख) इसके अतिरिक्त प्रस्तुत भाष्य में 'विज्ञानवाद' का उल्लेख करते हुए, उसका खण्डन करना[1] भी इसे ईसा की द्वितीय शती के आसपास सिद्ध करता है, क्योंकि यहाँ प्रयुक्त 'विज्ञान' तथा 'परि–

---

[1]. नास्त्यर्थो विज्ञानविसहचरेऽस्ति तु ज्ञानमर्थविसहचरं स्वप्नादौ कल्पितमित्यनया दिशा ये वस्तुस्वरूपमपह्नुवते, ज्ञानपरिकल्पनामात्रं वस्तु स्वप्नविषयोपमं न परमार्थता ऽस्तीति य आहुः। योगभाष्य–4/14 ।

कल्पना' दोनों ही पद विज्ञानवादी विचारधारा के सुविकसित रूप को प्रदर्शित करते हैं।

(ग) इसके अतिरिक्त गणितज्ञ विद्वानों का भी यह सर्वमान्य मत है कि– 'शून्य के उपयोग द्वारा संख्याओं के गिनने की तथा संख्याओं के स्थानीयमान की व्याख्या सर्वप्रथम भारतवर्ष में प्रथम शती ईस्वी के आसपास ही हुई थी।' जिसका व्यवस्थित रूप वस्तुतः इसी भाष्य में वर्णित हुआ है।[1] इस आधार पर वुड्स महोदय का वह मन्तव्य स्वतः ही निरस्त हो जाता है, जिसमें उन्होंने दशमलव पद्धति के प्रथम प्रयोग के आधार पर भाष्यकार व्यास को षष्ठ शताब्दी ई. के आसपास स्थित माना है, क्योंकि उनके अनुसार इस पद्धति का सर्वप्रथम प्रयोग छठी शती ई. के आचार्य वराहमिहिर ने ही किया है।

उपर्युक्त विवेचन के आधार पर तथा भाष्य की भाषा के आधार पर आचार्य वेदव्यास का समय द्वितीय शती ईस्वी के लगभग स्वीकार करने में किसी प्रकार की विप्रतिपत्ति प्रतीत नहीं होती है, क्योंकि यहाँ हमें परवर्ती भाष्यकारों की प्रबल तार्किक शैली एवं प्रांजलता के दर्शन नहीं होते हैं।

8. **योग दर्शन के प्रमुख प्राचीन ग्रन्थ** – अभी हमने पातंजल योग के प्रथम भाष्यकार वेदव्यास के विषय में किंचिन्मात्र उल्लेख किया। अब हम इस कृति के ऊपर लिखी जाने वाली, परवर्ती टीकाओं के विषय में संक्षेप में कथन कर रहे हैं–

(क) **तत्त्ववैशारदी टीका**–ध्यातव्य है कि व्यासभाष्य के ऊपर सर्वप्रथम प्रामाणिक एवं वैदुष्यपूर्ण टीका मिथिला निवासी आचार्य वाचस्पति मिश्र द्वारा प्रणीत 'तत्त्ववैशारदी' प्राप्त होती है। वाचस्पति मिश्र 'नृग' नामक यशस्वी राजा के आश्रित विद्वान् थे।[2] उन्होंने एक श्लोक में अपने काल का उल्लेख भी किया है–

---

[1]. यथैका रेखा शतस्थाने शतं दशस्थाने दशैकं चैकस्थाने। योगभाष्य– 3/13।

[2]. तस्मिन् महीपे महनीयकीर्तौ श्रीमन्नृगेऽकारि मया निबन्धः।

न्याससूची निबन्धोऽसावकारि सुधियां मुदे।
श्रीवाचस्पतिमिश्रेण वस्वंकवसुवत्सरे।। न्यायसूचीनिबन्ध।

प्रस्तुत श्लोक के आधार पर वाचस्पति मिश्र का समय 898 वत्सर निर्धारित किया जा सकता है, जबकि यहाँ प्रयुक्त 'वत्सर' पद को विक्रम संवत् स्वीकार करने पर यही समय 841 ई. मानने में किसी प्रकार की कोई विप्रतिपत्ति नहीं होती है और यदि कुछ विद्वान् यहाँ प्रयुक्त 'वत्सर' पद को शक संवत् के रूप में भी स्वीकार करें, तो उस स्थिति में भी उनका समय 976 ई. निर्धारित होता है, जिसे दूसरे शब्दों में, दसवीं शती का उत्तरार्द्ध भी कह सकते हैं।

उल्लेखनीय है कि वाचस्पति मिश्र द्वारा प्रायः सभी प्रसिद्ध दर्शनों पर उच्चस्तरीय टीकाओं के प्रणयन के कारण विद्वानों ने उन्हें **'द्वादश दर्शनकाननपंचानन'** तथा **'सर्वतन्त्रस्वतन्त्र'** उपाधियों से भी सम्मानित किया है। वाचस्पति मिश्र की तत्त्ववैशारदी टीका वस्तुतः व्यास भाष्य के गूढ़तम रहस्यों का उद्घाटन करने में पूर्णतया समर्थ है। भावानुकूल भाषा का प्रयोग, इस टीका की महत्त्वपूर्ण विशेषता कही जा सकती है। विद्वानों ने इसे भाष्यकार शंकर की भाषा की छवि से मण्डित माना है।[1]

(ख) **राजमार्तण्डवृत्ति**– ग्यारहवीं शती ई. में स्थित भोजराज ने योगसूत्रों पर 'राजमार्तण्ड' नामक वृत्ति का प्रणयन किया, जिसे योगशास्त्र के इतिहास में आज भी उत्कृष्ट स्थान प्राप्त है। इस वृत्ति की सबसे बड़ी विशेषता इसमें योगसूत्र पर टीका का प्रणयन करना रहा है, जबकि अन्य टीकाएँ व्यासभाष्य के ऊपर लिखी गयी हैं। अतः ऐतिहासिक दृष्टि से भी इसका अपेक्षाकृत अधिक महत्त्व कहा जा सकता है। इस वृत्ति की संरचना लेखक ने 'नापेक्षितं लिख्यते किंचित्, नापेक्षितं मुच्यते' के सिद्धान्त के आधार पर की है, क्योंकि यहाँ जटिल

---

[1]. पातंजलयोगदर्शनम्, व्याख्याकार, डॉ. सुरेशचन्द्र श्रीवास्तव, चौखम्बा सुरभारती प्रकाशन, वाराणसी, 2018, पृष्ठ–29 ।

विषयों पर भी अपेक्षित विवेचन प्रस्तुत किया गया है। इस वृत्ति की एक महत्त्वपूर्ण विशेषता यह भी है कि कुछ स्थलों पर इन्होंने सूत्रकार तथा वाचस्पति मिश्र से भी वैमत्य प्रदर्शित किया है, जो इनकी स्वतन्त्र विचारधारा का द्योतक कहा जा सकता है।

(ग) **योगवार्तिक**– भोजराज की वृत्ति के बाद योगसूत्र के व्यास भाष्य पर वार्तिक लिखने का श्रेय सोलहवीं शती के पूर्वार्द्ध में स्थित आचार्य विज्ञानभिक्षु को प्राप्त होता है। इसमें विद्वान् भाष्यकार का स्वतन्त्र दृष्टिकोण पद–पद पर परिलक्षित हुआ है, क्योंकि इन्होंने योग के मौलिक स्वरूप तथा उसकी विविध क्रियाओं के विषय में अपने पूर्व विद्वान् आचार्य वाचस्पति मिश्र से अनेक स्थलों पर यहाँ मतवैमत्य भी प्रदर्शित किया है।

सांख्ययोग के ज्योतिस्तम्भ के रूप में प्रख्यात आचार्य विज्ञानभिक्षु तथा वाचस्पति मिश्र दोनों के वैदुष्य की तुलना करने पर, हम देखते हैं कि– आचार्य विज्ञानभिक्षु की अन्तरंगता वस्तुतः सांख्य योग के प्रति विशेषरूप से रही है, जबकि आचार्य वाचस्पति मिश्र का हमें सर्वथा निष्पक्ष होते हुए भी, वेदान्त के प्रति विशेष झुकाव परि–लक्षित होता है, किन्तु योगदर्शन के इतिहास में दोनों ही विद्वानों का महनीय स्थान एवं योगदान रहा है।

(घ) अन्य– योगशास्त्र पर उपर्युक्त चारों महत्त्वपूर्ण कृतियों के अतिरिक्त सत्रहवीं शती में स्थित, विज्ञानभिक्षु के शिष्य 'भावागणेश' की योगसूत्रों पर वृत्ति तथा इसी शताब्दी में विद्यमान प्रसिद्ध वैयाकरण नागोजी भट्ट की 'छाया' नामक व्याख्या भी उल्लेखनीय हैं, क्योंकि ये दोनों ही व्याख्याएँ जिज्ञासु को योगदर्शन का संक्षिप्त एवं सारग्राही ज्ञान कराने में अभूतपूर्व रूप से सहयोगी रही हैं।

इनके अलावा अट्ठारहवीं शती में स्थित, 'रामानन्द यति' की 'मणिप्रभा' टीका तथा इसी शताब्दी के नारायणतीर्थ की 'सूत्रार्थ–बोधिनी' टीका तथा योगदर्शन के नाम से लिखी गयी अनेकानेक विद्वानों की व्याख्याएँ भी अत्यधिक उपयोगी कही जा सकती हैं। इसी

प्रकार बाद की संस्कृत टीकाओं में स्वामी हरिहरानन्द आरण्य की 'भास्वती' टीका को भी योगदर्शन के सिद्धान्तों को समझने में स्तरीय तथा सहयोगी कहा जा सकता है। इसी प्रसंग में यह भी ध्यातव्य है कि– किसी अज्ञात परवर्ती विद्वान् द्वारा 'शंकर' के नाम से लिखी गयी, 'विवरण' टीका को भी योगसूत्रों तथा भाष्य के उत्कृष्ट विवेचन के रूप में उद्धृत किया जा सकता है।

इसके अलावा योगसूत्रों पर श्री जे. एच. वुड्स, डॉ. गंगानाथ झा, डॉ. राजेन्द्र लाल मिश्र की अंग्रेजी व्याख्याएँ तथा श्री ब्रह्मलीन मुनि की हिन्दी टीका को भी अत्यधिक महत्त्वपूर्ण माना जा सकता है। उसके बाद 'पातंजल–योगदर्शनम्' के नाम से 'भोजदेव' की वृत्ति के साथ परिव्राजकाचार्य स्वामी 'विज्ञानाश्रम' की 1932 ई. अजमेर से प्रकाशित हिन्दी टीका तथा 1964 ई. में प्रकाशित, पं. राजाराम (संस्कृत प्रोफेसर डी.ए.वी. कॉलेज, लाहौर) की 'योगदर्शनम्' के नाम से हिन्दी व्याख्या एवं परमहंस स्वामी अनन्त भारती (डॉ. ब्रह्ममित्र अवस्थी) की पातंजलयोग–दर्शनम् के नाम से प्रकाशित योगसूत्रों की हिन्दी व्याख्या, साथ ही, पातंजल–योगदर्शनम् के नाम से लिखी गयी योगदर्शन के अभूतपूर्व विद्वान् डॉ. सुरेश श्रीवास्तव की वैदुष्यपूर्ण हिन्दी व्याख्या आदि विशेष–रूप से उल्लेखनीय हैं।

9. **योगशास्त्र के प्रमुख विषय–** इसका उल्लेख हम यहाँ इसलिए कर रहे हैं, क्योंकि योग के महत्त्वपूर्ण विषयों के बारे में जानने पर, इस शास्त्र को समझने में जिज्ञासुओं को सुविधा रहेगी तथा यह ग्रन्थ उनके लिए किंचित् सरल हो सकेगा। इस दृष्टि से योगसूत्र में प्रतिपादित कुछ ही महत्त्वपूर्ण बिन्दुओं को हम यहाँ अत्यन्त सूत्ररूप में प्रस्तुत कर रहे हैं–

(i) **अधिकारी–** जिसकी आत्मा तथा परमात्मा में श्रद्धा है, वही योगशास्त्र के अध्ययन का, इसके आचरण का अधिकारी है। यह श्रद्धा वस्तुतः शुभ–कर्मों के अनुष्ठान से ही होती है। मोक्ष–मार्ग को सुनते ही, जो व्यक्ति रोमांचित हो जाता है। योगमार्ग की स्मृतिमात्र से

जिसके नेत्र अश्रुप्लावित हो जाएँ। साथ ही, जिन्होंने अपने पूर्व जन्मों में शुभ–कर्म किए हैं, वे ही लोग इस 'योग' के आचरण के वास्तविक अधिकारी हैं।

(ii) **अनधिकारी–** इसके ठीक विपरीत जिसकी शुभ–कर्मों में लेशमात्र भी रुचि नहीं है, जो काम, क्रोध, लोभ, मोह जैसे सांसारिक विषयों में आकण्ठ डूबा हुआ है तथा जिसका लोक–परलोक एवं कर्म–फल आदि में जरा भी विश्वास नहीं है, वह व्यक्ति इस शास्त्र को पढ़ने का अधिकारी नहीं है।

(iii) **चित्त की महत्ता–** योगदर्शन में चित्त का अत्यधिक महत्त्व है, क्योंकि यह दर्शन चित्त के इर्द–गिर्द ही घूमता हुआ प्रतीत होता है। ध्यातव्य है कि– योगशास्त्र, सांख्य के सिद्धान्तों का अनुगमन करते हुए भी, चित्त के विषय में पर्याप्त भिन्नता रखता है, क्योंकि जहाँ एक ओर सांख्य–दर्शन ने सत्त्व, रजस्, तमस् की साम्यावस्था प्रकृति से 'महत्' (बुद्धि) तत्त्व की, पुनः महत् से अहंकार की तथा अहंकार से पंच तन्मात्राओं की उत्पत्ति का कथन किया है।[1]

वहीं दूसरी ओर सूत्रकार ने सर्वप्रथम तो सृष्टि की उत्पत्ति का स्पष्टरूप से उल्लेख ही नहीं किया है। हाँ साधनपाद में सूत्र–19 में विशेष, अविशेष, लिंगमात्र तथा अलिंग इन सभी को गुणत्रय का परिणाम अवश्य बताया है। इसी सूत्र की व्याख्या में भाष्यकार वेदव्यास ने पंचभूतों को पंचतन्मात्राओं का विशेषरूप तथा पंच ज्ञानेन्द्रियों, पंच कर्मेन्द्रियों तथा उभयात्मक 'मन' इत्यादि ग्यारह विशेषों को 'अस्मिता' रूप अविशेष से उत्पन्न कहा है।

उनके अनुसार प्रकृति यहाँ अलिंग है तथा महत् लिंग है, क्योंकि वह प्रकृति से उत्पन्न हुआ है, जबकि प्रकृति किसी से उत्पन्न नहीं हुई है, वह तो सत्त्व, रजस् तथा तमस् की साम्यावस्था है, नित्य है।[2]

---

[1]. द्रष्टव्य– उपोद्घात में चित्र संख्या 3, पृष्ठ–31 ।

[2]. द्रष्टव्य– सूत्रभाष्य, 2/19 ।

कहने का तात्पर्य यही है कि– यहाँ उन्होंने चित्त की गणना एकादश इन्द्रियों में करते हुए इसे 'अस्मिता' से उत्पन्न माना है, किन्तु 'अहंकार' पद का उल्लेख यहाँ कहीं भी नहीं किया गया है। मन की सहयोगी पंच ज्ञानेन्द्रियाँ, पंच कर्मेन्द्रियाँ बाह्य वस्तुओं के दर्शन में मन के लिए 'द्वार' का कार्य करती हैं, क्योंकि वे ही किसी वस्तु के 'चित्र' को नेत्रेन्द्रियरूपी द्वार से मन तक पहुँचाती हैं।

इसीप्रकार शब्द को श्रोत्रेन्द्रियरूपी द्वार से 'मन' (चित्त) तक पहुँचाया जाता है। इस प्रसंग में ध्यातव्य यह भी है कि योगदर्शन में सर्वत्र 'मन' के लिए 'चित्त' का ही प्रयोग हुआ है, इसीलिए सूत्रकार ने चित्तवृत्ति के निरोध को ही 'योग' संज्ञा प्रदान की है।[1] वस्तुस्थिति तो यह है कि– चित्त के अभाव में यह सम्पूर्ण शास्त्र ही अधूरा है, क्योंकि चित्त यहाँ बुद्धि, अहंकार तथा मन तीनों का मिला जुला रूप है। इस विषय में हम आगे विस्तार से उल्लेख करेंगे।

(iv) **प्रत्यक्ष की प्रक्रिया–** विधाता की जिस सृष्टि को हम देखते हैं, वह हमारे शरीर के बाहर स्थित है तथा इस शरीर का स्वामी आत्मा (पुरुष) शरीर में विद्यमान है। यह आत्मा बाह्य सांसारिक पदार्थों को किसप्रकार देखता है, यह वस्तुतः एक वैज्ञानिक प्रक्रिया है। तदनुसार–

बाह्य पदार्थों का प्रतिबिम्ब हमारे नेत्र की पुतली(रेटिना) पर पड़ता है, उससे शरीर में स्थित सूक्ष्म नाड़ियों में क्रिया होती है और वस्तुओं के आकार को वह 'चित्त' तक पहुँचाता है। तदाकार से आकारित वह चित्त, उसे मस्तिष्क (बुद्धि) को सौंपता है, जो हानोपादान के निर्णय के साथ वापस 'चित्त' को सोंप देता है। चित्त और आत्मा अर्थात् पुरुष दोनों एक ही स्थान पर अत्यन्त निकट स्थित हैं। इसलिए वह चित्त, जब बाह्य–दृश्य के आकार से आकारित हो जाता है, उससे ही आत्मा उसका दर्शन करता है। उल्लेख्य है कि– आत्मा यहाँ

---

1 . योगश्चित्तवृत्ति निरोधः। सूत्र–1/2 ।

'द्रष्टा' तथा 'दृश्य' यहाँ बाह्य दृश्य अर्थात् चित्र होता है। इन्द्रियाँ, चित्त आदि दूसरे सभी इस दर्शन–क्रिया में साधनमात्र हैं।

(v) **चित्त की वृत्ति–** इन्द्रियरूपी द्वारों के माध्यम से जब बाह्य–दृश्य चित्त में पहुँचता है तथा वह उसके आकार से आकारित हो जाता है। यही चित्त की तदाकार वृत्ति कहलाती है। आत्मा, चित्त की इसी वृत्ति को अनुभव करता है। इसी अनुभव का नाम 'बोध' अथवा 'दृष्टि' भी है। आत्मा यहाँ बोद्धा या द्रष्टा है, क्योंकि यह वृत्ति आत्मा (पुरुष) के समक्ष ही उत्पन्न होती है। इसलिए वह इन वृत्तियों का 'साक्षी' कहलाता है। ये वृत्तियाँ 'असंख्य' होती हैं। हमारा चित्त सदा ही इन्हीं वृत्तियों में परिवर्तित होता रहता है, इन्हीं वृत्तियों को प्रयासपूर्वक रोकने (निरोध करने) का नाम 'योग' है।

(अ) **चित्त की अवस्थाएँ–** यदि सूक्ष्म–दृष्टि से देखा जाए, तो जिसप्रकार दैनिक–जीवन में चित्त की महती भूमिका होती है, उसीप्रकार योग–क्रिया में भी चित्त का महत्त्वपूर्ण स्थान है। योगशास्त्र चित्त की पाँच अवस्थाओं को मान्यता प्रदान करता है। क्षिप्त, मूढ़, विक्षिप्त, एकाग्र तथा निरुद्ध।

(क) **क्षिप्त–** यह अवस्था सामान्यरूप से सांसारिक लोगों के चित्तों की होती है। सम्पूर्ण सृष्टि सत्त्व, रजस् तथा तमस् गुणों से निर्मित है तथा चित्त भी इन्हीं गुणों का परिणाम–विशेष है। प्रकाश, स्वभाव होने से चित्त सत्त्वगुण प्रधान होता है। रजोगुणी होने से 'प्रवृत्ति' इसका स्वभाव है तथा कार्यों को रोकने के कारण, यह तमोगुणी भी है। इन तीनों की प्रधानता के अनुसार इसका वैसा ही स्वभाव प्रकट होता है। सामान्यरूप से इस चित्त का कभी भी 'योग' जैसे शास्त्र के प्रति झुकाव नहीं होता है, क्योंकि यह तो सांसारिक विषयों में ही सुखों की अनुभूति करता है।

(ख) **मूढ़ावस्था–** जब रजोगुण पर विजय प्राप्त करके, इस चित्त में तमोगुण का प्रसार होता है, तब इसका झुकाव अधर्म, अज्ञान,

अवैराग्य तथा अनैश्वर्य की ओर होता है। यह अवस्था निम्न श्रेणी के चित्तों की होती है। इसलिए इसे योग के योग्य नहीं माना गया है।

(ग) **विक्षिप्तावस्था**—यही चित्त जब स्वच्छ दर्पण के समान प्रदीप्त हुआ धर्म, ज्ञान, वैराग्य तथा ऐश्वर्य की ओर झुकता है, तो इस अवस्था में 'रजस्' के साथ इसका थोड़ा सम्बन्ध होने से, यह चित्त कभी—कभी स्थिर होता है, किन्तु इस अवस्था में यह प्रायः अस्थिर रहता है। यह अवस्था स्वाभाविक है तथा अनेक बार किसीप्रकार की 'व्याधि' के कारण भी होती है। जिज्ञासुओं की भी ऐसी अवस्था मानी गयी .है। 'विक्षेप' की प्रधानता तथा स्थिरता की न्यूनता के कारण, इस अवस्था को योग—क्रियाओं के योग्य नहीं माना गया है।

(घ) **एकाग्र**— इस अवस्था में चित्त में रजोगुण का अंश लेशमात्र भी नहीं रहता है। यही चित्त, योग के लिए सर्वाधिक उपयुक्त माना गया है। योगशास्त्र इस अवस्था को **'सम्प्रज्ञात योग'** की संज्ञा प्रदान करता है, क्योंकि 'रजोशून्य' होने से, चित्त की यह अवस्था 'वायु से रहित निश्चल दीपक के समान' होती है। इसी अवस्था में यह स्थूल से सूक्ष्म, सूक्ष्मतर व सूक्ष्मतम में प्रवेश करता हुआ, अपने कारणरूप 'प्रकृति' का साक्षात् कर लेता है तथा चित्त तथा पुरुष के भेद को भी जान लेता है। चित्त की इसी अवस्था को यहाँ 'विवेक—ख्याति' नाम दिया गया है।

(ङ) **निरुद्ध**— इस अवस्था में चित्त में किसीप्रकार की भी वृत्ति विद्यमान नहीं रहती है, जिसे यहाँ **'असम्प्रज्ञात योग'** नाम दिया गया है। यह योगी की चरमावस्था मानी गयी है। चित्त के अस्तित्व के अभाव में पुरुषरूप आत्मा की, अपने आप में ही अवस्थिति होती है। संसार का आभास उसे लेशमात्र भी नहीं होता है। इसे महर्षि पतंजलि ने **''तदा द्रष्टुः स्वरूपेऽवस्थानम्''**[1] द्वारा अभिव्यक्ति प्रदान की है।

चित्त की ये सभी वृत्तियाँ 'क्लिष्टा' तथा 'अक्लिष्टा' भेद से दो प्रकार की कही गयी हैं—

---

[1] योगसूत्र— 1/3 ।

1. **क्लिष्टा–** ये वृत्तियाँ जब, राग, द्वेष आदि क्लेशों को उत्पन्न करती हैं, तो 'क्लिष्ट' होती हैं। व्यक्ति इन्हीं के कारण सांसारिक बन्धनों में पड़ता है।

2. **अक्लिष्टा–** जब व्यक्ति 'अभ्यास' और 'वैराग्य' द्वारा अन्तर्मुखी होता है, तभी इस वृत्ति का उदय होता है, यह क्लेशों का विनाश करने वाली है। यद्यपि इस अवस्था में क्लिष्ट वृत्तियों के संस्कार दृढ़ होते हैं, किन्तु उनको शास्त्र के अध्ययन तथा उपदेशादि से दूर किया जाता है।

(vii) **अन्य वृत्तियाँ–** उपर्युक्त वृत्तियों के अतिरिक्त भी चित्त की पाँच वृत्तियों का उल्लेख योगदर्शन करता है–प्रमाण, विपर्यय, विकल्प, निद्रा तथा स्मृति, जिसे हम इसप्रकार समझ सकते हैं–

(क) **प्रमाण–** प्रत्यक्ष, अनुमान एवं आगम ये तीन प्रमाण वृत्तियाँ हैं। इसमें **प्रत्यक्ष प्रमाण** में विषय का, इन्द्रिय के साथ सम्पर्क आवश्यक है, जिससे चित्त तदाकार से आकारित होकर, पुरुष को उस वस्तु का ज्ञान कराता है। इसी प्रमाण से व्यक्ति अपने सुख, दुःख आदि का अनुभव करता है।

अनुमान प्रमाण– किसी चिह्न (लिंग) का आश्रय लेकर, पदार्थ का ज्ञान करना 'अनुमान–प्रमाण' नामक चित्त की वृत्ति होती है। जैसे– दूर पर्वत पर धुआँ, अग्नि का चिह्न उठता हुआ देखकर, व्यक्ति उस पर्वत पर अग्नि के होने का अनुमान लगा लेता है। इस ज्ञान में चित्त की 'अनुमान' नामक 'वृत्ति' ही सहायिका होती है।

आगम प्रमाण– वेदों का अध्ययन करके, उन्हें सुनकर अर्थ को जानने वाले की चित्त–वृत्ति **'आगम–प्रमाण'** वाली होती है। अलौकिक विषयों में तो 'वेद' ही प्रमाण होता है। इसके अलावा ऋषि, मुनि तथा आचार्यों के वचन भी इसी प्रमाण के अन्तर्गत आते हैं, जिसके ज्ञान में किसी प्रकार का दोष न हो, वह यहाँ आप्त–पुरुष कहा गया है। इस दृष्टि से योगदर्शन भी, सांख्यदर्शन के समान ही उक्त तीन प्रमाणों, प्रत्यक्ष, अनुमान तथा आप्त को ही मान्यता प्रदान करता है। इससे

कम अथवा अधिक नहीं। इसप्रकार हम देखते हैं कि यहाँ अन्य दर्शनों द्वारा मान्य प्रमाणों का विवेचन चित्त की वृत्ति के अन्तर्गत ही किया गया है।

(ख) **विपर्यय–** इसी को 'अविद्या' या 'मिथ्या–ज्ञान' भी कहा गया है और 'अविद्या' ही संसार का मूल कारण है। 'विद्या' के उदित होने पर 'अविद्या' स्वतः ही विनष्ट हो जाती है। सीप में चाँदी की प्रतीति के उदाहरण द्वारा इसे भलीप्रकार समझा जा सकता है, क्योंकि सीप में चाँदी की प्रतीति 'मिथ्या–ज्ञान' या 'अविद्या' की श्रेणी में ही आता है, जबकि सीप को, सीप ही के रूप में समझना इसका 'यथार्थ ज्ञान' कहलाएगा।

इसीप्रकार जब तक कोई व्यक्ति नाशवान् संसार को 'नित्य' मानता है, तब तक वह 'अविद्या' के प्रभाव में रहता है, किन्तु वही जब योगाभ्यासादि द्वारा इस संसार को 'नाशवान्' तथा प्रकृति–पुरुष दोनों को 'नित्य' रूप में जान लेता है, तो वह 'विद्या' के प्रभाव में कहा जाएगा।

(ग) **विकल्प–** शब्दज्ञान के पीछे चलने वाला, वस्तु के ज्ञान से शून्य, ज्ञान ही 'विकल्प' कहलाता है। जैसे–कोई कहे कि मेरा हाथ पानी से जल गया, इसे सुनकर सुनने व कहने वाले दोनों की वृत्ति 'विकल्प–ज्ञान' से युक्त कहलाएगी, क्योंकि पानी में तो जलाने की शक्ति है नहीं, इसलिए वास्तव में तो उसका हाथ, गर्म पानी में स्थित अग्नि से जला है, किन्तु वे दोनों ही इसे पानी से जला हुआ मान लेते हैं। यही वृत्ति 'विपर्यय' अर्थात् उलटी कही जाती है।

(घ) **निद्रा–** अभाव की प्रतीति का आश्रय करने वाली, वृत्ति ही निद्रा है। इसे हम दैनिक जीवन में इस रूप में अनुभव करते हैं– 'मैं सुखपूर्वक सोया।' निद्रा में ज्ञान का सर्वथा अभाव नहीं होता, किन्तु जाग्रत तथा स्वप्न की वृत्तियों का निश्चय ही अभाव रहता है।

(ङ) **स्मृति–** किसी वस्तु के अनुभव से चित्त पर पड़ने वाले संस्कारों द्वारा ही 'स्मृति' उत्पन्न होती है। इसका विषय व्यक्ति के

अनुभव के बराबर ही होता है, उससे कम या अधिक नहीं होता। ध्यातव्य है कि– 'स्वप्न' भी एक स्मृति ही होता है, क्योंकि उसमें भी व्यक्ति 'स्मर्तव्य' विषय को ही देखता है।' स्मृति को यहाँ अन्त में इसलिए रखा गया है, क्योंकि प्रमाण, विपर्यय, विकल्प और निद्रा इन सभी के अनुभव से 'स्मृति' होती है।

(viii) **क्लेश**–राग और द्वेषादि यहाँ क्लेश हैं, ये तीन गुणों के कारण सुख, दुःख और मोहात्मक हैं। इनमें दुःख की वृत्तियाँ तो स्वतः ही त्याज्य हैं। सुखों की वृत्तियाँ भी सुखों के साधन विषयों में 'राग' उत्पन्न करने के कारण, योग की अवस्था में त्याज्य ही हैं। ये सभी 'अविद्यारूप' होने के कारण शोकादि के मूल भी हैं, इसलिए ये सभी त्याज्य हैं, किन्तु जब ये शुद्ध–सत्त्व के प्रभाव से राग, द्वेष से शून्य रहती हैं, तो वे त्याज्य नहीं हैं। इसे यहाँ योगी की 'ज्ञानावस्था' कहा गया है। इन सभी में चित्त महती भूमिका निर्वाह करता है।

इस प्रसंग में उल्लेखनीय यह भी है कि– चित्त को यदि एक 'नदी' माना जाए, तो 'अभ्यास' तथा 'वैराग्य' को उसकी दो धाराओं के रूप में देखना होगा, इनमें पहली 'विषयों के मार्ग' में प्रवाहित होती हुई, संसाररूपी सागर में मिलती है तथा दूसरी 'विवेक–मार्ग' से बहकर कल्याणरूपी सागर में जाती है। इनमें पहली धारा तो व्यक्ति के जन्म के साथ ही खुल जाती है, जबकि दूसरी शास्त्र तथा आचार्यों के उपदेश से खुलती है।

(ix) **अभ्यास**– वृत्ति से रहित चित्त की अपने स्वरूप में स्थिति को सम्पादित करने के लिए, श्रद्धा, वीर्य, स्मृति, समाधि, प्रज्ञा, यम, नियम आदि अन्तरंग तथा बहिरंग साधनों का अनुष्ठान करना ही 'अभ्यास' है, इसी अभ्यास द्वारा चित्त की सभीप्रकार की वृत्तियों को नियन्त्रित किया जा सकता है। इसके लिए जिज्ञासु को 'धैर्य' तथा 'उत्साह' दोनों की आवश्यकता होती हैं, क्योंकि अनादिकाल से चित्त की वृत्तियों में, विषयों के भोग–संस्कार विराजमान रहते हैं, जिनसे उन्हें रोकना अत्यधिक कठिन होता है।

निरन्तर लम्बे समय तक, आदर एवं श्रद्धाभाव से प्रयास करने से यही अभ्यास **'दृढ़भूमि'** हो जाता है। ध्यातव्य है कि– चित्त में व्यक्ति के 'व्युत्थान–संस्कार' भी होते हैं, जो उसे 'बहिर्मुखी' करते हैं, जबकि योग का अभ्यास, साधक को 'अन्तर्मुखी' करता है।

(x) **वैराग्य**–जब साधक 'चिति–ज्ञान' के बल से सांसारिक तथा दिव्य दोनों प्रकार के विषयों को देखता हुआ भी उनके 'संग–दोष' से रहित रहता है, चित्त की ऐसी अवस्था ही **'वशीकार'** या 'वैराग्य' कही जाती है। यह वैराग्य, 'अपर' तथा 'पर' भेद से दो प्रकार का होता है। यह शास्त्र वैराग्य की चार अवस्थाओं को भी मान्यता प्रदान करता है, जिनका परिचय इसप्रकार है–

1. **यतमान**– राग, द्वेषादि दोष, इन्द्रियों को अपने–अपने विषयों में प्रवृत्त करते हैं, किन्तु वे अपने विषयों में प्रवृत्त न हो सकें, इसके लिए प्रयत्न करना ही 'यतमान' नामक वैराग्य का पहला भेद है।

2. **व्यतिरेक**– मैंने इन इन्द्रियों पर विजय प्राप्त कर ली है तथा उनके ऊपर विजय प्राप्त करना अभी शेष है, इसप्रकार की अलग–अलग व्यवस्था करना ही, वैराग्य का द्वितीय 'व्यतिरेक' नाम भेद है।

3. **एकेन्द्रिय**– जिस समय रागादि दोष बाह्य इन्द्रियों को प्रवृत्त करने में तो असमर्थ हो गए हों, किन्तु चित्त पर सूक्ष्मरूप से अधिकार कर लिया हो, जिससे विषयों के सान्निध्य से चित्त 'क्षुब्ध' होता है, यही 'एकेन्द्रिय' नामक तृतीय वैराग्य होता है।

4. **वशीकार**– राग की सूक्ष्मरूप से निवृत्ति होना, दिव्यादिव्य विषयों के उपस्थित होने पर भी, उनके प्रति चित्त की उपेक्षाबुद्धि का होना ही उपर्युक्त तीनों भेदों से भिन्न 'वशीकार' नामक वैराग्य होता है, जिसे कठोपनिषद् के नचिकेता में देखा जा सकता है।

जहाँ तक वैराग्य के दूसरे भेद 'परवैराग्य' का प्रश्न है, इसमें विवेक–ख्याति द्वारा सभी प्रकार के गुणों से 'वितृष्णा' हो जाती है अर्थात् **'परवैराग्य'** में वस्तुतः केवल वहाँ तक ही 'वितृष्णा' होती है,

जहाँ तक गुणों के अधिकार की सीमा होती है, किन्तु **'अपरवैराग्य'** में तो वितृष्णा की यह सीमा बढ़कर, दिव्यादिव्य सभी विषयों तक पहुँच जाती है, क्योंकि पहले तो साधक दृष्टानुश्रविक (लौकिक एवं वैदिक) विषयों में दोष-दृष्टि रखते हुए उनसे विरक्त होता है, किन्तु इस अवस्था में उसका चित्त भटकने के स्थान पर एकाग्र हो जाता है, इसी को सूत्रकार ने **'सम्प्रज्ञात समाधि'** की संज्ञा प्रदान की है।

इस अवस्था में वह चित्त और आत्मा में भेद का साक्षात् करता है। यही स्थिति वस्तुतः 'सत्त्वपुरुषान्ताख्याति' भी कही गयी है। इस ख्याति में साधक ज्यों-ज्यों अभ्यास करता है, त्यों-त्यों उसे आत्मा में शुद्धि की उत्तमोत्तमता की प्रतीति होती है। इससे तृप्त होकर वह सभी प्रकार के गुणों से विरक्त हो जाता है।

इतना ही नहीं, अब वह विवेक-ख्याति को भी पीछे छोड़कर, अपने ही स्वरूप में स्थिति की आकांक्षा करता है। इसी को सूत्रकार ने **'धर्ममेघ' समाधि** की संज्ञा प्रदान की है।[1]यही 'परवैराग्य' भी है। इसके बाद ही **'असम्प्रज्ञात-समाधि'** का आगमन होता है।

(xi) **चित्त-विक्षेप के नौ विघ्न-** चित्त में विक्षेप करने वाले विघ्न नौ हैं, जो चित्तवृत्तियों के साथ ही होते हैं, क्योंकि इन वृत्तियों के अभाव में विघ्न नहीं होते हैं। ये विघ्न इसप्रकार हैं-

व्याधि- उनमें त्वचा, रक्त, माँस, नसादि, धातु, खान-पानादि का रस आदि की विषमता से उत्पन्न ज्वरादि रोगों को 'व्याधि' कहा जाता है। दूसरे शब्दों में, वात, पित्त एवं कफ की असंतुलित अवस्था ही 'व्याधि' का कारण होती है।

स्त्यान- इसके अलावा चित्त में कर्म से रहित होने की आकांक्षा को 'स्त्यान' कहते हैं।

संशय- दोनों कोटियों को छूने वाला ज्ञान, 'संशय' कहलाता है। जैसे- रात्रि के अन्धकार के समय लकड़ी के ठूँठ में व्यक्ति के

---

[1] .योगसूत्र-4/29, 31 ।

होने या न होने के विषय में निर्णय न कर पाने पर, चित्त की 'संशयात्मक स्थिति' होती है।

प्रमाद– इसीप्रकार समाधि के साधनों का पालन न करना ही 'प्रमाद' है।

आलस्य– जबकि कफादि के कारण शरीर के भारी होने तथा तमोगुण के कारण चित्त के भारीपन होने से ध्यान में प्रवेश न कर पाना 'आलस्य' है।

अविरति– इसीप्रकार चित्त का विषयों से संयोग होकर, आत्मा में एक बार पहुँचकर भी पुनः लौटकर विषयों की इच्छा होने को 'अविरति' कहा जाता है।

भ्रान्तिदर्शन– इसीप्रकार अविद्या आदि विपरीत ज्ञान को 'भ्रान्ति– दर्शन' कहते हैं।

अलब्ध–भूमित्व– इसके अतिरिक्त समाधि भूमि का प्राप्त न होना 'अलब्ध–भूमित्व' कहा जाता है।

अनवस्थित्व–योग भूमि के प्राप्त होने पर भी, चित्त का उसमें स्थिर न हो पाना 'अनवस्थित्व' कहा जाता है।

ध्यातव्य है कि समाधि–लाभ के बाद तो योगी का चित्त स्थिर हो जाता है। इसकारण ये नौ प्रकार के चित्त के विक्षेप, योगमल, योग के शत्रु, योग में विघ्न, इन चार नामों से कहे जाते हैं।

10. **योगदर्शन में सवितर्क एवं निर्वितर्क समाधि–** उस सम्बन्ध में **जैसे–** गौ यह 'शब्द', गौ यह पशु–विशेष उसका 'अर्थ' तथा गौ इस पशु का 'नाम', ये तीनों ही ज्ञान–भिन्न होते हुए भी एकत्ररूप से ग्रहण किए जाते हैं और शब्द के 'धर्म' ही अन्य भेदों को प्राप्त हुए हैं, अर्थ के 'धर्म' यहाँ दूसरे होते हैं तथा वे सभी 'ज्ञान' से भिन्न हैं। इसीलिए इन तीनों का मार्ग अलग–अलग है। उनमें समापत्ति वाले योगी को, जो गौ आदि विषय हैं, वे समाधि बुद्धि में आरूढ़ **शब्द**, **अर्थ** एवं **ज्ञान** के भेद के साथ व्यवहार में आते हैं, तो इसप्रकार की वह संकीर्णा समापत्ति **'सवितर्क'** नाम से कहलाती है।

इसीप्रकार शब्द के संकेत वाली 'स्मृति' शुद्ध होने पर, जब फिर से श्रुत, अनुमान ज्ञान की कल्पना से शून्य, समाधिस्थ बुद्धि में स्वरूपमात्र से निश्चित हुआ अर्थ, उसके स्वरूप आकारमात्र से ही भासित होने लगता है, वह विकल्परूप से विच्छिन्न नहीं होता है। उसे **'निर्वितर्क समाधि'** कहते हैं।

वही **'परम प्रत्यक्ष'** भी है। वह वस्तुतः श्रुत तथा अनुमान ज्ञान का 'बीज' होता है, क्योंकि उससे ही 'श्रुत' तथा 'अनुमान' ज्ञान की उत्पत्ति होती है। श्रुत और अनुमान ज्ञान के साथ–साथ उनका दर्शन नहीं होता है। इसलिए योगी को **'निर्वितर्क समाधि'** से उत्पन्न हुआ दर्शन, अन्य प्रमाणों से असम्बद्ध होता है।

11. **योगदर्शन में कर्मफल का सिद्धान्त–** क्लेशों की उपस्थिति में 'कर्म' और 'वासनाएँ' दोनों ही **कर्म–फल** को आरम्भ करने वाली होती हैं, किन्तु योग द्वारा क्लेशरूपी मूल के विनष्ट होने पर, वे फल का आरम्भ नहीं करती हैं। जिसप्रकार 'तुष'(छिलके) से ढ़के हुए शालि–तण्डुल, जले हुए के अभाव में ही उत्पन्न होने में समर्थ होते हैं, किन्तु हटे हुए अथवा जले हुए 'तुष' वाले 'तण्डुल' नहीं उगते हैं।

उसीप्रकार क्लेशों से आवृत्त **'कर्म'** और **'वासना'** फल को उत्पन्न करने वाली होती है, किन्तु क्लेशों के नष्ट होने पर ये उत्पन्न करने वाली नहीं होतीं है अथवा ज्ञान के माध्यम से जिनका **'प्रसंख्यान दग्ध'** हो गया है, वे भी नहीं होती हैं। इसके अलावा यह 'विपाक', वस्तुतः 'जाति', 'आयु' एवं 'भोग' भेद से तीन प्रकार का होता है।

इस सम्बन्ध में दूसरा विचारणीय विषय यह है कि–क्या अनेक प्रकार के कर्म अनेक जन्मों के कारण होते हैं अथवा एक जन्म में ही अनेक कर्म सम्पन्न होते हैं। इस सम्बन्ध में यह भी सिद्धान्त नहीं है कि– एक कर्म एक ही जन्म का कारण है, क्योंकि कर्मों के फल भोगने में **'क्रम'** का नियम नहीं होता है। ऐसा होने पर तो लोगों को कर्म करने का उत्साह ही नहीं होगा।

इसीप्रकार अनादिकाल से संचित हुए 'असंख्य कर्म' तथा 'अवशिष्ट' कर्मों का भोग कब होगा, यह भी अभिप्रेत नहीं होता है। इसलिए एक कर्म एक जन्म का कारण होना सम्भव नहीं है। अतः जन्म से लेकर मरणपर्यन्त मध्य में किए हुए पुण्य–पाप कर्म एवं उनकी वासना की उत्पत्ति में विचित्रता ही विद्यमान होती है, जिसके कारण व्यक्ति अग्रिम जन्म को प्राप्त करता है। वस्तुतः कर्म, **प्रधानरूप** तथा **उपसर्जनरूप** इन दो भेदों में विद्यमान रहते हैं, उनकी प्रकटता 'मरण' के उपरान्त ही होती है।

(क) इनमें **'प्रधानकर्म'** वे कहलाते हैं, जिनके संस्कार इतने बलवान् हों कि– मृत्यु के उपरान्त सर्वप्रथम उन्हीं के फल वाली योनि की प्राप्ति हो।

(ख) इसके अतिरिक्त जो मृत्यु के बाद तत्काल फल प्रदान करने में समर्थ न हों, वे **'उपसर्जन कर्म'** कहलाते हैं।

मृत्यु को प्राप्त करके एक शरीर द्वारा मूर्छित के समान वे, एक ही जन्म का संधारण करते हैं और वह जन्म उन्हीं कर्मों के माध्यम से आयु को देने वाला भी होता है, क्योंकि उस आयु में उन्हीं कर्मों के द्वारा भोगों की प्राप्ति होती है। इसलिए वे **'कर्माशय'** जन्म, आयु एवं भोग का कारण होने से तीन फलों वाले कहे जाते हैं। इसलिए यहाँ यह एक जन्म का ही 'कर्माशय' कहा गया है।

इस विषय में नन्दीश्वर एवं नहुष के उदाहरणों को ग्रहण किया जा सकता है। इसप्रकार वर्तमान जन्म में अनुभव करने योग्य, एक मोक्ष का आरम्भ करने वाला, भोग हेतु होने से दो फलों का आरम्भ करने वाला तथा भोग आयु के हेतु वाला होने से यह तीन प्रकार का हुआ।

फल के अनुभवरूप से व्यवहार करते हुए, क्लेश और कर्म तथा भिन्नप्रकार की वासनाओं से अनादिकाल से मूर्छित हुआ यह चित्त, चित्रित हुए के समान सब ओर फैले हुए जाल में फँसी मछली के समान, अनेक जन्म के कर्म तथा वासनाओं को भोगता है। इसीलिए

इस एक जन्म की ही कर्म और वासनाएँ, यह कहा गया है। स्मृतियों के हेतु संस्कार ही 'वासना' होती हैं, जो अनादिकाल से विद्यमान हैं।

इसीप्रकार जो यह एक जन्म के कर्म एवं नियत फलों वाली वासनाएँ हैं, उनके अनुसार ही देह की प्राप्ति **'नियतविपाक'** कही जाती है। इसप्रकार इसके कुल दो भेद हुए। उनमें भी यह वस्तुतः वर्तमान जन्म में अनुभव करने योग्य 'नियतविपाक' का नियम है, किन्तु भावी जन्मों में अनुभव किए जाने योग्य 'नियतविपाक' में यह नियम नहीं है, क्योंकि भावी जन्मों में अनुभव किए जाने वाले, जो अनियत फल वाले **'कर्माशय'** हैं, उनकी तो तीन प्रकार की गति होती है–

प्रथम, किए गए कर्मों का विनाश, **द्वितीय,** प्रधान कर्म में मिलकर भोग करना, **तृतीय,** नियत फल वाले, दबे होने के कारण, देर तक पड़े रहने वाले, प्रधान कर्म। उनमें भी किए गए कर्म के फल का नाश इसप्रकार होता है–

जैसे– पुण्य–कर्म के उदय होने के कारण, इसी जन्म में पाप–कर्म का नाश हो जाता है। इस सम्बन्ध में कहा गया है कि– 'इसप्रकार के कर्म में निश्चय ही दो–दो भेद जानने योग्य हैं। एक पाप के समूह को, दूसरा पुण्य–समूह विनष्ट करता है। इसलिए व्यक्ति को हमेशा ही अच्छे–कर्म करने की इच्छा करनी चाहिए।

'अदृष्ट' जन्म जानने योग्य नियत–विपाक कर्म का ही मरण, अभिव्यक्ति का कारण कहा गया है, न कि अनियत विपाक का। इसलिए अनियत फल वाला 'अदृष्ट' जन्म वेदनीय कर्म नष्ट हो या संकीर्ण हो या किसी से अभिभूत हो, वह चिरकाल तक तब तक ही रहता है, जब तक इसका अभिव्यंजक कोई 'कर्म' कारण होकर, इसे फल की ओर उन्मुख नहीं करता है। इसप्रकार फल के समान ही यह कर्म–विषयक गति, देश, काल तथा निमित्त के निर्णय वाली, अत्यधिक विचित्र और दुर्बोध है। उत्सर्ग की अपवाद से निवृत्ति नहीं होती है, इसलिए एक जन्म का **'कर्माशय'** ही इसका कारण माना जाता है।

12. **योग–दर्शन में ईश्वर–** यहाँ अविद्या आदि 'क्लेश' हैं, पुण्य–पाप 'कर्म' हैं एवं उनके फल को 'विपाक' कहा जाता है तथा उन कर्मों के गुणों के अनुसार वासना ही 'आशया' कही जाती है। वे सभी 'चित्त' के अत्यधिक निकट वर्तमान 'पुरुष' के ही कहलाते हैं, क्योंकि वही उनके फलों का भोक्ता होता है। ठीक उसीप्रकार जैसे जय–पराजय योद्धाओं में वर्तमान होते हुए भी उनके स्वामी 'राजा' की कहलाती है। इसलिए जो इन सभीप्रकार के भोगों से रहित है, वह पुरुष ही योग–दर्शन का **'ईश्वर'** है।

ईश्वर का बन्धनों से सम्बन्ध न तो पहले कभी हुआ था और न ही आगे कभी होगा एवं न ही वर्तमान समय में है। **जैसे**–मुक्त पुरुष प्रथम बन्धन से युक्त होता है तथा उसके बाद ही उसकी मुक्ति होती है। ईश्वर की इसप्रकार की मुक्ति नहीं होती है, जिसप्रकार प्रकृति में 'लीन' पुरुष का उत्तरकाल में पुनः बन्धन हो जाता है, 'ईश्वर' का उसप्रकार का भी बन्धन नहीं होता है। वह तो वस्तुतः सदैव 'मुक्त' तथा 'ऐश्वर्य–सम्पन्न' है।

इसके अतिरिक्त अत्यधिक श्रेष्ठ ज्ञान, क्रिया के कारण ईश्वर की निरन्तर अतीव उच्चता की स्थिति होती है। वह वस्तुतः ऐश्वर्यवान् तथा मुक्त है। इसीप्रकार ईश्वर एवं उसका ऐश्वर्य समानता अथवा अधिकता से रहित ही है अर्थात् न तो कोई उसके समान ही है और न ही कोई उससे बड़ा है। वह तो किसी भी दूसरे ऐश्वर्य से कहीं अधिक 'ऐश्वर्य–सम्पन्न' है।

यदि कोई कहे कि–उससे भी अधिक ऐश्वर्य सम्पन्न 'अमुक' है, तब तो फिर वही 'ईश्वर' होगा, क्योंकि उसके समान ही कोई ऐश्वर्य वाला नहीं है तो फिर उससे अधिक भला कोई कैसे हो सकता है? इसलिए जिसका समानता तथा अधिकता से पूर्णतयारहित ऐश्वर्य है, वही 'ईश्वर' है तथा वही **'पुरुष विशेष'** भी है।

यह ईश्वर वस्तुतः प्रथम गुरुओं का भी 'गुरु' है। जिसप्रकार सृष्टि के आरम्भ में इसकी सर्वज्ञता सिद्ध है, उसीप्रकार सृष्टि के अन्त

में भी समझनी चाहिए। इसप्रकार कह सकते हैं कि– 'योग का यह 'ईश्वर' सांख्य के 'पुरुष' से सर्वथा भिन्न है तथा इस ईश्वर को मिलाकर योग–दर्शन, कुल 26 तत्त्वों को मान्यता प्रदान करता है।

17. **योग–सूत्र का सार–संक्षेप–** कुल 'एक सौ पिच्यानवें सूत्रों' में निबद्ध प्रस्तुत योगसूत्र को ग्रन्थकार ने कुल चार पादों में विभक्त किया है, जिसमें **प्रथम**, समाधि–पाद, **द्वितीय**, साधन–पाद, **तृतीय**, विभूति–पाद तथा **चतुर्थ**, कैवल्य–पाद। यह विभाजन यहाँ शास्त्र के प्रयोग की दृष्टि से पूर्णतया वैज्ञानिक रहा है। अब हम यहाँ इन चारों पादों का क्रमशः सार, संक्षेप में प्रस्तुत कर रहे हैं–

क) **प्रथम समाधि पाद–** इसके प्रथम समाधिपाद में प्रयुक्त इक्यावन सूत्रों में ग्रन्थकार ने सर्वप्रथम योग के लक्षण 'चित्तवृत्ति के निरोध' के रूप में व्याख्यान करने के बाद, उसकी प्राप्ति हेतु 'अभ्यास' तथा 'वैराग्य' रूप में दो भेदों तथा लक्षणों का उल्लेख करके, सम्प्रज्ञात एवं असम्प्रज्ञात नामक दो प्रधान तथा अप्रधान योगों का प्रतिपादन किया है। इसके अलावा योगाभ्यास की विधि का विवेचन करने के बाद, उसके उपायों का विस्तारपूर्वक वर्णन किया है। पुनः योग–प्राप्ति के सुगम उपाय पुरुष के प्रभाव और लक्षणादि तथा उसकी उपासना का फल, चित्त–विक्षेप अर्थात् योग के विघ्न एवं विक्षेप से उत्पन्न होने वाले दुःखादि का भी विस्तारपूर्वक कथन किया गया है।

इसके पश्चात् उन विघ्नों को दूर करने के उपायों तत्त्वाभ्यास, मैत्री, मुदिता आदि का कथन करते हुए, प्राणायामादि, सम्प्रज्ञात एवं असम्प्रज्ञात समाधि की अंगस्वरूप 'ज्योतिष्मती' तथा 'दिव्य–विषयवती' आदि प्रवृत्तियों का भी उल्लेख किया है। तत्पश्चात् पाद–समाप्ति के अवसर पर समापत्ति, उसके लक्षण और फल तथा सबीज एवं निर्बीज समाधियों का वर्णन और उनके फलों को इसी 'समाधिपाद' में ही विस्तार से कहा है।

ख) **द्वितीय साधनपाद–** प्रथम पाद में जिस योग का उल्लेख ग्रन्थकार ने किया था, इसके ही अंग, क्लेशों को नष्ट करने वाले क्रिया–योग का इस द्वितीय पाद के अन्तर्गत प्रयुक्त पचपन सूत्रों में कथन किया गया है। इसी प्रसंग में क्लेशों के उद्देश्य, स्वरूप, कारण, उत्पत्तिस्थान एवं उनके फलों का भी विधिवत् विवेचन किया है। उसके पश्चात् कर्मों के भेद, कारण, स्वरूप तथा फल का वर्णन करके, कर्मों के 'विपाक' के कारण और स्वरूपों को भी बताया है।

उसके बाद क्लेशों का हेयत्व तथा उनके त्याग में ज्ञान की महत्ता का प्रदर्शन करते हुए, ज्ञान–प्राप्ति में शास्त्र की महत्ता का भी उल्लेख किया है, क्योंकि ग्रन्थकार के मत में–शास्त्र इन चारों के बोधक होते हैं– हेय, हेयहेतु, उपादेय तथा उपादान कारण, जिनसे उपादेय का ज्ञान होता है। इन्हीं चारों बातों का योगशास्त्र में विवेचन किया गया है। इसीलिए शास्त्र भी 'चतुर्व्यूह' कहलाता है। ध्यातव्य है कि 'हेय' का स्वरूप ज्ञान के अभाव में सिद्ध नहीं हो सकता है। इसलिए 'हान' के साथ–साथ उक्त चारों बातों का कारणों सहित विवेचन करके, उपादेय के कारण विवेक–ख्याति तथा उसके भी कारण, योग के अन्तरंग एवं बहिरंग साधनस्वरूप यम, नियम आदि के लक्षण एवं फल का भी इसी पाद में वर्णन किया गया है।

पुनः 'धारणा' आदि के आपस में उपकार्य एवं उपकारक रूपों का उल्लेख करके, उनमें से प्रत्येक के लक्षण, कारण और फलों का विवेचन भी यहाँ किया गया है। ग्रन्थकार का मानना है कि– यम, नियम आदि का पालन करने से योगी के चित्त में योग का बीजवपन कर दिया जाता है तथा आसन एवं प्राणायाम से उस बीज में अंकुर की उत्पत्ति होती है, जबकि प्रत्याहार के पालन से, उस पर पुष्प की उद्भूति होती है तथा ध्यान, धारणा एवं समाधि के उस वृक्ष पर फल लगते हैं। यही इस पाद का संक्षिप्त फलितार्थ भी कहा जा सकता है।

ग) **तृतीय विभूतिपाद–** इस पाद के अन्तर्गत प्रयुक्त कुल पचपन सूत्रों में योग के तीन अंगों ध्यान, धारणा एवं समाधि का उल्लेख करके, इन तीनों की एक 'संयम' संज्ञा कहकर, संयम के विषयों को दिखलाने के निमित्त तीन परिणामों का वर्णन किया है। इसके अलावा 'संयम' के बल से उत्पन्न हुई 'पूर्वान्त', 'मध्यभाव' और 'अपरान्त' की सिद्धियों का विस्तार से विवेचन प्रस्तुत किया है। उसके बाद समाधि के अभ्यास को दृढ़ करने हेतु बाह्य भुवन, अनादिरूप तथा आभ्यन्तर कायव्यूह आदि ज्ञानरूप सिद्धियों का कथन भी किया है। इसी क्रम में आगे 'समाधि' के उपयोग के लिए 'इन्द्रियजय' एवं 'प्राणजय' आदि का वर्णन भी किया है।

इसके अतिरिक्त इसी पाद में परम पुरुषार्थ अर्थात् 'मुक्ति' को प्राप्त करने के लिए क्रमशः अवस्था सहित 'भूतजय', 'इन्द्रियजय' एवं 'सत्त्वजय' का भी विस्तार से उल्लेख किया है। तत्पश्चात् विवेक–ज्ञान के उपाय को कहकर, सभीप्रकार की समाधि और उसकी अवस्थाओं में उपकार करने वाले 'तारक' नामक ज्ञान का भी विवेचन किया गया है, क्योंकि इसी 'तारक–ज्ञान' में योगी के चित्त को अधिकार की प्राप्ति हो जाती है तथा उसे 'कैवल्य' प्राप्त हो जाता है।

घ) **चतुर्थ कैवल्य पाद–** प्रस्तुत अन्तिम पाद में प्रयुक्त कुल चौंतीस सूत्रों के अन्तर्गत पाँच प्रकार की सिद्धियाँ, जात्यन्तर परिणाम, निर्माण–चित्त तथा चतुर्विध कर्मों का विस्तार से विवेचन हुआ है। तत्पश्चात् इसी क्रम के यहाँ वासना, बाह्य पदार्थों की सत्ता पुरुष में चित्त द्रष्ट्त्व एवं 'जीवन्मुक्त' की मनोवृत्तियों का भी उल्लेख किया गया है तथा अन्त में 'धर्ममेघ' समाधि, परिणामक्रम समापत्ति एवं 'कैवल्य स्वरूप' व्यवस्था का वर्णन अत्यन्त सूक्ष्मता एवं स्पष्टतापूर्वक किया है।

18. **योग–सूत्र का महत्त्व–** वर्तमान समय में जहाँ एक ओर सम्पूर्ण मानव–जाति अशान्ति, भय, असन्तोष तथा क्षोभ से अत्यधिक पीड़ित है। वहीं दूसरी ओर वह इससे सदा के लिए मुक्त भी होना चाहती है। शान्ति, सन्तोष आदि ये सभी मन के साथ जुड़े हुए सूक्ष्म–भाव हैं। अतः मानव–मन के इस विक्षोभ में तब तक सुधार होना सम्भव नहीं है, जब तक वह इस 'मन' पर अपना नियन्त्रण न कर ले। मनोदशा के परिवर्तन हेतु, उसे स्वयं ही परिश्रम करना होगा, उसे यह धनादि के माध्यम से खरीद नहीं सकता है। यह परिश्रम भी उसे किन्हीं निश्चित सिद्धान्तों तथा सम्यक्रूप से अनुभव किए गए, मार्गों का अवलम्बन करके ही करना होगा।

विचलित एवं परेशान चित्त को व्यवस्थित करने के लिए, योग–सूत्रकार महर्षि पतंजलि ने जिस सिद्धान्त का इस शास्त्र में उल्लेख किया है, वह वस्तुतः सार्वकालिक एवं सार्वभौमिक कहा जा सकता है। यहाँ बताया गया सिद्धान्त प्रत्येक व्यक्ति के लिए प्रभावी तथा कल्याणकारी है। योग–सूत्र में ग्रन्थकार ने जिन तत्त्वों का विवेचन किया है, उनका सूक्ष्म अध्ययन करके, व्यक्ति न केवल सुखी हो सकता है, अपितु वह सदा के लिए इस संसार में जीवन–मरण से मुक्ति भी पा सकता है, जिसे भारतीय–संस्कृति के अन्तर्गत उत्कृष्ट पुरुषार्थ–चतुष्ट्य में परिगणित 'मोक्ष' रूप में बताया गया है।

महर्षि पतंजलि ने सम्पूर्ण मानवता पर अत्यधिक उपकार करते हुए, इन सूत्रों के माध्यम से, न केवल मन की शान्ति, अपितु ईश्वर–प्राप्ति के साथ–साथ मुक्ति का मार्ग भी प्रशस्त किया है, जिसे व्यक्ति के 'जीवन का प्रमुख लक्ष्य' कहा जा सकता है। इस ग्रन्थ द्वारा बताए गए उपायों का प्रयोग करके, हम अपने आत्म–तत्त्व का दर्शन कर सकते हैं, प्रकृति तथा उसके विकारों का प्रत्यक्ष कर सकते हैं। अपने जन्म–जन्मान्तरों के बारे में जान सकते हैं। इस ग्रन्थ में प्रतिपादित

'योग' वस्तुतः सम्पूर्ण मानवता के पास ऐसा साधन है, जो सम्पूर्ण मानवजाति की सभीप्रकार की शंकाओं का सदा के लिए निवारण करता है।

क्योंकि एकमात्र यही दर्शन ऐसा है, जिसके अभ्यास के माध्यम से व्यक्ति संसार की किसी भी वस्तु को 'हस्तामलकवत्' देख सकता है। वस्तुतः इस ग्रन्थ में ग्रन्थकार ने संसार की प्रत्येक वस्तु का वास्तविकता से परिचय कराकर, संसार की सभी गुत्थियों को सुलझाने तथा संसार में विद्यमान दुःखों से हमेशा के लिए 'निवृत्ति' प्राप्त करने में महान् उपकार किया है। इस दृष्टि से इस ग्रन्थ के महत्त्व को सहज ही स्वीकार किया जा सकता है।

प्रस्तुत योग–सूत्र में व्यक्ति के चित्त की वृत्तियों के निरोध के उपायों, उनके फलों का क्रमिक तथा सुन्दर विवेचन करके, सम्पूर्ण मानवता पर ग्रन्थकार ने अत्यधिक उपकार किया है। अतः इसका अभ्यास करके, जो व्यक्ति सांसारिक दुःखों से सदा के लिए छुटकारा पाना चाहता है तथा शरीर, इन्द्रिय और मन के बन्धनों से रहित, शुद्ध–बुद्ध आत्मा के साक्षात्कार का अभिलाषी है, उसके लिए प्रस्तुत योगसूत्र अमूल्य–निधि कही जा सकती है।

उपर्युक्त संक्षिप्त विवेचन से हमारे विवेच्य योगसूत्र के महत्त्व को हम आध्यात्मिक–दृष्टि से सर्वाधिक मान सकते हैं। पुनरपि इसमें मनोविज्ञान की जटिल गुत्थियों को सुलझाने में भी 'अभूतपूर्व–विधि' का कथन किया गया है, जिससे यह वर्तमान में प्रचलित मनोविज्ञान शास्त्र का उपकारक ग्रन्थ भी कहा जा सकता है, क्योंकि यहाँ मन पर नियन्त्रण करने की विधियों का विस्तार से विवेचन किया गया है, जिसे सम्पूर्ण मानव–समुदाय के ऊपर, परम उपकार के रूप में भी देखा जा सकता है। इस ग्रन्थ के महत्त्व को दृष्टिगत रखते हुए ही, अनेक विद्वानों ने इसके ऊपर अपनी–अपनी व्याख्याएँ प्रस्तुत करके, इसे

सरल बनाने का भरसक प्रयास किया है, जिसका हम उल्लेख पूर्व में अत्यन्त संक्षेप में कर चुके हैं।

इस विषय में उल्लेखनीय यह भी है कि हमने यहाँ जिन व्याख्या, टीका, भाष्यादि का कथन किया है, केवल वे ही इस ग्रन्थ पर नहीं लिखी गयी हैं, अपितु इससे कहीं अधिक व्याख्याओं का लेखन इस महत्त्वपूर्ण ग्रन्थ पर हुआ होगा, जिनका हमें ज्ञान नहीं भी हो सकता है, क्योंकि व्यक्ति के ज्ञान की सीमाएँ हैं। जिज्ञासु महानुभावों को अधिक जानकारी प्राप्त करने का निरन्तर प्रयत्न करना चाहिए।

अन्त में, केवल इतना ही कहना उचित होगा कि– महर्षि पतंजलि ने सम्पूर्ण मानवता के कल्याण के लिए, इस ग्रन्थ में अपने समय से पूर्व में प्रतिपादित सांख्ययोग के बिखरे हुए सिद्धान्तों तथा तात्कालिक विद्वत्समाज में प्रचलित योग विषयक मान्यताओं को सर्वप्रथम सूत्ररूप में ही निबद्ध किया, जिसे परवर्तीकाल में समझने में अनेक कठिनाइयाँ होने से महर्षि वेदव्यास आदि भाष्यकारों ने अपने भाष्यों द्वारा विस्तार प्रदान किया। अतः इन दोनों की दृष्टि मानवता के कल्याण की ही रही है, जिससे इस 'योग–शास्त्र का महत्त्व' स्वतः ही स्पष्ट हो जाता है।

•••

न्याय–दर्शन

(i) **'न्याय' शब्द का व्युत्पत्तिलभ्य अर्थ–** न्याय शब्द की व्युत्पत्ति नि उपसर्गपूर्वक √इण् गतौ धातु से घञ् प्रत्यय करके निष्पन्न होती है। आचार्य पाणिनि ने अष्टाध्यायी में अध्याय और न्याय आदि शब्दों में घञ् प्रत्यय का विधान किया है।[1] इस प्रसंग में प्रस्तुत उदाहरणों की व्याख्या में भट्टोजिदीक्षित का कथन है कि–

'**नियन्ति अस्मिन्निति न्यायः।**[2]'

यद्यपि घञ् प्रत्यय का प्रयोग 'करण' की अभिव्यक्ति के लिए किया जाता है, किन्तु यहाँ उन्होंने घञ् के 'अधिकरण' अर्थ को ही प्रमुखता प्रदान की है। उस स्थिति में हमें इसका अर्थ इसप्रकार करना होगा– 'नीयन्ते (अर्थाः) अनेनेति न्यायः' अर्थात् जहाँ शब्द अथवा वाक्यार्थ किसी विशेष अर्थ की सिद्धि करे, वही न्याय है। यही कारण है कि पूर्व समय में यह शब्द वैदिक पदों के स्वर–निर्णय के लिए प्रयुक्त किया जाता था।

इस प्रसंग में यह बात भी विशेषरूप से कथनीय है कि कुछ विद्वानों ने 'न्याय' शब्द को √नी धातु से निष्पन्न माना है, जो संगत प्रतीत नहीं होता, क्योंकि √नी धातु से घञ् प्रत्यय करने पर 'नायः' पद की निष्पत्ति होगी, न्याय की नहीं। इसके विपरीत √इण गतौ धातु

---

[1] अध्यायन्यायोघावसंहराश्च (3/3/122) सूत्र से

[2] सिद्धान्त कौमुदी, तत्त्वबोधिनी– पृष्ठ– 656।

से घञ् प्रत्यय करने पर 'आयः' और आरम्भ में नि उपसर्ग के प्रयोग से 'न्याय' शब्द सहज ही निष्पन्न हो जाता है।

साथ ही, इस धातु से 'न्याय' शब्द की सिद्धि करने पर हमें अर्थसौष्ठव की भी प्रतीति हो रही है, क्योंकि इस स्थिति में 'नीयन्ते' इस अर्थाभिव्यक्ति से यहाँ विशेष चमत्कार आ जाता है, जिससे हमें यहाँ न्याय के प्रतिपाद्य विषय और न्यायशास्त्र की शैली, निगमन प्रक्रिया आदि का भी स्पष्ट आभास होता है, क्योंकि प्रमाणों द्वारा अर्थ की परीक्षा ही न्याय है तथा न्यायशास्त्र में चार प्रमाणों को स्वीकार करने पर भी अनुमान प्रमाण का विशेष महत्त्व है।

(ii) **न्याय के लिए प्रयुक्त अन्य शब्द–** न्याय के लिए 'आन्वीक्षिकी' शब्द का प्रयोग हमें प्राचीन साहित्य में देखने को मिलता है। आचार्य वात्स्यायन का भाष्य इस सम्बन्ध में प्रमाण है। इसके अतिरिक्त आचार्य कौटिल्य ने भी 'अर्थशास्त्र' में विद्याओं के परिगणन में 'आन्वीक्षिकी' को सर्वप्रथम स्थान प्रदान किया है। उनके अनुसार– आन्वीक्षिकी, वेदत्रयी, कृषि और वाणिज्य (वार्ता) तथा राजनीति, ये चार सनातन विद्याएँ हैं।[1] साथ ही, दर्शनों की गणना के प्रसंग में भी उन्होंने 'आन्वीक्षिकी' शब्द का प्रयोग किया है।[2] यह 'आन्वीक्षिकी' ही वस्तुतः न्यायविद्या अथवा न्यायशास्त्र है।

इसके अतिरिक्त छान्दोग्योपनिषद् में सनत्कुमार ने नारद के समक्ष अपने अध्ययन की चर्चा करते हुए चार वेद, इतिहास, पुराण आदि के साथ 'वाकोवाक्य' पद का प्रयोग भी किया है। यह 'वाको-वाक्य' वस्तुतः वादशास्त्र अथवा तर्कशास्त्र का ही अन्य नाम है।

1 . भारतीय दर्शनशास्त्र का इतिहास– डॉ. हरिदत्त शास्त्री, प्रकाशक– साहित्य भण्डार, मेरठ, 1996।

2 . आन्वीक्षिकी, त्रयी, वार्ता, दण्डनीतिश्च शाश्वती (कौटिल्य अर्थशास्त्र पृष्ठ–166)

इसीप्रकार आधुनिक न्यायशास्त्र के लिए तर्कशास्त्र, वादशास्त्र, प्रमाण शास्त्र, हेतुशास्त्र आदि शब्द भी हमें प्राचीन ग्रन्थों में उपलब्ध होते हैं।

उल्लेखनीय है कि कुछ विद्वानों के मत में उपनिषदों में प्रयुक्त 'वाकोवाक्य' शब्द वस्तुतः विकसित न्यायशास्त्र के अर्थ में प्रयुक्त नहीं हुआ है तथा 'आन्वीक्षिकी' पद भी न्यायशास्त्र के एक भाग को ही अभिहित करता है, समग्र को नहीं, क्योंकि वर्तमान न्यायशास्त्र में 'आन्वीक्षिकी' के अतिरिक्त अध्यात्म–विद्या भी विद्यमान है, भाष्यकार वात्स्यायन ने इसी को स्वीकार किया है।

वस्तुस्थिति यह भी है कि यदि 'संशय' आदि का पूर्व में कथन नहीं किया जाता है तो न्यायशास्त्र में केवल अध्यात्म–विद्या ही रह जाती है। तब उस स्थिति में इस शास्त्र की उपनिषद् आदि से कोई भिन्नता नहीं रहती है।[1]

वैदिककाल में 'न्याय' शब्द का प्रयोग इस अर्थ में नहीं हुआ है तथा उपनिषदों में प्रयुक्त 'वाकोवाक्य' पद वस्तुतः न्यायशास्त्र के शैशव को ही प्रदर्शित करता है। महर्षि पतंजलि ने 'वाकोवाक्य' शब्द का प्रयोग किया है, जिसकी टीका में आचार्य कय्यट ने इसे उक्ति प्रत्युक्ति रूप ग्रन्थ माना है–

'वाकोवाक्यशब्देन उक्तिप्रत्युक्तिरूपः ग्रन्थः।[2]

अतः निष्कर्षरूप में कहा जा सकता है कि न्यायशास्त्र अपने शैशवकाल में 'वाकोवाक्य' रहा तथा अपनी कौमार्य अवस्था में यह 'आन्वीक्षिकी' रूप में प्रसिद्ध हुआ, जबकि प्रौढ़ावस्था में इसे 'न्याय' शब्द मिला, जो आगे चलकर प्राचीन न्याय और नव्य न्याय दो रूपों में विकसित हुआ, जिनका विस्तृत अध्ययन हम आगे करेंगे।

(iii) **न्यायदर्शन के मूल स्रोत–** न्यायदर्शन का आरम्भ कब, कैसे और कहाँ हुआ? इस विषय में कोई निश्चित विवरण उपलब्ध नहीं

---

[1] भारतीय दर्शनशास्त्र का इतिहास– डॉ. हरिदत्त शास्त्री, पृष्ठ–168।

[2] महाभाष्य– 1/6/3 ।

है, किन्तु गम्भीर चिन्तन के परिणामस्वरूप इस सम्बन्ध में कुछ अनुमान अवश्य लगाया जा सकता है। विशुद्ध जिज्ञासा–दृष्टि अथवा जय–पराजय की भावना से अनेक विद्वानों की परस्पर शास्त्रचर्चा को न्याय की भाषा में क्रमशः 'वाद' और 'जल्प' संज्ञा प्रदान की गई है तथा सूक्ष्मदृष्टि से विचार करने पर हम भी देखते हैं कि सम्पूर्ण न्यायशास्त्र में 'वाद' और 'जल्प' इन दोनों पदों की ही मुख्यरूप से प्रधानता रही है।

प्रायः सभी न्यायशास्त्रियों की सम्पूर्ण शक्ति का प्रयोग इस ओर ही रहा है कि वे प्रतिपक्ष का विचार प्रस्तुत करके पहले तो उनकी न्यूनताओं की ओर संकेत करें और अपने पक्ष को निर्बल करने वाली कमियों को दूर करके, अपने मत का प्रबल युक्तियों के साथ प्रतिपादन करें। वाद–विवाद की इसी शैली का विवरण हमें न्याय शास्त्रीय साहित्य के बड़े भाग में देखने को मिलता है, जबकि इसके शेष अंश में देहादि से भिन्न एवं नित्य आत्म–तत्त्व की सिद्धि का प्रयास भी प्रमुख रहा है। इस दृष्टि से इस शास्त्र के प्रमुखरूप से ये दो ही विषय कहे जा सकते हैं। इसलिए इस आधार पर न्यायदर्शन की सृष्टि एवं परिस्थितियों का अनुमान भी सहज ही लगाया जा सकता है।

इसी प्रसंग में एक बात विशेषरूप से उल्लेखनीय है कि न्याय शास्त्र के इन दोनों ही विषयों में एक साध्य है तो दूसरा साधन है। इसलिए कहा जा सकता है कि देहादि के अतिरिक्त नित्य आत्म–तत्त्व की सत्ता की सिद्धि करना न्यायशास्त्र का प्रमुख और सैद्धान्तिक पक्ष है, जिसकी सिद्धि के लिए यहाँ प्रत्यक्ष, अनुमान, उपमान और शब्द इन चार प्रमाणों का प्रयोग किया गया है। आचार्य वात्स्यायन ने इसी दृष्टि से न्याय की परिभाषा इसप्रकार की है–

'प्रमाणैरर्थपरीक्षणं न्यायः (न्याय भाष्य–वात्स्यायन)

इसी प्रसंग में दूसरी और महत्त्वपूर्ण बात यह है कि यहाँ कुछ विशेष परिस्थितियों में साध्य को गौण तथा साधनभाग को प्रधानता भी

प्रदान की गई है। इस आधार पर स्पष्टरूप से कहा जा सकता है कि आत्मवाद और अनात्मवाद के संघर्ष में ही वस्तुतः न्यायशास्त्र का जन्म हुआ तथा उनके परस्पर वाद–विवाद के परिणामस्वरूप ही इसका विकास भी हुआ।

(iv) **न्यायदर्शन में अनुमान का महत्त्व**– न्यायसूत्र के प्रथम सूत्र पर भाष्य करते हुए आचार्य वात्स्यायन का कथन है कि 'प्रत्यक्ष' और 'आगम' (शब्द) प्रमाण के आधार पर अनुमान करने का ही नाम 'अन्वीक्षा' है, क्योंकि प्रत्यक्ष और आगम से दृष्ट पदार्थ का यह पुन–रीक्षण मात्र है, इसी अन्वीक्षा अथवा अन्वीक्षण में प्रवृत्त होने वाली विद्या ही 'आन्वीक्षिकी' कही गई है, जो न्यायविद्या अथवा न्यायशास्त्र से अभिन्न है।

इस दृष्टि से जो अनुमान प्रत्यक्ष या आगम के विरूद्ध होता है, वह न्याय न होकर न्याय का आभासमात्र होगा। अतः यह कहना ही अधिक उपयुक्त होगा कि न्याय की प्रक्रिया मुख्यरूप से अनुमान प्रक्रिया ही है। अतः न्याय का प्रतिपाद्य अनुमान है। दूसरे शब्दों में, 'अनुमान' ही 'न्याय' है।

(v) **न्याय सम्प्रदाय का उद्भव और विकास**– अत्यन्त प्राचीन समय से न्यायदर्शन को अत्यधिक प्रतिष्ठा की दृष्टि से देखा जाता रहा है। आचार्य मनु तो इसका समावेश श्रुति में करने के पक्षधर रहे हैं,[1] जबकि याज्ञवल्क्य ने इसे वेद के चार अंगों में से एक रूप में माना है।[2] प्राचीन पाठ्य विषयों–काव्य, नाटक, अलंकार और व्याकरण में तर्क के रूप में न्यायदर्शन की भी गणना की गई है। इतना ही नहीं, प्रत्येक भारतीय दर्शन न्याय द्वारा प्रतिपादित मौलिक सिद्धान्तों को अपनी स्वीकृति प्रदान करता है और इस दर्शन की आलोचना

---

1. भारतीयदर्शन– डॉ. राधाकृष्णन्, भाग–2, पृष्ठ–21।
2. याज्ञवल्क्य स्मृति– 1/3।

करते हुए वह न्याय की तार्किक परिभाषाओं का ही आश्रय लेता है। इन सभी दृष्टियों से न्यायदर्शन की प्राचीनता स्वतः ही सिद्ध होती है।

सूक्ष्मदृष्टि से विचार करने पर प्रत्येक विज्ञान को भी 'न्याय' के नाम से कहा जा सकता है, क्योंकि न्याय का शाब्दिक अर्थ ही किसी विषय के भीतर प्रवेश करके, उसकी विश्लेषणात्मक समीक्षा प्रस्तुत करना होता है। उल्लेखनीय यह भी है कि मीमांसक केवल श्रुतियों के भाष्यकार ही नहीं थे, अपितु तार्किक भी थे। सम्भव है, कर्म की नाना विधियों, नियमों तथा फलों की व्याख्या में आवश्यकता होने पर उनमें तर्कबुद्धि का भी विकास हुआ हो। इसप्रकार अत्यन्त प्राचीनकाल में मीमांसा शास्त्र के संस्थापकों ने भी अप्रत्यक्षरूप से न्यायशास्त्र की उन्नति में सहयोग प्रदान किया है। मीमांसा ग्रन्थों के नामों–**माधव कृत** न्यायमाला विस्तार, **पार्थसारथि मिश्र** कृत न्याय रत्नाकर एवं **आपदेव** के न्याय प्रकाश से यह भी स्पष्ट है कि– न्याय शब्द का मीमांसा के पर्यायवाची शब्दरूप में भी प्रयोग होता था।[1]

किन्तु जब आचार्य गौतम ने दूसरे विचारों की अपेक्षा तार्किक पक्ष की ओर विशेष ध्यान दिया तो उनके विचारों का 'आन्वीक्षिकी' के साथ तादात्म्य हो गया। इसप्रकार अत्यन्त प्राचीनकाल से 'एक पारि–भाषिक शब्द जो सामान्य अर्थों में प्रत्येक व्यवस्थित दर्शन के लिए प्रयुक्त होता था, संकुचित अर्थों में प्रयुक्त होने लगा।[2] वस्तुस्थिति तो यह है कि जिन स्थितियों और अवस्थाओं की यात्रा करते हुए न्याय शास्त्र का विकास हुआ, उनमें तर्क पर आधारित वादविवाद का विशेष स्थान रहा है।

इसीकारण यह शास्त्र तर्क–विद्या, वादविद्या आदि नामों से पुकारा जाता रहा, क्योंकि वादविवाद ही बौद्धिक जीवन का प्राण माना गया है। उपनिषदों में ऐसी अनेक विद्वत्परिषदों का उल्लेख मिलता है,

---

1. आपस्तम्ब धर्मसूत्र– 2/4/8/23, 2/6/14/3।
2. भारतीयदर्शन– डॉ. राधाकृष्णन्, भाग–2, पृष्ठ–22।

जिनमें दार्शनिक विषयों पर वाद–विवाद का आयोजन होता था।[1] अतः कहा जा सकता है कि न्यायशास्त्र का जन्म भी ऐसे ही वाद–विवाद पूर्ण शास्त्रार्थों से हुआ होगा और इन शास्त्रार्थों को लिपिबद्ध करने पर ही तर्कशास्त्र का विकास हुआ।

उल्लेखनीय यह भी है कि **आचार्य गौतम** को ही तर्क के इन सिद्धान्तों को व्यवस्थित रूप देने का श्रेय जाता है। इसीलिए उन्हें इस शास्त्र का **प्रवर्तक** माना गया। उनके न्यायसूत्र के प्रथम सूत्र में उल्लिखित सोलह विषय शास्त्रार्थ द्वारा ज्ञानप्राप्ति की श्रेणी में आते हैं।

इतना ही नहीं, परवर्तीकाल में अनेक ग्रन्थों में वाद–विवाद के नियमों के सम्बन्ध में भी बहस हुई, क्योंकि ये सभी ग्रन्थ किसी न किसी रूप में विवाद विषयक समस्याओं का ही निर्देश करते प्रतीत होते हैं। कौटिल्य का अर्थशास्त्र, सुश्रुत संहिता तथा चरक संहिता के कुछ अंशों को उक्त कथ्य की पुष्टि के प्रमाणरूप में प्रस्तुत किया जा सकता है, क्योंकि अर्थशास्त्र में बत्तीस पारिभाषिक शब्दों का कथन किया गया है, जिन्हें तन्त्रयुक्त संज्ञा प्रदान की गई है। चरक संहिता के 'आन्वीक्षिकी' मात्र में वाद–विवाद विषयक नियमों का विस्तार से उल्लेख हुआ है।[2]

इस प्रसंग में ध्यातव्य है कि आचार्य गौतम से पूर्व भी न्याय शास्त्र की स्थिति को नकारा नहीं जा सकता है, क्योंकि जिसप्रकार जैमिनि से पूर्व मीमांसा शास्त्र तथा आचार्य पाणिनि से पहले व्याकरण की स्थिति सर्वसम्मति से मान्य रही है। उसीप्रकार दर्शन शास्त्र के प्रसिद्ध विद्वान् डॉ. विद्याभूषण ने भी न्यायसूत्र के प्रणयन से पूर्व दत्तोत्रय, पुनर्वसु, आत्रेय, सुलभा, वैरागिनी और अष्टावक्र के उन नामों का उल्लेख किया है, जिन्होंने न्यायशास्त्र के विकास में योगदान

---

[1]. छान्दोग्योपनिषद्–5/3, 1। बृहदारण्यकोपनिषद–6/2, 1। प्रश्नो.–1/6।

[2]. भारतीयदर्शन– डॉ. राधाकृष्णन, पृष्ठ– 24।

प्रदान किया।[1] सिद्धान्त शिरोमणि आचार्य विश्वेश्वर भी इस कथ्य से सहमत प्रतीत होते हैं।[2]

इसके अतिरिक्त छान्दोग्योपनिषद् में 'वाकोवाक्य' वर्णन[3] महाभारत में तर्कशास्त्र और 'आन्वीक्षिकी' का उल्लेख उक्त कथ्य की पुष्टि में सहायक कहे जा सकते हैं। इसीप्रकार महाभारत में नारद को न्यायशास्त्र के परार्थानुमान से परिचित बताया गया है।[4] साथ ही, आचार्य विश्वनाथ ने अपनी न्यायसूत्रवृत्ति में पुराणों को उद्धृत करते हुए, न्याय की गणना वेदों के उपांगों में की है[5] तथा मिलिन्द के प्रश्नों में भी नीति के नाम से न्यायदर्शन का अवलोकन किया जा सकता है।[6]

इसीप्रकार ललितविस्तर नामक ग्रन्थ में न्यायशास्त्र का कथन 'हेतुविद्या' के नाम से किया गया है। ई.पू. प्रथम शती में स्थित आर्य रक्षित ने अपने 'अणुयोगद्वार' में अनुमान के पूर्ववत, शेषवत् और सामान्यतोदृष्ट आदि भेदों की व्याख्या गौतमसूत्र के अनुसार ही की है। डॉ. राधाकृष्णन्, ने आर्यरक्षित को किसी प्राचीन ग्रन्थ का संकलन कर्ता माना है, जिसका उल्लेख भगवतीसूत्र (ई.पू. तृतीय शती) में भी हुआ है। इस आधार पर अनुमान के तीन प्रकार के सिद्धान्तों को ई.पू. तृतीय शती से भी प्राचीन कहा जा सकता है।[7]

उपर्युक्त विवेचन के आधार पर निष्कर्षरूप में कहा जा सकता है कि न्यायशास्त्र का प्रारम्भ निश्चय ही बौद्धकाल से पहले हो गया था, किन्तु कटुसत्य यह भी है कि सूत्र–निर्माण से पूर्वकाल के

---

1. हिस्ट्री ऑफ इण्डियन लॉजिक– डॉ. विद्याभूषण, पृष्ठ– 9–17।
2. तर्कभाषा– आचार्य विश्वेश्वर हिन्दी टीका उपोद्घात, पृष्ठ– 33।
3. छान्दोग्योपनिषद– 7/12।
4. महाभारत– 1/70, 42।
5. न्यायसूत्र वृत्ति– 1/1/1।
6. सिक्रेट बुक्स ऑफ दी ईस्ट, पृष्ठ– 6, 7।
7. भारतीयदर्शन– डॉ. राधाकृष्णन्, पृष्ठ– 24।

न्यायशास्त्र के ऐतिहासिक विकास के सम्बन्ध में सामग्री की उपलब्धता नहीं है। वस्तुतः आचार्य गौतम का न्यायसूत्र ही इस शास्त्र की सर्वाधिक प्राचीन और व्यवस्थित रचना कही जा सकती है। तत्पश्चात् 'एके, केचित्, अन्ये' इस रूप में उल्लेख करके आचार्य वात्स्यायन ने अपने से कुछ पूर्व के अथवा समसामयिक अन्य भाष्यकारों की ओर भी संकेत किया है।[1]

इतना ही नहीं, आचार्य वात्स्यायन ने अपनी मान्यता के समर्थन में महर्षि पतंजलि के महाभाष्य, कौटिल्य के अर्थशास्त्र तथा वैशेषिक सूत्रों के सिद्धान्तों के उद्धरणों को भी प्रस्तुत किया है। साथ ही, अपने से पूर्व स्थित नागार्जुन के सिद्धान्तों का भी कुछ स्थलों पर खण्डन किया है, जबकि बौद्ध विचारों का अवलम्ब लेकर दिङ्नाग ने आचार्य वात्स्यायन के भाष्य की आलोचना की है। इस आधार पर विद्वान् वात्स्यायन को 400 ई. से कुछ पूर्व स्थित मानने के पक्षधर रहे है।[2] पं. तारानाथ शास्त्री ने अपनी पुस्तक 'हिस्ट्री ऑफ बुद्धिज्म' में दिङ्नाग की स्थिति पंचम शती में स्वीकार की है।[3]

इसके बाद छठी शताब्दी में स्थित उद्योतकर ने अपने वार्तिक में दिङ्नाग द्वारा वात्स्यायन पर किए गए आक्षेपों का उत्तर देकर इसके साहित्य में श्रीवृद्धि की। तत्पश्चात् धर्मकीर्ति का 'न्याय बिन्दु' नामक ग्रन्थ उद्योतकर द्वारा दिङ्नाग की आलोचना के उत्तर में लिखा गया । धर्मकीर्ति का समय सप्तम शती का प्रारम्भ माना गया है।[4] यही यही कारण है कि नवम शती में स्थित धर्मोत्तर ने अपनी 'न्यायबिन्दु' टीका में दिङ्नाग और धर्मकीर्ति दोनों का ही अनुकरण किया है।

पुनः नवम शती के पूर्वार्द्ध में स्थित आचार्य वाचस्पति मिश्र ने 'न्यायवार्तिक तात्पर्य टीका' में न्यायदर्शन के प्राचीन सिद्धान्तों की फिर

---

1. वात्स्यायन भाष्य– 1/1/33, 1/1/5, 1/2/9।
2. भारतीय दर्शन– डॉ. राधाकृष्णन्, पृष्ठ– 27।
3. क्लासिकल संस्कृत लिटरेचर, कीथ, पृष्ठ– 31–32।
4. 'इत्सिंग', तकाकुसु, पृष्ठ– 58।

से स्थापना की, साथ ही, उन्होंने अपने ऊर्जस्विनी प्रतिभा द्वारा 'न्याय शुचि निबन्ध' और 'न्यायसूत्रोद्वार' जैसे लघु ग्रन्थों का प्रणयन भी किया। यद्यपि कुछ विद्वान् 'न्यायसूत्रोद्धार' को भिन्न व्यक्ति की रचना मानने के पक्षधर रहे हैं।[1]

तत्पश्चात् वाचस्पतिमिश्र के ग्रन्थ पर 984 ई. में स्थित उदयन ने 'तात्पर्यपरिशुद्धि' नामक बहुमूल्य टीका की संरचना करके न्याय शास्त्र के साहित्य में अभिवृद्धि की। इसके अलावा आत्मा के नित्यत्व को सिद्ध करने के लिए आर्यकीर्ति आदि बौद्ध विचारकों की आलोचना में लिखा गया ग्रन्थ, न्यायदर्शन के उत्कृष्ट ग्रन्थ की श्रेणी में आता है। उल्लेखनीय यह भी है कि आचार्य उदयन द्वारा विरचित 'कुसुमांजलि नामक कृति न्यायशास्त्र की परमात्म–सिद्धि विषय पर प्रथम व्यवस्थित कृति कही जा सकती है। उनके अन्य ग्रन्थों में 'किरणावली' तथा 'परिशिष्ट' भी उल्लेखनीय रहे हैं।

पुनः 10वीं शताब्दी में स्थित जयन्त की 'न्यायमंजरी' गौतम के न्यायसूत्र पर एक स्वतन्त्रटीका रूप में उपलब्ध है, इसमें उन्होंने वाचस्पति मिश्र का उल्लेख किया है। इनमें नाम का कथन 'रत्नप्रभा' और 'देवसूरी' द्वारा बाद में भी किया गया। इसी क्रम में अग्रिम कड़ी के रूप में **'भासर्वज्ञ'** द्वारा न्यायसार नामक उत्कृष्ट ग्रन्थ का प्रणयन किया गया, जिसमें प्रत्यक्ष, अनुमान और आप्त इन तीन प्रमाणों को अपनी मान्यता प्रदान की। काश्मीरी शैव मतावलम्बी इनके समय को दशम शती मानने के पक्षधर रहे हैं।[2]

उसके बाद 1225 ई. में स्थित 'वर्धमान' ने **नव्यन्याय के संस्थापक आचार्य गंगेश** के विचारों का समावेश करते हुए उदयन के 'न्यायतात्पर्य परिशुद्धि' नामक ग्रन्थ पर 'न्यायनिबन्धप्रकाश' श्रेष्ठ ग्रन्थ का प्रणयन किया। इनके विचारों के विकास स्वरूप 1275 ई. में स्थित रुचिदत्त के 'मकरन्द' की संरचना की गई।

---

1. भारतीय दर्शन– डा. राधाकृष्णन्, पृष्ठ– 29 पर टिप्पणी।
2. भारतीय दर्शन, डॉ. राधाकृष्णन्, पृष्ठ– 29।

इस प्रसंग में उल्लेखनीय यह भी है कि न्यायदर्शन पर बाद में लिखे गए ग्रन्थों में वैशेषिक के पदार्थों को स्पष्टरूप से स्वीकार कर लिया गया। इसी क्रम में 12वीं शती में लिखा गया वरदराजाचार्य का 'तार्किक रक्षा' नामक ग्रन्थ समन्वयवादी विचारधारा का पोषक रहा है, जिसमें 'प्रमेय' पदार्थ में ही न्याय के बारह और वैशेषिक के छः पदार्थों का समावेश किया गया है।

इसीप्रकार तेरहवीं शती में स्थित आचार्य केशवमिश्र की 'तर्क–भाषा' न्याय–वैशेषिक के समन्वयरूप में देखी जा सकती है, जिस पर अनेकानेक टीकाओं का प्रणयन किया गया, जिनका हम आगे विस्तार से उल्लेख करेंगे। यहाँ केवल इतना ही कथ्य है कि सुदीर्घ वैदिक काल से लेकर तेरहवीं शती तक अनेक विद्वानों ने न्यायदर्शन पर अनेक ग्रन्थों का प्रणयन किया तथा इसके साहित्य में श्रीवृद्धि करते हुए इसके सिद्धान्तों की दृढ़रूप में स्थापना की।

उल्लेखनीय है कि न्यायदर्शन के सिद्धान्तों का पोषण करते हुए जैनदर्शन में भी अत्यन्त प्राचीनकाल से ही अनेक तर्कग्रन्थों का प्रणयन किया गया, जिनमें 357 ई.पू. के लगभग **भद्रबाहु** की 'दशवै–कालिक निर्युक्ति' छठी शती में **सिद्धसेनदिवाकर** का 'न्यायावतार' आठवीं शती के **माणिक्य नन्दी** का 'परीक्षामुखसूत्र' और बारहवीं शती के **देवसूरी** का 'प्रमाणनय तत्त्वालोकालंकार' तथा **प्रभाचन्द्र** का 'प्रमेय–कमलमार्तण्ड' विशेषरूप से उल्लेखनीय कहे जा सकते हैं।

इस प्रसंग में महत्त्वपूर्ण और कथनीय तथ्य यह भी है कि जैन विचारकों द्वारा लिखे गए न्यायशास्त्रीय ग्रन्थों में प्राचीन न्याय के अध्यात्मिक विषय का प्रतिपादन न करके विशुद्ध तर्क और वाद–विवाद से सम्बन्ध रखने के कारण तार्किक बिन्दुओं पर ही विशेष बल दिया गया है, जिसे परवर्ती नव्यन्याय का मार्ग प्रशस्त करना भी कहा जा सकता है।

न्यायदर्शन के विकास के इसी क्रम में नव्यन्याय को आधार बनाकर लिखा गया **आचार्य गंगेश** का 'मान्य ग्रन्थ' कहा जा सकता है। इनके पुत्र वर्धमान द्वारा अपने ग्रन्थों में नव्यन्याय की इसी परम्परा को स्वीकार किया गया है। 13वीं शती में स्थित **आचार्य जयदेव** ने गंगेश की 'तत्त्वचिन्तामणि' पर 'आलोक' टीका का प्रणयन किया। इस प्रसंग में उल्लेखनीय यह भी है कि लगभग 16 वीं शती के प्रारम्भ में स्थित वासुदेव सार्वभौम द्वारा विरचित 'तत्त्वचिन्तामणि व्याख्या' को नव्य न्याय का महत्त्वपूर्ण ग्रन्थ माना जाता है।

16वीं शती के अन्त में **जगदीश** तथा 17वीं शती में आचार्य **गदाधर** इस सम्प्रदाय के प्रसिद्ध तार्किकों में परिगणित हैं। 17वीं शती में ही स्थित **अन्नभट्ट** ने प्राचीन एवं नव्यन्याय तथा वैशेषिक दर्शन को लेकर एक व्यवस्थित दर्शनपद्धति को विकसित करने का प्रशंसनीय प्रयास किया। उनके द्वारा विरचित 'तर्कसंग्रह' और दीपिका टीका को न्यायवैशेषिक सम्प्रदाय की श्रेष्ठ एवं सरल कृतियाँ कहा जा सकता है।[1] इसके अतिरिक्त इसी शैली के नव्यन्याय विषयक ग्रन्थों में **बल्लभाचार्य** की न्याय–लीलावती और आचार्य विश्वनाथ की 'न्याय सूत्रवृत्ति' भी उल्लेखनीय महत्त्वपूर्ण ग्रन्थ हैं।

उपर्युक्त विवेचन से स्पष्ट है कि आचार्य गौतम के 'न्याय–सूत्र' के बाद न्यायदर्शन का सर्वाधिक प्राचीन ग्रन्थ 'वात्स्यायन भाष्य' कहा जा सकता है। उसके बाद अग्रिम वर्षों में प्रणीत सम्पूर्ण न्याय शास्त्रीय साहित्य का आधार 'न्यायसूत्र' और 'वात्स्यायन भाष्य' ही रहे तथा अन्य जो भी न्याय साहित्य निर्मित हुआ, वह इन्हीं के समर्थन अथवा टीका, प्रटीकाओं के रूप में लिखा गया। इसी कारण इसे 'प्राचीन न्याय' साहित्य के रूप में जाना जाता है। यह भी सत्य है कि न्यायसूत्रों के पश्चात् किसी मौलिक न्यायग्रन्थ की संरचना नहीं की

---

[1] . द्रष्टव्य, लेखककृत तर्कसंग्रह की दीपिका टीका सहित प्रकाशक, चौखम्बा संस्कृत प्रतिष्ठान दिल्ली– 2011।

गई, किन्तु फिर भी 17वीं शती तक टीका–प्रटीकाओं के रूप में न्याय साहित्य का निर्माण होता रहा। न्यायशास्त्र के उद्भव एवं विकास विषयक उक्त अभिप्राय को सुविधा की दृष्टि से हमने ग्रन्थ के अन्त में डायग्राम के माध्यम से संक्षेप में प्रस्तुत किया है।[1]

(vi) **न्यायदर्शन के द्विविध सम्प्रदाय–** इस दर्शन के दो भेदों का उल्लेख विशेषरूप से हुआ है– **प्रथम**, प्राचीन न्याय तथा **द्वितीय**, नव्य न्याय। इनमें भेद का आधार इन दोनों दर्शनों के ग्रन्थों की भाषा और प्रतिपादन शैली रही है। प्राचीन न्याय के ग्रन्थों में जहाँ प्रकारता, विशेष्यता, संसर्गता, प्रतियोगिता, अनुयोगिता, अवच्छेदकता अवच्छेद्यता, निरूपकता, निरूप्यता जैसे जटिल शब्दों का प्रयोग प्रायः नहीं किया गया है। वहीं दूसरी ओर नव्यन्याय के ग्रन्थों में इन शब्दों का अधिकांश रूप से प्रयोग हुआ है।

इसके अलावा प्राचीनन्याय की भाषा सरल और आडम्बर रहित होने पर भी इनकी शैली अत्यन्त संक्षिप्त और सांकेतिक रही है। इस कारण अनेक बार प्रतिपाद्य विषय ही स्पष्ट नहीं हो पाता है। उदाहरण के लिए अनुमान की ही बात ले लें। यहाँ अनेक अनुमानों में शैली की क्लिष्टता के कारण उनका अनुमानत्व ही स्पष्ट नहीं हो पाता है। साथ ही पक्ष, साध्य और हेतु की विशद प्रतिपत्ति भी नहीं हो पाई है।

इसके ठीक विपरीत नव्यन्याय की भाषा आडम्बर पूर्ण ऊपर से दुर्गम होने पर भी शैली की शालीनता के कारण अर्थ की दृष्टि से सुगम रही है। यदि पाठक का इसकी पारिभाषिक शब्दावली से परिचय हो तो इसके प्रतिपाद्य विषय को समझने में कठिनाई का अनुभव नहीं होता है।

प्राचीन और नव्यन्याय में इन दोनों के अलावा एक अन्तर और है कि प्राचीन न्याय में विषय का प्रतिपादन स्थूलरूप में किया गया है, उनके विचार तलस्पर्शी प्रतीत नहीं होते हैं, क्योंकि वे विषय के बाह्य

---

1. द्रष्टव्य परिशिष्ट।

कलेवर को स्पर्श करके ही संतुष्ट हो जाते हैं, जबकि नव्यन्याय में इसके ठीक विपरीत विषय का प्रतिपादन सूक्ष्म से भी सूक्ष्मतम की ओर अग्रसर प्रतीत होता है। उनके विचार ग्रहण किए गए विषय का सर्वांग रूप से स्पर्श करते हैं। इतने से ही सन्तुष्ट न होकर वे इसका कठोर और निष्पक्ष परीक्षण का सजग प्रयास करते हुए उसके अन्तर में प्रविष्ट होकर उसे निर्ममता के साथ कुरेदने का सफल चिन्तन प्रस्तुत करते हैं।[1] सम्भवतः इसी कारण उनके आलोचकों ने इसे 'बाल की खाल खींचना' संज्ञा भी प्रदान की है।

उपर्युक्त विवेचन स्पष्ट है कि न्यायदर्शन के प्राचीन और नव्य इन दोनों भेदों में प्रतिपाद्य विषय का गौण, प्रधान भाव एवं भाषा, शैलीगत विशेषता रही हैं, जबकि इन दोनों ही भेदों का मूलस्रोत आचार्य गौतम विरचित 'न्यायसूत्र' नामक एक ग्रन्थ ही रहा है।

(vii) **प्राचीन न्याय के आचार्य–** आचार्य विश्वेश्वर ने अपनी तर्कभाषा हिन्दी व्याख्या में प्राचीन न्याय के आचार्यों का नामोल्लेख किया है।[2] तदनुसार–

उल्लेखनीय है कि न्यायसूत्रों के पश्चात् 'प्राचीन न्याय' विषय पर किसी अन्य मौलिक ग्रन्थ की रचना नहीं हुई, किन्तु फिर भी टीका, प्रटीका, व्याख्या, वार्तिक आदि के रूप में सत्रहवीं शताब्दी तक प्राचीन न्याय साहित्य का सृजन होता रहा। इनमें भी 400 ई. से लेकर 1000 ई. पर्यन्त अत्यन्त महत्त्वपूर्ण प्राचीन न्याय साहित्य का प्रणयन हुआ। अब हम यहाँ उपर्युक्त आचार्यों में से उपलब्ध का अत्यन्त संक्षेप में विवरण प्रस्तुत कर रहे हैं–

(1) **आचार्य गौतम–** इनका अन्य नाम 'अक्षपाद' भी है, यद्यपि कुछ विद्वान् इन्हें भिन्न मानने के पक्षधर रहे हैं, किन्तु हम यहाँ इन्हें

---

[1]. तर्कभाषा–बद्रीनाथशुक्ल, मोतीलाल बनारसीदास, दिल्ली–1968, पृष्ठ– 6, 7।

[2]. तर्कभाषा (तर्करहस्य दीपिका) हिन्दी व्याख्या विश्वेश्वर, चौखम्बा प्रकाशन, वाराणसी 1967, पृष्ठ– 37।

एक मानकर ही विवरण प्रस्तुत कर रहे हैं। इन्होंने 'न्यायसूत्र' की संरचना की। यद्यपि विद्वानों का एक समुदाय इस ग्रन्थ को किसी एक काल और व्यक्ति की रचना मानने का पक्षधर नहीं रहा है तथापि हम उस विवेचन में न पड़ कर केवल इतना ही कहना चाहेंगे कि-

न्यायसूत्र कुल पाँच अध्यायों में विभाजित किया गया है तथा प्रत्येक अध्याय में दो आह्निक हैं। प्रमाण आदि सोलह पदार्थों का परिगणन करके यहाँ इन्हीं के तत्त्वज्ञान से निःश्रेयस् (अपवर्ग-मोक्ष) प्राप्ति का कथन किया गया है। तत्पश्चात् प्रमाण लक्षण, विभाजन तथा भेद-प्रभेदों का विस्तृत विवेचन हुआ है। यहाँ न्यायदर्शन की क्रम-बद्धता, विषय व्यवस्था और शास्त्रीय गठन आदि वैज्ञानिकता लिए हुए है। तर्कभाषाकार ने न्यायसूत्र का अपने विषय विवेचन में पर्याप्त अनुसरण करते हुए सूत्र संख्या निर्देश भी किया है। इनका समय 300 ई. से लेकर 300 ई.पू. तक माना गया है।

(2) **आचार्य वात्स्यायन–** इनका समय 300 ई. के लगभग माना गया है। इन्होंने आचार्य गौतम द्वारा प्रणीत 'न्यायसूत्र' पर भाष्य की संरचना की, जिसे न्यायभाष्य अथवा वात्स्यायन भाष्य के नाम से जाना जाता है। विद्वानों का मानना है कि इनका नाम वस्तुतः **'पक्षिल स्वामी'** था तथा वात्स्यायन इनका गोत्र रहा होगा।[1] आचार्य गौतम के न्यायसूत्रों को सरल भाषा में स्पष्ट करने का श्रेय इन्हीं को ही जाता है। तर्कभाषाकार ने अनेक स्थलों पर वात्स्यायन भाष्य को उद्धृत किया है। यद्यपि यहाँ उनके नाम का कथन नहीं हुआ है तथापि 'यथाह भाष्यकारः' ऐसा उल्लेख वे तर्कभाषा में अनेक स्थलों पर करते रहे हैं। कुछ विद्वान् कामसूत्र के रचयिता और न्यायभाष्यकार को एक मानने के पक्षधर हैं, किन्तु इस विषय में मतैक्य नहीं है। **'अभिधान चिन्तामणि'**

---

1. तर्कभाषा– डॉ. श्री निवास शास्त्री, साहित्य भण्डार, मेरठ, 1972, विषयप्रवेश, पृष्ठ– 12।

नामक ग्रन्थ में आचार्य हेमचन्द्र ने वात्स्यायन के अनेक नामों का उल्लेख किया है–

वात्स्यायनो मल्लनागः कौटिल्यश्चणकात्मजः।
द्रामिलः पक्षिलस्वामी, विष्णुगुप्तोऽङ्गुलश्च सः।।

तदनुसार वात्स्यायन, पक्षिल स्वामी, कौटिल्य और चाणक्य ये सब एक ही व्यक्ति के नाम है। तर्कभाषा के टीकाकार आचार्य विश्वेश्वर ने इस मत से सहमति व्यक्त की है। उनके अनुसार– ये द्रविड़ देश के निवासी थे।[1]

(3) **उद्योतकर–** 635 ई. के लगभग स्थित इन्होंने **न्यायवार्तिक** नामक ग्रन्थ की संरचना की। ये पाशुपत सम्प्रदाय के अनुयायी थे। इनका गोत्र भरद्वाज था। अतः इन्हें पाशुपताचार्य उद्योतकर भारद्वाज के नाम से भी जाना जाता है। 650 ई. के लगभग स्थित आचार्य सुबन्धु ने अपने वासवदत्ता नामक ग्रन्थ में इनके नाम का उल्लेख किया है। इन्होंने न्यायभाष्य की सरल भाषा में व्याख्या प्रस्तुत की है।

उल्लेखनीय यह भी है कि इन्होंने दिङ्नाग आदि बौद्धों के आक्षेपों का परिहार करने के लिए ही 'न्याय भाष्य' पर अपने वार्तिक ग्रन्थ का प्रणयन किया था, जिसका कथन वाचस्पति मिश्र द्वारा अपने न्यायवार्तिक तात्पर्यटीका में किया गया है। न्याय के अनेक सिद्धान्तों की नूतन व्याख्या का श्रेय आचार्य उद्योतकर को ही प्रदान किया जाता है। इन्होंने वार्तिक ग्रन्थ में वसुबन्धु और दिङ्नाग के मतों का खण्डन उनके नाम का उल्लेख किए बिना ही किया है।

(4) **आचार्य वाचस्पतिमिश्र–** इन्होंने उद्योतकर के न्यायवार्तिक पर तात्पर्यटीका का प्रणयन 840 ई. के लगभग किया। ये अद्भुत प्रतिभा के धनी थे, इसलिए भारतीय दर्शन साहित्य में ये सर्वतन्त्र स्वतन्त्र आचार्यरूप में प्रख्यात हैं। वस्तुतः इनके सम्पूर्ण लेखन का उद्देश्य न्याय वैशेषिक दर्शन के मन्तव्य को परिनिष्ठित रूप में प्रस्तुत करना रहा।

---

1 . तर्कभाषा, हिन्दी टीकाकार आचार्य विश्वेश्वर, पृष्ठ– 33।

यही कारण है कि जब उद्योतकर के न्यायवार्तिक की बौद्ध विद्वानों द्वारा कटु आलोचना की गई, तब इन्होंने उसके उद्धार के लिए न्याय वार्तिक तात्पर्य टीका का प्रणयन किया। ये मिथिला के रहने वाले थे। इनके गुरु का नाम त्रिलोचन था। बहुमुखी प्रतिभा के धनी होने से सभी दर्शनों पर इनका समान अधिकार था। इनकी पत्नी का नाम भामती था। इन्होंने वेदान्तदर्शन के शांकरभाष्य पर अपनी 'भामती' टीका की संरचना की।

ये हर समय लेखन में व्यस्त रहते थे। विवाहित होते हुए भी सदैव गृहस्थ धर्म से विरक्त रहे। पत्नी के त्याग एवं अपनी वंशवृद्धि की उसकी कामना को पूर्ण करने के लिए ही उन्होंने अपनी शांकर भाष्य टीका का उसके नाम से नामकरण किया। इन्होंने सांख्य तथा योग दोनों ही दर्शनों पर अपनी लेखनी चलाई और 'सांख्यतत्त्व कौमुदी' तथा 'योगतत्त्ववैशारदी' की संरचना करके दर्शनसाहित्य में अद्भुत समृद्धि की।

वैदिक दर्शन में इन्हें गम्भीर पाण्डित्य प्राप्त था, साथ ही बौद्ध दर्शन का ज्ञान भी इन्हें उच्च कोटि का था। इसीलिए इन्होंने बौद्ध दर्शन के मन्तव्यों को अत्यन्त सरलरूप में प्रस्तुत करते हुए उनका खण्डन किया, इनके लेखन से बौद्ध विद्वानों को भी अपने सिद्धान्तों को परिष्कृतरूप में प्रस्तुत करने की प्रेरणा प्राप्त हुई, यही कारण है कि सम्पूर्ण भारतीय दर्शन साहित्य में आचार्य वाचस्पति मिश्र का नाम अत्यन्त आदर एवं श्रद्धा के साथ लिया जाता है।

(5) **उदयनाचार्य–** इनका समय 984 ई. के लगभग माना जाता है। न्यायदर्शन साहित्य में आचार्य वाचस्पति मिश्र के बाद इनका नाम भी अत्यन्त आदर के साथ लिया जाता है। बौद्ध विद्वानों ने जिसप्रकार वाचस्पति से पूर्व के नैयायिकों की आलोचना की थी, ठीक उसीप्रकार उन्होंने वाचस्पति की भी आलोचना की। इसलिए उनके उत्तर में

इन्होंने अपने उत्कृष्ट न्यायग्रन्थ 'न्यायवार्तिक तात्पर्य परिशुद्धि' नामक टीका का प्रणयन कर न्याय साहित्य को समृद्ध किया।

इसके अलावा बौद्ध सिद्धान्तों के खण्डन में इन्होंने 'न्याय-कुसुमांजलि' और 'आत्मतत्त्व विवेक' दो अत्यन्त उच्चकोटि के दर्शन ग्रन्थों की संरचना की। इसीप्रकार इन्होंने बौद्ध विद्वान् '**कल्याणरक्षित** विरचित 'ईश्वरभंगकारिका' के प्रत्युत्तररूप में 'कुसुमांजलि' की रचना करते हुए ईश्वर की सिद्धि का सफल एवं स्तुत्य प्रयास किया। 'बौद्धधिक्कार' नामक अपने अन्य ग्रन्थ में इन्होंने बौद्धों के 'अपोह', 'क्षणभंगुरवाद' तथा 'श्रुति–अप्रामाण्य' का तर्कसम्मत खण्डन प्रस्तुत किया।

इसीप्रकार 'आत्मतत्त्वविवेक' नामक उत्कृष्ट ग्रन्थ की रचना इन्होंने बौद्धदार्शनिक कल्याणरक्षित द्वारा विरचित 'अन्यापोहविचार कारिका' और 'श्रुतिपरीक्षा' के उत्तर में की। 847 वि. संवत् के लगभग स्थित धर्मोत्तराचार्य के 'अपोह' नामक प्रकरण और 'क्षणभंग सिद्धि' इन दोनों ग्रन्थों की सम्यक् आलोचना भी इन्हीं ग्रन्थों में की गयी है। इन ग्रन्थों में उदयनाचार्य ने क्षणभंग, ब्रह्मार्थ भंग, गुणगुणिभेद भंग और अनुपलम्भ, इन चार महत्त्वपूर्ण बौद्ध सिद्धान्तों का खण्डन करते हुए नित्य आत्मतत्त्व की सत्ता को सिद्ध किया।

वस्तुतः ईश्वर और आत्मा के सम्बन्ध में इनके बौद्ध दार्शनिकों के साथ होने वाले शास्त्रार्थों में पराजित होने पर भी बौद्ध ईश्वर को मानने से इन्कार कर देते थे। कहते हैं एक बार वे भगवान् के दर्शन के लिए जगन्नाथपुरी गए और वहाँ भगवान् जगन्नाथ के दर्शन न होने पर इन्होंने इसे अपना अपमान समझा तो इन्होंने भगवान् को सम्बोधित करते हुए कहा–

ऐश्वर्यमदमत्तोऽसि मामवज्ञाय तिष्ठसि।
समायाते पुनर्बौद्धे मदधीना तव स्थितिः।।

इसप्रकार भगवान् के दर्शनों से निराश होकर इन्होंने वाराणसी में तुषानल में प्रवेश करके अपने जीवन का त्याग कर दिया।[1] उदयनाचार्य के पश्चात् टीका-प्रटीका की पद्धति प्रायः समाप्त हो गई, किन्तु प्राचीन पद्धति से न्यायसूत्रों के ऊपर स्वतन्त्रवृत्ति का रचनाक्रम 17वीं शती तक चलता रहा, जिसका उल्लेख हमने पूर्व में उनके सम्भावित कालखण्ड एवं कृतियों के साथ कर दिया है, विस्तारभय से उनको पुनः नहीं दिया जा रहा है।

(viii) **नव्य न्याय के आचार्य–**

(1) **गंगेश उपाध्याय–** नव्यन्याय का उद्भव और विकास मिथिला में हुआ। इस दर्शन के आचार्यों में सर्वप्रथम नाम मिथिला निवासी गंगेश उपाध्याय का आता है। इनका जन्म दरभंगा के दक्षिण पूर्व में स्थित **'कोरियांव'** नामक ग्राम में एक ब्राह्मण कुल में हुआ। यह गाँव **कमला नामक नदी** के तट पर स्थित है। कहते हैं कि काली की आराधना से इन्हें न्याय-निष्णात होने का आशीर्वाद प्राप्त हुआ। मौलिक चिन्तन सम्पन्न ये असाधारण प्रतिभा के धनी थे। इन्होंने ही **'तत्त्वचिन्तामणि'** नामक मौलिक ग्रन्थ की रचना करके नव्यन्याय को जन्म दिया। इसीकारण इन्हें **नव्यन्याय का संस्थापक आचार्य** भी कहा जाता है।

चार खण्डों में विभक्त इस ग्रन्थ का अन्य नाम 'प्रमाण चिन्तामणि' भी है, क्योंकि इसमें न्यायसम्मत प्रत्यक्ष, अनुमान, उपमान और शब्द चार प्रमाणों का सूक्ष्म विवेचन किया गया है। साथ ही, इसके प्रत्येक खण्ड में अन्य दर्शनों के विरोधी मतों का और न्याय शास्त्र के ही अनेक पूर्ववर्ती मतों का निराकरण करके अपने नूतन सिद्धान्तों की प्रस्थापना की गई है, जिसके कारण इन्हें 'सिद्धान्तदीक्षा गुरु' के नाम से भी जाना जाता है।

---

[1] द्रष्टव्य, तर्कभाषा– आचार्य विश्वेश्वर टीका पृष्ठ– 36–37।

इनका 'वर्धमान' नामक एक पुत्र भी था, जो न्यायविद्या में पारंगत था। आचार्य गंगेश के आराध्य देव भगवान् शंकर थे, किन्तु अपनी तत्त्वचिन्तामणि के मंगलाचरण में इन्होंने ब्रह्मा, विष्णु और महेश इन त्रिमूर्ति को भी नमन किया है। इन्होंने भगवान् शंकर को 'ओम्' पद वाच्य, परम कृपालु और जगत् का आश्रय मानकर इनकी आराधना की है। 'तत्त्वचिन्तामणि' वस्तुतः युगप्रवर्तक ग्रन्थ है।

उल्लेखनीय है कि तत्त्वचिन्तामणि पर अनेक न्यायमर्मज्ञ विद्वानों ने गम्भीर और प्रौढ़ व्याख्याएँ प्रस्तुत कीं, जिनमें **रघुनाथ शिरोमणि** की 'दीधिति' टीका, **पक्षधर मिश्र** की 'आलोक' तथा **मथुरा–नाथ तर्कवागीश** की 'रहस्य' नामक तीन टीकाएँ विशेषरूप से उल्लेखनीय हैं। इनमें भी दीधिति टीका, जिसमें ग्रन्थकार ने मूल ग्रन्थ के अभिप्राय को स्पष्ट करने के लिए अनेक नई परिकल्पनाओं एवं विचारों का समावेश किया है।

यही कारण है कि आगे चलकर 'दीधिति' टीका पर भी अनेक विद्वानों ने पुनः उपटीका ग्रन्थों की संरचना की, जिनमें रामरुद्र तर्कवागीश, रघुदेव न्यायालंकार, रुद्रन्याय वाचस्पति, जयराम न्याय पंचानन, रामभद्र सार्वभौम, भवानन्द सिद्धान्त वागीश, जगदीश तर्कालंकार, वासुदेव सार्वभौम और गदाधर भट्टाचार्य के नाम विशेषरूप से उल्लेखनीय हैं। इन सभी टीकाओं में भी अन्तिम दो विद्वानों की जागदीशी और गादाधरी टीकाएँ विद्वानों में अपेक्षाकृत अधिक समादृत हुईं।

इसीप्रकार आचार्य **पक्षधर मिश्र** की 'आलोक' नामक टीका पर भी अनेक विद्वानों ने टीकाएँ लिखकर नव्यन्याय के साहित्य को समृद्धि प्रदान की। जिनमें **हरिदास भट्टाचार्य** की 'मण्यालोक टिप्पणी', **मधुसूदन ठक्कुर** की 'तत्त्वचिन्तामण्यालोककण्टकोद्धार', **महेशठक्कुर** की 'आलोक दर्पण', **देवनाथ ठक्कुर** की 'तत्त्वचिन्तामणि आलोक परिशिष्ट', **कृष्ण दास सार्वभौम**' की अनुमानालोकप्रसारिणी', **भवानन्द सिद्धान्त वागीश**

की 'प्रत्यक्षालोकसार मंजरी', **गुणानन्द** की 'शब्दालोकविवेक' तथा **गदाधर भट्टाचार्य** की 'तत्त्वचिन्तामण्यालोकटीका' विशेषरूप से उद्धरणीय हैं। यहाँ हम इनमें से केवल कुछ ही टीकाकारों का उल्लेख कर रहे हैं–

(2) **पक्षधरमिश्र–** मिथिला के उद्भट विद्वानों में परिगणित इनका अन्य नाम **जयदेव** भी था। इन्होंने गंगेशोपाध्याय के 'तत्त्वचिन्तामणि' पर 'आलोक' टीका की संरचना की। ये उच्चकोटि के नैयायिक और सुप्रसिद्ध नाटककार भी थे। इन्होंने **'प्रसन्नराघव'** नामक नाटक का प्रणयन किया, जिसका संस्कृत नाट्य–साहित्य में विशिष्ट स्थान है। इनका समय 13वीं शती का उत्तरार्द्ध माना गया है।

(3) **वासुदेव सार्वभौम–** इनका जन्म बंगाल में हुआ, किन्तु न्याय विद्या के प्रति विशेषरुचि होने के कारण इन्होंने मिथिला में रहकर प्रसिद्ध नैयायिक पक्षधर मिश्र का शिष्यत्व ग्रहण करके उनसे गंगेशोपाध्याय की तत्त्वचिन्तामणि का विधिवत् अध्ययन किया तथा सम्पूर्ण तत्त्वचिन्तामणि और न्यायकुसुमांजलि को अक्षरशः कण्ठस्थ कर लिया तथा काशी जाकर इन्हें लिपिबद्ध कर दिया तथा वहाँ इन्होंने न्यायशास्त्र के अध्ययन की एक 'विद्यापीठ' की स्थापना की। कहते हैं कि मिथिला के 'नैयायिक अपनी न्यायविद्या को अन्यत्र ले जाने के पक्षधर नहीं थे, किन्तु इन्होंने उनके विपरीत जाकर इस ज्ञान को नवद्वीप में स्थापित किया। इनका समय विद्वानों ने 13वीं शती का उत्तरार्द्ध और 14वीं शती का पूर्वार्द्ध निर्धारित किया है।

(4) **रघुनाथ शिरोमणि–** इन्होंने नवद्वीप में वासुदेव सार्वभौम से नव्यन्याय का अध्ययन किया तथा बाद में मिथिला जाकर पक्षधर मिश्र का शिष्यत्व ग्रहण किया, अतः ये इन दोनों के समकालिक थे तथा तत्त्वचिन्तामणि पर 'दीधिति' नामक अद्भुत टीका का प्रणयन किया, जिसमें इन्होंने अपने पूर्ववर्ती अनेक नैयायिकों तथा अपने दोनों गुरुओं (वासुदेव और पक्षधर) की आलोचना की। साथ ही, अपनी अद्भुत

प्रतिभा एवं तर्कशक्ति के माध्यम से न्याय के पुरातन सिद्धान्तों का खण्डन करके अपने अनेक नूतन सिद्धान्तों की प्रस्थापना की।

तत्त्वचिन्तामणि दीधिति के अतिरिक्त इन्होंने लगभग आठ अन्य ग्रन्थों की संरचना भी की, जिनका हम यहाँ उल्लेख कर रहें हैं– (क) बौद्धधिक्कार शिरोमणि (ख) पदार्थ तत्त्वनिरूपण (ग) किरणावली प्रकाश–दीधिति (घ)न्यायलीलावती प्रकाशदीधिति (ड) अवच्छेदकत्व निरुक्ति (च) खण्डनखण्डखाद्य दीधिति (छ) आख्यातवाद (ज) और नञ् वाद।

(5) **मथुरानाथ तर्कवागीश**– ये रघुनाथ शिरोमणि के पुत्र एवं शिष्य थे। इनका समय 1625 के आसपास माना गया है। इन्होंने लगभग दस ग्रन्थों की संरचना की, जिनमें 'तत्त्वचिन्तामणि रहस्य' विशेषरूप से उल्लेखनीय है। इनके अद्भुत पाण्डित्य के सम्मान में नवद्वीप के विद्वत्मण्डल ने इन्हें 'तर्कवागीश' की उपाधि प्रदान की। विद्वानों की मान्यता है कि इनके द्वारा विरचित 'रहस्य' के अभाव में 'चिन्तामणि' के अनेक स्थल रहस्य ही रह जाते हैं। इन्हें आयुर्वेद का भी ज्ञान था।

इसके अलावा इनके दूसरे ग्रन्थ इसप्रकार है– तत्त्वचिन्तामणि आलोक रहस्य, दीधिति रहस्य, सिद्धान्त रहस्य, किरणावली प्रकाश रहस्य, न्याय लीलावती प्रकाश रहस्य, न्यायलीलावती दीधिति रहस्य, बौद्धधिक्कार रहस्य, आदिक्रिया विवेक और आयुर्वेद भावना।

(6) **जगदीश तर्कालंकार**– इनका समय 1630 के लगभग माना गया है। ये न्यायशास्त्र के उच्चकोटि के विद्वान् और मर्मज्ञ थे। इन्होंने रघुनाथ शिरोमणि की तत्त्वचिन्तामणि दीधिति पर विस्तृत टीका ग्रन्थ की संरचना की, जिसे **जागदीशी** के नाम से विद्वत्समाज में ख्याति प्राप्त हुई। इन्होंने तत्त्वचिन्तामणि मयूख, न्यायसारावली, पदार्थतत्त्व निर्णय तर्कामृत, शब्दशक्तिप्रकाशिका और न्यायलीलावती दीधिति व्याख्या आदि कुल सात ग्रन्थों का प्रणयन किया, जिनमें तर्कामृत और

शब्दशक्ति प्रकाशिका को विद्वत्समाज में पर्याप्त आदर व सम्मान प्राप्त हुआ। इनमें भी 'शब्दशक्ति प्रकाशिका' की विद्वानों द्वारा 'जगदीशस्य सर्वस्व' कहकर प्रशंसा की गयी है।

(7) **गदाधर भट्टाचार्य–** 1650 के लगभग स्थित इन्होंने नव द्वीप के नैयायिकों में विशेष प्रशस्ति प्राप्त की। इन्होंने 'गादाधरी' नाम से प्रख्यात टीका ग्रन्थ की रचना की, जिसे रघुनाथ शिरोमणि की 'दीधिति' पर अत्यन्त विस्तृत और परिष्कृत टीका ग्रन्थ स्वीकार किया जा सकता है। इन्होंने न्याय के अतिरिक्त भी अनेक ग्रन्थों की संरचना की, जिनका हम यहाँ केवल नामोल्लेख कर रहे हैं–

तत्त्वचिन्तामणि दीधिति प्रकाशिका (गादाधरी), तत्त्व चिन्तामणि व्याख्या, तत्त्वचिन्तामणि आलोक टीका, मुक्तावली टीका, रत्नकोपवाद रहस्य, अनुमान चिन्तामणि दीधिति टीका, आख्यातवाद, कारकवाद, नञ्वाद, प्रामाण्यवाद दीधिति टीका, शब्द प्रामाण्यवाद रहस्य, बुद्धिवाद, युक्तिवाद, विधिवाद, विषयतावाद, व्युत्पत्तिवाद, शक्तिवाद और स्मृति संस्कारवाद। इसके अतिरिक्त भी अनेक विद्वानों का इस क्षेत्र में आविर्भाव हुआ, जिनका हम यहाँ विस्तारभय से उल्लेख नहीं कर रहे हैं।

(ix) **न्यायशास्त्र के प्रकरण ग्रन्थकार–** जैसा कि हमने पूर्व में कथन किया कि ग्यारहवीं शती से ही विद्वानों ने टीका–परम्परा का त्याग करके स्वतन्त्र ग्रन्थ लिखना प्रारम्भ कर दिया था, जिनमें शास्त्र के सर्वांगीण विवेचन की अपेक्षा उसके एक देश विशेष को लेकर ग्रन्थ की संरचना की गई। इन्हीं ग्रन्थों को यहाँ प्रकरण ग्रन्थ की संज्ञा प्रदान की गई। इनमें भाषा की सरलता और भावों की नवीनता को प्रमुखता प्राप्त हुई। साथ ही, विद्वानों ने प्रकरण ग्रन्थ की परिभाषा भी प्रस्तुत की। तदनुसार–

प्रकरण, शास्त्र के एक देश अर्थात् विशिष्ट अंक से सम्बद्ध रहता है। इसका विवेचन मूल शास्त्र की शैली से थोड़ा हटकर किया

जाता है। इनमें शास्त्र सम्मत अभिप्राय स्पष्ट होने के साथ–साथ अपने मूल शास्त्र को पद--पद पर प्रमाणरूप में भी प्रस्तुत किया जाता है–

शास्त्रैकदेशसम्बद्धं शास्त्रकार्यान्तरे स्थितम्।
आहुः प्रकरणं नाम ग्रन्थभेदं विपश्चितः।।

(1) **भासर्वज्ञ–** प्रकरण ग्रन्थ की परम्परा को शुभारम्भ करने का श्रेय दशम शताब्दी के अन्त में स्थित 'भासर्वज्ञ' को जाता है। इन्होंने **न्यायसार** नामक अद्भुत प्रकरण ग्रन्थ का प्रणयन किया। यहाँ प्रमाण लक्षण के प्रसंग में संशय एवं विपयर्य का उल्लेख करके इन्होंने प्रत्यक्ष, अनुमान और शब्द इन तीन प्रमाणों का कथन किया। इस दृष्टि से विद्वानों द्वारा इसे सांख्य और जैन दर्शन सम्मत भी बताया गया। इसीप्रकार इसमें प्रमेयों की संख्या चार बतायी गई– दुःख है, दुःख का कारण है, दुःख निवृत्ति सम्भव है तथा दुःखनिवृत्ति का उपाय भी है।

अन्त में मोक्ष–निरूपण करते हुए इन्होंने दुःख की निवृत्ति के साथ शाश्वत सुख की प्राप्ति को ही 'मोक्ष' संज्ञा प्रदान की। इसप्रकार इस ग्रन्थ में ग्रन्थकार ने प्रमाण के मुख्य प्रतिपादन के साथ–साथ न्यायदर्शन के अन्य सभी पदार्थों का वर्णन भी किया है तथा न्याय दर्शन में प्रतिपादन किए जाने वाले शाश्वत सुखरूप मोक्ष का भी निरूपण करने के कारण इसे विद्वानों ने प्रथम प्रकरण ग्रन्थ की श्रेणी में रखा है।

(2) **वरदराज–** इनका समय विद्वानों ने 12वीं शती स्वीकार किया है तथा इन्हें आन्ध्रप्रदेश का निवासी बताया है। इन्होंने **'तार्किक रक्षा'** नामक प्रशंसनीय प्रकरण ग्रन्थ की संरचना की, जिसका सम्बन्ध न्यायशास्त्र से रहा है क्योंकि, इसमें न्यायदर्शन के प्रमाण, प्रमेय आदि सोलह पदार्थों का निरूपण किया गया है, जिनमें आत्मा, शरीर आदि बारह पदार्थों सहित द्रव्य, गुणादि का भी विशद वर्णन हुआ है। इसमें ग्रन्थकार का प्रयास न्यायदर्शन के सिद्धान्तों को सरलरूप में प्रस्तुत करना रहा है। साथ ही, न्याय परम्परा से हटकर कुछ नवीन मतों की

भी प्रस्थापना की गई है। इस ग्रन्थ की व्याख्या में स्वयं वरदराज ने ही **'सारसंग्रह'** नामक एक अन्य ग्रन्थ की संरचना की तथा विष्णु स्वामी के शिष्य **ज्ञानपूर्ण** ने 'लघुदीपिका' और **आचार्य मल्लिनाथ** ने 'निष्कंटक' नामक टीका का प्रणयन कर इसमें अपेक्षाकृत अधिक सरलता का आधान किया।

(3) **वल्लभाचार्य–** न्यायशास्त्र के प्रकरण ग्रन्थकारों में अग्रिम नाम 12वीं शती के ही वल्लभाचार्य का आता है। न्याय वैशेषिक के प्रकाण्ड पण्डित इन्होंने **'न्याय लीलावती'** नामक विशाल प्रकरण ग्रन्थ का प्रणयन किया। ग्रन्थ का आरम्भ पुरुषोत्तम परमात्मा के वन्दन से हुआ है। इस ग्रन्थ में वैशेषिक के षड्विध भावपदार्थों में द्वितीय पदार्थ गुण–वर्ग में परिगणित बुद्धि के 'विद्या' और 'अविद्या' नामक दो भेद बताकर विद्या के साधन रूप में न्यायदर्शन के चार प्रकार के प्रमाणों का विवेचन प्रस्तुत किया है।

'न्यायलीलावती' के महत्त्व को इस ग्रन्थ पर विरचित टीका–प्रटीकाओं के रूप में देखा जा सकता है। तदनुसार–

वर्धमान उपाध्याय की 'न्यायलीलावतीप्रकाश',रघुवंश शिरोमणि की 'न्यायलीलावतीदीधिति', शंकरमिश्र की 'न्यायलीलावती कण्ठाभरण', मथुरानाथ तर्कवागीश की 'न्यायलीलावती प्रकाशविवेक' तथा भगीरथ ठक्कुर की 'न्यायलीलावती प्रकाशविवृत्ति' विशेषरूप से उल्लेखनीय हैं।

(4) **अन्नंभट्ट–** सत्रहवीं शती में स्थित आचार्य अन्नंभट्ट ने केवल वैशेषिक दर्शन के सिद्धान्तों को आधार बनाकर सूत्ररूप में अत्यन्त सरल और लघुग्रन्थ **'तर्कसंग्रह'** की संरचना की। प्रकरण ग्रन्थ की श्रेणी में परिगणित यह लघुकृति विद्वत्समुदाय में अत्यधिक लोक–प्रिय हुई। यद्यपि ग्रन्थकार ने अपने ग्रन्थ तर्कसंग्रह में अपना काल और स्थान आदि के सम्बन्ध में कुछ भी नहीं लिखा है, किन्तु विद्वत्परम्परा इन्हें **सोमयाजी तिरुमल्लाचार्य** का पुत्र मानती है।[1] इनका

[1]. भारतीय दर्शनशास्त्र, न्याय वैशेषिक, डॉ. धर्मेन्द्रनाथ शास्त्री, पृष्ठ– 132।

जन्म आन्ध्र प्रदेश के गरिकापाद नामक स्थान पर हुआ। ये तैलंग ब्राह्मण थे। कृष्णा नदी के तट पर आज भी **चित्तूर के पास** स्थित **केशवपुर में** ऋग्वेदीय अन्नंभट्ट गोत्रीय ब्राह्मण निवास करते हैं।

अन्नंभट्ट का तर्कसंग्रह वस्तुतः न्याय और वैशेषिक सिद्धान्तों का प्रतिपादन करने वाला बालोपयोगी प्रकरण ग्रन्थ है। इसमें वैशेषिक दर्शन के द्रव्य, गुण, कर्म, सामान्य, विशेष, समवाय और अभाव इन सात पदार्थों का प्रतिपादन अत्यन्त सरल भाषा में किया गया है। इसी ग्रन्थ के ऊपर स्वयं अन्नंभट्ट ने **'तर्कसंग्रहदीपिका'** नामक टीका का प्रणयन किया।

इसके अन्तिम भाग में ग्रन्थकार ने द्रव्य आदि पदार्थों में न्यायदर्शन में कहे गए सोलह पदार्थों का अत्यन्त सुन्दर और सरल शैली में अन्तर्भाव किया है। इस कृति पर विविध विद्वानों द्वारा लिखी गईं, लगभग 22 टीकाएँ, इसके महत्त्व का दिग्दर्शन कराती हैं। विस्तृत अध्ययन के लिए द्रष्टव्य लेखक की 'तर्कसंग्रह', 'चन्द्रिका' व्याख्या अनुवाद सहित प्रकाशक, चौखम्बा संस्कृत प्रतिष्ठान, दिल्ली–2011।

(5) **विश्वनाथ न्यायपंचानन–** इनका समय 17वीं शती का तृतीय चरण माना गया है। ये **'रघुनाथ शिरोमणि'** की शिष्य परम्परा में नवद्वीप के उत्कृष्ट श्रेणी के नैयायिकों में परिगणित हैं। इनका 'भाषा–परिच्छेद–कारिकावली' नामक ग्रन्थ 'प्रकरण ग्रन्थ' की श्रेणी में आता है। इस पर उन्होंने स्वयं 'न्यायसिद्धान्त मुक्तावली' नामक व्याख्या प्रस्तुत की। इन्होंने इन दोनों कृतियों में से प्रथम में कृष्ण वन्दना तथा 'मुक्तावली' व्याख्या के मंगलाचरण में शिव वन्दना की है। इस आधार पर इन्हें कृष्ण एवं शिवभक्त कहा जा सकता है। मुक्तावली की दो टीकाओं 'दिनकरी' और 'रामरुद्री' का हमें उल्लेख मिलता है, जिनमें टीकाकारों ने मुक्तावली और कारिकावाली के मंगलाचरण में प्रयुक्त श्लोकों की अत्यन्त चित्ताकर्षक व्याख्या प्रस्तुत की है। इनके पिता का

नाम **विद्या– निवास** था, जिनका इन्होंने अपनी 'पिंगल प्रकाशिका' नामक कृति में इसप्रकार उल्लेख किया है–

विद्यानिवाससूनोः कृतिरेषा विश्वनाथस्य।
विदुषामतिसूक्ष्मधियाममत्सराणां मुदे भविता।।

(6) **जगदीश तर्कालंकार–** इनका समय विद्वानों ने 17 वीं शती स्वीकार किया है। बहुमुखी प्रतिभा के धनी इन्होंने विशाल ग्रन्थों की संरचना की, जिनमें जागदीशी (तर्कचिन्तामणि दीधिति प्रकाशिका), तत्त्व चिन्तामणि मयूख तथा न्यायादर्श आदि प्रमुख हैं, किन्तु इसके अलावा भी इन्होंने **'तर्कामृत'** नामक प्रकरण ग्रन्थ की रचना की, क्योंकि विद्वान् अध्येताओं के लिए अध्ययन विषयक न्याय सामग्री प्रस्तुत करते हुए इन्होंने नव्यन्याय के अल्पज्ञ जिज्ञासुओं का भी विशेष ध्यान रखकर उनके लिए विशेषरूप से स्वल्प आकार वाली सरल रचना 'तर्कामृत' को प्रस्तुत किया।

इस ग्रन्थ में मंगलाचरण के अन्तर्गत भगवान् विष्णु की वन्दना अत्यन्त भावविभोर होकर की गई है। भाव और अभावरूप में पदार्थों का दो प्रकार से वर्गीकरण करने के बाद वैशेषिक के सात पदार्थों का विवेचन अत्यन्त सरल शैली में किया गया है। साथ ही, चार प्रमाणों को स्वीकृति प्रदान कर वैशेषिक के 'विशेष' का विवेचन किया है। उल्लेखनीय है कि न्यायदर्शन वैशेषिक के 'विशेष' को मान्यता प्रदान नहीं करता है तथा वैशेषिक 'शब्द' और 'उपमान' को स्वीकार नहीं करता है, किन्तु तर्कामृत में ग्रन्थकार ने दोनों का समन्वय करने का प्रशंसनीय प्रयास किया है। पूर्व में नव्यन्याय के विद्वानों में उल्लेख करने के बाद भी हमने यहाँ इनका प्रकरण ग्रन्थों की दृष्टि से कथन किया है।

(7) **लौगाक्षिभास्कर–** सत्रहवीं शती में स्थित इन्होंने **'तर्क–कौमुदी'** नामक प्रकरण ग्रन्थ का प्रणयन किया। ये न्याय, वैशेषिक और मीमांसादर्शन के उद्भट विद्वान् थे। वाराणसी में निवास करने वाले

इनके पिता **'मुदगल'** तथा पितृव्य–**'रुद्र'** थे। तर्ककौमुदी वस्तुतः न्याय वैशेषिक दर्शन का लघु आकार वाला अत्यन्त सरल शैली में प्रतिपादित 'प्रकरण ग्रन्थ' है।

(8) **शशधर–** न्याय और वैशेषिक दर्शन के विशिष्ट विद्वान् इन्हें 'प्रमेय' पदार्थों में विशेषज्ञता प्राप्त थी। इन्होंने 'न्यायसिद्धान्तदीप' नामक न्याय के प्रकरणग्रन्थ की संरचना की। इनके वैदुष्य से प्रभावित होकर तात्कालिक विद्वत्समाज द्वारा इन्हें 'महोपाध्याय' उपाधि से सम्मानित किया गया। उल्लेखनीय है कि इन्होंने अपने 'न्याय सिद्धान्त दीप' में न्याय और वैशेषिक दोनों दर्शनों को ग्रहण न करके केवल 'न्यायदर्शन की ही सरल रूप में प्रस्तुति की।

ग्रन्थ के आरम्भ में प्रयोजन का उल्लेख करते हुए इन्होंने स्पष्टरूप से कहा कि– जिस मत का इस ग्रन्थ में समर्थन किया गया है वह सामान्य मानव सम्मत न होकर गौतम ऋषि द्वारा प्रतिष्ठापित होने के कारण आर्ष सम्मत है, इससे उनकी इसमें न्याय शास्त्रीय दृष्टि सहज ही प्रतीत होती है। इसके ऊपर **'शेषानन्त'** नामक विद्वान् द्वारा 'न्यायसिद्धान्तदीप टीका' लिखकर इसकी महत्ता में श्रीवृद्धि की। इनका समय विद्वानों ने गंगेश से पहले 12वीं शती के लगभग स्वीकार किया है। बुद्धि की तीक्ष्णता और प्रतिपक्षी के मत पर भीषण आक्रमण करने की प्रवृत्ति के कारण विद्वत्समाज इन्हें 'सिंह' के रूप में देखता था।

(9) **माधवाचार्य–** ये वेदों के भाष्यकार आचार्य सायण के वंशज थे। इन्होंने 'सर्वदर्शनसंग्रह' नामक ग्रन्थ की रचना की, जिसमें वैदिक और अवैदिक सभी दर्शनों के मुख्य–मुख्य सिद्धान्तों का अलग–अलग विवेचन किया है तथा न्याय–वैशेषिक दर्शनों के क्रम में इन्होंने **'अक्षपाद दर्शन'** तथा **'औलूक्य दर्शन'** के नाम से विस्तारपूर्वक सरल शैली में उल्लेख किया है। इनका समय 14 वीं शताब्दी का द्वितीय चरण माना गया है। न्याय और वैशेषिक दर्शनों के प्रमुख विषयों का

वर्णन प्रांजल भाषा में करने के कारण इसे इस दर्शन का प्रकरण ग्रन्थ माना गया है। सर्वदर्शनसंग्रह के अलावा इन्होंने जैमिनीयन्याय माला विस्तर, कथानिर्णय, पराशरस्मृति व्याख्या आदि ग्रन्थों का प्रणयन भी किया है।

(10) **जयन्त भट्ट--** इनका समय 841 ई. के बाद तथा 1100 ई. के पूर्व दशम शती के आसपास माना गया है। विद्वत्समुदाय ने इनकी सर्वथा अप्रतिहत प्रतिभा से प्रभावित होकर इन्हें **'नववृत्तिकार'** कहकर गौरवान्वित किया है। ये शिव के परमभक्त थे। इनके पिता का नाम 'श्रीचन्द्र' था। शास्त्रार्थों में अपने प्रतिपक्षी वक्ताओं के ऊपर हमेशा ही विजय प्राप्त करने के कारण इन्हें **'जयन्त'** नाम से प्रसिद्धि प्राप्त हुई। अपनी सर्वश्रेष्ठ कृति **न्यायमंजरी** में इन्होंने अपना किंचित् परिचय इसप्रकार प्रस्तुत किया है –

वादेष्वाप्जयो जयन्त इति यो विख्यातकीर्तिः क्षिता–
वन्वर्थो 'नववृत्तिकार' इति यं शंसन्ति नाम्ना बुधाः।
सूनुर्व्याप्तदिगन्तरस्य यशसा 'चन्द्रस्य' चन्द्रत्विषा
चक्रे चन्द्रकलावचूलचरणाध्यायी स धन्यां कृतिम्।।

'न्यायमंजरी' वस्तुतः आचार्य गौतम के न्यायसूत्रों पर सरल एवं पूर्ण व्याख्या प्रस्तुत करने वाली अभिनव कृति है, जिसे न्यायशास्त्र के प्रकरण ग्रन्थ के रूप में मान्यता प्राप्त है। इसमें ग्रन्थकार ने न्याय सम्मत प्रमाण, प्रमेय आदि सोलह पदार्थों के नाम पर सोलह प्रकरणों को निबद्ध किया है। प्रत्येक प्रकरण को कुल बारह आह्निकों में विभाजित किया गया है तथा प्रथम छः आह्निकों में प्रमाण प्रकरण का विस्तारपूर्वक विवेचन किया है।

न्याय के प्रमाण चतुष्टयवाद के समर्थन में वैदिक और अवैदिक सभी दर्शनों के अनेक मतवादों का निर्ममता के साथ निराकरण करने के बाद अग्रिम तीन आह्निकों में 'प्रमेय' का विवेचन पूर्ण किया गया है, जिनमें आत्मा से लेकर अपवर्ग पर्यन्त बारह प्रमेय पदार्थों का विशद

चिन्तन किया है, जिसका विवेचन की दृष्टि से अत्यधिक महत्त्व है। संशय आदि शेष चौदह प्रकरण, दस से बारह पर्यन्त तीन आह्निकों में पूर्ण हुए हैं।

'न्यायमंजरी' वस्तुतः जयन्तभट्ट का अद्भुतग्रन्थ कहा जा सकता है। इसके भाषा सौष्ठव, अर्थगाम्भीर्य, विषय प्रतिपादन आदि अनेक दृष्टियों से विद्वानों ने भूरि–भूरि प्रशंसा करते हुए इसे महनीय, अनुशीलनीय और अभ्यसनीय बताया है।

(11) आचार्य केशवमिश्र– न्याय साहित्य में 'तर्कभाषा' नाम से तीन ग्रन्थ मिलते हैं। इनमें से **प्रथम** तर्कभाषा बौद्ध दर्शन से सम्बन्धित है, जिसके लेखक मोक्षाकार गुप्त (1100 ई.) हैं। इसमें लेखक ने बौद्ध न्याय के सिद्धान्तों का उल्लेख किया है, यह तर्कभाषा अन्य दोनों तर्क भाषाओं से प्राचीन है। **दूसरी** जैन तर्कभाषा के लेखक श्री यशोविजय हैं, जिनका समय 1688 ई. तक माना गया है। इसमें जैन न्याय विषयक सिद्धान्तों का निरूपण हुआ है। **तीसरी** तर्कभाषा के लेखक आचार्य केशवमिश्र हैं, जिनका समय विद्वानों द्वारा 1275 ई. के लगभग स्थापित किया गया है। इस प्रकरणग्रन्थ में ब्राह्मणों के न्याय सिद्धान्तों का मुख्यरूप से एवं वैशेषिक सिद्धान्तों का संक्षेप में मिश्रितरूप से प्रतिपादन किया गया है। केशवमिश्र ने अपने परिचय रूप में कुछ भी कथन नहीं किया है, किन्तु उनके शिष्य एवं तर्कभाषा के टीकाकार श्री गोवर्धन मिश्र ने अपने गुरु का परिचय इसप्रकार दिया है--

इनके पिता का नाम 'बालभद्र' था तथा विश्वनाथ और पद्म–नाभ नामक इनके दो बड़े भाई थे। आचार्य केशवमिश्र ने अपने बड़े भाई पद्मनाभ से तर्कशास्त्र का अध्ययन किया, इस दृष्टि से वे इनके गुरु भी थे। तत्पश्चात् इन्होंने स्वान्तः सुखाय तर्कभाषा नामक न्याय शास्त्र के प्रकरणग्रन्थ की रचना की। इनका समय 1275ई. के लगभग माना गया है।

केशवमिश्र के बड़े भाई 'पद्मनाथमिश्र' स्वयं एक अच्छे नैयायिक थे। उन्होंने वैशेषिक दर्शन के 'प्रशस्तपाद भाष्य' पर तथा उदयनाचार्य की किरणावली पर टीका ग्रन्थों की रचना की थी। अपनी 'किरणावली प्रकाश' नामक टीका में स्वयं उनका मानना है कि–

वर्धमान ने जिन अर्थों को छुआ भी नहीं है, ऐसे सर्वथा नवीन अर्थों को हमने नियोजित किया है। यहाँ उन्होंने अपने गुरु को स्मरण करते हुए उनके प्रति कृतज्ञता का ज्ञापन भी किया है–

उपदिष्टा गुरुचरणैरस्पृष्टा वर्धमानेन।
किरणावल्यामर्थास्तन्यन्ते पद्मनाभेन।।

विद्वन्मान्यता 'वर्धमानोपाध्याय' को नव्यन्याय की मैथिलशाखा के विद्वान् के रूप में मानने की पक्षधर रही है। इसलिए पद्मनाथ मिश्र और केशवमिश्र ये दोनों ही भाई भी मैथिल ही माने जाते हैं। इसके अतिरिक्त सुरेन्द्रलाल गोस्वामी ने अपने तर्कभाषा के संस्करण में एक परम्परा का उल्लेख किया है। तदनुसार–

आचार्य केशवमिश्र मिथिला के **सरिसव** ग्राम के निवासी थे तथा अभिनव वाचस्पति नामक न्यायशास्त्र के विद्वान् के प्रपौत्र थे। उन्होंने द्वैत परिशिष्ट का लेखक केशवमिश्र को ही स्वीकार किया है। इस ग्रन्थ में उन्होंने अपने परम गुरु के 'तत्त्वालोक' तथा 'कृत्य–महार्णव' में अभिव्यक्त विचारों का प्रतिपादन किया है।

किन्तु विद्वानों का एक सम्प्रदाय इस कथन से सहमति व्यक्त नहीं करता है, क्योंकि इसकी पुष्टि में किसी प्रकार का प्रमाण प्रस्तुत नहीं किया गया है। यों भी अभिनव वाचस्पति का समय 15वीं शती का उत्तरार्द्ध माना गया है। अतः उक्त कथन सराहनीय प्रतीत होता है।[1]

यद्यपि तर्कभाषा के अतिरिक्त आचार्य केशवमिश्र के नाम से **अलंकार शेखर** नामक अन्य ग्रन्थ भी मिलते हैं, किन्तु उनके सम्बन्ध में

---

[1]. भण्डारकर, इन्ट्रोडक्शन, पृष्ठ– 22।

विद्वानों में पर्याप्त मतभेद रहा है। कुछ विद्वानों ने केशवमिश्र नाम से एक से अधिक व्यक्ति होने की सम्भावना भी व्यक्त की है।[1]

(x) **तर्कभाषा की टीकाएँ–** जैसा कि पूर्व में भी कहा जा चुका है कि आचार्य केशवमिश्र ने तर्कभाषा में न्यायसम्मत पदार्थों का अत्यन्त सरल एवं सुन्दर ढंग से प्रतिपादन किया है। यही कारण है कि यह प्रकरण ग्रन्थ तर्कभाषा आज भी विद्वानों का कण्ठहार बनी हुई है, न केवल भारतवर्ष, अपितु विदेशों में भी न्यायशास्त्र के अध्ययन एवं मनन के लिए केशवमिश्र की इसी कृति का अवलम्ब लिया जाता है। संस्कृत, दर्शनादि के स्नातकोत्तरीय पाठयक्रमों में इस पुस्तक का निर्धारण उक्त कथ्य की पुष्टि में प्रमाण कहा जा सकता है।

इसके अतिरिक्त तर्कभाषा पर विभिन्न विद्वानों द्वारा 16 से भी अधिक टीकाओं का लेखन भी इस ग्रन्थ की उपयोगिता एवं श्रेष्ठता का कथन करता है, जिनका हम यहाँ अत्यन्त संक्षेप में उल्लेख कर रहे हैं–

टीका	लेखक का नाम	समय
1. उज्ज्वला टीका	गोपीनाथ	
2. तर्कभाषा प्रकाशिका	गोवर्धन मिश्र	(1300) सम्पा.
3. तत्त्वप्रबोधिनी	गणेश दीक्षित	(एस.एन.परांजये)
4. तर्ककौमुदी	दिनकरभट्ट	(1894 में प्रकाशित)
5. तर्कदीपिका	केशवभट्ट	
6. तर्कभाषा प्रकाश	अखण्डानन्द सरस्वती	(1390)
7. तर्कभाषा प्रकाशिका	चिन्नंभट्ट	1937 में प्रकाशित, देवदत्त रामकृष्ण भण्डारकर
8. तर्कभाषा भाव–टीका	रोम बिल्व वेंकटबुद्ध	
9. न्याय संग्रह टीका	रामलिंग	
10. तर्कभाषा सार मंजरी	माधवदेव	

---

[1]. तर्कभाषा– डॉ. श्रीनिवास शास्त्री, पृष्ठ– 21।

11. परिभाषा दर्पण — भास्कर भट्ट
12. तर्कभाषा प्रकाशिका — बालचन्द्र
13. तर्कभाषा प्रकाशिका — कौण्डिन्य दीक्षित
14. तर्कभाषा प्रकाशिका — गौरीकण्ठ सार्वभौम
15. युक्ति मुक्तावली — नागेश भट्ट (1790)
16. न्याय प्रदीप — विश्वकर्मा

हिन्दी टीका–

1. तर्कभाषा तर्करहस्य दीपिका– आचार्य विश्वेश्वर सिद्धान्त शिरोमणि, चौखम्बा संस्कृत सीरीज वाराणसी–1967।

2. तर्कभाषा (हिन्दी व्याख्या) पं.बदरीनाथ शुक्ल, मोतीलाल बनारसी दास, दिल्ली 1968।

3. तर्कभाषा (भाषानुवाद व्याख्या) डॉ. श्री निवास शास्त्री साहित्य भंडार, मेरठ, 1972।

4. तर्कभाषा (तत्त्वालोक विराजिता हिन्दी अनुवाद) श्री रुद्रधर झा

5. तर्कभाषा, डॉ. राकेश शास्त्री, 'चन्द्रिका' हिन्दी व्याख्या प्रकाशक, चौखम्भा ओरियन्टालिया, दिल्ली–2018।

अंग्रेजी टीका, अनुवाद

1. तर्कभाषा क्रिटीकल एडिशन एस. एन. कुलकर्णी, ओरियण्टल बुक एजेन्सी, पूना।
2. तर्कभाषा (गोवर्धन टीका) एस.एम.परांजपे।
3. तर्कभाषा (चिन्नंभट्ट टीका) अंग्रेजी भूमिका, देवदत्त रामकृष्ण भण्डारकर, 1937।

उपर्युक्त टीकाओं के अलावा भी कुछ टीकाएँ प्रकाशित हुई हैं, जिनकी जानकारी प्रयास करने पर भी उपलब्ध नहीं हो सकी है। विविध पुस्तक सूचियों में भी अनेक अप्रकाशित टीकाओं की जानकारी भी मिलती है। इस सबके कहने का तात्पर्य यही है कि आचार्य ईश्वर कृष्ण विरचित 'तर्कभाषा' स्वयं में उत्कृष्ट न्यायग्रन्थ है, इसी तथ्य की पुष्टि उक्त सभी टीकाओं एवं व्याख्या ग्रन्थों से होती है।

(xi) न्यायवैशेषिक दर्शनों में तर्कभाषा का महत्त्व– तर्कभाषा के आरम्भ में ही ग्रन्थकार ने इसके प्रयोजन को लिखकर तर्कभाषा के महत्त्व का प्रतिपादन किया है।[1] तर्कभाषा के अध्ययन से इस कथन के एक–एक शब्द की पुष्टि होती है। प्रकरण ग्रन्थों की कसौटी पर पूर्णरूप से खरे उतरने वाले इसमें न्यायशास्त्र के सम्पूर्ण प्रतिपाद्य विषय का उल्लेख न करके केवल मुख्य–मुख्य विषयों का सरल, सुगठित और संक्षिप्त शैली में विवेचन, निश्चय ही न्यायवैशेषिक दर्शन में रुचि रखने वाले जिज्ञासु को संतुष्ट करने के लिए पूर्णतया सफल कहा जा सकता है, जो इसके महत्त्व को ही प्रतिपादित करता है।

उल्लेखनीय यह है कि इस प्रकरण ग्रन्थ में ग्रन्थकार ने न्याय और वैशेषिक दोनों ही दर्शन के सिद्धान्तों के समन्वय करने में अद्भुत सफलता प्राप्त की है, जो केशवमिश्र की सूक्ष्मदृष्टि तथा दोनों ही दर्शनों की तलस्पर्शिता को पुष्ट करते हैं। इस ग्रन्थ के लघु कलेवर में ग्रन्थकार ने न्यायदर्शन के प्रथम सूत्र को उद्धृत करके उसी क्रम से न्यायसम्मत पदार्थों का सरल व संक्षिप्त शैली में निरूपण किया है, जिसे जिज्ञासु पाठक स्वतः ही आत्मसात करते हुए चलता है।

इस ग्रन्थ की सबसे बड़ी विशेषता रही है कि न्यायशास्त्र के लम्बे–लम्बे उबाऊ शास्त्रार्थों से बचाकर न्याय सिद्धान्तों से अवगत कराते चलना, जिसमें ग्रन्थकार पूर्णरूप से सफल कहे जा सकते हैं। ऐसा प्रतीत होता है कि न्याय के पदार्थों में वैशेषिक के पदार्थों का अन्तर्भाव करने की ग्रन्थकार ने आवश्यकता अनुभव की, जिसमें वह पूर्णतया सफल रहे हैं, जो इस ग्रन्थ के महत्त्व में श्रीवृद्धि करने वाला कहा जा सकता है।

अन्त में इसके महत्त्व को दृष्टिगत रखते हुए इतना कहना ही उचित होगा कि आचार्य केशवमिश्र की तर्कभाषा न्यायवैशेषिक सम्प्रदाय

---

1 बालोऽपि यो न्यायनये प्रवेशम्, अल्पेन वांछत्यलसः श्रुतेन।
संक्षिप्तयुक्त्यिन्विततर्कभाषा, प्रकाश्यते तस्य कृते मयैषा।।

का अद्भुत और अद्वितीय ग्रन्थ है, उसका **प्रवेशद्वार** यदि इसे कहा जाए तो कोई अतिशयोक्ति नहीं होगी। सभी न्यायप्रेमी विद्वानों को ग्रन्थकार ने इसकी रचना करके उपकृत ही किया है।

(xii) **न्यायदर्शन के प्रमुख सिद्धान्त–** इस प्रकरणग्रन्थ में विद्वान् लेखक ने न्याय के सिद्धान्तों को जानने के जिज्ञासु व्यक्ति के लिए न्याय के सिद्धान्तों से पूर्णरूप से सरल पद्धति द्वारा परिचित कराने के लिए सर्वप्रथम न्यायसूत्र के प्रथम सूत्र में कहे गए सोलह पदार्थों का नामोल्लेख करके सम्पूर्ण ग्रन्थ में इन्हीं की व्याख्या प्रस्तुत की है,[1] जिसमें न्यायशास्त्र में परिगणित सोलह पदार्थों[2] के तात्त्विक ज्ञान से व्यक्ति को मोक्ष की प्राप्ति होती है।

अतः हम यहाँ क्रमशः इन सोलह पदार्थों का तथा इसी क्रम में आने वाली अन्य ज्ञातव्य बातों का तर्कभाषाकार के अनुसार संक्षेप में विवेचन प्रस्तुत कर रहे हैं। यहाँ इन सिद्धान्तों को उल्लेख करने का उद्देश्य यही है कि अत्यन्त सरल भाषा शैली में प्रस्तुत किए गए इन सिद्धान्तों का पहले अध्ययन करके, उसके बाद तर्कभाषा का अध्ययन करने पर उसे इसमें प्रतिपादित विषय भलीप्रकार हृदयंगम होने के साथ–साथ हस्तामलकवत् स्पष्ट हो जाएगा। सर्वप्रथम 'प्रमाण' को स्पष्ट करते हैं–

(A) **प्रमाण की परिभाषा–** 'प्रमा करणम् प्रमाणम्' प्रमा अर्थात् यथार्थ अनुभव विषयक ज्ञान का जो करण अर्थात् प्रकृष्ट कारण है, उसे ही प्रमाण कहते हैं। 'प्रमा' से अभिप्राय यहाँ 'यथार्थ अनुभव' से है। **यथार्थ** पद के प्रयोग से संशय, भ्रान्ति और तर्क इन तीन प्रकार के अयथार्थ अनुभव का निषेध कर दिया गया है तथा 'अनुभव' पद का प्रयोग 'स्मृति' का निराकरण करने के लिए किया गया है, क्योंकि 'ज्ञातविषयं ज्ञानं स्मृतिः' अर्थात् पहले से ही ज्ञात विषय का पुनः ज्ञान होना ही 'स्मृति' कहलाती है।

---

[1]. तत्त्वज्ञानान्निःश्रेयसाधिगमः (न्यायसूत्र– 1/1/1)

[2]. प्रमाण, प्रमेय, संशय, प्रयोजन, दृष्टान्त, सिद्धान्त, अवयव, तर्क, निर्णय, वाद, जल्प, वितण्डा, हेत्वाभास, छल, जाति, ,निग्रहस्थान।

(क) **ज्ञान के दो प्रकार**– इसप्रकार अनुभव और स्मृति भेद से ज्ञान के दो प्रकार होते हैं। जब हम किसी वस्तु को देखकर अथवा छूकर ज्ञान प्राप्त करते हैं, वह ज्ञान 'अनुभव' की श्रेणी में आता है। इसी अनुभव का 'संस्कार' हमारे मन के माध्यम से आत्मा के विद्यमान रहता है। जब यही 'संस्कार' किसी कारणविशेष (सादृश्य, चिन्ता या अदृष्ट) के उपस्थित होने पर उदबुद्ध हो जाता है, उसी को 'स्मृति' कहा जाता है।

पुनः 'अनुभव' रूप ज्ञान भी दो प्रकार का होता है– यथार्थ अनुभव और अयथार्थ अनुभव, जो वस्तु (द्रव्य) अथवा पदार्थ जैसा होता है, यदि उसका अनुभव हमें उसी रूप में होता है तो वह अनुभव 'यथार्थ' अनुभव कहलाता है और यही सम्यक् ज्ञान भी है। इसके ठीक विपरीत जब हम वस्तु के यथार्थरूप से परिचित न होकर किन्हीं कारणों से उसे भिन्न वस्तु मान लेते हैं, तो उसे अयथार्थ अनुभव कहते हैं, जिसे तर्कभाषाकार ने 'अर्थव्यभिचारी' संज्ञा प्रदान की है।

(अ) **अयथार्थ अनुभव**– संशय, विपयर्य और तर्क भेद से तीन प्रकार का होता है।

(i) **संशय**– एक पदार्थ में परस्पर विरुद्ध अनेक धर्मों का ज्ञान ही 'संशय' कहलाता है– एकस्मिन् धर्मिणि विरुद्ध नाना–अर्थ–अवमर्शः।

जैसे– थोड़े अंधकार में कही दूर स्थित ठूँठ होने की उभय प्रतीति का होना–यह स्थाणु है या पुरुष।

(ii) **विपर्यय**– जो वस्तु जैसी न हो, उसे उस रूप में जान लेना (अतस्मिन् तद्ग्रहः)।

जैसे–दूर पड़ी हुई सीपी को चाँदी समझ लेना।

(अ) **संशय और विपर्यय में भेद**– संशयात्मक ज्ञान हमेशा अनिश्चयात्मक होता है, जबकि विपयर्य इसके ठीक विपरीत निश्चया–त्मक होता है, किन्तु फिर भी दोनों ज्ञान 'अयथार्थ' की श्रेणी में आते हैं। **जैसे**– सीपी को चाँदी समझ कर नीचे झुककर उसे उठाने की

क्रिया का होना निश्चयात्मक ज्ञान है, किन्तु जब हम उसे छूकर देखते हैं या अत्यधिक निकट से देखते हैं तो ही उसका हमें इसप्रकार निराकरण होता है कि– अरे! यह तो सीप है, (चाँदी नहीं)।

(iii) **तर्क–** जब दो पदार्थों में एक के होने की 'ऊहा' अर्थात् कल्पना करते ही, न चाहते हुए भी दूसरे की सत्ता माननी पड़ती है, यही अनिष्ट की प्राप्ति 'तर्क' कही जाती है **(अनिष्टप्राप्तिप्रसंग)** तर्क को प्रमाणों का सहायक माना गया है। **जैसे–** हमें ज्ञान है कि 'जहाँ धूम होता है, वहाँ अग्नि होती है।' दूर किसी पर्वत के पीछे उठते हुए धूम को दिखाकर हमने किसी से कहा–

'अरे, पर्वत में तो आग लगी है।'

वह व्यक्ति हमारी बात पर विश्वास नहीं करता है और पर्वत में 'अग्नि' होने की हमारी बात को सर्वथा नकार देता है। तब हम उसे 'तर्क' देकर समझाते हैं कि देखो, यदि यहाँ अग्नि नहीं होती तो धूम भी नहीं होता इत्यादि। वस्तुतः 'तर्क' पदार्थ के स्वरूप के अनुरूप निश्चयात्मक अनुभव के अभाव में 'यथार्थ अनुभव' नहीं माना जाता है।

यहाँ तक 'प्रमा' को स्पष्ट किया, अब 'प्रमाण' के लक्षण में प्रयुक्त 'करण' को स्पष्ट करते हैं–

(B) **'करण' की परिभाषा–** किसी कार्य के प्रकृष्ट कारण को 'करण' कहते हैं **(साधकतमं करणम्)** अर्थात् किसी भी कार्य के अनेक कारण होते हैं। उनमें कुछ ऐसे होते हैं, जो प्रत्येक कार्य के प्रति कारण होते हैं, **जैसे–** ईश्वर, ईश्वर की इच्छा, प्रयत्न, देश, काल आदि सभी कार्यों के कारण होते हैं। इसलिए ये 'साधारण कारण' कहलाते हैं, जबकि किसी 'कार्य विशेष' के प्रति ऐसे अन्य कारण होते हैं, वे 'असाधारण कारण' कहलाते हैं।

जैसे– पट–निर्माण में जुलाहा, तन्तु, तुरी, वेमा आदि बुनने के उपकरण इत्यादि सब पट के असाधारण कारण हैं, क्योंकि ये सभी घट आदि अन्य वस्तु के कारण नहीं होते हैं। इन असाधारण कारणों में

व्यापार युक्त कारण ही 'करण' कहलाता है। **(व्यापारवद् असाधारणं कारणं करणम्)**

(C) **कारण की परिभाषा–** जिसका कार्य से पहले होना निश्चित हो तथा जो 'अन्यथासिद्ध' न हो वह 'कारण' कहलाता है। **जैसे–** तन्तु, वेमा (पटनिर्माण का उपकरण विशेष) आदि पट के कारण हैं, क्योंकि इनकी पटरूप कार्य से पूर्व स्थिति नियत है तथा इनकी किसी अन्य कार्य के प्रति सिद्धि भी नहीं है। **(यस्य कार्यात् पूर्वभावो नियतोऽनन्यथासिद्धश्च तत् कारणम्)**

(i) **अन्यथासिद्ध–** यहाँ प्रयुक्त 'अनन्यथासिद्ध' का अर्थ है– अन्य प्रकार से उपयुक्त अन्यथा चरितार्थ अथवा जो नियतपूर्ववर्ती तो हो, किन्तु उसकी पूर्ववर्तिता, दूसरे पदार्थ की नियत पूर्ववर्तिता पर आश्रित न हो। कहने का अभिप्राय यही है कि प्रत्येक कारण में कार्य को उत्पन्न करने की एक शक्ति होती है, उस शक्ति का जब एक कार्य को उत्पन्न करने में प्रयोग हो जाता है तो वह कारण अन्य कार्य के प्रति 'अन्यथासिद्ध' हो जाता है। इसीलिए कारण के लक्षण में 'अन्यथासिद्ध' न होने की बात की गई है।

उदाहरण के लिए– तन्तु का रूप, पट के रूप के प्रति कारण है। इसलिए तन्तुरूप की कारणता पट–रूप के प्रति पहले ही चरितार्थ अर्थात् समाप्त हो चुकी है। इस कारण वह तन्तुरूप पट (वस्त्र) के प्रति 'अन्यथासिद्ध' कहा जाएगा। यही कारण है कि उसे हम पट का कारण नहीं कह सकते हैं। आचार्य विश्वनाथ ने न्यायमुक्तावली में 'अन्यथासिद्ध' को पाँच प्रकार का बताया है। तदनुसार–

(1) जिस धर्म के साथ कारण का कार्य के प्रति पूर्वभाव होता है, वह धर्म उस कार्य के प्रति 'अन्यथासिद्ध' होता है।

जैसे– घट के प्रति दण्ड का पूर्वभाव दण्डत्व धर्म के साथ ही होता है। यहाँ दण्डत्व धर्म घट के प्रति 'अन्यथासिद्ध' है।

(2) जिस पदार्थ में किसी कार्य के प्रति निश्चितरूप से पूर्वभाव होने (नियतपूर्वभावित्व) का ज्ञान उसके कारण द्वारा होता है, वह पदार्थ उस कार्य के प्रति 'अन्यथासिद्ध' माना जाएगा।

जैसे– दण्डरूप में घट का नियतपूर्वभावित्व दण्ड द्वारा ही निश्चित होता है। दण्ड, घट का पूर्वभावी है, इससे हम समझते है कि दण्डरूप भी घट का पूर्वभावी है। अतः यहाँ दण्डरूप घट के प्रति 'अन्यथासिद्ध' होगा।

(3) किसी अन्य कार्य के प्रति पूर्वभाव जानने पर ही जिस पदार्थ का पूर्वभाव प्रस्तुत कार्य के प्रति भी जान लिया जाता है, वह पदार्थ प्रस्तुत कार्य के प्रति 'अन्यथासिद्ध' होता है।

जैसे– शब्द के प्रति आकाश का नियतपूर्वभावित्व जान लिए जाने पर ही घट के प्रति भी उसका पूर्वभाव जान लिया जाता है। इसीलिए घट के प्रति आकाश 'अन्यथासिद्ध' हुआ।

(4) कारण के प्रति पूर्वभाव जानने के अभाव में जिसका प्रस्तुत कार्य के प्रति पूर्वभाव ज्ञात नहीं हो पाता है, कारण का भी कारण वह 'अन्यथासिद्ध' है।

जैसे– कुम्हार का पूर्वभाव जानने के अभाव में कुम्हार के पिता का घट के प्रति पूर्वभाव जाना नहीं जाता है। इसलिए कुम्हार का पिता घट के प्रति 'अन्यथासिद्ध' है।

(5) आवश्यक नियत पूर्वभावी के अलावा जो भी पदार्थ होते हैं, वे सभी 'अन्यथासिद्ध' ही होते हैं।

जैसे– घट निर्माण में अनायास उपस्थित अथवा पूर्व में ही वहीं बँधे हुए रासभ आदि 'अन्यथासिद्ध' हैं।

(D) **कारण के प्रकार–** यह कारण समवायी, असमवायी और निमित्त भेद से तीन प्रकार का होता है–

(अ) **समवायी कारण–** जिस कारण का कार्य के साथ समवाय रूप से सम्बन्ध होता है, वह समवायी कारण कहलाता है।

जैसे–'तन्तु' पट का समवायीकारण है। इसके अलावा अवयव–अवयवी (तन्तु–पट) **गुण–गुणी**, क्रिया–क्रियावान् तथा जाति–व्यक्ति और विशेष एवं नित्य द्रव्य दोनों का समवाय सम्बन्ध होता है तथा सभी अयुतसिद्धों का भी समवाय सम्बन्ध ही होता है।

(ब) **असमवायी कारण**– वह है जो समवायी कारण से अत्यन्त निकट से जुड़ा रहता है तथा जिसमें कारण का सामान्य लक्षण भी घटित होता है।

जैसे– तन्तुओं का संयोग पट के प्रति असमवायी कारण है।

(स) **निमित्तकरण**– जिस किसी कार्य में जो न तो समवायी कारण है और न ही असमवायी कारण है, किन्तु कारण अवश्य है, वह उस कार्य के प्रति निमित्तकारण होता है।

जैसे– वेमा (पट बुनने का उपकरण) वह पट का समवायी कारण भी नहीं है और न ही असमवायी कारण है, किन्तु वह कारण अवश्य है, क्योंकि तन्तुओं का संयोग वेमा के अभाव में नहीं हो सकता है। इसलिए पटरूप कार्य के लिए 'वेमा' निमित्तकारण है।

इसप्रकार न्यायशास्त्र के षोडश पदार्थों में से प्रथम पदार्थ 'प्रमाण' की व्याख्या के प्रसंग में ग्रन्थकार ने प्रमाण की परिभाषा, ज्ञान के अनुभव, स्मृति भेद। यथार्थ अनुभव (संशय, विपर्यय, तर्क) करण व कारण की परिभाषा, 'अन्यथासिद्ध' व उसके प्रकार और कारण के समवायी, असमवायी और निमित्त तीन भेदों की प्रस्तुति के बाद प्रमाण के चतुर्विध प्रकारों का उल्लेख किया है। तदनुसार–

(E) **चतुर्विध प्रमाण**–प्रत्यक्ष, अनुमान, उपमान और शब्द भेद से प्रमाण केवल चार हैं– इससे कम अथवा अधिक नहीं है,[1] जिनका क्रमशः विवरण इसप्रकार है–

(F) **प्रत्यक्ष प्रमाण**– इन्द्रिय और अर्थ के सन्निकर्ष से उत्पन्न होने वाली साक्षात्कारिणी प्रमा का 'करण' ही प्रत्यक्ष प्रमाण होता है।

---

[1] . प्रत्यक्षानुमानोपमान शब्दाः प्रमाणानि न्यायसूत्र– 1/1/3 ।

साक्षात्कार करने वाली प्रमा अर्थात् ज्ञान, इन्द्रिय के माध्यम से ही उत्पन्न होता है। यह निर्विकल्पक और सविकल्पक भेद से दो प्रकार का होता है।

(क) **निर्विकल्पक ज्ञान–** प्रत्यक्ष ज्ञान की प्रक्रिया में चार अंग होते हैं–**प्रथम,** आत्मा का मन के साथ संयोग। **द्वितीय,** मन का इन्द्रिय के साथ संयोग **तृतीय,** इन्द्रिय का अर्थ (वस्तु) के साथ संयोग। **चतुर्थ,** ज्ञान की उत्पत्ति। इस सम्पूर्ण प्रक्रिया में चतुर्थ अवस्था में प्रथम क्षण में होने वाली ज्ञान की उत्पत्ति ही निर्विकल्पक ज्ञान है, जो नाम, जाति आदि की योजना से रहित केवल 'यह कुछ है' इस रूप में होता है, जिसे **'वस्तुमात्र–अवगाहि'** कहा गया है।

जैसे– हमारी नेत्रेन्द्रिय और घट के सन्निकर्ष द्वारा घट के स्वरूप का आभास होना ही निर्विकल्पक प्रत्यक्ष है। इस ज्ञान में वस्तु के आकार आदि स्वरूपमात्र का बोध होता है, उसमें विशेषणविशेष्य भाव का ज्ञान नहीं होता है। उल्लेखनीय है कि इस ज्ञान में संदेह का कोई स्थान नहीं है, अपितु इसमें घट आदि वस्तु का स्पष्ट आभास तो होता है, किन्तु 'वह घट है' इस रूप में नहीं होता है। इसी कारण इस ज्ञान को 'वस्तुमात्र अवगाहि' संज्ञा प्रदान की गई है।

(ख) **सविकल्पक ज्ञान–** निर्विकल्पक ज्ञान की उत्पत्ति के बाद अग्रिम क्षण में ही सविकल्पक ज्ञान की उत्पत्ति हो जाती है। इसका स्वरूप **'विशेषण–विशेष्य–अवगाहि'** होता है, क्योंकि इस ज्ञान में वस्तु या व्यक्ति की नाम, जाति, गुण, क्रिया सभी की जानकारी निहित होती है, जो यह घट है, ब्राह्मण है, यह रमेश है, देवदत्त भोजन खाता है इन रूपों में होता है। बस इसी ज्ञान को यहाँ सविकल्पक ज्ञान की संज्ञा प्रदान की गई है।

इस प्रसंग में उल्लेखनीय यह भी है कि निर्विकल्पक और सविकल्पक ज्ञानों के बीच का अन्तर इतना अधिक सूक्ष्म होता है कि उसका न तो हमें आभास होता है और न ही इससे ज्ञानप्राप्ति में

किसी प्रकार की बाधा की प्रतीति होती है। साथ ही, सविकल्पक ज्ञान के बाद ही हम उस वस्तु को ग्रहण करने अथवा त्यागने या फिर उसकी उपेक्षा करने का निर्णय करते हैं। इसी **हानोपादानोपेक्षा बुद्धि** को यहाँ प्रत्यक्ष ज्ञान के क्रम में तृतीय चरण के रूप में भी देख सकते हैं।

(ग) **करण एवं अवान्तर व्यापार–** प्रत्यक्षज्ञान की प्रक्रिया में अवान्तर व्यापार और करण इन दो शब्दों का प्रयोग हुआ है, जिन्हें जानना आवश्यक है। प्रत्यक्षज्ञान की प्रक्रिया में ग्रन्थकार ने तीन प्रकार के करण (साधन/माध्यमों) का उल्लेख किया है, इन्द्रिय, इन्द्रिय और अर्थ का सन्निकर्ष **(इन्द्रियार्थसन्निकर्ष)** और ज्ञान। करण का ही स्वरूप निरूपण करते हुए यहाँ अवान्तर व्यापार की भी चर्चा की है। तदनुसार–

करण से उत्पन्न होने वाला तथा करण से उत्पन्न होने वाले कार्य अथवा फल का जनक ही अवान्तर व्यापार कहा जाता है।[1] **जैसे–** कुठार (कुल्हाडी) द्वारा लकड़ी काटने के उदाहरण में लकड़ी काटने का साधन कुठार 'साधकतम' होने से 'करण' है तथा उससे हम जो बार–बार लकड़ी पर प्रहार करते हैं, यही कुठार और काष्ठ का संयोग अवान्तर व्यापार है तथा लकड़ी का कटना (छिदा) इसका फल है। वस्तुतः फल की उत्पत्ति के लिए 'करण' में व्यापार होना आवश्यक है। करण, व्यापार और फल इन तीनों को इसप्रकार भी समझ सकते हैं–

	करण	**अवान्तर व्यापार**	**फल**
प्रथम चरण–	इन्द्रिय	इन्द्रियार्थसन्निकर्ष	निर्विकल्पक प्रमा
द्वितीय चरण–	इन्द्रियार्थसन्निकर्ष	निर्विकल्पकज्ञान	सविकल्पक प्रमा।
तृतीय चरण–	निर्विकल्पक ज्ञान	सविकल्पक ज्ञान	हानोपादानोपेक्षा बुद्धि।

1 तज्जन्यस्तज्जन्यजनकोऽवान्तरव्यापारः ।

(F) **षड्विध सन्निकर्ष–** उपर्युक्त प्रस्तुति से स्पष्ट है कि प्रत्यक्ष में तीन प्रकार के 'करण' होते हैं, इनमें द्वितीय चरण में होने वाला इन्द्रियार्थ सन्निकर्ष भी एक होता है। इन्द्रिय और अर्थ का यह सन्निकर्ष वस्तुतः प्रत्यक्ष ज्ञान का महत्त्वपूर्ण कारण है, क्योंकि जब तक हमारी नेत्रादि इन्द्रिय का घट आदि विषय के साथ सन्निकर्ष (संयोग) नहीं होगा, तब तक हमें विषय का प्रत्यक्ष होना सम्भव नहीं है। यह सन्निकर्ष छः प्रकार का होता है–

(क) **संयोग सन्निकर्ष–** यहाँ प्रयुक्त सन्निकर्ष का अभिप्राय प्रत्यक्ष ज्ञान को उत्पन्न करने में सहयोगी सम्बन्ध विशेष से है। हमारी नेत्रादि इन्द्रिय तथा घट आदि विषय (अर्थ) के संयोग से जहाँ प्रत्यक्ष प्रमा आदि ज्ञान की उत्पत्ति होती है, वहाँ 'संयोग' नामक सन्निकर्ष ही प्रभावी होता है, क्योंकि संयोग नामक सन्निकर्ष दो द्रव्यों में ही होता है। इस प्रसंग में ध्यातव्य है कि न्यायवैशेषिक दर्शन इन्द्रिय को भी द्रव्य पदार्थ ही मानते हैं।

इसलिए जहाँ इन्द्रिय के माध्यम से घटादि द्रव्य का प्रत्यक्ष होता है, उन सभी स्थलों पर 'संयोग' नामक सन्निकर्ष ही कार्य करता है। न्यायवैशेषिक दर्शन के अनुसार– बाह्य द्रव्यों में केवल नेत्र और त्वक् अर्थात् त्वचा का ही परिगणन होता है, इनके द्वारा ही घट–पट आदि का प्रत्यक्ष होता है, जबकि हमारी आन्तरिक इन्द्रिय के संयोग सन्निकर्ष के द्वारा हम 'आत्मा' का प्रत्यक्ष करते हैं। इसलिए नेत्र, त्वक् और मन ये तीन इन्द्रियाँ ही संयोगसन्निकर्ष से विषय (अर्थ/द्रव्य) का प्रत्यक्ष करती हैं।

(2) **संयुक्तसमवाय सन्निकर्ष–** यहाँ संयुक्त अर्थात् संयोग में समवाय होता है, इस सन्निकर्ष के माध्यम से इन्द्रिय से संयुक्त द्रव्यों में गुण, कर्म और जाति का ग्रहण होता है, क्योंकि गुण, कर्म और जाति इन तीनों की स्थिति द्रव्यों में 'समवाय' सम्बन्ध से ही होती हैं। हमारी 'श्रोत्र' नामक इन्द्रिय के अलावा अन्य सभी इन्द्रियों से संयुक्त

समवायसन्निकर्ष द्वारा ही द्रव्यों के गुण, कर्म और जाति का ग्रहण होता है।

जैसे– घट में स्थित उसके रूप का ग्रहण हम संयुक्तसमवाय सन्निकर्ष के माध्यम से ही करते हैं, क्योंकि घट में उसका रूप समवाय सम्बन्ध से विद्यमान है (गुण और गुणी का समवाय सम्बन्ध होता है) तथा हमारी चक्षु नामक इन्द्रिय का घट के साथ संयोग ही उससे संयुक्त होना है। इसलिए घट के साथ संयुक्त इन्द्रिय ने घट में समवायरूप से स्थित 'रूप' का प्रत्यक्ष, संयुक्तसमवाय सन्निकर्ष के माध्यम से किया है।

इसीप्रकार त्वक् इन्द्रिय के माध्यम से घट आदि के स्पर्श का, रसनेन्द्रिय से जल आदि के रस का और घ्राण नामक इन्द्रिय द्वारा पुष्प आदि के गन्ध का 'प्रत्यक्ष' ग्रहण किया जाता है। इसी प्रसंग में उल्लेखनीय यह भी है कि घट में समवायरूप में स्थित घटत्व जाति का भी हम संयुक्तसमवाय सन्निकर्ष द्वारा ही प्रत्यक्ष करते हैं।

इतना ही नहीं, मन नामक इन्द्रिय से संयुक्त आत्मा में समवाय रूप से स्थित सुख का भी हम इसी सन्निकर्ष से प्रत्यक्ष करते हैं। वस्तुस्थिति तो यह है कि श्रोत्रेन्द्रिय को छोड़कर जिस इन्द्रिय से जिस भी वस्तु का ग्रहण होता है, उसमें विद्यमान सामान्य, समवाय और अभाव का भी जहाँ उसी इन्द्रिय से ग्रहण किया जाता है, वहाँ यही सन्निकर्ष प्रभावी होता है।

(3) **संयुक्तसमवेतसमवाय सन्निकर्ष–** जिस नेत्र द्वारा हम घट में स्थित 'रूप' का ग्रहण करते हैं, उसी इन्द्रिय से रूप में स्थित रूपत्व जाति का भी ग्रहण करते हैं। जैसा कि पूर्व में उल्लेख किया गया कि घट में स्थित रूप का संयुक्तसमवाय सन्निकर्ष से ग्रहण होता है, किन्तु उसी रूप में स्थित रूपत्व जाति को ग्रहण करने के लिए न्यायदर्शन इस सन्निकर्ष का कथन करता है और इसके दो कारण हैं–

प्रथम, चक्षु से संयुक्त घट आदि में समवेत अर्थात् समवाय सम्बन्ध से रहने वाले रूप आदि हैं तथा उस रूप में भी उसकी रूपत्व जाति समवाय सम्बन्ध से ही विद्यमान है।

द्वितीय, एक सम्बन्ध एक बार में पदार्थ के एक ही वैशिष्ट्य का प्रत्यक्ष कराता है। इसीलिए सर्वप्रथम संयोग (संयुक्त) सन्निकर्ष ने घट का प्रत्यक्ष कराया, उसके बाद समवाय (समवेत) सन्निकर्ष ने घट में समवायरूप में स्थित उसके रूप नामक गुण का प्रत्यक्ष कराया, जबकि इसी रूप में समवायरूप में स्थित रूपत्व जाति का समवाय सन्निकर्ष से प्रत्यक्ष हुआ। इसप्रकार घट की रूपत्व जाति तक पहुँचने के लिए अर्थात् उसका प्रत्यक्ष करने के लिए उक्त तीनों को मिलाकर 'संयुक्तसमवेतसमवाय सन्निकर्ष' की परिकल्पना की गई।

(4) **समवाय सन्निकर्ष–** श्रोत्रेन्द्रिय के माध्यम से शब्द का ग्रहण (प्रत्यक्ष) किया जाना, इसी सन्निकर्ष के द्वारा होता है, क्योंकि शब्द श्रोत्रेन्द्रिय में समवाय सम्बन्ध से विद्यमान है। इस प्रसंग में उल्लेखनीय है कि यहाँ श्रोत्र आकाश से भिन्न नहीं माना गया है। इसप्रकार हम कह सकते हैं कि श्रोत्र आकाश ही है अर्थात् कर्ण छिद्र में स्थित आकाश को ही हम 'श्रोत्र' कहते हैं तथा शब्द नामक गुण आकाश में स्थित रहता है तथा गुण और गुणी (श्रोत्रेन्द्रिय में स्थित आकाश) का समवाय' सम्बन्ध होता है। इसलिए कहा जा सकता है कि शब्द हमारे श्रोत्र में समवाय सम्बन्ध में विद्यमान है। अतः उसके प्रत्यक्ष के लिए 'समवाय सन्निकर्ष' की परिकल्पना करनी होगी, क्योंकि अन्य किसी सन्निकर्ष से 'शब्द' का प्रत्यक्ष नहीं किया जा सकता है।

(5) **समवेतसमवाय सन्निकर्ष–** इस पंचम सन्निकर्ष द्वारा हम शब्द में स्थित 'शब्दत्व' जाति को श्रोत्रेन्द्रिय से ग्रहण करते हैं, क्योंकि अभी हमने ऊपर बताया कि शब्द श्रोत्र में समवेत (समवाय) रूप से विद्यमान है तथा इसीप्रकार शब्द में स्थित शब्दत्व जाति भी 'समवाय' सम्बन्ध से रहती है (इन दोनों के गुण–गुणी होने के कारण)। इसीलिए

शब्द के पश्चात् उसमें समवाय सम्बन्ध से रहने वाली जाति का 'प्रत्यक्ष' हम इन दोनों सम्बन्धों को जोड़कर अर्थात् समवेतसमवाय सन्निकर्ष से ही कर सकते हैं, अन्य किसी सन्निकर्ष से नहीं।

(6) **विशेषणविशेष्यभाव सन्निकर्ष–** चक्षु से भूतल पर घटादि के अभाव को हम इस सन्निकर्ष के माध्यम से प्रत्यक्ष करते हैं, इसका स्वरूप 'यहाँ भूतल पर घट का अभाव है' इसप्रकार होता है, क्योंकि यहाँ चक्षु से संयुक्त भूतल में घट का अभाव होना विशेषण है तथा भूतल विशेष्य है। इसके अतिरिक्त आत्मा में स्थित सुखादि के अभाव को भी हम इसी विशेषणविशेष्यभाव सन्निकर्ष द्वारा ग्रहण करते हैं।

इस स्थिति में मन से संयुक्त आत्मा में सुखादि का अभाव होना विशेषण होता है। इसीप्रकार श्रोत्र में समवाय सम्बन्ध से रहने वाले गकार अर्थात् गवर्ण में घकार अर्थात् 'घ' वर्ण के अभाव को हम इसी सन्निकर्ष के माध्यम से ग्रहण करते हैं। उपर्युक्त षड्विध सन्निकर्ष को संक्षेप में इसप्रकार भी समझा जा सकता है–

(i) **संयोग सन्निकर्ष –**	'चक्षु' इन्द्रिय से **घट का प्रत्यक्ष।**
(ii) **संयुक्तसमवाय सन्निकर्ष–**	चक्षु इन्द्रिय से घट में स्थित **घटरूप का प्रत्यक्ष।**
(iii) **संयुक्तसमवेतसमवाय सन्निकर्ष–**	चक्षु से घटरूप में स्थित **रूपत्व जाति का प्रत्यक्ष।**
(iv) **समवाय सन्निकर्ष–**	श्रोत्रेन्द्रिय से **शब्द का ग्रहण** करना।
(v) **समवेतसमवाय सन्निकर्ष–**	शब्द में स्थित **शब्दत्व जाति का ग्रहण** करना।
(vi) **विशेषणविशेष्यभाव सन्निकर्ष–**	चक्षु से संयुक्त भूतल पर **घट के अभाव का प्रत्यक्ष।**

(H) **अनुमान प्रमाण–** यहाँ प्रयुक्त 'अनु' का अर्थ है– बाद में (पश्चात) और मान का अर्थ है– ज्ञान अथवा प्रमाण अर्थात् जिससे लिंग का परामर्श करने के बाद ज्ञान होता है, उसे अनुमान प्रमाण कहते हैं अथवा इस प्रमाण की प्रवृत्ति प्रत्यक्ष अथवा आगम प्रमाण के बाद होती है। इसलिए यह अनुमान है। अनुमिति को इस प्रमाण का फल बताया गया है और यह अनुमिति ही वस्तुतः प्रमा अर्थात् निश्चयात्मक ज्ञान होता है। ग्रन्थकार ने लिंग के परामर्श को 'अनुमान' संज्ञा प्रदान की है।

जैसे– कोई व्यक्ति दूर स्थित पर्वत में उठते हुए धूम को देखकर वहाँ स्थित 'अग्नि' का अनुमान लगा लेता है, जो 'पर्वतोऽयम् वह्निमान्' इस रूप में तथा निश्चयात्मक होता है। यह ज्ञान अनुमान प्रमाण से ही सम्भव है, अन्य किसी प्रमाण से नहीं। अनुमान की इस सम्पूर्ण प्रक्रिया को समझने के लिए सर्वप्रथम हमें यहाँ प्रयुक्त 'लिंग' और उसके 'परामर्श' दोनों शब्दों को ही समझना होगा।

'लीनम् अर्थम् गमयति इति' अथवा 'व्याप्ति बलेन अर्थगमकम् भवति' इति लिंगम्। दूसरे शब्दों में, व्याप्ति का ग्रहण तथा स्मरण होने पर जो परोक्ष अर्थ का ज्ञान कराता है, वह **'लिंग'** कहलाता है। इसी लिंग को हेतु भी कहते हैं अर्थात् परोक्ष अर्थ का ज्ञापक हेतु होता है। उदाहरण के माध्यम से यह बात अधिक स्पष्ट हो सकेगी।

जैसे– पर्वत आदि से आकाश में उठता हुआ 'धूम', दूर से दिखायी न देने वाले अर्थात् परोक्ष 'अग्नि' का ज्ञान कराने वाला होने से अग्नि का लिंग अर्थात् चिह्न हुआ, किन्तु यह धूम अग्नि का तभी बोध कराने में सक्षम होगा, जब हम धूम और अग्नि की एक साथ रहने विषयक व्याप्ति को निश्चयपूर्वक ग्रहण कर लेते हैं और उसका स्मरण भी करते हैं, क्योंकि अनुमान की सम्पूर्ण प्रक्रिया में लिंगरूप धूम का तीन बार **परामर्श अर्थात् ज्ञान** होता है। इसलिए तर्कभाषाकार ने इसे **'तस्य तृतीयं ज्ञानं परामर्शः'** कहा है। इसे भी उदाहरण द्वारा आसानी से समझा जा सकता है–

कोई व्यक्ति प्रतिदिन रसोईघर में धुआँ उठते हुए देखता है तो उसे वहाँ अग्नि की प्राप्ति अवश्य होती है। इससे वह इस निष्कर्ष पर पहुँचता है– **'यत्र धूमः तत्र वह्निः'** अर्थात् जहाँ–जहाँ धुआँ होता है, वहाँ वहाँ अग्नि अवश्य होती है। इसके पश्चात् एक दिन उसे दूर स्थित पर्वत में धुआँ दिखाई देता है, तो उसे देखकर वह तुरन्त निर्णय कर लेता है कि अरे! पर्वत में तो आग लग गई। दूर से अग्नि दिखायी न देने पर भी अग्नि के चिह्न, धूम को देखकर पर्वत में अग्नि होने का

निश्चयात्मक ज्ञान वस्तुतः 'अनुमान' प्रमाण द्वारा ही सम्भव है। अन्य किसी प्रमाण द्वारा यह ज्ञान सम्भव नहीं है। अनुमान की इस सम्पूर्ण प्रक्रिया में पंचावयव वाक्य का प्रयोग होता है–

प्रतिज्ञा– यह पर्वत अग्नि वाला है (पर्वतोऽयं वह्निमान्)

हेतु– क्योंकि यहाँ अग्नि दिखायी दे रहा है। (धूमवत्वात्)

उदाहरण– यहाँ–जहाँ धुआँ होता है, वहाँ–वहाँ अग्नि भी होती है, **जैसे–** रसोईघर में (यत्र–यत्र धूमः,तत्र तत्र वह्निः, यथा महानसे)

उपनय– यह पर्वत भी वैसा ही है अर्थात् धूमयुक्त है (तथा चायम्)

निगमन– इसलिए यहाँ पर्वत में भी अग्नि विद्यमान है। (तस्मात् तथा)

अनुमान की उपर्युक्त सम्पूर्ण प्रक्रिया में अग्नि के लिंग, धूम का तीन बार परामर्श होता है। इसीलिए ग्रन्थकार ने 'लिंग परामर्शो–ऽनुमानम्' कहा है। **प्रथम,** लिंग ज्ञान हमें रसोईघर में होता है, जब हम प्रत्यक्ष देखकर धूम और अग्नि की व्याप्ति का ग्रहण करते हैं। **द्वितीय,** लिंग ज्ञान हमें पर्वत में प्रथम बार धूमदर्शन करने पर होता है।

तत्पश्चात् धूम और अग्नि की एक साथ रहने की पूर्व निश्चित व्याप्ति को स्मरण करके पुनः पर्वत में ऊपर उठते हुए धूम को देखते हैं तो यही अग्नि के लिंग, धूम का तृतीयज्ञान है। इसे ही 'लिंग परामर्श' अर्थात् लिंग का तृतीय ज्ञान कहा गया है। इसी से पर्वत में अग्नि होना रूप **अनुमिति** होती है। यही अनुमान प्रमाण भी है, जो संदिग्ध स्थलों पर ही प्रभावी होती है।

(क) **अनुमान के भेद–** स्वार्थानुमान और परार्थानुमान भेद से अनुमान दो प्रकार का होता है। इनमें भी जब हम धूम और अग्नि के साहचर्य विषयक व्याप्ति को पाकशाला में स्वयं देखकर ग्रहण करते हैं तथा उसके बाद स्वयं ही पर्वत में स्थित धूम को देखकर पर्वत में अग्नि होने का अनुमान लगाते हैं तो बिना अन्य व्यक्ति की सहायता से होने के कारण स्वयं प्राप्त होने वाला यह अनुमान ही **'स्वार्थानुमान'** कहलाता है। इस सम्पूर्ण अनुमान–प्रक्रिया में अनुमिति उपर्युक्त

पंचवाक्यों प्रतिज्ञा, हेतु, उदाहरण, उपनय और निगमन के माध्यम से ही होती है।

इसके अतिरिक्त जब कोई व्यक्ति स्वयं धूम से अग्नि होने का अनुमान करके अन्य व्यक्ति को उसका ज्ञान कराने के लिए पाँच अवयव वाले प्रतिज्ञा आदि अनुमान वाक्यों का प्रयोग करता है, वह **'परार्थानुमान'** होता है जो इसप्रकार है–

1. यह पर्वत अग्निवाला है (पर्वतोऽयं वह्निमान्) **(प्रतिज्ञा)**
2. धूमवान् होने के कारण (धूमवत्त्वात्) **(हेतु)**
3. जो–जो धूमवान् होता है, वह–वह अग्निमान् होता है, **जैसे–** पाकशाला (यो यो धूमवान् स सोऽग्निमान्, **यथा–** महानसः) **(उदाहरण)**
4. उसीप्रकार अग्नि से व्याप्त धूम से युक्त यह पर्वत भी है **(उपनय)** (तथा च अयम्)
5. इसलिए यह पर्वत भी वैसा अर्थात् अग्नि से व्याप्त है **(निगमन)** (तस्मात् तथा)

(H) **हेतुत्रय–** अनुमान के प्रकरण में ग्रन्थकार ने तीन प्रकार के हेतुओं का कथन किया है–

(क) **अन्वय–व्यतिरेकी हेतु–** जिस हेतु में अन्वय और व्यतिरेक दोनों व्याप्ति सम्भव हैं, वह अन्वय–व्यतिरेकी हेतु कहलाता है। **जैसे–** अग्नि सिद्धि में धूम हेतु वस्तुतः अन्वय–व्यतिरेकी हेतु है, क्योंकि यहाँ दोनों व्याप्तियाँ सम्भव हैं। इससे पूर्व हम इन दोनों व्याप्तियों को भी समझ लें– **तत् सत्त्वे तत् सत्त्वम्,** अन्वयः। **तदभावे तदभावो,** व्यतिरेकः।

इस सिद्धान्त के अनुसार धूम हेतु में अन्वय और व्यतिरेक दोनों व्याप्ति होने से यह हेतु अन्वय–व्यतिरेकी हेतु होगा, **जैसे–**

(1) **अन्वय–व्याप्ति–** यत्र–यत्र धूमः तत्र–तत्र वह्निः, **यथा–** महानसः अर्थात् जहाँ–जहाँ धूम होता है, वहाँ–वहाँ अग्नि होती है, **जैसे–** रसोईघर। यहाँ धूम के होने पर अग्नि के होने की सिद्धि की गई है। अतः यह अन्वय–व्याप्ति का उदाहरण हुआ।

(2) **व्यतिरेक–व्याप्ति–** यत्र–यत्राग्नाभावः तत्र–तत्र धूमाभावः, **यथा–** महाह्रदः अर्थात् जहाँ–जहाँ अग्नि का अभाव होता है, वहाँ–वहाँ धूम का भी अभाव होता है, **जैसे–** महासरोवर। यहाँ अग्नि के न होने पर धूम के अभाव का कथन किया गया है। अतः यह व्यतिरेक व्याप्ति का उदाहरण है।

(ख) **केवलान्वयी हेतु–** कोई हेतु केवल 'अन्वय' व्याप्ति वाला होता है, वह केवलान्वयी कहलाता है, क्योंकि उस हेतु की व्यतिरेक व्याप्ति का कोई दृष्टान्त न होने के कारण सम्भव ही नहीं है, **जैसे–** शब्दोऽभिधेयः प्रमेयत्वात्, यत् प्रमेयं तदभिधेयं **यथा–** घटः अर्थात् शब्द अभिधेय होता है, प्रमेय होने से, जो प्रमेय होता है, वह अभिधेय होता है, **जैसे–** घट। यह शब्द भी उसीप्रकार प्रमेय है। इसलिए यह भी वैसा अभिधेय है।

यहाँ प्रयुक्त अभिधेय का अर्थ अभिधा शब्दशक्ति का विषय होने से है तथा प्रमा का अर्थ है– प्रमा का विषय अर्थात् यथार्थ ज्ञान होना। घट में प्रमेयत्व होने से अभिधेयत्व भी देखा जाता है। उपर्युक्त वाक्य केवल **अन्वय–व्याप्ति** का उदाहरण है, क्योंकि यहाँ प्रमेयत्व और अभिधेयत्व में व्यतिरेक व्याप्ति का अन्य कोई उदाहरण न होने के कारण व्यतिरेक–व्याप्ति सम्भव ही नहीं है।

जैसे– जो अभिधेय नहीं होता, वह प्रमेय भी नहीं होता है, **जैसे–** अमुक। इसप्रकार का कोई व्यतिरेक दृष्टान्त ही नहीं है, क्योंकि सर्वत्र, प्रामाणिक अर्थ ही दृष्टान्त होता है।

(ग) **केवलव्यतिरेकी हेतु–** इसीप्रकार कोई केवल व्यतिरेक व्याप्ति सम्भव होने से केवल–व्यतिरेकी हेतु कहा जाता है, क्योंकि यहाँ अन्वय–व्याप्ति सम्भव ही नहीं होती है। **जैसे–** आत्मा से युक्त होने के साध्य होने पर उसका प्राणादि से युक्त होना हेतु केवल–व्यतिरेकी का उदाहरण कहा जाएगा, जिसका प्रदर्शन इसप्रकार होगा–

जीवित शरीर आत्मा से युक्त होता है **(प्रतिज्ञा)** क्योंकि वह प्राण आदि से युक्त होता है **(हेतु)** जो आत्मा से युक्त नहीं होता वह प्राण आदि से युक्त भी नहीं होता, **जैसे–** घट **(उदाहरण)** यह जीवित शरीर वैसा अर्थात् प्राणादि के अभाव वाला नहीं है **(उपनय)**, इसलिए यह वैसा अर्थात् आत्मा के अभाव वाला भी नहीं है **(निगमन)**।

यहाँ जीवित शरीर का सात्मक होना साध्य है और उसका प्राणादिमान् होना हेतु है, जो अन्वय–व्याप्ति के अभाव के कारण 'केवलव्यतिरेकी हेतु' का उदाहरण है, क्योंकि जो प्राणादिमान् है वह सात्मक है **यथा–** अमुक। सभी जीवित शरीरों के पक्ष में आने के कारण इसप्रकार का कोई दृष्टान्त ही नहीं है।

इस प्रसंग में उल्लेखनीय यह भी है कि उपर्युक्त तीनों हेतुओं में से अन्वय–व्यतिरेकी नामक हेतु पाँच रूपों से युक्त होकर अपने साध्य को सिद्ध करने में सक्षम होता है, जबकि शेष दोनों हेतुओं में वह अपने साध्य को चार रूपों द्वारा ही साध्य को सिद्ध करता है, क्योंकि केवलान्वयी हेतु में व्यतिरेक–व्याप्ति न होने से तथा केवल–व्यतिरेकी में अन्वय–व्याप्ति का अभाव होने के कारण, यहाँ हेतु का एक–एक रूप नहीं होता है। अतः इसे ठीकप्रकार समझने के लिए हमें सर्वप्रथम हेतु के पाँच रूपों से अवगत होना उचित होगा।

(J) **हेतु के पंचरूप**– जैसा कि अभी हमने कहा कि अनुमान प्रमाण में सामान्यरूप से हेतु अपने पाँच रूपों से युक्त होकर ही 'साध्य' को सिद्ध करने में सक्षम होता है। सर्वप्रथम अन्वय–व्याप्ति हेतु के पाँच रूपों को कहते हैं, जो इसप्रकार हैं–

1. **पक्षसत्त्व** (हेतु का पक्ष में होना) 'पर्वत' पक्ष (धूमवत्व हेतु में)
2. **सपक्ष सत्त्व** (हेतु का सपक्ष में होना) 'रसोईघर'– सपक्ष।
3. **विपक्ष सत्त्व** (हेतु का विपक्ष में न होना) 'जलाशय' –विपक्ष।
4. **अबाधित विषयत्व** (साध्य का बाधित न होना)
5. **असत्प्रतिपक्ष** (प्रतिपक्षी हेतु का न होना)

यहाँ प्रथम तीन हेतुओं के रूप तो स्पष्ट हैं, किन्तु उदाहरणों से अन्तिम दो हेतुओं को भी समझा जा सकता है। हेतु के चतुर्थ रूप **अबाधितविषयत्व** में प्रयुक्त 'विषय' से अभिप्राय साध्य से है अर्थात् जिस हेतु का 'साध्य' अन्य किसी प्रमाण से बाधित हो रहा हो, तो वह सद् हेतु की श्रेणी में नहीं आएगा। **जैसे–**

कोई व्यक्ति अनुमान का प्रयोग करते हुए कहता है कि– अग्नि अनुष्ण है, कृतक होने के कारण (अग्निरनुष्णः कृतकत्वात्)। यहाँ अग्नि में अनुणत्व साध्य है, किन्तु वह प्रत्यक्ष प्रमाण से स्पर्श द्वारा बाधित हो जाता है, क्योंकि छूने पर तो अग्नि हमें उष्ण प्रतीत होती है, न कि शीतल। इसलिए यह हेतु **बाधितविषय हेतु** होने से सद् हेतु नहीं है।

इसीप्रकार हेतु का पंचम रूप 'असत्प्रतिपक्ष' इसप्रकार समझ सकते हैं– साध्य के विपरीत अर्थ को सिद्ध करने वाला हेतु, 'प्रतिपक्ष' कहा जाता है **जैसे–** कोई कहे कि– 'शब्दोऽनित्यो नित्यधर्मरहितत्वात्' यहाँ शब्द का अनित्यत्व साध्य है। इसके ठीक विपरीत अनित्यता को सिद्ध करने के लिए इसप्रकार भी हेतु का प्रयोग किया गया है, जिसमें नित्यधर्म के रहित होने की बात ही कह दी गयी है।

(K) **हेत्वाभास–** 'शब्दो नित्योऽनित्यधर्मरहितत्वात्' क्योंकि यहाँ ये दोनों हेतु परस्पर विपरीत अर्थ को सिद्ध कर रहे हैं। अतः इन दोनों के 'सत्प्रतिपक्ष' होने के कारण ये **सद्हेतु** की श्रेणी में नहीं माने जाएँगे, जबकि धूमवत्त्व हेतु उपर्युक्त पाँचों रूपों से युक्त होने के कारण अपने साध्य अग्नि को सिद्ध करने में पूर्णतया समर्थ है। अतः सद्हेतु है। इस प्रसंग में उल्लेखनीय यह भी है कि **उपर्युक्त आवश्यक हेतुरूपों में से यदि कोई एक से भी हेतु हीन होता है, वह सद्हेतु न होकर 'हेत्वाभास' की श्रेणी में आता है।** तर्कभाषाकार ने इसके असिद्ध, विरुद्ध, अनैकान्तिक, प्रकरणसम, कालात्यापदिष्ट भेद से पाँच प्रकारों

का उल्लेख किया है, जिनका हम यहाँ संक्षेप में परिचय प्रस्तुत कर रहे हैं–

(1) **असिद्ध हेत्वाभास–** वह हेतु जो लिंग के रूप में निश्चित न हो 'असिद्ध' हेत्वाभास कहलाता है, जो आश्रय असिद्ध, स्वरूप असिद्ध तथा व्याप्यत्व असिद्ध भेद से तीन प्रकार का होता है–

(क) **आश्रय असिद्ध–** जिस हेतु का आश्रय ही सिद्ध नहीं होता है। **जैसे**– आकाश कमल सुगन्धित होता है, कमल होने के कारण। सरोवर में उत्पन्न होने वाले कमल के समान। यहाँ आकाश को कमल हेतु का आश्रय बताया गया है, जिसे हम व्यवहार में देखते ही नहीं हैं। अतः यह हेतु न होकर हेत्वाभास (आश्रय असिद्ध) की श्रेणी में आएगा।

(ख) **स्वरूप असिद्ध–** सामान्यरूप से हेतु का पक्ष में रहना अनिवार्य है, किन्तु जो हेतु 'पक्ष' में ही स्थित न हो, वह **'स्वरूप असिद्ध हेत्वाभास'** होता है। **जैसे–** शब्दोऽनित्यः चाक्षुषत्वात्। यहाँ शब्द में अनित्यत्व की सिद्धि के लिए उसका नेत्र द्वारा ग्राह्य होना हेतु दिया गया है **(चाक्षुषत्वात्)** जो 'पक्ष' अर्थात् शब्द का धर्म ही नहीं है, क्योंकि शब्द को हम नेत्र से नहीं, अपितु श्रोत्र से ग्रहण करते हैं। अतः यह हेतु 'पक्ष' में न रहने से 'स्वरूप असिद्ध हेत्वाभास' होगा।

(ग) **व्याप्यत्व असिद्ध–** जिस हेतु में व्याप्ति का अभाव रहता है। वह असिद्ध हेत्वाभास का तृतीय भेद है,जो दो प्रकार का होता है–

(अ) **व्याप्ति ग्राहक प्रमाण के न होने से। जैसे–** शब्द क्षणिक होता है, क्योंकि वह सत् है (हेतु) जो सत् है, वह क्षणिक होता है, **जैसे–** मेघसमूह उसीप्रकार शब्द भी है। यहाँ शब्द के सत्त्व और क्षणिकत्व की व्याप्ति का निश्चय कराने वाला कोई प्रमाण न होने से यह **व्याप्यत्व असिद्ध** का प्रथम भेद हुआ।

(ब) **उपाधि होने के कारण–** जहाँ उपाधि के होने से कोई हेतु असिद्ध हो जाए। **जैसे–** यज्ञ में होने वाली हिंसा अधर्म का साधन होती है, क्योंकि वह हिंसा है (हेतु) जिसप्रकार यज्ञ से बाहर की गई

हिंसा। यहाँ अधर्मसाधनत्व साध्य है तथा हिंसात्व साधन है तथा निषिद्धत्व उपाधि है तथा वह उपाधि साध्य की व्यापक है, क्योंकि जहाँ-जहाँ अधर्म साधनत्व होता है, वहाँ-वहाँ निषिद्धत्व भी होता है, यह व्याप्ति है। यह उपाधि साधन की व्यापक नहीं है, क्योंकि जहाँ-जहाँ हिंसात्व होता है, वहाँ-वहाँ निषिद्धत्व नहीं होता है।

जैसे– यज्ञ की हिंसात्व में निषेध नहीं होता है। इसप्रकार निषिद्धत्व में उपाधि का लक्षण घटित हो जाता है।

(2) **विरुद्ध हेत्वाभास–** साध्य के अभाव से व्याप्त हेतु ही विरुद्ध हेत्वाभास की श्रेणी में आता है। **जैसे–** शब्द नित्य है, क्योंकि वह कार्य है (कृतक) (हेतु) **जैसे–** आत्मा। यहाँ शब्द का नित्यत्व साध्य है तथा कृतकत्व हेतु रूप में प्रयुक्त हुआ है, जो साध्यरूप नित्यत्व के अभाव से व्याप्त है, क्योंकि जो कृतक अर्थात् कार्य होता है, वह तो अनित्य होता है, नित्य नहीं। इस कारण यह हेतु विरुद्ध हेत्वाभास हुआ।

(3) **अनैकान्तिक हेत्वाभास–**व्यभिचार अर्थात् नियम के उल्लंघन से युक्त हेतु अनैकान्तिक हेत्वाभास है, जो साधारण अनैकान्तिक और असाधारण अनैकान्तिक भेद से दो प्रकार का है–

(अ) **साधारण अनैकान्तिक हेत्वाभास–** जो हेतु अपने उचित स्थान पर रहने के साथ-साथ उससे भिन्न स्थल पर भी रहता है। **जैसे–** शब्दो नित्यः प्रमेयत्वात् (हेतु) व्योमवत्। अनुमान के इस प्रयोग में शब्द का नित्यत्व साध्य है तथा प्रमेयत्व हेतु है। **शब्द–पक्ष, व्योम–सपक्ष** तथा **घट आदि** सभी अनित्य पदार्थ **विपक्ष** हैं तथा यहाँ प्रदत्त प्रमेयत्व हेतु सभी में विद्यमान होने से साधारण अनैकान्तिक हेत्वाभास की श्रेणी में आता है।

(ब) **असाधारण अनैकान्तिक हेत्वाभास–** जब हेतु उचित स्थान पर भी विद्यमान नहीं रहता है। **जैसे–** 'भूर्नित्या गन्धवत्वात्'। यहाँ नित्यत्व साध्य है और पृथिवी का गन्धवती होना हेतु है। इसमें भूमि

पक्ष और आकाश आदि नित्य पदार्थ **सपक्ष** हैं तथा घट आदि अनित्य पदार्थ **विपक्ष** हैं तथा सद्हेतु के लिए पक्ष और सपक्ष दोनों में रहना आवश्यक है तथा विपक्ष में वह नहीं रहता है। यहाँ प्रदत्त गन्धवत्व हेतु नित्य आकाश सपक्ष में भी नहीं रहने से असाधारण अनैकान्तिक हेत्वा–भास का उदाहरण हुआ।

(4) **सत्प्रतिपक्ष** (प्रकरणसम) **हेत्वाभास**– जिस हेतु में साध्य के विपरीत अर्थ को सिद्ध करने वाला अन्य हेतु स्थित होता है। **जैसे**– शब्द अनित्य है, क्योंकि वह अनित्य के धर्म से रहित है (हेतु) यहाँ इससे विपरीत अर्थ को सिद्ध करने वाला दूसरा हेतु भी विद्यमान है।

जैसे– शब्द अनित्य है, क्योंकि वह नित्य धर्म से रहित है (हेतु) यहाँ इससे विपरीत अर्थ को सिद्ध करने वाला दूसरा हेतु भी विद्यमान है। **जैसे**– शब्द नित्य है, क्योंकि वह अनित्य धर्म से रहित है। इसलिए यह प्रकरणसम नामक चतुर्थ हेत्वाभास हुआ।

(5) **कालात्ययापदिष्ट** (बाधित विषय) **हेत्वाभास**– जिस हेतु के साध्य का अभाव अन्य प्रमाण द्वारा निश्चित कर लिया जाता है। **जैसे**– अग्नि शीतल है, कार्य होने (हेतु) से जल के समान (अग्निरनुष्णः कृतकत्वात्, जलवत्)। यहाँ प्रयुक्त साध्य अनुष्णत्व का अभाव हमें स्पर्श प्रत्यक्ष प्रमाण द्वारा ही निश्चित हो जाता है। इसलिए यह बाधित विषय नामक पंचम हेत्वाभास का उदाहरण हुआ।

(L) **उपमान प्रमाण**– न्यायशास्त्र सम्मत कुल चार प्रमाणों में से यह तृतीय प्रमाण है। समानता आदि बताने वाले (अतिदेश) वाक्य के स्मरण करने के साथ गौ आदि की समानता वाले पिण्ड 'गवय' आदि जँगली पशु का ज्ञान होना ही उपमान प्रमाण है। **जैसे**– नील गाय (गवय) से पूर्णतया अपरिचित व्यक्ति, वनवासी आदि किसी अन्य व्यक्ति द्वारा यह सुनकर कि–

'जैसी गाय होती है, वैसा ही 'गवय' होता है।'

इस वाक्य को स्मरण करते हुए जंगल में जाने पर जब वही व्यक्ति गाय के समान जँगली पशु को देखता है तो वह उपमान प्रमाण के द्वारा यह निश्चय कर लेता है कि निश्चय ही यह 'गवय' नामक पशु है। इस सम्पूर्ण प्रक्रिया में वनवासी द्वारा कही गई बात का स्मरण होना आवश्यक है, क्योंकि स्मरण के अभाव में इसप्रकार का ज्ञान होना सम्भव नहीं होता है।

(M) **शब्दप्रमाण–** आप्तवाक्य ही 'शब्द प्रमाण' की श्रेणी में आता है, जो पदार्थ जैसा है, उसका वैसा ही कथन करने वाला व्यक्ति 'आप्तपुरुष' कहलाता है। आप्तपुरुष द्वारा प्रयुक्त वाक्य 'आप्तप्रमाण' है। साथ ही, वेदों में प्रयुक्त सभी वाक्य भी परमात्मा द्वारा विरचित होने से 'आप्त' हैं। अतः वे सभी शब्दप्रमाण की श्रेणी में आते हैं। इस प्रकार केवल चार ही प्रमाण होते हैं। इससे कम अथवा अधिक नहीं।

उल्लेखनीय है कि नैयायिक प्रत्यक्ष आदि चार प्रमाणों को ही मान्यता प्रदान करते हैं, वे शेष प्रमाणों का अन्तर्भाव इन्हीं चार प्रमाणों में कर लेते हैं। यों तो शेष प्रमाणों में 'अर्थापत्ति', 'अभाव', 'ऐतिह्य' और 'सम्भव' नामक चार प्रमाण और भी माने गए हैं, किन्तु तर्कभाषाकार ने मीमांसक और वेदान्ती दोनों द्वारा माने गए 'अर्थापत्ति' प्रमाण का तथा वेदान्तियों द्वारा स्वीकार किए गए 'अभाव' के नाम का उल्लेख करके, इन दोनों प्रमाणों को क्रमशः 'केवल व्यतिरेकी' अनुमान प्रमाण में तथा 'प्रत्यक्ष' प्रमाण में अन्तर्भाव माना है, जिसका हम यहाँ उल्लेख कर रहे हैं। इनमें से 'ऐतिह्य' और 'सम्भव' इन दोनों प्रमाणों की चर्चा हमने इसलिए नहीं की है, क्योंकि ये दोनों प्रमाण महत्त्वपूर्ण भी नहीं है तथा इन दोनों का अन्तर्भाव स्वतः ही अन्य प्रमाणों में स्पष्ट भी है।

(N) **अर्थापत्ति प्रमाण तथा उसका अन्तर्भाव–** अनुपपद्यमान अर्थात् उपपन्न न हो पाने वाले अर्थ का अनुभव करके, उसके उपपादक (संगत) किसी अन्य अर्थ की कल्पना करना ही 'अर्थापत्ति' प्रमाण है। **जैसे–** देवदत्त नामक व्यक्ति दिन में भोजन नहीं करता है,

किन्तु मोटा है, ऐसा स्वयं देखने अथवा अन्य व्यक्ति द्वारा कहे जाने पर, देवदत्त में रात्रि भोजन रूप अन्य अर्थ की कल्पना कर ली जाती है, क्योंकि दिन में न खाने वाले व्यक्ति का मोटा होना, उसके 'रात्रि भोजन' के अभाव में उपपन्न (संगत) नहीं हो सकता है।

इसीलिए देवदत्त का रात्रि भोजन रूप अर्थ प्रत्यक्ष आदि अन्य प्रमाणों का विषय न होने के कारण 'अर्थापत्ति' प्रमाण को मानना उचित है, क्योंकि एकमात्र यही प्रमाण दिन में न खाना और उसका मोटा होना, इन दोनों विपरीत अर्थों को उत्पन्न करने में समर्थ है। इसलिए प्रत्यक्षादि चार प्रमाणों के अतिरिक्त इस पंचम अर्थापत्ति प्रमाण को भी मानना संगत है। यही मत मीमांसक तथा वेदान्तियों का रहा है, जिसका निराकरण तर्कभाषाकार इसप्रकार करते हैं–

(क) **अर्थापत्ति प्रमाण का निराकरण** (अन्तर्भाव)– देवदत्त दिन में नहीं खाता फिर भी मोटा है, यहाँ उसके 'रात्रि भोजन' रूप अर्थ की परिकल्पना के लिए 'अर्थापत्ति' जैसे किसी अन्य प्रमाण को स्वीकार करने की आवश्यकता नहीं है, क्योंकि देवदत्त के 'रात्रि भोजन' रूप अर्थ की सिद्धि तो हमारे द्वारा बताए गए केवल व्यतिरेकी प्रमाण द्वारा ही हो जाती है, जिसका प्रयोग इसप्रकार होगा–

(i) **प्रतिज्ञा–** देवदत्त रात्रि में भोजन करता है (साध्य) देवदत्तः रात्रौ भुङ्क्ते

(ii) **हेतु–** क्योंकि दिन में न खाने पर भी वह पुष्ट है (साधन)

(iii) **उदाहरण–** रात में नहीं खाने वाला दिन में भी न खाने पर मोटा नहीं होता है। **जैसे–** रात–दिन न खाने वाला अमुक पुष्ट नहीं है।

(iv) **उपनय–** यह देवदत्त वैसा अर्थात् अपुष्ट नहीं है।

(v) **निगमन–** इसलिए यह वैसा अर्थात् रात–दिन में खाने वाला नहीं है।

इसलिए केवल व्यतिरेकी अनुमान द्वारा देवदत्त के रात्रि–भोजन रूप अर्थ की प्रतीति हो जाने के कारण अर्थापत्ति जैसे किसी अन्य प्रमाण को अलग से मानने की आवश्यकता नहीं है।

उपर्युक्त अनुमान प्रयोग में व्यतिरेकव्याप्ति का ही प्रयोग किया गया है। दूसरे शब्दों में, यह साध्य के अभाव के साथ साधन के अभाव

की व्याप्ति है। साध्य का अभाव यहाँ रात्रि भोजन का अभाव है तथा साधन का अभाव यहाँ दिन में न खाने वाले की पुष्टता का अभाव है और इस व्याप्ति में अन्वयी उदाहरण नहीं है।

(ख) **'अभाव' प्रमाण एवं उसका निराकरण–** भाट्टमीमांसक और वेदान्ती 'अभाव' नामक षष्ठ प्रमाण को मानने के पक्षधर रहे हैं, किन्तु नैयायिक इसका 'प्रत्यक्ष' प्रमाण में ही अन्तर्भाव करते हुए इसका खण्डन करते हैं। अतः पहले यहाँ 'अभाव' प्रमाण के स्वरूप का उल्लेख किया जा रहा है–

किसी वस्तु के अभाव को ग्रहण करने के लिए हमें 'अभाव' नामक प्रमाण को अलग से मानने की आवश्यकता है, क्योंकि हम घट की अनुपलब्धि के माध्यम से घटादि के अभाव का निश्चय करते हैं। वस्तुतः उपलब्धि का अभाव ही अनुपलब्धि है। इसलिए 'अभाव' प्रमाण द्वारा घट आदि के अभाव का ग्रहण किया जा सकता है।

क्योंकि भूतल आदि अधिकरण को ग्रहण करने में इन्द्रिय का व्यापार तो क्षीण हो जाता है तथा अभाव के साथ इन्द्रिय का सन्निकर्ष होना भी सम्भव नहीं है। इसलिए प्रत्यक्ष प्रमाण के माध्यम से हम अभाव को ग्रहण करने में समर्थ नहीं है। साथ ही अभाव के साथ व्याप्ति न होने के कारण अनुमान प्रमाण से भी इसका ग्रहण सम्भव नहीं है। इसीप्रकार यह 'अभाव' उपमान और शब्द प्रमाण का विषय भी नहीं है। इसलिए 'अभाव' नामक एक अलग से प्रमाण मानने की आवश्यकता है, जिससे हम किसी पदार्थ के अभाव का निश्चय कर सकते हैं।

इस सम्बन्ध में नैयायिकों का कहना है कि– 'यदि यहाँ घट होता तो भूतल के समान दिखाई देता' इसप्रकार के तर्क के साथ अनुपलब्धि से युक्त 'प्रत्यक्ष प्रमाण' द्वारा ही अभाव का ग्रहण कर लिया जाता है। अतः इसके लिए पृथक् से प्रमाण मानने की आवश्यकता नहीं है।

(N) **प्रामाण्यवाद–** पूर्व में कहा गया कि 'प्रमा करणं प्रमाणम्' अर्थात् प्रमा का करण ही प्रमाण है। उल्लेखनीय है कि 'यथार्थ ज्ञान' के अर्थ में भी 'प्रमाण' शब्द का प्रयोग किया जाता है। यहाँ प्रस्तुत प्रामाण्यवाद में प्रमाण शब्द का यही अर्थ काम में लिया गया है। इसी प्रमाण के भाव को आगे भी प्रमाणत्व अथवा प्रामाण्य कहा जाएगा। इसलिए 'प्रामाण्य' का अर्थ हुआ– ज्ञान की यथार्थता। अतः दार्शनिक दृष्टि से प्रामाण्य विषयक इस विचार को ही 'प्रामाण्यवाद' की संज्ञा प्रदान की गई है।

(क) **प्रामाण्य का स्वतोग्राह्यत्व एवं परतोग्राह्यत्व–** दैनिक जीवन में हम वस्तुओं के सम्बन्ध में लोगों की दो प्रकार की प्रवृत्ति का अवलोकन करते हैं। **प्रथम** में तो व्यक्ति किसी स्थान पर बार–बार देखकर एवं जल को ग्रहण करके, उस स्थल पर जल के होने का निश्चय कर लेता है। इस निश्चय के साथ ही अपने जल विषयक उस स्थल के ज्ञान को प्रामाणिक मान लेता है तथा उसी आधार पर अपनी प्यास बुझाने के लिए उसी स्थल पर बार–बार जाता है।

द्वितीय स्थिति में व्यक्ति को किसी स्थान विशेष पर 'जल' के होने की सम्भावना मात्र होती है और इसी सम्भावना अर्थात् संदेहमात्र से ही वह जल लेने में प्रवृत्त होता है। यदि उसे उस स्थान पर जल की प्राप्ति हो जाती है तो इससे वह व्यक्ति 'वहाँ जल है', इस सम्भावना रूप ज्ञान की प्रामाणिकता का निश्चय कर लेता है।

उपर्युक्त दोनों प्रकार की प्रवृत्तियों को देखकर यह प्रश्न उठना स्वाभाविक है कि– प्रवृत्ति से पूर्व ज्ञान के प्रामाण्य का निश्चय होता है अथवा प्रवृत्ति के बाद ज्ञान के प्रामाण्य का निश्चय होता है। इन्हीं को क्रमशः **स्वतोप्रामाण्य** और **परतोप्रामाण्य** की संज्ञा प्रदान की गई है।

अर्थात् प्रामाण्य के स्वतोग्राह्यत्व के अनुसार– जिस कारण–सामग्री द्वारा ज्ञान का ग्रहण होता है, उसी के माध्यम से ज्ञान के धर्म प्रामाण्य अथवा अप्रामाण्य आदि का भी ग्रहण कर लिया जाता है।

जबकि परतोग्राह्यत्व से अभिप्राय है कि– जिस प्रमाण द्वारा ज्ञान का ग्रहण किया जाता है, उससे अन्य के माध्यम से ज्ञान के प्रामाण्य या अप्रामाण्य का ग्रहण किया जाता है। दार्शनिक सम्प्रदायों में इस विषय को लेकर पर्याप्त मतभेद रहा है। **जैसे–** सांख्य, प्रामाण्य और अप्रामाण्य दोनों को स्वतः मानता है, तो मीमांसक और वेदान्ती प्रामाण्य को स्वतः तथा अप्रामाण्य को परतः स्वीकार करते हैं, जबकि बौद्ध दार्शनिक अप्रामाण्य को स्वतः और प्रामाण्य को परतः मानने में विश्वास रखते हैं।

इन सबके ठीक विपरीत न्यायवैशेषिक दर्शन प्रामाण्य, अप्रामाण्य दोनों को ही परतः मानने के पक्षधर रहे हैं। यही कारण है कि तर्क भाषा में आचार्य केशवमिश्र ने मीमांसकों के प्रामाण्य के स्वतोग्राह्यत्व का निराकरण करके अपने सिद्धान्त परतोग्राह्यत्व की प्रस्थापना की है। अतः हम इस प्रसंग मं प्रथमतः मीमांसकों के स्वतोग्राह्यत्व का प्रति– पादन करके ग्रन्थकार के परतोग्राह्यत्व का विवेचन प्रस्तुत करेंगे–

(O) **मीमांसकों का प्रामाण्य विषयक स्वतोग्राह्यत्व–** भाट्ट मीमांसकों के अनुसार प्रवृत्ति से पहले ही व्यक्ति प्रामाण्य का निश्चय कर लेता है। उसके पश्चात् ही कार्य में प्रवृत्त होता है, क्योंकि ज्ञान के प्रामाण्य का निश्चय तो स्वतः ही होता है। कहने का अभिप्राय यही है कि हम जिस सामग्री द्वारा ज्ञान को ग्रहण करते हैं, उसी सामग्री के माध्यम से उस ज्ञान में स्थित प्रामाण्य का भी ग्रहण होता है। अतः ज्ञान को ग्रहण करने वाले के अलावा ज्ञान के धर्म प्रामाण्य को ग्रहण कराना वाला कोई अन्य तत्त्व नहीं है। संक्षेप में– प्रामाण्य ग्रहण करने के लिए ज्ञानग्राहक सामग्री के अलावा दूसरी सामग्री की अपेक्षा न होना ही, भाट्टमीमांसकों के अनुसार प्रामाण्य का 'स्वतोग्राह्यत्व' है।

इसी विषय को पुनः स्पष्ट करते हैं– ज्ञान तो प्रवृत्ति से पहले ही 'ज्ञातता' की अन्यथा अनुपपत्ति से उत्पन्न 'अर्थापत्ति' प्रमाण द्वारा

ग्रहण कर लिया जाता है तथा ज्ञान में स्थित प्रामाण्य का भी 'अर्थापत्ति' से ही ग्रहण हो जाता है। इसके बाद ही व्यक्ति उसमें प्रवृत्त होता है। इस सम्पूर्ण प्रक्रिया को हम उदाहरण द्वारा इसप्रकार समझ सकते हैं।

इन्द्रिय और घट के सन्निकर्ष के बाद व्यक्ति को 'अयं घटः' इत्यादि ज्ञान होता है। इस ज्ञान के माध्यम से घट में कोई धर्म उत्पन्न कर दिया जाता है, जिसे **ज्ञातता अर्थात् 'जाना गया होना'** कहा जाता है। इसके बाद ही हमें 'ज्ञातोऽयं मया घटः' इसप्रकार का अनुभव होता है। ज्ञातता नामक यह धर्म ज्ञान के अभाव में सम्भव नहीं है।

अतः इसी ज्ञातता की अन्यथा–अनुपपत्ति से ही अन्य ज्ञान की कल्पना अर्थात् अर्थापत्ति की जाती है। अन्य अर्थ की यह कल्पना, ज्ञातता की अन्यथा–अनुपपत्ति से ही उत्पन्न होती है। इसलिए स्पष्ट है कि जिस अर्थापत्ति द्वारा ज्ञान का ग्रहण किया जाता है एवं उसी से ज्ञान के धर्म 'प्रामाण्य' का भी ग्रहण हो जाता है। इसप्रकार हम कह सकते हैं कि किसी विषय के प्रति प्रवृत्ति से पहले ही अर्थापत्ति के माध्यम से ज्ञान और ज्ञान के प्रामाण्य का भी हम ग्रहण कर लेते हैं। यही ज्ञान प्रामाण्य का स्वतोग्राह्यत्व है।

उपर्युक्त अंश में दो शब्द विशेषरूप से प्रयुक्त हुए है, ज्ञातता और अर्थापत्ति। इनमें से अर्थापत्ति प्रमाण को हम पूर्व में स्पष्ट कर चुके हैं। इसलिए यहाँ हम ज्ञातता को स्पष्ट करते हैं–

(क) **ज्ञातता का स्वरूप–** मीमांसकों के अनुसार– चक्षु इन्द्रिय द्वारा घट आदि विषय का प्रत्यक्ष ज्ञान होता है। इसका स्वरूप 'अयं घटः' इसप्रकार का होता है। इस ज्ञान द्वारा घट में एक नवीन धर्म उत्पन्न हो जाता है, जिसे 'ज्ञातता' कहते हैं। वस्तुतः ज्ञान विषयता से भिन्न यह एक विशेष धर्म है, जो ज्ञान की विषयता का कारण होता है, वही ज्ञान का विषय कहलाता है। इसप्रकार ज्ञान का विषय होना

ज्ञातता का कार्य है और ज्ञातता उसका कारण है। इस ज्ञातता का हम प्रत्यक्षरूप से अनुभव करते हैं, किन्तु ज्ञान का हम प्रत्यक्षतः अनुभव नहीं करते हैं।

अतः ज्ञान हो जाने पर घट में **ज्ञातता** नामक कोई धर्म उत्पन्न हो गया है, हम ऐसा मानते हैं। इसप्रकार ज्ञान से उत्पन्न होने वाला ज्ञातता नामक यह धर्म ज्ञान के अभाव में प्रतीत होना सम्भव नहीं है, क्योंकि यह सिद्धान्त है कि कारण के बिना कार्य की उत्पत्ति नहीं होती है। इसलिए अर्थापत्ति के माध्यम से यही 'ज्ञातता' अपने ज्ञान का आक्षेप कर लेती है।

(ख) **ज्ञातता का खण्डन–** ऊपर मीमांसक द्वारा ज्ञान द्वारा घट आदि पदार्थों में 'ज्ञातता' नामक नवीन धर्म के उत्पन्न होने की बात कही गई, किन्तु नैयायिक द्वारा इसका यह कहकर खण्डन किया गया है कि– 'वस्तुतः ज्ञान का विषय होना रूप ज्ञानविषयता के अतिरिक्त 'ज्ञातता' नामक कोई धर्म विशेष नहीं होता है। वस्तुस्थिति यह है कि विषय और विषयीभाव स्वभाव से होता है। घट आदि का स्वभाव विषय होना है तथा इसीप्रकार ज्ञान का स्वभाव विषयी होना है।

दूसरे शब्दों में, जिस वस्तु का ज्ञान होता है, वह ज्ञान का विषय कहा जाता है तथा वह ज्ञान विषयी होता है। इस प्रसंग में उल्लेखनीय यह भी है कि– ज्ञातता को विषयता का नियामक मानने पर हमें दो दोषों का सामना भी करना होगा। **प्रथम,** उस स्थिति में अतीत और अनागत पदार्थ हमारे ज्ञान का विषय नहीं हो सकेंगे, क्योंकि हमारे वर्तमानकालीन ज्ञान के माध्यम से अतीत या अनागत पदार्थ में 'ज्ञातता' की उत्पत्ति सम्भव नहीं है, क्योंकि जो पदार्थ उपस्थित है, उसी में किसी धर्म की उत्पत्ति सम्भव नहीं है।

दूसरी बात, मीमांसकों का कहना है कि जानी गई ज्ञातता से ही अर्थापत्ति द्वारा, ज्ञान की प्रतीति होती है। इसलिए यह ज्ञातता है अथवा 'मैंने ज्ञातता को जान लिया' इत्यादि प्रकार से ज्ञातता भी ज्ञान

का विषय है। अतः उस स्थिति में एक अन्य ज्ञातता की आवश्यकता होगी और इसीप्रकार उस ज्ञातता को जानने के लिए तीसरी, इसप्रकार **अनवस्था दोष** हो जाएगा तथा यदि आप कहें कि–

'यह तो स्वभाव से ही ज्ञान का विषय हो जाती है, उसके लिए दूसरी ज्ञातता की कल्पना की जरूरत नहीं है' तो फिर हमारा कहना है कि तब तो आप घट आदि को भी स्वभाव से ही ज्ञान का विषय क्यों नहीं मान लेते हैं? जैसा हम कह रहे हैं। इसलिए ज्ञातता को मानने की आवश्यकता नहीं है। इसप्रकार आपकी ज्ञातता की सिद्धि नहीं होती है।

(ग) **प्रामाण्यवाद विषयक न्यायसिद्धान्त–** इस विषय में नैयायिक का मानना है कि मानस प्रत्यक्ष द्वारा हम ज्ञान को ग्रहण करते हैं, किन्तु उस ज्ञान के प्रामाण्य का ग्रहण हमें अनुमान द्वारा ही होता है। **जैसे–** 'यह जल है', इसप्रकार के जल विषयक ज्ञान के बाद जल के इच्छुक व्यक्ति की सफल और विफलरूप से दो प्रकार की प्रवृत्ति होती है अर्थात् उसे वहाँ जल मिल भी जाता है और नहीं भी मिलता है। जल मिलने वाली प्रवृत्ति 'सफला' कहलाती है। तभी उस व्यक्ति द्वारा उस ज्ञान के याथार्थ्य अर्थात् प्रामाण्य का अनुमान द्वारा निर्णय किया जाता है, यह अनुमान प्रयोग इसप्रकार होता है। **जैसे–**

(i) **प्रतिज्ञा–** विवादग्रस्त जल–ज्ञान प्रमाण है।
(ii) **हेतु–** क्योंकि यह सफल प्रवृत्ति का जनक है।
(iii) **उदाहरण–** जो ज्ञान प्रमाण नहीं होता, वह सफल प्रवृत्ति का जनक भी नहीं होता, **जैसे–** प्रमाणाभास।

इसप्रकार केवल व्यतिरेकी अनुमान द्वारा जल के प्रामाण्य का निर्णय करते हैं, क्योंकि यहाँ अन्वय–व्यतिरेकी अनुमान सम्भव नहीं है। इस अनुमान में सफल प्रवृत्ति को उत्पन्न करने वाला जलविषयक ज्ञान ही **'पक्ष'** है। उसका प्रामाण्य अर्थात् यथार्थता **'साध्य'** है और सफल प्रवृत्ति का जनक होना **'हेतु'** है।

संक्षेप में, इस सम्पूर्ण प्रक्रिया को इसप्रकार समझ सकते हैं– हम मानस प्रत्यक्ष द्वारा ज्ञान को ग्रहण करते हैं, उस ज्ञान में प्रवृत्त होने वाले व्यक्ति की सफल प्रवृत्ति के माध्यम से ज्ञान के प्रामाण्य का और असफल प्रवृत्ति से अप्रामाण्य का अनुमान करते हैं। इसलिए स्पष्ट है कि ज्ञान के प्रामाण्य और अप्रामाण्य दोनों का ही निश्चय ज्ञान ग्राहक सामग्री से भिन्न सामग्री द्वारा किया जाता है। अतः प्रामाण्य और अप्रामाण्य दोनों ही परतोग्राह्य होते हैं, उन्हें स्वतोग्राह्य कहना उचित नहीं है। इसप्रकार यहाँ तक प्रामाण्यवाद पूर्ण हुआ।

इसके आगे ग्रन्थकार ने **12 प्रमेय पदार्थों** की गणना आत्मा, शरीर, इन्द्रिय, अर्थ, बुद्धि, मन, प्रवृत्ति, दोष, प्रेत्यभाव, फल, दुःख और अपवर्ग के रूप में करके, **'अर्थ' के छः भेद**– द्रव्य, गुण, कर्म, सामान्य विशेष, समवाय का कथन किया गया है।

पुनः **द्रव्य के नौ भेदों**– पृथिवी, जल, तेज, वायु, आकाश, काल, दिक्, आत्मा और मन का उल्लेख किया है। इसी क्रम में **गुणों के चौबीस भेद**–रूप, रस, गन्ध, स्पर्श, संख्या, परिमाण, पृथकत्व, संयोग, विभाग, परत्व, अपरत्व, गुरुत्व, द्रवत्व, स्नेह, शब्द, बुद्धि, सुख, दुःख, इच्छा, द्वेष, प्रयत्न, धर्म, अधर्म, संस्कार आदि सभी की विस्तारपूर्वक चर्चा की है, जिन्हें लेखक के मूल व्याख्या ग्रन्थ तर्कभाषा एवं तर्कसंग्रह से न्यायवैशेषिक दर्शन का विस्तारपूर्वक अध्ययन किया जा सकता है।

•••

वैशेषिक–दर्शन

(i) **वैशेषिक सम्प्रदाय की प्राचीनता–** प्राचीनता की दृष्टि से विद्वानों ने भारतीय दर्शनों में से सांख्य एवं वैशेषिक इन दोनों ही सम्प्रदायों को सर्वाधिक प्राचीन माना है। चीन के बौद्धग्रन्थ संग्रह में भी केवल इन्हीं दोनों दार्शनिक सम्प्रदायों का उल्लेख हुआ है।[1] उन्होंने सांख्यदर्शन में ईश्वरकृष्ण की 'सांख्यकारिका' एवं वैशेषिक दर्शन के 'दशपदार्थशास्त्र' नामक ग्रन्थों का कथन किया है।

विद्वन्मान्यता है कि वैशेषिकदर्शन के प्रवर्तक का नाम 'उलूक' था, जो भगवान् बुद्ध से लगभग 800 वर्ष पूर्व हुआ। वह दिन में ग्रन्थ का लेखन करता था तथा रात्रि में भिक्षा मांगने के लिए निकलता था। इसी कारण इसका नाम 'उलूक' पड़ा। इसने एक लाख श्लोकों वाले वैशेषिक शास्त्र का निर्माण किया।[2]

बौद्धग्रन्थ **'मिलिन्द पन्ह'** वैशेषिक दर्शन विषयक सर्वाधिक प्राचीन उल्लेख माना गया है, जिसमें राजा मिलिन्द को 150 ई.पू. सांख्य, योग, वैशेषिक एवं नीतिशास्त्र का ज्ञाता कहा गया है।[3] इसके अतिरिक्त **कुमारलात** के ग्रन्थ 'सूत्रालंकार' में आई कथा के अनुसार वैशेषिक दर्शन के विद्वान् एवं बौद्ध दर्शन के विद्वान् के मध्य शास्त्रार्थ के अवसर पर बुद्ध की 'सूर्य' से तथा वैशेषिक की 'उलूक' से उपमा दी गई है।

---

1. संस्कृत वाङ्मय का इतिहास, डॉ. सूर्यकान्त, पृष्ठ– 385 ।
2. दशपदार्थशास्त्र, एच.ऊई. पृष्ठ– 3 ।
3. भारतीय दर्शनशास्त्र–न्यायवैशेषिक, डॉ. धर्मेन्द्रनाथ शास्त्री, पृष्ठ– 97 ।

साथ ही, ईसा की प्रथम अथवा द्वितीय शताब्दी में स्थित नागार्जुन के शून्यवाद का खण्डन न्यायसूत्रों में किया गया है। इनके ग्रन्थ **'दशभूमिविभाषा शास्त्र'** में भी सांख्य एवं योग के साथ–साथ वैशेषिक दर्शन का उल्लेख किया गया है। अतः इन सभी तर्कों के आधार पर कहा जा सकता है कि वैशेषिक दर्शन सम्प्रदाय वस्तुतः प्राचीन है, यद्यपि वैशेषिकसूत्र की रचना पर्याप्त बाद में की गयी है।[1]

(ii) **न्यायवैशेषिक दर्शनों का परस्पर सम्बन्ध–** न्याय एवं वैशेषिक दोनों ही दर्शन यद्यपि मूलरूपेण पृथक् हैं तथापि इन दोनों में अत्यन्त प्राचीनकाल से परस्पर सम्बन्ध बना हुआ है, जिसके संकेत हमें सर्वप्रथम महाभारत में उपलब्ध होते हैं।[2] जहाँ नारद को न्यायशास्त्र में निपुण बताते हुए ऐक्य, संयोग, समवाय तत्त्वों का वेत्ता कहा गया है, जो वास्तव में वैशेषिक दर्शन के विषय हैं।[3] इसके अतिरिक्त आयुर्वेद शास्त्र के प्रसिद्ध ग्रन्थ **चरकसंहिता** में न्याय एवं वैशेषिक दर्शन के पदार्थों के वर्णन के आधार पर भी इन दोनों दर्शनों के परस्पर पूरक होने की पुष्टि होती है, क्योंकि भौतिक पदार्थों के स्वरूप के सम्बन्ध में लिखे गए न्यायसूत्र वस्तुतः वैशेषिक से लिए गए ही प्रतीत होते हैं।

इसीप्रकार कुछ वैशेषिकसूत्र भी न्यायसूत्रों को आधार बनाकर लिखे गए प्रतीत होते हैं।[4] अतः उनके समकालीन होने की पुष्टि होती है तथापि इतना ही निश्चितरूप से कहा जा सकता है कि मूलतः वैशेषिकसूत्र निश्चय ही न्यायशास्त्र की अपेक्षा प्राचीन है, किन्तु उनमें बाद में कुछ नये–नये सूत्र जड़ते रहे जो न्याय से प्रभावित रहे। विद्वन्मान्यता के अनुसार– 'वर्तमान वैशेषिक दर्शन में अनेक सूत्र ऐसे

---

[1] . भारतीय दर्शनशास्त्र–न्यायवैशेषिक, डॉ. धर्मेन्द्रनाथ शास्त्री, पृष्ठ– 97।

[2] . महाभारत शान्तिपर्व– 5/3/5।

[3] . न्यायविद् धर्मतत्त्वज्ञः षडंगविदनुत्तमः।
ऐक्य संयोगनानात्वसमवायविशारदः। महाभारत शान्तिपर्व– 5/3/5।

[4] . तर्कसंग्रह, व्याख्याकार–बोडास, भूमिका, पृष्ठ– 28।

हैं, जिनका प्रशस्तपाद को पता ही नहीं था, जो निःसन्देह प्रशस्तपाद के पश्चात् जोड़े गए हैं।[1]

इसके अतिरिक्त वैशेषिकसूत्रों के आरम्भ में प्रत्यक्ष एवं अनुमान दो ही प्रमाणों को मान्यता प्रदान की गई है, किन्तु वहाँ अर्थापत्ति आदि अन्य प्रमाण का खण्डन नहीं किया गया है, जबकि न्यायदर्शन चार प्रमाणों को मान्यता प्रदान करने के साथ–साथ अर्थापत्ति आदि अन्य प्रमाणों का खण्डन भी करता है। इस तथ्य के आधार पर वैशेषिक दर्शन न्यायदर्शन से पूर्ववर्ती सिद्ध होता है।

अनुमान प्रमाण की व्याख्या भी वैशेषिक दर्शन को न्याय से पूर्ववर्ती सिद्ध करती है, क्योंकि वैशेषिक ने अनुमान को इन्द्रिय का विषय बताते हुए उसे तीन प्रकार का बताया (क) किसी की सत्ता के आधार पर अन्यत्र उसी का अनुमान, (ख) किसी की असत्ता के आधार पर दूसरे की सत्ता का अनुमान तथा (ग) किसी की सत्ता के आधार पर अन्य की सत्ता का अनुमान,[2] जबकि न्यायदर्शन अनुमान के पूर्ववत्, शेषवत् तथा सामान्यतो दृष्ट तीन भेद करते हुए अपेक्षाकृत अधिक सुस्पष्ट एवं व्यवस्थित परिभाषा प्रस्तुत करता है, जो उसे वैशेषिकदर्शन का परवर्ती सिद्ध करता है।

इसके अतिरिक्त हेत्वाभास के वर्णन के आधार पर भी वैशेषिक दर्शन को न्याय की अपेक्षा अधिक प्राचीन कहा जा सकता है, क्योंकि वैशेषिक दर्शन हेत्वाभास को **'अनपदेश'** कहकर अपने कर्तव्य की इति श्री मान लेता है। उसके अनुसार– 'अपदेश' के अभाव में अनपदेश होता है। यहाँ वस्तुतः उसके अनुमान का प्रासाद 'अपदेश' पर ही टिका हुआ है, जबकि न्यायसूत्र में हेत्वाभास के भेदों का विस्तारपूर्वक उल्लेख हुआ है।

---

[1] तर्कसंग्रह, व्याख्याकार–बोडास, भूमिका, पृष्ठ– 29 ।

[2] वैशेषिकसूत्र– 3/1 ।

उपर्युक्त विवेचन के आधार पर जहाँ एक ओर न्यायदर्शन की अपेक्षा वैशेषिक दर्शन की प्राचीनता सिद्ध होती है, वहीं दूसरी ओर अपनी भावभूमि के लिए न्यायदर्शन, वैशेषिकदर्शन का ऋणी भी प्रतीत होता है। अतः इन दोनों का पिता–पुत्र का सम्बन्ध कहा जा सकता है। सम्भवतः इसी कारण बाद में इन दोनों दर्शनों को न्याय–वैशेषिक के अभिन्न रूप में वर्णित किया गया, जो आज भी विद्यमान है, क्योंकि आधुनिक दर्शन–परम्परा में ये दोनों 'समानतन्त्र' ही कहलाते हैं। लगभग पन्द्रहवीं शताब्दी तक इन दोनों दर्शनों की स्वतन्त्र परम्पराएँ रहीं।

(iii) **वैशेषिक दर्शन का नामकरण**– जैसा कि हम पूर्व में भी संकेत कर चुके हैं कि यह दर्शन 'काणाद', 'काश्यपीय', 'औलूक्य' एवं 'पैलुक' शब्दों से व्यवहृत हुआ है, किन्तु इसका सर्वाधिक प्रसिद्ध नाम 'वैशेषिक दर्शन' है। यद्यपि इस नामकरण में अधिकांश विद्वान् इस दर्शन द्वारा 'विशेष' नामक विलक्षण पदार्थ की मान्यता को मुख्य हेतु मानते हैं तथापि इस सम्बन्ध में कुछ अन्य विद्वन्मान्यताएँ भी हैं, जिनका हम यहाँ संक्षेप में उल्लेख कर रहे हैं–

(1) आचार्य बलदेव उपाध्याय ने अपने भारतीय दर्शन नामक ग्रन्थ में इसके नामकरण का रहस्योद्घाटन करते हुए चीन देश के दार्शनिक **चिस्तान** (549–622 ई.) तथा क्वहेइची (623–682 ई.) द्वारा संगृहीत एक प्राचीन परम्परा का उल्लेख किया है।[1] तदनुसार– 'कणाद सूत्रों का वैशेषिक नामकरण अन्य दर्शनों से, विशेषतः सांख्यदर्शन से विशिष्ट अर्थात् अधिक युक्तियुक्त होने के कारण किया गया था।'

---

[1]. भारतीय–दर्शन, आचार्य बलदेव उपाध्याय, शारदामन्दिर वाराणसी, 1971 पृष्ठ– 213 ।

(2) इसके अतिरिक्त डॉ. श्री नारायणमिश्र ने अपने ग्रन्थ वैशेषिक दर्शन : एक अध्ययन में इसके नामकरण के सम्बन्ध में कुछ तथ्यों को प्रस्तुत किया है।[1]

(3) चीनी विद्वान् की एक परम्परा कणाद के बुद्धिवैशिष्ट्य से आवेष्टित होने के कारण इस दर्शन को 'वैशेषिकदर्शन' नामकरण का हेतु मानती है।

(4) डॉ.एच.ऊई द्वारा संकेतित एक मान्यता के अनुसार 'दशपदार्थ शास्त्र' के प्रणेता आचार्य चन्द्र को भी चीनी भाषा में 'विशिष्ट उपदेश' कहा गया है। अतः उनके द्वारा निर्दिष्ट दर्शन वैशेषिक हुआ। यद्यपि स्वयं प्रो. ऊई ने इससे अपनी असहमति भी व्यक्त की है।

(5) वैशेषिकसूत्र के अर्वाचीन भाष्यकार चन्द्रकान्त तर्कालंकार का मत है कि 'अन्य दर्शनों की अपेक्षा इस दर्शन में विशिष्ट तत्त्वों के व्याख्यान होने के कारण ही इसका नाम 'वैशेषिक पड़ा।'[2]

(6) इसके अलावा षड्दर्शनसमुच्चय की वृत्ति में आचार्य मणिभद्र नैयायिकों की अपेक्षा द्रव्य–गुणादि विशेष तत्त्वों की व्याख्या होने के कारण इसके 'वैशेषिक' नामकरण में हेतु मानते हैं।[3] महामहो–पाध्याय कालीपद तर्काचार्य भी पर्याप्त अंशों में मणिभद्राचार्य की व्याख्या से सहमत प्रतीत होते हैं।[4]

(7) नैषधीयचरित नामक महाकाव्य के प्रसिद्ध व्याख्याकार नारायणभट्ट ने द्रव्य, गुण आदि पदार्थों के तत्त्व ज्ञापकत्व को ही इस दर्शन के 'वैशेषिक' नामकरण में हेतु माना है।

---

1. वैशेषिकदर्शनः एक अध्ययन, चौखम्बा प्रकाशन, वाराणसी, पृष्ठ– 6।
2. यदिदं वैशेषिकं नाम शास्त्रमारब्धम् तत् खलु तन्त्रान्तरात् विशेस्यार्थस्य अभिधानात्। चन्द्रकान्त तर्कालंकार भाष्य, पृष्ठ– 5।
3. नैयायिकेभ्यो द्रव्य–गुणादि–सामग्रया विशिष्टमिति वैशेषिकम्। षडदर्शन समुच्चयवृत्ति, पृष्ठ– 4।
4. वैशेषिकदर्शन– एक अध्ययन, पृष्ठ– 7 ।

(8) उदयनाचार्य ने अपनी 'किरणावली' नामक टीका में 'तत्त्व–निश्चयपूर्वक' व्यवहार करने वालों को 'वैशेषिक' उपाधि प्रदान की है,[1] उन्होंने वहाँ 'विशेष' शब्द को तत्त्व–निश्चय का वाचक माना है–

विशेषो व्यवच्छेदः तत्त्वनिश्चयः, तेन व्यवहरतीत्यर्थः।

(9) श्री नारायण मिश्र ने 'वैशेषिक' शब्द की संभावित दो व्याख्याएँ प्रस्तुत करते हुए[2] 'विशेष' शब्द की 'विशिष्यते सर्वतः व्यव–च्छिद्यते येन स विशेषः' व्युत्पत्ति प्रस्तुत की है तथा साधर्म्य और वैधर्म्य दोनों को ही किसी भी तत्त्व से भिन्नता का आधार माना है।

इसप्रकार सभी दृष्टियों से इस दर्शन के नामकरण पर सूक्ष्म दृष्टि से विचार करने पर निष्कर्षरूप में कहा जा सकता है कि विद्वानों का बहुमत इस दर्शन में अन्य दर्शनों से विलक्षण **'विशेष'** नामक पदार्थ की व्याख्या को ही इसके 'वैशेषिक' नामकरण में मुख्य एवं महत्त्वपूर्ण कारण मानता है।

श्रीवल्लभाचार्य ने अपनी 'न्याय–लीलावती' नामक टीका में 'श्लाघ्या विशेषस्थितः' कहकर सम्भवतः इसी तथ्य की ओर संकेत किया है। डॉ. राधाकृष्णन् इत्यादि अर्वाचीन प्रतिष्ठित विद्वान् भी इसी मत को मानने वाले हैं।[3] अतः इस दृष्टि से 'विशेष' पदार्थ को ही इसके नामकरण में हेतु मानना न्यायसंगत प्रतीत होता है।

(iv) **वैशेषिक सूत्रकाल–** जैसा कि हम पूर्व में उल्लेख कर चुके हैं कि यह दर्शन न्यायदर्शन की अपेक्षा भी प्राचीन है, भले ही वर्तमान में इसके प्रतिनिधि ग्रन्थ 'वैशेषिकसूत्र' की रचना बाद में हुई

---

[1]. किरणावली, उदयनाचार्य, एशियाटिक सोसायटी, कलकत्ता, पृष्ठ– 613।

[2]. (क) विशेषाभ्याम् (च.वि.द्वि.व.) व्यवच्छेकाभ्याम् साधर्म्य–वैधर्म्याभ्याम् प्रभवति इति वैशेषिकम्।

(ख) विशेषाभ्याम् (तृ.वि., द्वि.वि.) व्यवहरतीति वैशेषिकं दर्शनम् (दार्शनिकश्च वैशेषिकः) इति, वैशेषिकदर्शनः एक अध्ययन, पृष्ठ– 8 ।

[3]. (क) भारतीय दर्शन, डॉ. राधाकृष्णन, पृष्ठ– 176 ।

(ख) प्रशस्तपादभाष्य भूमिका, तर्काचार्य, पृष्ठ– 4 ।

है। यद्यपि वैशेषिकसूत्र की रचना का निश्चित काल बताना अत्यन्त कठिन कार्य है तथापि कुछ विद्वानों ने इस दिशा में प्रशंसनीय कार्य किया है, जिसका हम यहाँ संक्षेप में उल्लेख कर रहे हैं–

डॉ. याकोबी ने न्यायसूत्र का समय 200 ई. से 500 ई. के मध्य मानते हुए, वैशेषिकसूत्र की रचना इससे पर्याप्त पूर्व मानी है।[1] इसीप्रकार डॉ. ऊई ने अपने ग्रन्थ वैशेषिक फिलोसफी में वैशेषिकसूत्रों के अनेक अन्तरंग और बहिरंग प्रमाण प्रस्तुत करते हुए, इन सूत्रों को नागार्जुन से पूर्ववर्ती मानकर, 50 ई. से 150 ई. के मध्य वैशेषिकसूत्र की रचना मानी है।[2]

जबकि महामहोपाध्याय डॉ. कुप्पूस्वामी शास्त्री ने वैशेषिकसूत्र की रचना ईस्वी पूर्व चतुर्थ शतक से भी पहले स्वीकार की है।[3] ऐतिहासिकों की मान्यता है कि दर्शन का मूल स्रोत वेद हैं तथा वैदिकोत्तर युग में इसका क्रमबद्ध विकास हुआ है, क्योंकि इस दर्शन का सर्वप्रथम उल्लेख हमें बौद्धसाहित्य के 'मिलिन्द पन्ह' में मिलता है तथा राजा मिलिन्द का समय 150 ई. पूर्व माना जाता है। इसके अतिरिक्त **ललितविस्तर** और **लंकावतार** में भी इसके सिद्धान्तों का उल्लेख हुआ है, इसलिए वैशेषिकसूत्र की रचना इससे पर्याप्त पूर्व मानना संगत प्रतीत होता है।

डॉ. हरिदत्त शास्त्री ने तो बुद्ध से पूर्व भी वैशेषिकदर्शन के किसी प्राचीन संकलन होने की सम्भावना व्यक्त की है। उनके अनुसार 'यह भी अविश्वसनीय प्रतीत नहीं होता कि वैशेषिक दर्शन का कोई प्राचीन संकलन बुद्ध से पूर्व भी प्रचलित रहा हो। इसीलिए लोगों ने इस दर्शन के बुद्ध से भी प्राचीन होने पर विशेष बल दिया है। वैशेषिक

---

[1]. जर्नल ऑफ दा अमेरिकन ओरियण्टल सोसायटी, वोल्यूम–31।

[2]. वैशेषिक फिलोसफी, डॉ. एच. ऊई, पृष्ठ– 65।

[3]. ए प्राइमर ऑफ इण्डियन लॉजिक, डॉ. कुप्पूस्वामी, मद्रास, प्रस्तावना, पृ.12 ।

सूत्रों में बौद्ध सिद्धान्तों के विषय में मौन होना ही इसका सबसे बड़ा प्रमाण है।[1]

आचार्य बलदेव उपाध्याय ने बौद्ध जगत् में वैशेषिकों की विशेष मान्यता को स्वीकार करते हुए इस दर्शन की प्राचीनता को स्वीकार किया है। उन्होंने वैशेषिकसूत्र का रचनाकाल तृतीय शतक विक्रमपूर्व माना है। उनके मत में, कुछ वैशेषिक वेद को प्रमाण कोटि में नहीं मानते हैं। इसीलिए ये **अर्द्धवैनाशिक** अर्थात् आधे बौद्ध के नाम से भी दार्शनिक जगत् में प्रसिद्ध हैं। इस कारण भी बौद्ध जगत् में वैशेषिकों की विशेष मान्यता दृष्टिगोचर होती है।[2]

इस दृष्टि से पर्याप्त विचार करने पर हमें डॉ. कुप्पूस्वामी का मत अपेक्षाकृत अधिक उपयुक्त प्रतीत होता है, जिसमें उन्होंने वैशेषिक सूत्र की रचना का समय ई.पू. चतुर्थ शताब्दी से भी पूर्व माना है तथापि इसे अन्तिम निर्णय नहीं कहा जा सकता है। वस्तुतः इस सम्बन्ध में पर्याप्त शोध की आवश्यकता है।

(v) **वैशेषिकसूत्र का परिचय** – आचार्य शंकरमिश्र ने वैशेषिक सूत्रों की संख्या 370 स्वीकार की है,[3] जिन्हें दस अध्यायों में विभक्त किया गया है। प्रत्येक अध्याय में दो–दो आह्निक हैं। प्रथम अध्याय के प्रथम आह्निक के अन्तर्गत द्रव्य, गुण और कर्म के लक्षण और विभाग का, दूसरे आह्निक में 'सामान्य' का, दूसरे और तीसरे अध्यायों में नव द्रव्यों का, चतुर्थ अध्याय के प्रथम आह्निक में परमाणुवाद का तथा द्वितीय आह्निक में अनित्य द्रव्य विभाग का, पंचम अध्याय में कर्म का, षष्ठ अध्याय में वेद प्रामाण्य के विचार के बाद धर्माधर्म का, सप्तम और अष्टम अध्याय में कतिपय गुणों का, नवम में अभाव और ज्ञान का एवं

---

1 . भारतीय दर्शन का इतिहास, डॉ. हरिदत्त शास्त्री, पृष्ठ– 248।
2 . भारतीय दर्शन, आचार्य बलदेव उपाध्याय, पृष्ठ– 214–215।
3 . वही।

अन्तिम दशम अध्याय में सुख–दुःख–विभेद और त्रिविध कारणों का उल्लेख किया गया है।[1]

(vi) **वैशेषिकदर्शन के प्रमुख आचार्य एवं उनके ग्रन्थ**– वैशेषिक दर्शन वस्तुतः अत्यन्त प्राचीन दर्शन है। यहाँ तक कि इसकी प्राचीनता न्यायदर्शन से भी अधिक मानी गई है, इसका उल्लेख हम पूर्व में कर चुके हैं। इस दृष्टि से इस दर्शन के आचार्यों की भी लम्बी परम्परा होना स्वाभाविक है। अधिकांश विद्वान् **महर्षि कणाद** को इस दर्शन का आद्य आचार्य मानने के पक्षधर हैं।

डॉ. दयानन्द भार्गव ने तर्कसंग्रह की व्याख्या के प्रारम्भ में न्याय–वैशेषिकदर्शन के लगभग चालीस विद्वानों की विस्तृत एवं प्रामाणिक परम्परा का उल्लेख करते हुए आद्य आचार्य के रूप में कणाद तथा अन्तिम तर्कसंग्रहकार अन्नंभट्ट को उद्धृत किया है।[2]

इस दृष्टि से प्रायः सभी विद्वान् महर्षि कणाद को ही वैशेषिक दर्शन के आद्य आचार्य के रूप में मानते हैं, किन्तु हमारे विचार में इस दर्शन के अन्य नाम औलूक्य दर्शन को दृष्टिगत रखते हुए आद्य आचार्य 'उलूक' नामक ऋषि को मानना उचित प्रतीत होता है। अतः इस दर्शन के प्रमुख आचार्यों की परम्परा को हम इन्हीं से प्रारम्भ कर रहे हैं–

(क) **उलूक–** दर्शनदिग्दर्शन के प्रणेता राहुल सांकृत्यायन ने आत्मवादी दर्शनों के परिचय को प्रस्तुत करते हुए, इस दर्शन को यूनान से जोड़ने की सम्भावना का उल्लेख किया है। तदनुसार–

'वैशेषिक का दूसरा नाम 'औलूक्य दर्शन' भी है। वैशेषिक के कर्ता या सृष्टि से उलूक (उल्लू) पक्षी का क्या सम्बन्ध था? यह नहीं कहा जा सकता है। कणाद का नाम उलूक होता, यदि वे सरस्वती (विद्या) के नहीं, अपितु लक्ष्मी अर्थात् धन के स्वामी होते। उलूक कोई

---

1. भारतीय दर्शन, आचार्य बलदेव उपाध्याय, पृष्ठ– 214–215।
2. तर्कसंग्रह, डॉ. दयानन्द भार्गव–अवतरणिका, पृष्ठ– 23–41।

अच्छा पक्षी नहीं, जो उनके माता–पिता या मित्र (सुहृद) इन्हें इस नाम से याद करते। 'उल्लू' एथेन्स यूनान के पवित्र चिह्नों में था, क्या इस दर्शन का यूनानी दर्शन से घनिष्ठ सम्बन्ध है? कहीं उसे ही तो 'उलूक' शब्द सूचित नहीं करता है?[1]

प्रसिद्ध दार्शनिक विद्वान् डॉ. धर्मेन्द्रनाथ शास्त्री[2] ने आर्यदेव के शतशास्त्र के चीनी टीकाकार **चित्सान** का उल्लेख करते हुए वैशेषिक दर्शन के प्रवर्तक का नाम उलूक मानकर उन्हें भगवान् बुद्ध से लगभग 800 वर्ष पूर्व माना है।[3] महाभारत अनुशासनपर्व में विश्वामित्र की वंश वृद्धि करने वाले ब्रह्मवेत्ता तपस्वी महामनस्वी छियासठ पुत्रों में 'उलूक' के नाम का उल्लेख हुआ है।[4]

इसीप्रकार महाभारत शान्तिपर्व में माघ मास शुक्लपक्ष की अष्टमी तिथि को रोहिणी नक्षत्र[5] में भीष्म के देह त्याग के अवसर पर उपस्थित व्यास, नारद, जैमिनी, मैत्रेय, असित, देवल, कौशिक, हारीत, दत्तात्रेय, च्यवन, कपिल, वाल्मीकि, कश्यप, मरीचि, पराशर, धौम्य, मार्कण्डेय आदि लगभग बावन ऋषि–महर्षियों एवं विद्वानों के साथ 'उलूक' नाम का भी कथन किया गया है।[6] यहाँ इनके लिए श्रेष्ठ ब्राह्मण जैसे सम्मानजनक शब्द का प्रयोग हुआ है।

---

1. दर्शन दिग्दर्शन, राहुल सांकृत्यायन, इलाहाबाद, 1944, पृष्ठ– 579।
2. क्रिटीक ऑफ इण्डियन रियलिज्म, डॉ. धर्मेन्द्रनाथ शास्त्री, पृष्ठ–85।
3. भारतीय दर्शन में प्रामाण्यवाद, शारदा गांधी, साहित्य भण्डार, मेरठ 1975, पृष्ठ– 48 से उद्धृत।
4. याज्ञवल्क्यश्च विख्यातस्तथा स्थूणो महाव्रतः।
   उलूको यमदूतश्च तथर्षि सैन्धवायनः।। महाभारत अनुशासनपर्व– 4/51।
   ऊर्जयोनिरुदापेक्षी नारदी च महानृषिः।
   विश्वामित्रात्मजाः सर्वे मुनयो ब्रह्मवादिनः।। महाभारत अनुशासनपर्व– 4/59।
5. शुक्लपक्षस्य चाष्टम्यां माघमासस्य पार्थिव।
   प्राजापत्ये च नक्षत्रे मध्यं प्राप्ते दिवाकरे।।
   निवृत्तमात्रे त्वयन उत्तरे वै दिवाकरे।
   समावेशयदात्मानमात्मन्येव समाहितः।। महाभारत शान्तिपर्व– 47/3।
6. धौम्यो विभाण्डो माण्डव्यो धौम्रः कृष्णानुभौतिकः।

यहाँ परिगणित आचार्यों में से अधिकांश सांख्यदर्शन के विद्वान् हैं तथा सांख्य एवं वैशेषिक दर्शनों की सर्वाधिक प्राचीनता को दृष्टिगत रखते हुए यह मानना समीचीन प्रतीत होता है कि महाभारत में उल्लिखित ये **'परम विप्र उलूक'** ही वस्तुतः इस औलूक्य दर्शन के प्रणेता आचार्य रहे होंगे, क्योंकि महाभारतकार ने भी इनके लिए सम्मान जनक सम्बोधन का विशेषरूप से प्रयोग किया है।[1]

यद्यपि डॉ. ऊई आदि कुछ विद्वान् कणाद का ही दूसरा नाम 'उलूक' मानने के पक्षधर हैं,[2] उन्होंने चीनी विद्वान् **चित्सान** के मत को उद्धृत करते हुए उल्लेख किया कि 'कणाद' का नाम इसलिए 'उलूक' पड़ा, क्योंकि ये दिन में ग्रन्थ रचना करते थे और रात में उल्लू के समान जीविकोपार्जन करते थे। वस्तुतः यह विश्वसनीय प्रतीत नहीं होता है।[3]

व्योमशिवाचार्य ने भी बिना किसी कारण निर्देश के 'उलूक' पद का प्रयोग कणाद के लिए किया है।[4] नैषधीयचरित के व्याख्याकार नारायणभट्ट ने उलूक को कणाद का पर्याय माना है।[5] मिथिला विद्यापीठ दरभंगा से प्रकाशित वैशेषिकसूत्रवृत्ति में कणाद को ही 'उलूक वेषधारी' माना है।[6]

इसके अतिरिक्त 'वाचस्पत्यम्' कोषकार ने उलूक ऋषि की सन्तति मानकर, महर्षि कणाद को ही 'औलूक्य' नाम वाला बताया है। **सम्मति तर्क** की व्याख्या में अभयदेव सूरि ने भी 'वाचस्पत्यम्' कोशकार

उलूकः परमोविप्रः मार्कण्डेयो महामुनिः ।। वही– 47/11।

1. वही ।
2. **वैशेषिक फिलोसफी– डॉ. ऊई, पृष्ठ– 3 ।**
3. **वैशेषिकदर्शन– एक अध्ययन, श्री नारायण मिश्र, पृष्ठ– 5।**
4. 'व्योमवती– ...... विना–पक्षिणा–उलूकेन', पृष्ठ– 114।
5. नैषधचरित प्रकाशिका 22/36।
6. वैशेषिक सूत्रवृत्ति– 2/1/12।

की बात का अनुमोदन किया है।[1] जैन विद्वान् राजशेखर का मानना है कि– 'उलूक' रूप में भगवान शंकर ने 'कणाद' को इस शास्त्र का उपदेश प्रदान किया था। इसलिए कणाद और इनके दर्शन को औलूक्य दर्शन कहा जाता है।[2]

उपर्युक्त उल्लेखों के आधार पर निष्कर्षरूप में निश्चयपूर्वक कहा जा सकता है कि महाभारत में उल्लिखित 'उलूक' ऋषि अथवा श्रेष्ठ ब्राह्मण ही वैशेषिकदर्शन के प्रणेता अथवा आदि आचार्य रहे होंगे। सम्भवतः उस समय इस दर्शन का कुछ साहित्य भी लिखा गया हो, जो सम्प्रति उपलब्ध नहीं है या फिर 'वैशेषिकसूत्र' की उपस्थिति में वह काल कवलित हो गया हो।

वैशेषिकसूत्र नामक ग्रन्थ के सूक्ष्मविवेचन के आधार पर भी यह अनुमान सहज ही लगाया जा सकता है कि इस ग्रन्थ के सम्पूर्ण विवेचन का मौलिक श्रेय केवल कणाद को नहीं दिया जा सकता है, निश्चय ही ये सभी विचार तात्कालिक वैशेषिक विद्वत्सम्प्रदाय में वैचारिक किंवा ग्रन्थ रूप में अवश्य विद्यमान रहे होंगे।

इसके अतिरिक्त आचार्य पाणिनि और कणाद के शास्त्रों को सभी शास्त्रों का उपकारक बताने वाली **'कणादं पाणिनीयं च सर्व–शास्त्रोपस्कारकम्'** उक्ति इस शास्त्र एवं इसके प्रणेता 'उलूक' को आचार्य पाणिनि से भी पर्याप्त पूर्ववर्ती सिद्ध करती है, क्योंकि आचार्य पाणिनि के काल में यह दर्शन औलूक्यदर्शन की अपेक्षा काणाद दर्शन के रूप में ख्याति प्राप्त कर चुका था। पुनरपि विद्वत्परम्परा इस विषय में प्रमाणों की अनुपलब्धता के कारण महर्षि कणाद को ही वैशेषिक

---

[1]. पृष्ठ– 140 वैशेपिक दर्शन एक अध्ययन, नारायण मिश्र, पृष्ठ– 5 से उद्धृत ।

[2]. मुनये कणादाय स्वयमीश्वरः उलूकरूपधारी प्रत्यक्षीभूय द्रव्य–गुण–कर्म–सामान्य–विशेष–समवायलक्षणम् पदार्थषटकम् उपदिदेश।

न्यायलीलावती, राजशेखर, भूमिका, पृष्ठ– 2 ।

दर्शन का प्रवर्तक मानती है। अतः इस विषय पर पर्याप्त शोध की आवश्यकता प्रतीत होती है।

(ख) **कणाद–** इनके जीवन के सम्बन्ध में कुछ भी ज्ञात नहीं है तथापि किरणावली और त्रिकाण्डकोश के आधार पर आचार्य बलदेव उपाध्याय ने इन्हें काश्यपगोत्री तथा सोमशर्मा का शिष्य बताया है[1], क्योंकि त्रिकाण्ड कोश में इनके अन्य नाम 'काश्यप' का भी उल्लेख हुआ है तथा किरणावली में उदयनाचार्य ने इन्हें 'कश्यप मुनि' का पुत्र बताया है। वायुपुराण में इन्हें प्रभास निवासी सोमशर्मा का शिष्य और शिव का अवतार बताया है।[2]

विद्वन्मान्यता पृथ्वी पर गिरे हुए कणों अर्थात् दानों के द्वारा अपना जीवन यापन करने के कारण इन्हें 'कणाद' (कण+आद, √अद भक्षणे धातु से) कहने की पक्षधर रही है। इनके अन्य नाम **कणभुक्, कणभक्ष** आदि भी इसी भावना की अभिव्यक्ति करते हैं। कुछ विद्वानों ने इसका समय 150 ई.पू.[3] तथा कुछ ने 400 ई.पू.[4] माना है।

डॉ. दयानन्द भार्गव[5] ने डॉ. एस.एन.दास गुप्त[6] के निम्न तर्कों के आधार पर महर्षि कणाद एवं उनके वैशेषिक सूत्र को 80 ई. से पूर्ववर्ती बताते हुए इसकी प्राचीनता की सीमा अनिश्चित बतायी है, तदनुसार–

(1) इसमें आत्मा के विवेचन प्रसंग में बौद्धों के अनात्मवाद का कोई उल्लेख नहीं किया गया है। (2) अश्वघोष प्रथम शती ई. द्वारा उद्धृत 80 ई. से पूर्ववर्ती लंकावतार सूत्र में वैशेषिकों के परमाणुवाद का

---

[1]. भारतीय दर्शन, आचार्य बलदेव उपाध्याय, पृष्ठ– 214।

[2]. वही।

[3]. दर्शन दिग्दर्शन, राहुल सांकृत्यायन, प्रथम संस्करण, पृष्ठ– 579।

[4]. (क) भारतीय दर्शन शास्त्र का इतिहास, हरिदत्त शास्त्री, पृष्ठ– 248।
(ख) संस्कृत साहित्य का इतिहास, वाचस्पति गैरोला, पृष्ठ– 483

[5]. तर्कसंग्रह, डॉ. दयानन्द भार्गव, अवतरणिका, पृष्ठ–23।

[6]. हिस्ट्री ऑफ इण्डियन फिलोसफी, डॉ एस.एन. दासगुप्त, पृष्ठ, 280–285।

उल्लेख हुआ है। (3) दसवीं शताब्दी के लगभग स्थित चरक ने अपने वैद्यकशास्त्र का आधार वैशेषिक दर्शन को ही बताया है। (4) वैशेषिक सूत्र में अनुमान के विवेचन के अन्तर्गत नैयायिकों के **पूर्ववत्** एवं **शेषवत्** अनुमानों का उल्लेख नहीं हुआ है।

इसी प्रसंग में यद्यपि डॉ. भार्गव ने सांख्यदर्शन के प्रारम्भिक सिद्धान्तों के उल्लेख को अर्वाचीनता के प्रमाणरूप में प्रस्तुत किया है, किन्तु यदि हम महाभारतीय सांख्य का अवलोकन करें तो उसे उलूक के साथ जोड़ने रूप आधार पर ही इसे महाभारत काल में कहीं स्थित माना जा सकता है। आचार्य बलदेव उपाध्याय ने वैशेषिकसूत्र का काल तृतीय शतक विक्रम पूर्व मानते हुए 'कणाद' को इसी समय में स्थित माना है।[1]

डॉ. राधाकृष्णन् ने इस दर्शन के सिद्धान्त 'परमाणुवाद' को कणाद के नामकरण में एक कारणरूप में प्रस्तुत किया है जो अपेक्षा कृत अधिक समीचीन प्रतीत होता है तदनुसार– 'वैशेषिक दर्शन व्याख्या व्यवस्थितरूप से सबसे पहले कणाद, कणभुक या कणभक्ष के वैशेषिकसूत्र में मिलती है। यह नाम जिसका अर्थ शब्दव्युत्पत्ति शास्त्र की दृष्टि से 'अणुभक्षक' होता है, इसके रचयिता का नाम इसलिए भी पड़ गया होगा, क्योंकि उसके दर्शन का सिद्धान्त परमाणुवाद है।[2]

महर्षि कणाद का एक ही ग्रन्थ 'वैशेषिकसूत्र' उपलब्ध है, जिसके 370 सूत्र, दस अध्यायों में निबद्ध हैं तथा प्रत्येक अध्याय में दो–दो आह्निक हैं, जिसमें पदार्थ–द्रव्य, आत्मा, मन, शरीर, कर्म, धर्म, गुण, समवाय आदि का विवेचन करने के बाद प्रत्यक्ष एवं अनुमान दो प्रमाणों का कथन किया गया है। अध्याय के अनुसार इसके विषयों का हम पूर्व में उल्लेख कर चुके हैं।

---

[1]. भारतीय दर्शन, आचार्य बलदेव उपाध्याय, पृष्ठ– 215।

[2]. भारतीय दर्शन, डॉ. राधाकृष्णन्, पृष्ठ– 153।

इस प्रसंग में एक बात विशेषरूप से उल्लेखनीय है कि यहाँ ग्रन्थ के आरम्भ में ग्रन्थकार ने धर्म की परिभाषा करते हुए उसके व्याख्यान की बात कही है[1] तथा स्पष्टरूप से कहा है कि 'अब मैं धर्म का व्याख्यान कर रहा हूँ, जिससे अभ्युदय और निःश्रेयस् की सिद्धि होती है, वही धर्म है।' इस दृष्टि से कहा जा सकता है कि यद्यपि उन्होंने इस ग्रन्थ में द्रव्य, गुण, कर्म, प्रत्यक्ष एवं अनुमान जैसी सांसारिक वस्तुओं की बुद्धिवादी विवेचना की है तथापि इस सम्पूर्ण विवेचन के पीछे उनका लक्ष्य तात्कालिक विद्वत्समुदाय में प्रचलित धर्म के प्रति उत्पन्न होने वाली अनेक शंकाओं का समाधान प्रस्तुत करना भी रहा होगा।

(ग) **वाक्य टीकाकार**– महर्षि कणाद के वैशेषिकसूत्र पर एक अज्ञातनामा व्यक्ति की 'वाक्य' नामक टीका का उल्लेख कुछ तथ्यों के आधार पर 'वैशेषिक दर्शनः एक अध्ययन के लेखक श्री नारायण मिश्र द्वारा किया गया है।[2] तदनुसार–

(1) 'महातार्किक जैन लेखक **मल्लवादी** ने अपनी कृति 'द्वादशारनयचक्र' के परिशिष्ट में वैशेषिक सूत्र की एक 'वाक्य' नामक टीका की ओर संकेत किया है। इस **नयचक्र** का संस्कृत रूपान्तर बड़ौदा से प्रकाशित हुआ है। (2) नयचक्र में प्रयुक्त एक वाक्य[3] के व्याख्याकार श्री सिंह सूरि ने भी 'वाक्य' नामक भाष्य की सत्ता को स्वीकार किया है।[4] (3) स्वयं नारायण मिश्र ने अपने प्रशस्तपादभाष्य की प्रस्तावना में 'वाक्य' नामक किसी व्याख्या की उपस्थिति से इन्कार

---

1. अथातो धर्मं व्याख्यास्यामः यतोऽभ्युदयनिःश्रेयस सिद्धिः स धर्मः । वैशेषिकसूत्र–1/1/1–2।
2. वैशेषिक दर्शनः, एक अध्ययन, उपोद्घात, पृष्ठ– 11।
3. "असत्सम्बन्धपरिहारार्थं निष्ठासम्बन्धयोरेककालत्वात् इति वाक्यं सभाष्यं प्रशस्तोऽन्यथा व्याचष्टे"। द्वादशारनयचक्र संस्कृतरूपान्तर, पृष्ठ– 150।
4. अस्य वाक्यस्य व्याख्याग्रन्थः।

किया था[1], किन्तु भोजराज के 'श्रृंगारप्रकाश' के उल्लेख[2] के आधार पर उन्होंने भी वैशेषिकसूत्र पर 'वाक्य' नामक वार्तिक ग्रन्थ की संभावना व्यक्त की है।[3] (4) इस 'वाक्य' नामक टीका के ऊपर एक भाष्य एवं उन दोनों पर एक **'प्रशस्तमति'** नामक टीका होने की सम्भावना का भी उन्होंने उल्लेख किया है।[4]

(ङ) **श्रायस्क आचार्य**– बड़ौदा से प्रकाशित वैशेषिकदर्शन के परिशिष्ट में प्रयुक्त[5] तिब्बती भाषा से संस्कृत में रूपान्तरित 'प्रमाण–समुच्चय' के उल्लेख के आधार पर इसके व्याख्याकार जिनेन्द्र बुद्धि ने यहाँ प्रयुक्त 'केचित्' का अर्थ 'श्रायस्क' मानकर 'श्रायस्कादय' व्याख्या की है।[6] इस व्याख्या में प्रयुक्त 'आदि' शब्द से ऐसा प्रतीत होता है कि– 'इसी मत को मानने वाली, वैशेषिकसूत्र की कुछ और व्याख्या अथवा उपव्याख्याएँ भी सम्भव है उस समय रही हों', किन्तु कम से कम श्रायस्क व्याख्या की उपस्थिति से तो इन्कार नहीं किया जा सकता है।

(च) **रावण भाष्यकार**– इसीप्रकार उपर्युक्त प्रसंग में ही प्रयुक्त 'अन्ये तु प्रधानत्वात् आत्मनः सन्निकर्षं प्रमाणमाहुः' इत्यादि अंश की व्याख्या में जिनेन्द्रबुद्धि ने 'रावणादयः' पद का प्रयोग किया है, जिसके आधार पर रावण द्वारा की गई वैशेषिकसूत्र की व्याख्या की भी पुष्टि

---

1. प्रशस्तपादभाष्य–व्याख्याकार नारायण मिश्रः, काशी संस्कृत ग्रन्थमाला– 173, प्रस्तावना, पृष्ठ– 18।
2. यद्विस्मृतमदृष्टं वा सूत्रकारेण तत्स्फुटम्।
   वाक्यकारो ब्रवीत्येव, तेनाऽदृष्टं च भाष्यकृत्।। श्रृंगारप्रकाश।
3. वैशेषिकदर्शनः एक अध्ययन, श्री नारायण मिश्र, पृष्ठ– 12।
4. वही।
5. वही।
6. केचित् प्रमाणात् फलमर्थान्तरमिच्छन्तः असाधारणकारणत्वात् इद्रियार्थसन्निकर्षं प्रमाणमामन्ति''। वैशेषिकदर्शनः एक अध्ययन में पृष्ठ– 12 उपोदघात से उद्धृत।

होती है। ब्रह्मसूत्र शांकरभाष्य की 'रत्नप्रभा' नामक टीका में भी 'रावण प्रणीत भाष्य' का कथन किया गया है।[1] इसके अतिरिक्त उदयनाचार्य द्वारा विरचित **किरणावली** में संकेतित भाष्य को पद्मनाथमिश्र ने 'रावण भाष्य' ही स्वीकार किया है।[2]

कुछ विद्वान् रावणभाष्य को प्रशस्तपाद के भाष्य से परवर्ती मानते हैं, किन्तु रत्नप्रभा के उल्लेखों के आधार पर, जहाँ रावणमत को 'चिरन्तन वैशेषिक–दृष्टि' के रूप में उद्धृत किया गया है,[3] इसकारण इसे प्रशस्तपाद भाष्य से पूर्ववर्ती मानना संगत प्रतीत होता है। आचार्य बलदेव उपाध्याय ने इसे वैशेषिकसूत्रों पर सर्वाधिक प्राचीन भाष्य कहा है।[4]

(छ) **कटन्दी**– मुरारिमिश्र विरचित अनर्घराघव नाटक के पंचम अंक में प्रयुक्त विष्कम्भक में रावण स्वयं को 'वैशेषिक–कटन्दी–पंडित' कहता है। इस अंश की व्याख्या करते हुए रुचिपति उपाध्याय ने यहाँ प्रयुक्त कटन्दी पद को रावण भाष्य के लिए प्रयुक्त माना है, किन्तु इस विषय में श्री नारायण मिश्र का मानना है कि रावण का भाष्य और कटन्दी टीका दोनों भिन्न–भिन्न हैं। इस प्रसंग में उन्होंने 'नयचक्र' की वृत्ति में उल्लिखित 'कटन्द्यां टीकायाम्' उक्ति को प्रमाणरूप में उद्धृत किया है।[5] कटन्दी के स्थान पर 'कन्दली' पाठ भी मिलता है।

आचार्य बलदेव उपाध्याय के विचार इस विषय में उल्लेखनीय हैं– 'अष्टम शतक में रावण के वैशेषिक पण्डित होने तथा भाष्य लिखने की बात इतनी प्रसिद्ध हो चुकी थी कि उसका श्रेय रामायण के

---

[1]. 'द्वाभ्यां द्व्यणुकाभ्यारब्धे कार्ये महत्त्वं दृश्यते, तस्य हेतु प्रचयो नाम प्रशिथिलावयवसंयोगः इति रावणप्रतीते दृश्यते इति चिरन्तनवैशेषिक– दृष्ट्या इदम्'। ब्रह्मसूत्र शांकरभाष्य, रत्नप्रभा टीका, 2/2/11।

[2]. किरणावली, उदयनाचार्य, पृष्ठ– 5।

[3]. तर्कसंग्रह, बोडास, प्रस्तावना, पृष्ठ– 33।,

[4]. भारतीय दर्शन, आचार्य बलदेव उपाध्याय, पृष्ठ– 217.।

[5]. वैशेषिकदर्शनः एक अध्ययन, श्री नारायण मिश्र, उपोद्घात, पृष्ठ– 13।

प्रतिनायक को दिया गया। बहुत सम्भव है कि नास्तिक मत की बातें होने के कारण 'रावणभाष्य' लुप्त हो गया हो। वैशेषिकों का अर्द्ध वैनाशिक आधा बौद्ध नाम इसी भाष्य के सिद्धान्तों के कारण पड़ा हो, ऐसी कल्पना की जा सकती है।[1]

उपर्युक्त संक्षिप्त विवरण से स्पष्ट है कि वैशेषिक दर्शन की 'कटन्दी' अथवा कन्दली टीका एवं वैशेषिक दर्शन पर सर्वाधिक प्राचीन रावणभाष्य दोनों को अलग–अलग मानना अधिक उपयुक्त प्रतीत होता है। इन दोनों को ही प्रशस्तपाद भाष्यकार से पूर्ववर्ती भी कहा जा सकता है। यह भाष्य एवं टीका दोनों ही अभी तक अनुपलब्ध हैं।

(ज) **आत्रेय–** विद्वत्परम्परा इन्हें भी वैशेषिकसूत्रों का भाष्यकार मानती है। जैन दार्शनिकों द्वारा इनका अनेक स्थलों पर उल्लेख किया गया है। इन सभी स्थलों पर आत्रेय की सम्मति को अत्यन्त प्रभाव–शाली एवं सम्मानजनक रूप से उद्धृत किया गया है। इस आधार पर कहा जा सकता है कि निश्चय ही आत्रेय ने वैशेषिकसूत्रों पर व्याख्या लिखी होगी, जो इस सम्प्रदाय में 'भाष्य' के नाम से प्रसिद्ध थी।[2]

डॉ. वी. राघवन् एवं अनन्त लाल ठाकुर ने 'आत्रेय भाष्य' के सभी उद्धरणों का संकलन किया है।[3] 'स्याद्वाद् रत्नाकर' एवं मिथिला विद्यापीठ, दरभंगा से प्रकाशित 'वैशेषिक सूत्रवृत्ति' में भी इस भाष्य के अनेक वाक्यों को उद्धृत किया गया है, किन्तु मूलरूप में यह भाष्य सम्प्रति अप्राप्त है।

(झ) **प्रशस्तपाद–** इन्होंने महर्षि कणाद के वैशेषिकसूत्र पर इसके सूत्रक्रम को अपने क्रम में रखते हुए एक स्वतन्त्र ग्रन्थ की संरचना की, जिसका नाम स्वयं इन्होंने 'पदार्थधर्म संग्रह' रखा।[4] यही

---

1. भारतीय दर्शन, आचार्य बलदेव उपाध्याय, पृष्ठ– 217।
2. वही, पृष्ठ– 216।
3. वैशेषिकदर्शनः एक अध्ययन, श्री नारायण मिश्र, पृष्ठ–14।
4. प्रणम्यहेतुमीश्वरं मुनिं कणादमन्वतः।
प्रवक्ष्यते महोदयः पदार्थधर्मसंग्रहः।। प्रशस्तपादभाष्य।

'पदार्थ धर्मसंग्रह' आज वैशेषिक भाष्य अथवा प्रशस्तपाद भाष्य के नाम से प्रसिद्ध है। इसे उपलब्ध वैशेषिकसूत्र–भाष्य साहित्य में प्रथम एवं प्रामाणिक भाष्य कहा जा सकता है।

इसकी मौलिक शैली के कारण कुछ विद्वान् इसे वैशेषिकसूत्रों का भाष्य न मानकर स्वतन्त्र एवं मौलिक ग्रन्थ मानने के पक्षधर हैं[1], क्योंकि इसमें भाष्यकार ने वैशेषिकसूत्र में कहे गए पदार्थों से भिन्न कुछ पदार्थों का निरूपण भी किया है तथा सूत्र में प्रतिपादित अभावादि प्रपंचविस्तार का परित्याग भी किया है।

जबकि कुछ अन्य विद्वानों की सम्मति में यह ग्रन्थ वैशेषिक दर्शन का प्रवेशद्वार है, क्योंकि वैशेषिकसूत्र की भाषा संक्षिप्त एवं अपेक्षाकृत क्लिष्ट होने के कारण यही ग्रन्थ वस्तुतः वैशेषिक दर्शन के मन्तव्य को सम्यक्रूप से प्रतिपादित करने में सफल रहा है। 'पदार्थ–धर्म–संग्रह' के प्रामाणिक टीकाकार उदयनाचार्य ने प्रशस्तपाद भाष्य को वैशेषिक दर्शन की मौलिक कृति स्वीकार किया है।

यही कारण है कि आचार्य प्रशस्तपाद का व्यक्तित्व वैशेषिक दर्शन के प्रमुख निर्माताओं के रूप में विख्यात है, किन्तु इनके स्थिति काल के विषय में विद्वानों में पर्याप्त मतवैमत्य मिलता है। डॉ. कीथ ने इन्हें दिङ्नाग की दार्शनिक कृतियों से प्रभावित बताते हुए उनका परवर्ती बताया है तथा इनका समय पाँचवीं शताब्दी माना है।[2]

जबकि प्रो. ए. बी. कीथ ने गायकवाड़ ओरियण्टल सीरीज से प्रकाशित न्यायप्रवेशभूमिका में इन्हें बौद्ध दार्शनिक दिङ्नाग के भी गुरु वसुबन्धु की कृतियों पर भी प्रशस्तपाद का प्रभाव प्रतिपादित करते हुए पृष्ठ– 13 से 21 में विस्तृत विवेचनपूर्वक इन्हें चतुर्थ शताब्दी में स्थित

---

[1]. वैशेषिक दर्शनः एक अध्ययन, पृष्ठ–14–15।

[2]. संस्कृत साहित्य का इतिहास, ए.बी.कीथ, अनु.मंगलदेव शास्त्री, पृष्ठ– 613।

माना है। रूसी आलोचक **शेरवास्की** ने भी अपनी नूतन गवेषणाओं द्वारा यही सिद्ध किया है।[1]

आचार्य प्रशस्तपाद ने अपने ग्रन्थ में द्रव्य, गुण, कर्म, सामान्य, विशेष और समवाय, इन छः पदार्थों का नितान्त प्रामाणिक विवेचन प्रस्तुत किया है। इसके अतिरिक्त सृष्टि, प्रलय, संख्या एवं परमाणु संख्या सिद्धान्त, अणु आदिकों में मान का आधार तथा पाकज रूपोत्पत्ति के सम्बन्ध में 'पीलुपाक' के सिद्धान्तों का भी यहाँ विस्तार पूर्वक उल्लेख किया है। साथ ही अनेक वैशेषिक सिद्धान्तों का भी यहाँ स्वतन्त्र विवेचन प्रस्तुत किया गया है।

(vii) **प्रशस्तपाद के टीका ग्रन्थ–** यही कारण है कि वैशेषिक दर्शन के क्षेत्र में यह भाष्य इतना अधिक लोकप्रिय एवं प्रामाणिक सिद्ध हुआ कि अनेक विद्वानों द्वारा इस पर अनेक महत्त्वपूर्ण टीकाएँ लिखी गईं, जिससे वैशेषिक दर्शन के साहित्य में अभूतपूर्व श्रीवृद्धि हुई, जिनका हम यहाँ संक्षेप में उल्लेख कर रहे हैं–

(1) **व्योमवती–** 980 ई. में स्थित प्ररमशैव व्योमशिवाचार्य ने प्रशस्तपाद भाष्य पर 'व्योमवती' नामक टीका का प्रणयन किया। यह इस भाष्य की सर्वाधिक प्राचीन टीकाओं में मानी जाती है। इसका नाम **व्योमशिव** या **व्योमकेशी** भी मिलता है। बौद्ध–सिद्धान्तों का अपेक्षाकृत विस्तारपूर्वक खण्डन इसकी प्राचीनता को प्रमाणित करता है। उदय–नाचार्य ने अपनी प्रशस्तपादभाष्य की टीका किरणावली में काल के लक्षण प्रसंग में 'आचार्य' पद का प्रयोग वस्तुतः व्योमशिवाचार्य के लिए ही किया है। व्योमशिवाचार्य को विद्वानों ने वीरशैव सम्प्रदाय से सम्बन्धित माना है।

(2) **किरणावली**– इसके लेखक उदयनाचार्य हैं। इन्हें आचार्य श्रीधर का समकालीन कहा जा सकता है, क्योंकि इन्होंने अपनी पुस्तक लक्षणावली में उसकी समाप्ति की तिथि 984 ई. का उल्लेख किया

---

[1]. संस्कृत साहित्य का इतिहास, वाचस्पति गैरोला, पृष्ठ– 484।

है।[1] इन्होंने न्याय एवं वैशेषिक इन दोनों ही दर्शनों पर स्वतन्त्ररूप से अलग–अलग तथा सम्मिलित तीनों ही प्रकार के ग्रन्थों की रचना की। अतः विद्वानों ने इन्हें प्राचीन एवं नवीन युग की सन्धि पर स्थित माना है,[2] पुनरपि न्यायवैशेषिक दृष्टि से लिखे गए ग्रन्थों में **कुसुमांजलि** एवं **आत्मतत्त्व विवेक** विशेषरूप से उल्लेखनीय हैं, यहाँ कुसुमांजलि में ईश्वरसिद्धि तथा आत्मतत्त्वविवेक में आत्मा की स्थापना के साथ–साथ बौद्धों के क्षणिकवाद का खण्डन किया गया है।

न्याय के नवीनयुग में उदयनाचार्य के ग्रन्थों का सर्वाधिक प्रभाव रहा है। इसके अतिरिक्त इनके द्वारा लिखे गए ग्रन्थों पर टीका परम्परा भी अत्यन्त विस्तृत है। कहते हैं कि– इन्हें अपने वैदुष्य का अत्यधिक अहंकार था, जो भगवान् जगन्नाथ के दर्शनाथ मन्दिर जाते समय द्वार बन्द होने पर इनके निम्न वचनों से अभिव्यक्त होता है–

ऐश्वर्यमदमत्तोऽसि मामवज्ञाय वर्तसे।
उपस्थितेषु बौद्धेषु मदधीना तव स्थितिः।।[3]

चित्सुखाचार्य एवं प्रत्यक्स्वरूप भगवान् ने इनकी किरणावली को बहुशः उद्धृत किया है। वैशेषिकदर्शन के विषय में आचार्य उदयन की मान्यता है कि–'जो नितान्त बुद्धि–शून्य प्राणी हैं, इस वैशेषि शास्त्र को पाकादि विविध प्रक्रियाजाल से परिपूर्ण, प्रमाणदि के विचार रहित, एक विस्तृत नीरस महासागर मानने लगे हैं। उन पर अनुकम्पा करने के लिए किरणावली का निर्माण किया जा रहा है–

अतिविरसमसारं मानवार्ताविहीनं
प्रविततबहुवेलं प्रक्रियाजालदुःस्थम्।
उदधिसममतन्त्र तन्त्रमेतद् वदन्ति

---

[1]. वैशेषिक पदार्थों का छोटा सा प्रक्रिया ग्रन्थ।

[2]. भारतीय दर्शन शास्त्र, न्यायवैशेषिक, डॉ. धर्मेन्द्रनाथशास्त्री, मोतीलाल बनारसी दास, दिल्ली, पृष्ठ– 125।

[3]. वही, पृष्ठ– 127।

प्रखलजड़धियो ये तेऽनुकम्प्यन्त एते।।

यदि सूक्ष्म दृष्टि से विचार करें तो इतनी सरल, सरस, प्रांजल एवं प्रामाणिक व्याख्या अन्य कोई उपलब्ध नहीं है, क्योंकि किरणावली में बुद्धिविवेचन पर्यन्त ही उल्लेख मिलता है। अतः विद्वानों का मानना है कि उदयनाचार्य की मृत्यु के कारण यह कार्य अपूर्ण रह गया है।'

(3) न्यायकन्दली– श्रीधराचार्य ने 991 ई. में प्रशस्तपाद भाष्य पर इस टीका की संरचना की। श्रीधराचार्य बंगदेश की प्रसिद्ध **राढापुरी** के दक्षिण में स्थित **'भूरिसृष्टि'** नामक ग्राम के निवासी थे। श्रीमद् चित्सुख मुनि विरचित तत्त्वप्रदीपिका में इसी न्यायकन्दली का खण्डन किया गया है। इस टीका की सबसे बड़ी विशेषता यह है कि इसमें अन्धकार को भी भावरूप में सिद्ध किया गया है। सूत्रकार से विरोध का परिहार करने के लिए यहाँ कहा गया है–

भाभावे सति तमसः प्रतीतेर्भाभावस्तम इत्युक्तम्।

अर्थात् तेज का अभाव तम का व्यंजक है। अतः तमस् को यहाँ तेज का अभाव कहा गया है।[1]

(4) **लीलावती–** इस टीका की रचना श्रीवात्साचार्य ने सन् 1025 ई. में की। इन चार टीकाओं को विद्वानों ने प्राचीन टीकाओं के अन्तर्गत परिगणित किया है। शेष निम्न चार टीकाएँ नवीन हैं, क्योंकि ये चित्सुखाचार्य के परवर्ती विद्वानों द्वारा लिखी गई हैं।[2]

(5) **सूक्ति–** इस टीका की संरचना वैशेषिक विद्वान् श्री जगदीश तर्कालंकार ने 1590 ई. में की। ये बंगाल स्थित नवद्वीप अथवा **नदिया** ग्राम के निवासी थे। इसकी गणना विद्वत्समुदाय में प्रशस्तपाद भाष्य की श्रेष्ठ टीकाओं के अन्तर्गत की जाती है। इसके अतिरिक्त इन्होंने रघुनाथ की तत्त्वचिन्तामणि एवं न्यायलीलावती पर

---

[1]. तत्त्वप्रदीपिका–चित्सुखमुनि, व्याख्याकार–स्वामीयोगीन्द्रानन्द, उदासीन संस्कृत विद्यालय, काशी, भूमिका, 1956, पृष्ठ– 28।

[2]. वही।

दीधिति टीका की भी रचना की तथा शब्दशक्तिप्रकाश में न्यायदर्शन की दृष्टि से शब्दशक्तियों पर विचार प्रस्तुत किया है। साथ ही, वैशेषिक दर्शन के प्रारम्भिक छात्रों के लिए इन्होंने **'तर्कामृत'** नामक लघुग्रन्थ का भी प्रणयन किया।[1] इनका मूल नाम जगदीश मिश्र था।[2] इसी टीका का अन्य नाम **'भाष्यसूक्ति'** भी है।

(6) **सेतु–** आचार्य पद्मनाभ मिश्र ने सोलहवीं शताब्दी के उत्तरार्द्ध में इस टीका की रचना की। यह टीका भी विद्वानों द्वारा पर्याप्त प्रशंसनीय रही। पद्मनाभ मिश्र तर्कभाषाकार आचार्य केशवमिश्र के अग्रज थे।

(7) **भाष्यनिकष–** आचार्य कोलाचल मल्लिनाथ नामक विद्वान् ने इस टीका की संरचना सन् 1850 ई. में की।

(8) **कणादरहस्य–** आचार्य शंकर मिश्र ने इस टीका की रचना की। इनका समय 1425 ई. से 1475 ई. तक माना गया है।[3] इस टीका में इन्होंने प्रशस्तपाद के आधार पर वैशेषिक सिद्धान्तों का परिचय तथा नव्यन्याय के व्याप्ति और उपाधि जैसे विषयों का विवेचन किया है। इसके अतिरिक्त इन्होंने भेदप्रकाश, खण्डनटीका, वाद–विनोद, वैशेषिकसूत्र प्रकाश, लीलावती, कण्ठाभरण इत्यादि ग्रन्थों का भी प्रणयन किया। साथ ही, इन्होंने महर्षि कणाद के सूत्रों पर **'उपस्कार'** नामक एक अन्य महत्त्वपूर्ण टीका की भी संरचना की।

(झ) चन्द्रानन्द– ये उद्योतकर के परवर्ती आचार्य हैं। इन्होंने वैशेषिकसूत्र की टीका का प्रणयन किया, जिसका प्रकाशन गायकवाड़ ओरियण्टल सीरिज, बड़ौदा से 1961 ई. में क्रम संख्या–136 पर हुआ। इनकी शैली शंकरमिश्र के उपस्कार भाष्य की अपेक्षा अधिक प्राचीन प्रतीत होती है।

---

1. हिस्ट्री ऑफ इण्डियन फिलोसफी, उमेश मिश्र, पृष्ठ– 652।
2. तर्कसंग्रह, व्याख्याकार– दयानन्द भार्गव, अवतरणिका, पृष्ठ– 38।
3. हिस्ट्री ऑफ नव्यन्याय इन मिथिला, डी.सी. भट्टाचार्य, पृष्ठ– 140।

(ञ) **शिवादित्यमिश्र–** ये ऐसे विशिष्ट प्राथमिक तार्किक थे, जिन्होंने न्याय और वैशेषिक इन दोनों दर्शनों को सम्मिश्रित किया। इनका समय 975 ई. से 1025 ई. के मध्य माना गया है। कुछ विद्वान् इन्हें **कुलार्क** पण्डित से अभिन्न मानते हैं।[1] इनके नाम से तीन ग्रन्थ प्रसिद्ध हैं– (क) सप्तपदार्थी (ख) लक्षणमाला (ग) हेतुखण्डन, इनमें सप्तपदार्थी का प्रकाशन बहुत पहले हो चुका है। इसकी रचना वैशेषिक सूत्रों के आधार पर होने पर भी ग्रन्थकार ने कुछ स्थलों पर सूत्रकार एवं भाष्यकार दोनों के सिद्धान्त का उल्लंघन करके स्वतन्त्र रूप से सिद्धान्त स्थिर किया है। **जैसे–** वैशेषिक सूत्रकार ने हेत्वाभासों की संख्या तीन और न्याय सूत्रकार ने पाँच बताई है, जबकि इन्होंने इनकी छः संख्या का उल्लेख किया है।

इसीप्रकार भाष्यकार दिशाओं की संख्या दस मानते हैं, जबकि इन्होनें 'रौद्री' नामक ग्यारहवीं दिशा का भी कथन किया है। कुछ विद्वानों की मान्यता है कि उदयनाचार्य (984 ई.) ने इनकी लक्षणमाला को आधार बनाकर ही अपनी लक्षणावली की संरचना की है, जबकि अन्य विद्वान् मानते हैं कि अपने सप्तपदार्थों में शिवादित्य मिश्र ने किरणावली का पर्याप्त उपयोग किया है।[2]

(ट) **वल्लभाचार्य–** इनका समय 12वीं शताब्दी माना गया है। ये मिथिला के निवासी थे। इनके द्वारा विरचित 'न्यायलीलावती' नामक ग्रन्थ वस्तुतः वैशेषिक सिद्धान्तों का आधार कहा जा सकता है। इसकी प्रसिद्धि उदयनाचार्य की किरणावली के समान ही विद्वानों में हुई, क्योंकि उसके समान ही इस ग्रन्थ पर भी अनेक टीका ग्रन्थों की रचना की गई। अभी तक इसकी सात टीकाओं के विषय में जानकारी उपलब्ध हुई है।[3]

---

1. तत्त्वप्रदीपिका, चित्सुखाचार्य, उदासीन संस्कृत विद्यालय, काशी, पृष्ठ– 18।
2. वही, पृष्ठ–28–29।
3. भारतीय दर्शन, आचार्य बलदेव उपाध्याय, पृष्ठ– 220।

(क) **न्यायलीलावती—प्रकाश**— इसकी रचना पं. गणेश उपाध्याय के सुपुत्र पं. वर्धमानोपाध्याय द्वारा 1250 ई. में की गई।

(ख) **न्यायलीलावती—विवेक**— यह पक्षधर मिश्र नामक विद्वान् द्वारा 1275 ई. में लिखी गई।

(ग) **न्यायलीलावती—कण्ठाभरण**— 1450 ई. में स्थित शंकर मिश्र इसके रचयिता रहे हैं।

(घ) **न्यायलीलावती—वर्धमानेन्दु**— अभिनव वाचस्पति नामक विद्वान् द्वारा इसका प्रणयन 1450 ई. में किया गया।

(ङ) **न्यायलीलावती—विभूति**— इसके प्रणेता 1547 ई. में स्थित प्रसिद्ध नैयायिक रघुनाथ शिरोमणि हैं।

(च) **न्यायलीलावती—रहस्य**— श्री मथुरानाथ तर्कवागीश ने इसकी रचना 1580 ई. में की।

(छ) **न्यायलीलावती—प्रकाश**— इसके रचयिता 1570 ई. में स्थित श्री रामकृष्ण भट्टाचार्य रहे हैं।

(ठ) **केशवमिश्र**— 1275 ई. के लगभग मिथिला में उत्पन्न इन्होंने न्यायवैशेषिक सिद्धान्तों की मिश्रित शैली में 'तर्कभाषा' की रचना की। इनके पिता का नाम '**बलभद्र मिश्र**' था। साथ ही, इनके दो बड़े भाई 'विश्वनाथ मिश्र' और 'पद्मनाथ मिश्र' का उल्लेख भी मिलता है। इनके शिष्य गोवर्धन मिश्र थे, जिन्होंने 'तर्कभाषा' पर 'तर्कभाषाप्रकाश' नामक व्याख्या का प्रणयन किया।[1] इन्होंने अपने बड़े भाई 'पद्मनाथ' से तर्कशास्त्र का अध्ययन करके 'स्वान्तः सुखाय' तर्कभाषा की रचना की। गोवधर्नमिश्र ने अपने गुरु की तर्कभाषा पर लिखी गई टीका 'तर्कभाषा प्रकाश' में केशवमिश्र का परिचय इसप्रकार प्रस्तुत किया है—

श्री विश्वनाथानुज—पद्मनाभानुजो गरीयान् बलभद्रजन्मा।
तनोति तर्कानधिगम्य सर्वान् श्रीपद्मनाभाद्विदुषो विनोदम्।।

---

[1] .तर्कभाषा, व्याख्यकार विश्वेश्वर सिद्धान्त शिरोमणि, चौखम्बा प्रकाशन, वाराणसी, 1953, ई.पृष्ठ— 57—58।

तर्कभाषा यद्यपि मुख्यरूप से न्यायदर्शन का ग्रन्थ माना जाता है, किन्तु इसमें वैशेषिकदर्शन के सिद्धान्तों का भी पर्याप्तरूप से प्रतिपादन हुआ है। **जैसे–** संख्या में द्वित्वोपत्ति अपेक्षाबुद्धि से होती है, यह वैशेषिक सिद्धान्त है। इसीप्रकार वैशेषिक की देन 'विभागज विभाग' का भी तर्कभाषा में उल्लेख हुआ है–

द्वित्वे च पाकजोत्पत्तौ विभागे च विभागजे।
यस्य न स्खलिता बुद्धिस्तं वै वैंशेषिकं विदुः।।

इसके अतिरिक्त अर्थ का निरूपण न्यायसूत्रों के अनुसार यहाँ केवल भूत और उसके गुणों का ही किया गया है, जबकि द्रव्य, गुण, कर्म, सामान्य, विशेष और समवाय इन छः अर्थों का विवेचन यहाँ वैशेषिकदर्शन के अनुसार हुआ है। इतना ही नहीं, इस ग्रन्थ के अनेक स्थलों पर वैशेषिकदर्शन के सिद्धान्तों का भी समावेश किया गया है।

विद्वानों में यह ग्रन्थ अत्यधिक समादृत रहा। यही कारण है कि इस ग्रन्थ के ऊपर अल्पावधि में ही लगभग चौदह टीकाओं का प्रणयन किया गया, जिनमें श्रीगोवर्धन मिश्र (1300 ई.) की तर्कभाषा प्रकाशिका, गोपीनाथ की उज्ज्वला टीका, रोमविल्व वेंकटबुद्ध की तर्कभाषा–भावटीका, श्रीरामलिंग की नयसंग्रह, माधवदेव की सारमंजरी, भास्करभट्ट की परिभाषादर्पण, श्रीबालचन्द्र की तर्कभाषा प्रकाशिका चिन्नं भट्ट (1390 ई.) की तर्कभाषा प्रकाशिका, श्रीगणेश दीक्षित की तत्त्व–प्रबोधिनी, श्रीकौडिन्य दीक्षित की तर्कभाषा प्रकाशिका, श्रीकेशवभट्ट की तर्कदीपिका, श्रीगौरीकण्ठ सार्वभौम की तर्कभाषा प्रकाशिका, नागेशभट्ट (1790 ई.) की युक्तिमुक्तावली तथा विश्वकर्मा की न्यायप्रदीप टीकाएँ विशेषरूप से उल्लेखनीय हैं।

(ड) **विश्वनाथ न्यायपंचानन–** सत्रहवीं शताब्दी में स्थित ये बंगाल में नव्यन्याय के संस्थापक तथा रघुनाथ शिरोमणि जैसे विद्वानों के विद्यागुरु वासुदेव सार्वभौम के अनुज रत्नाकर विद्यावाचस्पति के

पौत्र थे। इनके पिता का नाम काशीनाथ विद्यानिवास था, जो उत्कृष्ट कोटि के दार्शनिक पण्डित थे।

आचार्य बलदेव उपाध्याय के अनुसार– इन्होंने 'भाषा–परिच्छेद' और 'न्यायसूत्रवृत्ति' नामक दो ग्रन्थों का निर्माण किया,[1] जबकि डी.सी. भट्टाचार्य तथा महामहोपाध्याय हरप्रसाद शास्त्री ने 'भाषा–परिच्छेद' को कृष्णदास सार्वभौम की रचना स्वीकार किया है,[2] किन्तु अनेक विद्वान् इस मत से सहमत नहीं है।

(क) **भाषा–परिच्छेद–** इस कृति में 168 कारिकाओं के अन्तर्गत वैशेषिक सिद्धान्तों का विस्तारपूर्वक वर्णन किया गया है। प्रतिपादन शैली की दृष्टि से इसकी गणना सर्वाधिक लोकप्रिय प्रकरण ग्रन्थों में तर्कसंग्रह के अनन्तर की जाती है। इसके ऊपर महादेवभट्ट और दिनकरभट्ट ने 'मुक्तावली प्रकाश' नामक टीका ग्रन्थ का प्रणयन किया, जिसे **दिनकरी** के रूप में भी प्रसिद्धि प्राप्त हुई, जिस पर रामरुद्र भट्टाचार्य ने 'दिनकरी तरंगिणी' अथवा 'रामरुद्री' नामक व्याख्या ग्रन्थ की संरचना की।

(ख) **न्यायसूत्रवृत्ति–** विद्वान् लेखक ने इस कृति की संरचना अपनी तुरीय अवस्था में वृंदावन में रहकर 1631 ई. में की। इसमें न्यायसूत्रों की अत्यन्त सरल व्याख्या प्रस्तुत की गई है।

(ढ) **जयनारायण तर्कपंचानन–** इन्होंने वैशेषिक सिद्धान्तों पर 'विवृत्ति' नामक व्याख्या ग्रन्थ का प्रणयन किया। श्री नारायण मिश्र ने इसकी गणना आधुनिक व्याख्याओं में करते हुए वैशेषिक सिद्धान्तों के विवेचन की दृष्टि से इसकी अत्यधिक उपादेयता प्रतिपादित की है।

जैसा कि हम पूर्व में उल्लेख कर चुके हैं कि आरम्भ में न्याय–वैशेषिक दर्शनों की स्वतन्त्र परम्परा के दर्शन होते हैं, किन्तु 15 वीं शताब्दी के पश्चात् ये दोनों दर्शन–धाराएँ गंगा–यमुना के सम्मिलन

---

[1]. भारतीय दर्शन, आचार्य बलदेव उपाध्याय, पृष्ठ– 222।

[2]. हिस्ट्री ऑफ इण्डियन फिलोसफी, उमेश मिश्र, भाग– 2, पृष्ठ– 422।

के समान एक होकर ही अग्रसर हुईं तथा न्यायवैशेषिक दर्शन रूप में प्रसिद्धि को प्राप्त हुईं। इसी कारण विद्वानों ने तर्कसंग्रह ग्रन्थ की व्याख्या में भी जो वस्तुतः वैशेषिकदर्शन का ही ग्रन्थ है, न्याय परम्परा बौद्ध, जैन आदि के विद्वानों एवं ग्रन्थों का भी परिचय प्रस्तुत किया।

किन्तु हम न्यायदर्शन की आचार्य परम्परा का विस्तृत विवेचन पूर्व में न्याय दर्शन के प्रसंग में कर चुके हैं। अतः पुनरावृत्ति–भय से उनका उल्लेख यहाँ नहीं किया जा रहा है। अब हम वैशेषिक परम्परा के आचार्य अन्नंभट्ट एवं उनके तर्कसंग्रह का विस्तारपूर्वक विवेचन प्रस्तुत कर रहे हैं–

(viii) **आचार्य अन्नंभट्ट एवं उनका तर्कसंग्रह एक परिचय–** सत्रहवीं शताब्दी में स्थित आचार्य अन्नभट्टं ने वैशेषिक दर्शन के सिद्धान्तों को आधार बनाकर सूत्ररूप में अत्यन्त सरल एवं लघुग्रन्थ 'तर्कसंग्रह' की रचना की। प्रकरणग्रन्थ की कोटि में परिगणित यह कृति वस्तुतः विद्वत्समुदाय में अत्यधिक लोकप्रिय हुई।

'तर्कसंग्रह' इस नामकरण से ऐसा प्रतीत होता है कि मध्यकाल में कहीं न कहीं न्यायवैशेषिक दर्शन के पदार्थों अथवा सिद्धान्तों के लिए 'तर्क' शब्द का प्रयोग प्रचलन में आ गया था। यही कारण है कि आचार्य केशवमिश्र ने अपने न्यायवैशेषिक के प्रकरण ग्रन्थ तर्कभाषा में तथा आचार्य अन्नंभट्ट ने अपने तर्कसंग्रह में न्यायवैशेषिक पदार्थों की विवेचना के कारण ही 'तर्क' पद का इनके नामकरण के हेतुरूप में प्रयोग किया है।[1]

यद्यपि ग्रन्थकार आचार्य अन्नंभट्ट ने अपने ग्रन्थ तर्कसंग्रह में अपने काल एवं स्थानादि के सम्बन्ध में कुछ भी उल्लेख नहीं किया है तथापि विद्वत्परम्परा इन्हें **सोमयाजी तिरुमलाचार्य** का पुत्र स्वीकार करती है।[2] इनका जन्म आन्ध्रप्रदेश के **गरिकापाद** नामक स्थान पर

---

1 . तर्कसंग्रह, नर्वदेश्वर तिवारी, भारतीय विद्या भवन, वाराणसी, पृष्ठ–21।

2 . भारतीय दर्शनशास्त्र, न्यायवैशेषिक, डॉ. धर्मेन्द्रनाथ शास्त्री, पृष्ठ– 132।

हुआ। ये तैलंग ब्राह्मण थे। आज भी कृष्णा नदी के तट पर चित्तूर के समीप केशवपुर में ऋग्वेदीय अन्नंभट्ट गोत्री ब्राह्मण निवास करते हैं।[1]

ग्रन्थकार ने तर्कसंग्रह के ऊपर स्वयं ही 'तर्क–दीपिका' नामक टीका का भी प्रणयन किया। तर्कसंग्रह वैशेषिक सिद्धान्तों को सरल एवं साररूप में प्रस्तुत करने की दृष्टि से अद्वितीय ग्रन्थ कहा जा सकता है। पुनरपि अपनी 'दीपिका' टीका में ग्रन्थकार ने परमाणुवाद, सृष्टि–प्रक्रिया, पाक–प्रक्रिया आदि वैशेषिक सिद्धान्तों का प्रतिपादन करते हुए मीमांसक, बौद्ध, चार्वाक, वेदान्तादि दर्शनों को पूर्वपक्ष के रूप में प्रस्तुत करके तर्कपद्धति का अवलम्ब लेकर उनका विस्तारपूर्वक खण्डन किया है। इस टीका के कारण इस दृष्टि से तर्कसंग्रह एवं ग्रन्थकार का महत्त्व और भी अधिक बढ़ जाता है।

(1) कृतित्व– आचार्य अन्नंभट्ट ने तर्कसंग्रह एवं इसकी दीपिका टीका के अतिरिक्त अन्य महत्त्वपूर्ण दर्शनविषयक ग्रन्थों की संरचना भी की, जिनमें–

(क) जयदेव के'तत्त्वचिन्तामण्यालोक' ग्रन्थ पर 'सिद्धांजन' टीका।

(ख) ब्रह्मसूत्र पर 'मिताक्षरा' टीका।

(ग) उदयनाचार्य विरचित 'न्याय परिशिष्ट' पर 'प्रकाश' टीका।

(घ) तन्त्रवार्तिक पर 'सुबोधिनी सुधासार' टीका।

(ङ) अष्टाध्यायी पर 'मिताक्षरा' टीका।

(च) कात्यायन के शुक्लयजुर्वेद प्रतिशाख्य पर भाष्य इत्यादि विशेषरूप से उल्लेखनीय हैं।

(a) तर्कसंग्रह की टीकाएँ – आचार्य अन्नंभट्ट द्वारा विरचित तर्कसंग्रह पर भी विद्वानों ने लगभग 22 टीकाओं का प्रणयन किया, जिनका हम यहाँ उल्लेख कर रहें हैं–

1. 'वैद्यनाथ गाडगिल' की 'तर्कचन्द्रिका', 2. 'मुकुन्दभट्ट गाड–गिल' की 'तर्कसंग्रह चन्द्रिका' ,3. 'पट्टाभिराम' की 'तर्कसंग्रह टिप्पणी',

---

[1] . तर्कसंग्रह, अन्नंभट्ट, व्याख्याकार डॉ. पंकज कुमार मिश्र, पृष्ठ–20।

4. 'अनन्त नारायण' की 'तर्कसंग्रह टीका', 5. 'गौरीकान्त' की तर्कसंग्रह टीका', 6. 'रामनाथ' की 'तर्कसंग्रह टीका' 7. 'विश्वनाथ' की 'तर्क–संग्रहटीका', 8. 'नीलकण्ठ भट्ट' की 'नीलकण्ठी' 9. 'विन्ध्येश्वरी प्रसाद' की 'तरंगिणी' 10. 'मध्यगोविन्द हरबल' की 'वाक्यार्थ' 11. 'मुरारि' की तर्कसंग्रह व्याख्या' 12. 'जगन्नाथ शास्त्री' की निरुक्ति' 13. 'केशवभट्ट' की 'न्यायचन्द्रिका', 14–15 'गोवर्धन' एवं 'रत्ननाथ शुक्ल' की 'न्याय–बोधिनी', 16. 'गोवर्धन रंगाचार्य' की 'न्यायार्थ लघुबोधिनी', 19–20 'मेरुशास्त्री' की 'भाष्यवृत्ति' एवं 'वाक्यवृत्ति', 21. 'कृष्णधूर्जटि' की 'सिद्धान्तचन्द्रोदय', 22. 'हनुमान' की 'हनुमती'।

इसके अतिरिक्त अज्ञातनाम वाले विद्वानों द्वारा विरचित तर्कसंग्रह 'शंकु', तर्कसंग्रहोपन्यास टीकाएँ भी उल्लेखनीय हैं। साथ ही, 'नीलकण्ठ भट्ट' के पुत्र द्वारा **भास्करोदय** नामक अत्यन्त विस्तृत टीका का प्रणयन भी किया गया, जो मूल तर्कसंग्रह दीपिकाप्रकाश टीका के साथ नीलकण्ठी टीकासहित 1915 ई. में निर्णयसागर प्रेस, बम्बई से प्रकाशित हुई।

(b) **तर्कसंग्रह का वैशेषिकदर्शन साहित्य में स्थान–** जैसा कि इसके नाम से ही स्पष्ट है यह ग्रन्थ वस्तुतः तर्कों का संग्रह है। इसकी व्युत्पत्ति विद्वानों ने इसप्रकार दी है– 'तर्क्यन्ते प्रतिपाद्यन्ते इति तर्काः द्रव्यादिसप्तपदार्थाः, तेषां पदार्थानां तर्काणां संग्रहः इति,' क्योंकि इस ग्रन्थ में द्रव्यादि सप्त पदार्थों का प्रमाणपूर्वक संग्रह किया गया है। अतः इसे तर्कसंग्रह कहा गया।

इसीप्रकार जिसके द्वारा प्रमेय पदार्थों का ज्ञान प्राप्त किया जाए, वह तर्क अथवा प्रमाण ही तर्कसंग्रह है– 'तर्क्यतेऽनेनेति तर्कः प्रमाणम्।' इस ग्रन्थ में वस्तुतः पदार्थों के साथ–साथ प्रमाणों की भी विस्तृत एवं सुन्दर चर्चा की गई है। भाषा की सरलता, प्रांजलता एवं शब्दचयन की विलक्षणता ने इस ग्रन्थ के महत्त्व को द्विगुणित कर दिया है। दर्शन के पारिभाषिक एवं क्लिष्ट शब्दों के स्पष्टीकरण में यह

ग्रन्थ प्रमुख एवं अग्रणी रहा है, विषय का प्रस्तुतीकरण अत्यन्त हृदय–हारी होने से यह ग्रन्थ न केवल विद्वानों में आदृत रहा है, अपितु वैशेषिक दर्शन के प्रवेशद्वार के रूप में मान्य है। यही कारण है कि इसे न केवल भारतवर्ष के अधिकांश विश्वविद्यालयों में, अपितु विदेशों के भी स्नातक स्तर पर पाठ्यक्रम में रखा गया है।

ग्रन्थ के आरम्भ में मंगलाचरण के अवसर पर स्वयं ग्रन्थकार ने कहा है कि **'बालानां सुखबोधाय क्रियते तर्कसंग्रहः'** अर्थात् बच्चों को समझाने के लिए वैशेषिकदर्शन में सहजरूप से प्रवेश कराने के लिए, इस विषय के जिज्ञासु बालबुद्धि लोगों के लिए इस तर्कसंग्रह नामक ग्रन्थ का प्रणयन किया जा रहा है। ग्रन्थकार की प्रतिज्ञा के अनुसार यह ग्रन्थ अपने उद्देश्य में पूर्णतया सफल रहा है। अतः वैशेषिकदर्शन के प्रारम्भिक ग्रन्थ के रूप में इसका महत्त्व एवं स्थान उल्लेखनीय कहा जा सकता है।

(ix) **तर्कसंग्रह में प्रतिपादित प्रमुख सिद्धान्त एवं विषय–** अन्य भारतीय दर्शनों के समान ही वैशेषिक दर्शन के अनुसार भी मनुष्य के जीवन का लक्ष्य अभ्युदय एवं निःश्रेयस् की प्राप्ति है, किन्तु यहाँ इन्हें प्राप्त करने का मार्ग भिन्न बताया गया है। इसके अनुसार–

'संसार में दिखायी देने वाले द्रव्य, गुण, कर्म, सामान्य, विशेष, समवाय एवं अभाव इन सात पदार्थों के यथार्थज्ञान से ही व्यक्ति को मोक्ष अर्थात् निःश्रेयस् की प्राप्ति होती है। इसीलिए इन्हीं सात पदार्थों के स्वरूप का निर्णय करना, इस ग्रन्थ का मुख्य प्रतिपाद्य विषय रहा है।' यहाँ प्रतिपादित वैशेषिक दर्शन के सिद्धान्त इसप्रकार हैं–

(क) **सप्तपदार्थ–** तर्कसंग्रहकार ने यहाँ सात पदार्थों का नामोल्लेख इसप्रकार किया है– **'द्रव्य–गुण–कर्म–सामान्य–विशेष–समवाय–अभावाः सप्तपदार्थाः'** अर्थात् इन पदार्थों की संख्या वैशेषिक दर्शन में सात ही रही है, कम अथवा अधिक नहीं। यह प्रतीत होता है कि महर्षि कणाद एवं आचार्य प्रशस्तपाद ने आरम्भ में वैशेषिकदर्शन के

छः पदार्थों का ही उल्लेख किया था,[1] किन्तु परवर्ती दर्शनाचार्यों शिवादित्य, श्रीधर उदयन एवं व्योमशिवादि ने 'अभाव' नामक एक अन्य पदार्थ को मान्यता प्रदान करके इसकी संख्या में एक वृद्धि करके पदार्थों की संख्या कुल सात कर दी, जिसे बाद में सभी आचार्यों द्वारा स्वीकार कर लिया गया।

इस प्रसंग में एक बात विशेषरूप से उल्लेखनीय है कि सम्पूर्ण भारतीयदर्शन परम्परा वस्तुतः इसी पदार्थ–विज्ञान पर टिकी हुई है। यहाँ हमें केवल संख्या का ही भेद दिखायी देता है। **जैसे–** न्यायदर्शन में प्रमाण, प्रमेय, संशयादि सोलह पदार्थों को मान्यता प्रदान की गई तो मीमांसकों ने इनकी संख्या आठ स्वीकार की, जबकि वेदान्तदर्शन ने ब्रह्म और माया दो ही तत्त्वों को माना। इसके अतिरिक्त सांख्यदर्शन ने 25 एवं महाभारतीय सांख्य[2] ने 26 तत्त्वों को स्वीकार किया। योगसूत्र में पतंजलि ने सांख्य के 25 तत्त्वों के अतिरिक्त ईश्वर को भी मान्यता प्रदान करते हुए इन्हें 26 संख्या के रूप में विवेचन किया।

जिसप्रकार इन सभी दर्शनों के विवेच्य विषय उक्त मान्य पदार्थ रहे हैं। उसी प्रकार तर्कसंग्रहकार ने भी इस ग्रन्थ में मुख्यरूप से उक्त सात पदार्थों का ही विवेचन किया है। उन्होंने इस ग्रन्थ में कथन किए गए क्रम से ही विवेचन प्रस्तुत करते हुए सर्वप्रथम **द्रव्य** का विवरण प्रस्तुत किया है।

(1) **नवद्रव्य–** आचार्य अन्नंभट्ट ने सप्तपदार्थों की व्याख्या के क्रम में सर्वप्रथम द्रव्य पदार्थों का उल्लेख करते हुए 'पृथिवी, जल, तेज, वायु, आकाश, काल, दिशा, आत्मा और मन' कुल नौ संख्या को ही स्वीकार किया। उल्लेखनीय है कि यहाँ 'द्रव्य' पद विशिष्ट पारिभाषिक शब्द के रूप में प्रयुक्त हुआ है। द्रव्य के नामों का

---

1 . वैशेषिकसूत्र, 1/2/6 एवं प्रशस्तपादभाष्य, पृष्ठ–6।

2 .द्रष्टव्य लेखककृत– महाभारतीय सांख्य एपिक सांख्य, चौखम्बा संस्कृत प्रतिष्ठान, दिल्ली।

परिगणन करते हुए ग्रन्थकार ने वैशेषिक दर्शन को शुद्ध यथार्थवादी धरातल पर प्रस्तुत किया है, क्योंकि यह दर्शन वस्तुतः संसार के सभी पदार्थों की सत्ता को ज्ञाता के ज्ञान से पृथक् स्वतन्त्र एवं निरपेक्षरूप से स्वीकार करता है।

वेदान्तदर्शन के समान 'ब्रह्म सत्यं जगन्मिथ्या' में आस्था व्यक्त नहीं करता है, उक्त सभी नौ द्रव्य पदार्थों की सत्ता मनुष्य अपने अनुभव द्वारा स्वीकार कर सकता है, इसमें किसी विशेष प्रकार की विप्रतिपत्ति की सम्भावना नहीं है। यहाँ तक कि आत्मा और मन जैसे नितान्त अभौतिक पदार्थों के अस्तित्व में भी संशय का कोई अवसर प्रतीत नहीं होता है, क्योंकि अस्मदादि से 'आत्मा' की तथा 'मैं ठीक से सुन नहीं पाया, क्योंकि मेरा मन अन्यत्र था' इत्यादि अनुभवों से 'मन' की भी पुष्टि होती है।

(2) गुण– ग्रन्थकार ने द्वितीय पदार्थ गुण के चौबीस भेदों का उल्लेख इसप्रकार किया है– रूप, रस, गन्ध, स्पर्श, संख्या, परिमाण, पृथक्त्व, संयोग, विभाग, परत्व, अपरत्व, गुरुत्व, द्रवत्व, स्नेह, शब्द, बुद्धि, सुख, दुःख, इच्छा, द्वेष, प्रयत्न, धर्म, अधर्म एवं संस्कार ये चौबीस गुण हैं। 'गुण' शब्द यहाँ विशिष्ट अर्थ में प्रयुक्त हुआ है। वैशेषिकसूत्र में इसका लक्षण इसप्रकार किया गया है–

'द्रव्याश्रय्यगुणवान् संयोगविभागेष्वकारणमनपेक्ष इति गुण लक्षणम्।'[1]

अर्थात् द्रव्य के आश्रय में रहने वाला, गुणरहित, संयोग एवं विभाग के प्रति स्वतन्त्र कारण न रहने वाला ही गुण है।

आचार्य अन्नंभट्ट ने अपनी दीपिका टीका में गुण से अभिप्राय– गुणत्व जाति से युक्त, द्रव्य और कर्म से भिन्न होते हुए सामान्ययुक्त से ग्रहण किया है। इस दृष्टि से यदि हम संक्षेप में वैशेषिकदर्शन के 'गुण' नामक पदार्थ की व्याख्या करें तो इसप्रकार भी कर सकते हैं–

---

[1]. वैशेषिकसूत्र–1/1/16 ।

'गुणत्व जाति से युक्त, द्रव्यों का आश्रय लेकर रहने वाले, अपने कार्य के असमवायिकारण, क्रियारहित, संयोग–विभाग के प्रति कभी भी साक्षात् कारण न रहने वाले को ही गुण कहलाते हैं। इनकी स्थिति कभी भी गुणों में विद्यमान नहीं होती है।'

इस प्रसंग में यह बात विशेषरूप से उल्लेखनीय है कि महर्षि कणाद ने आरम्भ में इनकी संख्या सत्रह मानी थी, किन्तु बाद में आचार्य प्रशस्तपाद ने इनमें–गुरुत्व, द्रवत्व, स्नेह, संस्कार, धर्म, अधर्म तथा शब्द सात गुणों को सम्मिलित करके इन्हें चौबीस स्वीकार किया। तर्कसंग्रहकार ने यहाँ इसी संख्या को मान्यता प्रदान की, क्योंकि उत्तरवर्ती सभी वैशेषिक दर्शनाचार्यों ने भी इसी संख्या को मान लिया है। अपनी दीपिका टीका में आचार्य अन्नंभट्ट ने प्रतिपक्ष की ओर से शंका प्रस्तुत करते हुए लघुत्व, मृदुत्व एवं कठिनत्व का गुणरूप में नामोल्लेख करके स्वयं ही उसका उत्तर इसप्रकार प्रस्तुत किया है–

'गुरुत्व का अभाव ही लघुत्व है तथा मृदुत्व एवं कठिनत्व संयोग के ही प्रकार हैं। अतः उन्हें पृथक् से गुण मानने की आवश्यकता नहीं है।'

आचार्य प्रशस्तपाद ने उक्त चौबीस गुणों की स्थिति, नौ द्रव्यों का तीन प्रकार से वर्गीकरण करते हुए इसप्रकार प्रदर्शित की है[1]–

(क) पृथिवी, जल, तेज, वायु एवं मन में मूर्तगुण–रूप, रस, गन्ध, स्पर्श, परत्व, अपरत्व, गुरुत्व, द्रवत्व, स्नेह एवं वेग संस्कार विद्यमान रहते हैं।

(ख) इसीप्रकार अमूर्त द्रव्यों में बुद्धि, सुख, दुःख, इच्छा, द्वेष, प्रयत्न, धर्म, अधर्म, शब्द, भावना (संस्कार) आदि अमूर्त गुणों की स्थिति रहती है।

(ग) जबकि दोनों मूर्त, अमूर्त पदार्थों में पाए जाने वाले उभय गुण की श्रेणी में आते हैं। **जैसे–** संख्या, परिमाण, पृथक्त्व, संयोग और विभाग।

---

[1]. प्रशस्तपादभाष्य, पृष्ठ–60।

(3) **कर्म–** उद्देश्य प्रकरण में ग्रन्थकार ने जिन सात पदार्थों का कथन किया था, उनमें तृतीय पदार्थ 'कर्म' के उन्होंने पाँच भेदों का कथन किया– उत्क्षेपण, अवक्षेपण, आकुंचन, प्रसारण, गमन। इनमें ऊपर की ओर उछालना ही **'उत्क्षेपण'** कहलाता है, जबकि नीचे की ओर गिरना **'अवक्षेपण'** है। इसके अतिरिक्त किसी वस्तु का सिकुडना **'आकुंचन'** तथा फैलना **'प्रसारण'** कहा गया है, जबकि क्रिया अर्थात् चलना ही **'गमन'** है।

अन्नंभट्ट ने 'चलनात्मक कर्म' कहकर 'कर्म' नामक पदार्थ की परिभाषा की है। यह वस्तुतः मूर्त द्रव्यों में ही विद्यमान रहता है, विभु में नहीं। इस दृष्टि से सृष्टि के समस्त जड़, चेतन पदार्थों में 'कर्म' नामक पदार्थ की स्थिति को स्वीकार किया जा सकता है, क्योंकि जल में लहरों का उठना, पत्तों का वायु से हिलना, पत्थर का गिरना या गेंद का हवा में उछलना, ज्वालामुखी आदि में पत्थरों का हवा में उछलना तथा मनुष्य, पशु, पक्षी, मछली आदि का एक स्थान से दूसरे स्थान पर जाना ये सभी स्थितियाँ 'चलन' क्रियात्मक होने के कारण 'कर्म' नामक वैशेषिक पदार्थ के अन्तर्गत मानी जाएँगी।

क्योंकि कर्म के द्वारा ही एक द्रव्य का दूसरे द्रव्य के साथ संयोग या वियोग होता है, अतः इसी कारण कर्म को संयोग, वियोग का कारण भी माना गया है। इसके अतिरिक्त अनित्य पदार्थों में कर्मत्व जाति भी विद्यमान है, क्योंकि सामान्यतया वैशेषिक दर्शन की दृष्टि में जाति वस्तुतः द्रव्य, गुण एवं कर्म इन तीनों पदार्थों में विद्यमान रहती है। द्रव्य एवं गुण ये दोनों नित्य पदार्थ हैं, किन्तु कर्म नित्य न होकर क्षणिक माना गया है। अतः कर्मत्व की नित्यता सम्भव नहीं है।

आचार्य प्रशस्तपाद ने उपाधि को कर्म का कारण बताया है। उनके अनुसार–

(क) 'क्योंकि भारी पदार्थ पृथ्वी की ओर गिरते हैं, अतः गुरुत्व उपाधि यहाँ 'अवक्षेपण' नामक कर्म का कारण है।'

(ख) इसीप्रकार जलादि तरल पदार्थों में तरलता उपाधि गति का कारण बनती है। अतः द्रवत्व नामक उपाधि 'गमन' नामक कर्म का कारण है।

(ग) इसके अतिरिक्त 'भावना' नामक उपाधि के कारण जीवात्मा में क्रियाशीलता देखी जाती है।

(घ) गति का आविर्भाव अनेकशः संयोग, उपाधि के कारण भी देखा जाता है, क्योंकि वृक्ष से टूटने पर फल का पृथ्वी से संयोग होता है, जो कर्म के अन्तर्गत आता है।

क्योंकि उक्त पाँचों कर्मों में संसार की समस्त गतियों का अन्तर्भाव हो जाता है। इसलिए विद्वानों ने इस विभाजन को अत्यन्त वैज्ञानिक माना है। इस विषय में डॉ. दयानन्द भार्गव के विचार विशेषरूप से उल्लेखनीय हैं–

'इस विभाजन में एक वैज्ञानिक आधार है। गति तीन प्रकार की हो सकती है– ऊपर से नीचे, नीचे से ऊपर या वक्र। वक्र गति भी दो प्रकार की है– दूरगामी और निकट लाने वाली और यही चार गतियाँ यहाँ दी गई हैं। शेष प्रकार की गतियाँ गमन में ही अन्तर्भूत हो जाती हैं। अतः कर्म का विभाजन करते समय यादृच्छिक विभाजन नहीं किया गया है, प्रत्युत इसका एक वैज्ञानिक आधार मन में रखा गया है।'[1]

(4) सामान्य– आचार्य अन्नंभट्ट ने चतुर्थ पदार्थ 'सामान्य' को इसप्रकार परिभाषित किया है' **नित्यम् एकम् अनेकानुतम् सामान्यम् द्रव्यगुण–कर्म–वृत्तिः'** अर्थात् सामान्य, नित्य, एक तथा अनेक में रहने वाला है। यह द्रव्य, गुण और कर्म में विद्यमान रहता है। कहने का अभिप्राय यह है कि इस संसार में अनेक वस्तुओं में भिन्नता होते हुए भी कुछ समानता दृष्टिगोचर होती है। **जैसे–** अनेक मनुष्यों के नाम,

---

[1]. तर्कसंग्रह, अन्नंभट्ट, व्याख्याकार, डॉ. दयानन्द भार्गव, मोतीलाल बनारसीदास, दिल्ली, पृष्ठ– 14।

गुण, कार्यादि भिन्न होते हुए भी सभी को मनुष्य कहा जाता है। इसी प्रकार का व्यवहार सभी स्त्रियों, गायों, बकरियों आदि सभी जीवों में भी होता है।

वैशेषिक दर्शन इस अनुभूति किंवा प्रतीति का आधार 'सामान्य' या **'जाति'** नामक पदार्थ को स्वीकार करता है अर्थात् वह पदार्थ जिसके कारण एक ही प्रकार के अनेक शरीरों में समानता की प्रतीति हो उसे **'सामान्य'** अथवा 'जाति' के अन्तर्गत माना जाएगा। **जैसे–** अनेक मनुष्यों में 'मनुष्यत्व सामान्य' कहलाएगा तथा अनेक घड़ों में 'घटत्व' सामान्य होगा।

यह **'पर'** एवं **'अपर'** भेद से दो प्रकार का होता है। 'पर' से अभिप्राय यहाँ अधिक देश में रहने वाला ग्रहण करना चाहिए (परम्–अधिकदेशवृत्तिः) तथा 'अपर' नामक सामान्य अपेक्षाकृत कम देश में विद्यमान रहता है (अपरं न्यूनदेशवृत्तिः)।

इनमें 'पर' नामक सामान्य पदार्थ को **'सत्ता'** भी कहा गया है (परं सत्ता) किन्तु 'सत्ता' शब्द वस्तुतः विशेष अर्थ में प्रयुक्त पारिभाषिक शब्द है, जो केवल द्रव्य, गुण एवं कर्म में ही विद्यमान रहता है। इसी को **जाति** भी माना गया है तथा 'अपर' नामक सामान्य पदार्थ केवल द्रव्यत्वादि ही हैं। इस प्रसंग में यह विशेषरूप से उल्लेखनीय है कि जो धर्म केवल एक ही व्यक्ति में विद्यमान हो, उसे जाति या सामान्य नहीं कहा जाएगा। **जैसे–** आकाश में आकाशत्व सामान्य नहीं होगा। इसीप्रकार घटत्व को जाति माना जाएगा, कलशत्व को नहीं।

अतः इस विषय में स्पष्टरूप से कहा जा सकता है कि वैशेषिक दर्शन केवल समानता की प्रतीति मात्र होने को भी सामान्य या जाति स्वीकार नहीं करता है, क्योंकि उसके मत में यह प्रतीति उपाधि के कारण भी होती है। इस दृष्टि से सामान्य में तीन बातों का होना अनिवार्य है– (क) **नित्यत्व,** (ख) **अनेकानुगतत्व,** (ग) **समवेतत्व।**

अर्थात् सामान्य नित्य होता है एवं अनेक में समवाय सम्बन्ध से विद्यमान रहता है।

(5) **विशेष–** यह पदार्थ वस्तुतः व्यक्ति की भिन्नता का प्रदर्शन करता है, क्योंकि यह भेदक धर्म है, जिसके कारण नित्यधर्मों में भेद की प्रतीति होती है, वही वस्तुतः **विशेष** नामक पदार्थ है। सभी नित्य धर्मों में एक भेदक धर्म स्वीकार किया गया है। वैशेषिकदर्शन के अनुसार– अनित्य द्रव्यों की परस्पर भिन्नता के प्रदर्शन के लिए 'विशेष' नामक पदार्थ की कोई आवश्यकता नहीं है, अपितु नित्य द्रव्यों, विशेष रूप में परमाणुओं की परस्पर भिन्नता का निर्धारण किसी अन्य आधार पर सम्भव नहीं था। इसीप्रकार सभी नित्य द्रव्यों में एक–एक विशेष की सत्ता को स्वीकार किया गया है। प्रत्येक नित्य द्रव्य में अलग–अलग विशेष मानने के कारण इन्हें अनन्त कहा गया है।

अन्नंभट्ट के अनुसार– यह नित्य द्रव्य में रहने वाला अनन्त है (नित्यद्रव्यवृत्तयो विशेषास्त्वनन्ता एव) यहाँ विशेष से अभिप्राय वस्तुतः विश्लेषक अथवा भेदकतत्त्व से ग्रहण करना चाहिए, क्योंकि सामान्यरूप से एक ही जाति के दो द्रव्यों (मनुष्य, पशु, पक्षी आदि) में भेद करना अत्यन्त कठिन कार्य होता है। इसीलिए यहाँ विशेष की सत्ता को स्वीकार किया गया है।

इस सम्बन्ध में डॉ. राधाकृष्णन् के विचार विशेषरूप से उल्लेखनीय हैं– 'द्रव्यों को एक समान होना चाहिए, क्योंकि वे सभी द्रव्य हैं तथा उन्हें एक–दूसरे से भिन्न भी होना चाहिए, क्योंकि वे पृथक्–पृथक् द्रव्य हैं। जब हम किसी गुण को अनेक पदार्थों में निहित पाते हैं तो उसे **'सामान्य'** कहते हैं, किन्तु जब हम उस गुण को, इन पदार्थों को अन्य पदार्थों से अलग करने वाला पाते हैं, तो उसे **विशेष** कहते हैं।[1] कुछ विद्वानों के मत में 'विशेष' नामक पदार्थ की मौलिक

---

[1] . भारतीय दर्शन, डॉ. राधाकृष्णन, पृष्ठ– 180।

परिकल्पना के कारण ही इस दर्शन को 'वैशेषिकदर्शन' के नाम से प्रसिद्धि प्राप्त हुई।

(6) समवाय– वैशेषिकदर्शन 'समवाय' को भी स्वतन्त्र पदार्थ मानता है। तर्कसंग्रहकार ने इसे नित्य सम्बन्ध स्वीकार करते हुए, इसकी स्थिति दो अयुतसिद्ध पदार्थों में मानी है। यहाँ अयुतसिद्ध पदार्थों से आशय उन दो पदार्थों से है, जिनमें विनाश की अवस्था को छोड़कर एक, दूसरे पर आश्रित होकर विद्यमान रहता है। **जैसे–** अवयव–अवयवी, गुण–गुणी, क्रिया–क्रियावान् आदि।[1] यह समवाय एक है। यद्यपि क्षेत्रभेद से इसके आश्रय अलग– अलग हो सकते हैं, किन्तु उन सबमें रहने वाला 'समवाय' नामक पदार्थ एक ही है।

यहाँ प्रयुक्त **अयुतसिद्ध** पद विशेष व्याख्या की अपेक्षा रखता है, जिसे उदाहरण द्वारा अत्यन्त सहजरूप में समझ सकते हैं। किसी वस्त्र के निर्माण में उसके धागे अपना सहयोग प्रदान करते हैं। यदि धागों को अलग–अलग कर दिया जाए तो वस्त्र स्वयं समाप्त हो जाएगा। इसीलिए कहा गया अविनाश की अवस्था में जिन दो पदार्थों पट–वस्त्र, तन्तु–धागे में एक वस्त्र, पर दूसरे अर्थात् तन्तु पर आश्रित होकर रहता है तो वे दोनों ही अयुतसिद्ध कहलाएँगे।

इस क्रम में अयुतसिद्ध पदार्थों के ग्रन्थकार ने पाँच उदाहरण प्रस्तुत करते हुए अवयव–अवयवी, गुण–गुणी, क्रिया–क्रियावान्, जाति–व्यक्ति, नित्यद्रव्य एवं विशेष नामक पदार्थों को अयुतसिद्ध माना है। यहाँ तन्तु–पट को अवयव–अवयवी के, घटरूप एवं घट को गुण–गुणी के, चलना एवं चलने वाले प्राणी को क्रिया–क्रियावान् के, मनुष्यत्व जाति एवं मनुष्य को जाति व्यक्ति के तथा नित्य द्रव्य एवं विशेष के उदाहरणरूप में भी समझा जा सकता है।

---

[1]. नित्य सम्बन्धः समवायः। अयुतसिद्धवृत्तिः। ययोर्द्वयोर्मध्य एकमविनश्यद् अपराश्रितमेवाऽवतिष्ठते, तावयुतसिद्धौ। **यथा–** अवयवाऽवयविनौ, गुणगुणिनौ।।

(7) अभाव– ग्रन्थकार ने आरम्भ में जिन सात पदार्थों का उल्लेख किया, उनमें अंतिम सातवें पदार्थ 'अभाव' का इस प्रकरण के अन्त में विस्तारपूर्वक विवेचन किया है। तदनुसार– अभाव नामक सातवाँ पदार्थ चार प्रकार का होता है– प्राक्–अभाव, प्रध्वंस–अभाव, अत्यन्त– अभाव, अन्योन्य–अभाव।

(अ) **प्रागभाव–** इनमें उत्पत्ति से पहले होने वाला अभाव अपने नाम के अनुसार ही प्राक् अर्थात् पहले होने वाला 'प्रागभाव' होता है। **जैसे**–घट के उत्पन्न होने से पहले होने वाला घट का अभाव ही 'प्रागभाव' है। यह अभाव वस्तु के उत्पन्न होने के साथ ही नष्ट हो जाता है। तर्कसंग्रहकार ने दीपिका टीका में इसकी तीन विशेषताओं का कथन किया है–

(i) यह अभाव किसी भी वस्तु के समवायिकरण में विद्यमान रहता है। **जैसे–** घड़े का अभाव अपने समवायिकरण मिट्टी के परमाणुओं में स्थित रहता है।

(ii) यह अभाव ही अपने कार्य को उत्पन्न करने वाला है।

(iii) इसके अलावा 'यह कार्य उत्पन्न होगा', इसप्रकार के व्यवहार का कारण ही कार्य है।

इस प्रसंग में एक बात विशेषरूप से उल्लेखनीय है कि न्याय वैशेषिक दोनों ही दर्शन **असत्कार्यवादी** दर्शन हैं। इस कारण ये उत्पत्ति से पहले कारण में कार्य का अभाव स्वीकार करते हैं। इन दर्शनों के अनुसार यह अभाव अनादिकाल से चला आ रहा है, किन्तु अपने कार्य की उत्पत्ति के साथ ही यह नष्ट हो जाता है।

(ब) **प्रध्वंसाभाव–** उत्पन्न हुई वस्तु का विनष्ट होना ही 'प्रध्वंस' कहलाता है। अतः उत्पन्न हुई वस्तु के विनाश के पश्चात् होने वाला अभाव ही 'प्रध्वंसाभाव' है। **जैसे–** घड़े के टूटने के बाद होने वाला उसका अभाव ही 'प्रध्वंसाभाव' कहलाएगा।

आचार्य अन्नंभट्ट ने इसे प्रारम्भ सहित, किन्तु 'अनन्त' कहा है अर्थात् इस अभाव का प्रारम्भ तो होता है, किन्तु होने के पश्चात् यह अनन्त होता है अर्थात् इस अभाव का अन्त नहीं होता, यह निरन्तर बना रहता है। इसके अतिरिक्त कार्य की उत्पत्ति के पश्चात् ही इस अभाव की स्थिति सम्भव है।

तर्कसंग्रहकार ने प्रागभाव के समान ही इसकी भी तीन स्थितियों का कथन किया है–

(i) इस अभाव की उत्पत्ति कार्य के विनाश से ही सम्भव है।

(ii) यह भी अपने कार्य के समवायिकरण में ही मिलता है।

(iii) 'यह विनष्ट हो गया' इत्यादि व्यवहार का हेतु भी यही प्रध्वंसाभाव होता है।

(स) **अत्यन्ताभाव–** जो अभाव पहले था, वर्तमान समय में भी है तथा भविष्य में भी रहेगा, वही अत्यन्ताभाव कहलाता है। **जैसे–** वन्ध्या स्त्री का पुत्र। स्त्री के बाँझ (संतान उत्पत्ति में असमर्थ) होने की स्थिति में उसके पुत्र का अभाव, भूत, वर्तमान और भविष्य तीनों कालों में रहेगा। यही अत्यन्ताभाव कहलाएगा। इसी का अन्य उदाहरण भूतल पर घट का अभाव (भूतले घटो नास्ति) भी दिया जा सकता है।

तर्कसंग्रहकार ने इसका लक्षण इसप्रकार दिया है– 'त्रैकालिक – संसर्गावच्छिन्नप्रतियोगिताकोऽत्यन्ताभावः' अर्थात् जिसका प्रतियोगी अर्थात् कार्य, तीनों कालों में से किसी भी काल में उत्पन्न ही नहीं होता है, अत्यन्ताभाव की श्रेणी में आएगा। यह अनादि और अनन्त होता है। इस प्रसंग में एक बात विशेषरूप से उल्लेखनीय है कि प्रागभाव, प्रध्वंसाभाव तथा अत्यन्ताभाव इन तीनों में कार्य की स्थिति अर्थात् संसर्ग का अभाव होने से तीनों ही 'संसर्गाभाव' भी कहलाते हैं।

(द) **अन्योन्याभाव–** एक वस्तु में दूसरी वस्तु का अभाव ही अन्योन्याभाव है। **जैसे–** घट में पट का अभाव अर्थात् घट, पट नहीं है। यह अभाव भी अनादि और अनन्त होता है। तर्कसंग्रहकार ने

इसका लक्षण इसप्रकार किया है–'तादात्म्यसम्बन्धावच्छिन्नप्रतियो-गिताकोऽन्योन्याभावः'' अर्थात् इसकी स्थिति प्रतियोगी अर्थात् कार्य के तादात्म्य सम्बन्ध पर अवस्थित है।

इसप्रकार उन्होंने अन्योन्याभाव को तादात्म्य सम्बन्ध का प्रति-योगी कहा है। अपने में अपना सम्बन्ध ही वस्तुतः तादात्म्य सम्बन्ध है। **जैसे–** पट का पट से सम्बन्ध, घट का घट से सम्बन्ध। अतः घट में पट का अथवा पट में घट का अभाव ही **अन्योन्याभाव** कहा जाएगा।

उक्त चार अभावों पर यदि दैनिक व्यवहार की दृष्टि से विचार करें तो हमें उक्त विभाजन अत्यन्त सार्थक प्रतीत होता है, क्योंकि प्रागभाव को न मानने की स्थिति में सभी वस्तुएँ अनादि हो जाएँगी, तथा प्रध्वंसाभाव को स्वीकार न करने पर संसार की सभी वस्तुएँ अनन्त होंगी।

इसीप्रकार अन्योन्याभाव को न मानने पर सभी सांसारिक वस्तुएँ एक समान होंगी तथा अत्यन्ताभाव को यदि न मानें तो संसार की सभी वस्तुओं का अस्तित्व भूत, भविष्य, वर्तमान सभी कालों में हो जाएगा।

(ख) चतुर्विध प्रमाण– यद्यपि वैशेषिक दर्शन आरम्भिकरूप में प्रत्यक्ष एवं अनुमान दो प्रमाणों को ही मान्यता प्रदान करता है तथापि आचार्य अन्नंभट्ट ने इस संदर्भ में न्यायपरम्परा का अनुकरण होते हुए प्रत्यक्ष, अनुमान, उपमान और शब्द, इन चार प्रमाणों को स्वीकार किया है, जिनका हम यहाँ संक्षेप में उल्लेख कर रहे हैं–

(अ) प्रत्यक्ष प्रमाण– तर्कसंग्रहकार के अनुसार– प्रत्यक्षज्ञान का कारण ही प्रत्यक्ष होता है (प्रत्यक्षज्ञानकरणं प्रत्यक्षम्) अर्थात् हमारी ज्ञानेन्द्रियों चक्षु, जिहवा, त्वक्, श्रोत्र एवं घ्राण तथा पदार्थ की निकटता के परिणामस्वरूप उत्पन्न होने वाला ज्ञान ही प्रत्यक्ष ज्ञान है। इसे प्रत्यक्ष प्रमाण द्वारा ही ग्रहण किया जा सकता है। **जैसे–** हमारी नेत्रेन्द्रिय के सम्पर्क में घट के आने पर ही हमें घट का ज्ञान होता है

उसके अभाव में नहीं, क्योंकि घट को नेत्र से देखने के बाद ही हम 'यह घट है' इसप्रकार का ज्ञान प्राप्त करते हैं, जबकि नेत्रेन्द्रिय से रहित व्यक्ति इसी ज्ञान को त्वगेन्द्रिय से छूकर भी प्रत्यक्ष करके 'यह घट है' इस रूप में प्राप्त कर लेता है। ये दोनों ही ज्ञान प्रत्यक्ष प्रमाण द्वारा प्रत्यक्ष ज्ञान के अन्तर्गत माने जाएँगे।

इस प्रसंग में यह बात विशेषरूप से ध्यातव्य है कि प्रत्यक्ष प्रमाण के अन्तर्गत इन्द्रिय और अर्थ अर्थात् पदार्थ का सन्निकर्ष यानि निकटता होना अत्यावश्यक है। इसके अभाव में प्रत्यक्ष ज्ञान का होना सम्भव नहीं है। यह दो प्रकार का माना गया है।

(क) निर्विकल्पक और (ख) सविकल्पक।

(क) **निर्विकल्पक–** नाम, जाति, गुण, क्रिया आदि के ज्ञान से रहित होने वाला ज्ञान ही 'निर्विकल्पज्ञान' की कोटि में आता है, जो 'यह कुछ है' केवल इस रूप में ही होता है अर्थात् यह ज्ञान की आरम्भिक अवस्था होने के कारण किसी भी पदार्थ को केवल 'वस्तु मात्र' के रूप में ही ग्रहण करता है।

जैसे– घड़े के नाम, जाति, गुण आदि से अपरिचित व्यक्ति जब उसे अपनी नेत्रेन्द्रिय द्वारा प्रथम बार देखता है तो वह केवल इतना ही कह पाता है कि 'यह कुछ है' (किंचिद् इदम्) अर्थात् यह निश्चय ही अस्पष्ट ज्ञान कहा जा सकता है, क्योंकि इस स्थिति में हमें वस्तु की जाति, गुण, क्रिया एवं नामादि का ज्ञान नहीं होता है। साथ ही, इस ज्ञान की विशेषता है कि यह निश्चयात्मक भी होता है, इसमें लेशमात्र भी सन्देह नहीं होता है।

(ख) **सविकल्पक–** विशेषणविशेष्य सम्बन्ध को ग्रहण करने वाला ज्ञान ही 'सविकल्पक ज्ञान' की श्रेणी में आता है, क्योंकि यह ज्ञान नाम, जाति, गुण, क्रिया आदि विशेषणों से युक्त होता है।

जैसे– 'यह श्यामवर्ण वाला 'डित्थ' नामक ब्राह्मण है।' यहाँ पिण्ड शरीर विशेष के बारे में हम उसके 'डित्थ' नाम से, ब्राह्मण जाति

से, श्यामवर्ण से पूर्णतया परिचित हैं। अतः यह सविकल्पक ज्ञान कहलाएगा। यह प्रत्यक्ष वस्तु के निश्चित एवं स्पष्ट स्वरूप को प्रदर्शित करता है। इसमें व्यक्ति को उस वस्तु के गुणादि का भी पूर्णरूप से ज्ञान रहता है। इसीलिए इसे **सविकल्पज्ञान** की संज्ञा दी गई है।

सामान्यरूप में ऐसी मान्यता है कि हमारी ज्ञानेन्द्रियाँ किसी भी पदार्थ के सम्पर्क में आने के प्रथम क्षण में उस वस्तु के सभी धर्मों नाम, जाति, गुण आदि का ज्ञान प्राप्त नहीं करती हैं, अपितु उस समय हमें केवल पदार्थमात्र का आभास होता है, जिसे हम 'यह कुछ है', इस रूप में प्राप्त करते हैं। यही निर्विकल्पक ज्ञान है। उसके पश्चात् ही अपनी स्मृति के आधार पर अथवा अन्य व्यक्ति के सहयोग से हमें अग्रिम क्षणों में उसके नाम, जाति, गुण आदि का पता चलता है। इसलिए इसे सविकल्पक ज्ञान की कोटि में रखा गया है।

इस दृष्टि से किसी भी वस्तु का आरम्भिक ज्ञान हमें निर्विक–ल्पक रूप में ही प्राप्त होता है। उसके बाद ही उसका सविकल्पक ज्ञान होता है। लगभग सभी दर्शनों ने प्रत्यक्ष की इस प्रक्रिया को स्वीकार किया है, आचार्य दिङ्नाग ने सर्वप्रथम प्रत्यक्ष में इन निर्विक–ल्पक एवं सविकल्पक भेदों का उल्लेख किया, जिसे बाद में न्याय वैशेषिक दर्शनों द्वारा स्वीकार कर लिया गया।

(ब) अनुमान–प्रमाण– दूर स्थित पर्वत में धुएँ को देखकर अग्नि का ज्ञान प्राप्त करना ही अनुमान प्रमाण से होने वाली 'अनुमिति प्रमा' का प्रसिद्ध उदाहरण है, जो प्रायः सभी दर्शनों ने उद्धृत किया है। आचार्य अन्नंभट्ट ने इसे 'अनुमिति' का करण कहते हुए परिभाषित किया है (अनुमितिकरणम् अनुमानम्) अनुमिति वस्तुतः एक यथार्थज्ञान है, जो हमारी इन्द्रियों से प्रत्यक्ष न होते हुए भी कुछ विशिष्ट कारणों से हमें प्रतीत होता है। यह पाँच वाक्यों के सुदृढ़ आधार पर आधारित है, जिन्हें प्रबल तर्करूप में प्रस्तुत किया जाता है।

यह **पंचवाक्य–** प्रतिज्ञा, हेतु, उदाहरण, उपनय और निगमन रहे हैं। अनुमान–प्रमाण इन्हीं पंचवाक्यों में पूर्ण होकर ज्ञान कराता है जो यथार्थ होता है। इस ज्ञान को **'अनुमिति'** संज्ञा प्रदान की गई है। इसे परामर्शजन्य माना गया है। (परामर्शजन्यं ज्ञानमनुमिति) यहाँ 'परामर्श' शब्द पारिभाषिक है, अतः विशिष्ट व्याख्या की अपेक्षा रखता है।

ग्रन्थकार के अनुसार– व्याप्ति से विशिष्ट ज्ञान को 'परामर्श' कहते हैं (व्याप्तिविशिष्टपक्षधर्मताज्ञानं परामर्शः) **जैसे–** 'अग्नि से व्याप्त हुआ यह पर्वत धुएँ वाला है', यह ज्ञान ही परामर्श है तथा उससे उत्पन्न होने वाला ज्ञान– 'यह पर्वत अग्नि वाला है', ही अनुमिति है। इस सम्पूर्ण प्रक्रिया को उदाहरण द्वारा इसप्रकार समझा जा सकता है।

देवदत्त अपने मित्र के साथ पर्वत की ओर भ्रमण करने के लिए जाता है, किन्तु दो तीन कि.मी. पूर्व ही पर्वत में धुँआ उठता हुआ देखकर अपने मित्र से कहता है– अरे! पर्वत में तो आग लग गई है (पर्वतोऽयं वह्निमान्–**प्रतिज्ञा वाक्य**), तब उसका मित्र कहता 'है कि आपने इतनी दूर से कैसे जान लिया कि 'यह पर्वत अग्नि वाला है? मुझे तो आग यहाँ से दिखायी नहीं दे रही है।

तब देवदत्त कहता है– तुम पर्वत में उठता हुआ धुआँ तो देख रहे हो? (धूमवान्–**हेतुवाक्य**) मित्र कहता है कि वह तो मुझे भी दिखायी दे रहा है। देवदत्त बोला– जहाँ–जहाँ धुआँ होता है, वहाँ–वहाँ अग्नि अवश्य होती है। **जैसे–** रसोईघर में (यत्र–तत्र–धूमः तत्र–तत्र वह्निः, यथा–महानसे **उदाहरणवाक्य**, अन्वय व्याप्ति)

इसके अतिरिक्त जहाँ–जहाँ अग्नि का अभाव होता है। वहाँ–वहाँ धुएँ का भी अभाव होता है। **जैसे–** जलाशय में **(व्यतिरेक व्याप्ति)** (यत्र अग्निः नास्ति तत्र धूमोऽपि नास्ति **उदाहरण वाक्य**) उदाहरण वाक्य सुनकर मित्र उसकी हाँ में हाँ मिलाते हुए कहता है सो तो है।

तब देवदत्त पुनः अपनी उसी बात को दोहराते हुए कहता है कि –क्योंकि यह पर्वत भी धुएँ से व्याप्त है **(उपनय वाक्य)** अतः यह पर्वत भी अग्नि वाला है **(निगमन वाक्य)**। इसप्रकार उसके मित्र को भी तर्क के आधार पर (पंचवाक्य द्वारा) पर्वत में अग्नि का अनुमान, प्रमाण ज्ञान द्वारा होता है।

इस दृष्टि से अनुमान के दो भेद किए गए हैं– **स्वार्थानुमान** तथा **परार्थानुमान**। स्वार्थानुमान में व्यक्ति दैनिक जीवन में रसोई घर आदि में स्वयं ही – 'यत्र–यत्र धूमः, तत्र–तत्र वह्निः', इस अन्वय–व्याप्ति को ग्रहण करके पर्वत के पास जाकर धुएँ को देखते हुए– 'जहाँ–जहाँ धुआँ होता है, वहाँ–वहाँ अग्नि होती है' इस व्याप्ति को स्मरण करता है तथा स्वयं ही इस पंचावयव वाक्य का प्रयोग करते हुए निश्चय पर पहुँचता है कि 'यह पर्वत अग्निवाला है' (पर्वतोऽयं वह्निमान्)।

यही **लिंगपरामर्श** भी कहलाता है, क्योंकि धूम अग्नि का लिंग (चिह्न) है, तथा अनुमान की प्रक्रिया में व्यक्ति उसका तीसरी बार पर्वत में दर्शन करता है, जिसके कारण उसे पर्वत में अग्नि होने की अनुमिति होती है। धूम का **प्रथम दर्शन,** उसने पर्वत में किया था, जब वहाँ धुआँ उठते हुए प्रथम बार देखा था। पुनः उसका **द्वितीय दर्शन,** उसे रसोईघर की स्मृति के साथ उठते हुए धुएँ का हुआ था, जहाँ उसने 'यत्र–यत्र धूमः, तत्र–तत्र वह्निः' के सिद्धान्त को अपने मन में दृढ़ रूप में स्थापित कर लिया था।

तत्पश्चात् रसोई की स्मृति के साथ पुनः पर्वत में धूम का दर्शन ही वस्तुतः **तृतीय दर्शन** है, जिसे देखकर वह निश्चयपूर्वक कह उठता है कि– पर्वतोऽयं अग्निमान्।

इसलिए दर्शनशास्त्रियों ने इसी **तृतीय लिंग दर्शन** को 'लिंग परामर्श' की संज्ञा प्रदान की है, क्योंकि व्याप्ति–विशिष्ट धूम के ज्ञान को ही 'परामर्श' कहते हैं और तृतीय परामर्श का नाम ही अनुमान है।

इसप्रकार परामर्श अर्थात् अनुमान से 'पर्वत में अग्नि है', इसप्रकार का अनुमिति ज्ञान हो जाता है तथा उक्त अनुमान ही स्वार्थानुमान है। यहाँ धूम अग्नि का लिंग है, क्योंकि इस चिह्न से ही अग्नि की पहचान होती है।

इसके अतिरिक्त यदि इसी पंचावयव प्रक्रिया का प्रयोग कोई व्यक्ति, किसी दूसरे व्यक्ति को अग्नि आदि का ज्ञान कराने के लिए करे तो वह **परार्थानुमान** कहलाएगा। इस दृष्टि से यद्यपि स्वार्थानुमान में ही परार्थानुमान भी निहित रहता है तथापि इन दोनों में अन्तर केवल इतना है कि स्वार्थानुमान में व्यक्ति अनुमान अपने ज्ञान के लिए करता है तथा परार्थानुमान में वही अनुमान वह दूसरे को समझाने के लिए करता है।

(अ) **अनुमान की पंचावयव प्रक्रिया–** अनुमान की इस पंचावयव प्रक्रिया को इसप्रकार भी प्रदर्शित कर सकते हैं–

(i) **प्रतिज्ञावाक्य–** पर्वतोऽयं वह्निमान् (यह पर्वत अग्नि वाला है)

(ii) **हेतुवाक्य–** धूमवत्त्वात् (धुएँ वाला होने से)

(iii) **उदाहरणवाक्य–**यत्र–यत्रः धूमः, तत्र–तत्र वह्निः यथा महानसे (जहाँ–जहाँ धुआँ होता है, वहाँ–वहाँ अग्नि होती है, **जैसे–** रसोईघर)।

(iv) **उपनय वाक्य–** तथा चायम् (यह भी वैसा है अर्थात् धुएँ वाला है)।

(iv) **निगमन–** तस्माद् अयं पर्वतो वह्निमान्, (इसलिए यह पर्वत भी अग्निवाला है)[1]

(ब) **पक्ष–सपक्ष और विपक्ष का स्वरूप–** इसी प्रसंग में पक्ष, सपक्ष और विपक्ष इन तीन शब्दों को समझ लेना भी उचित होगा, क्योंकि अनुमानप्रकरण के साथ–साथ त्रिविध लिंग एवं हेत्वाभास प्रकरण में भी इनकी उपयोगिता स्वयं सिद्ध है। तदनुसार–

---

[1]. द्रष्टव्य, परिशिष्ट चित्र, पृष्ठ–661।

(i) **पक्ष–** संदिग्ध साध्य वाला 'पक्ष' कहलाता है। (संदिग्ध–साध्यवान् पक्षः) **जैसे–** धूमवत्त्व हेतु में पर्वत, क्योंकि पर्वत में धुएँ को उठते हुए देखकर व्यक्ति को उसमें अग्नि होने का संदेह हुआ। अतः इस स्थिति में पर्वत यहाँ **'पक्ष'** संज्ञा वाला होगा।

(ii) **सपक्ष–** निश्चितरूप से साध्य वाला 'सपक्ष' होता है (निश्चितसाध्यवान् सपक्षः)। **जैसे–** रसोईघर, क्योंकि अग्नि और धूम के साहचर्य को सिद्ध करने के लिए 'अग्नि' साध्य होगा, जिसकी रसोईघर में स्थिति अनिवार्यतः देखने को मिलती है। अतः महानस अर्थात् रसोई घर इस उदाहरण में **सपक्ष** संज्ञा वाला कहलाएगा।

(iii) **विपक्ष–** साध्यरूप अग्नि के निश्चितरूप से अभाव वाला ही 'विपक्ष' होता है (निश्चितसाध्याऽभाववान् विपक्षः) **जैसे–** जलाशय (महाह्रदः)। उक्त उदाहरण के प्रसंग में जलाशय को अग्नि के अभाव के उदाहरणरूप में निश्चयपूर्वक प्रस्तुत किया जा सकता है, क्योंकि जलाशय में अग्नि का पूर्णतया अभाव होता है। अतः वह धूमाग्नि सिद्धि उदाहरण में **'विपक्ष'** कहलाएगा।

(स) त्रिविध कारण– किसी भी कार्य की उत्पत्ति अथवा निर्माण के लिए अन्नंभट्ट ने समवायी, असमवायी और निमित्त तीन कारणों की अनिवार्यता प्रतिपादित की है तथा उदाहरण सहित इनके स्वरूप को भी स्पष्ट किया है। प्रस्तुत स्थल पर हम उन्हें स्पष्ट करने का प्रयास कर रहे हैं–

(i) **समवायिकारण–** जिसमें समवेतरूप से कार्य की उत्पत्ति होती है, उसे समवायिकारण कहते हैं। यहाँ प्रयुक्त समवेत से अभिप्राय अत्यन्त घनिष्ठ सम्बन्ध से है, इसके कारण इसे कार्य से अलग नहीं किया जा सकता है। **जैसे–** वस्त्र के लिए उसके धागे समवायिकारण होंगे, क्योंकि वस्त्र की स्थिति ही इसके तन्तुओं में टिकी हुई है और समवाय सम्बन्ध के कारण स्थित तन्तुओं के नष्ट होने पर 'पट' रूप वस्त्र स्वतः ही नष्ट हो जाता है।

(ii) **असमवायिकारण–** एक ही पदार्थ में कार्य अथवा कारण के साथ समवेतरूप में स्थित कारण ही असमवायिकारण है, समवा–यिकारण के रहते हुए भी इस कारण के अभाव में कार्य की उत्पत्ति सम्भव नहीं होती है। **जैसे–** पट के ही उदाहरण में 'तन्तुओं का संयोग' असमवायिकारण कहा जाएगा, क्योंकि वह पट–कार्य और तन्तु समवायिकारण के बीच विद्यमान रहता है तथा समवायिकारण तन्तुओं के विद्यमान रहने पर भी इस कारण के अभाव में पट–कार्य की उत्पत्ति असम्भव है।

(iii) **निमित्तकारण–** जो कारण समवायी और असमवायी दोनों से भिन्न होते हुए भी कार्य की उत्पत्ति में अनिवार्य होता है, उसे निमित्तकारण कहते हैं। **जैसे–** पट की ही उत्पत्ति में तुरी–वेमादि ये उपकरण ही समवायिकारण तन्तुओं में असमवायिकारण 'तन्तुसंयोग' को निष्पादित करते हैं तथा जुलाहा (तन्तुवाय) इन उपकरणों को संचालित करने के कारण पट–कार्य का निमित्त कारण होगा।

इसप्रकार संक्षेप में कहा जा सकता है कि 'पट'रूप 'कार्य' के सम्बन्ध में **तन्तु–समवायिकारण** तथा तन्तुओं का परस्पर विधिपूर्वक संयोग **तन्तुसंयोग पट का असमवायिकारण** होगा तथा जो न समवायी है और न असमवायिकारण है, किन्तु कारण अवश्य है, ऐसे पट बनाने के यन्त्र **तुरी–वेमादि उपकरण** तथा तन्तुवाय वस्त्र बुनने वाला व्यक्ति जुलाहा आदि ये सभी निमित्तकारण होंगे।

(द) **त्रिविध लिंग–** तर्कसंग्रहकार ने अनुमान प्रमाण का उल्लेख करते हुए अनुमान के दोनों भेदों स्वार्थानुमिति और परार्था–नुमिति में 'लिंग–परामर्श' को असाधारण कारण कहा है तथा लिंग–परामर्श को अनुमान की संज्ञा प्रदान की है। इसी प्रसंग में उन्होंने तीन प्रकार के लिंग की व्याख्या भी की है। तदनुसार 'लिंग' तीन प्रकार का होता है–

(i) **अन्वयव्यतिरेकि–** अन्वय और व्यतिरेक दोनों व्याप्तियों से युक्त लिंग अन्वय–व्यतिरेकि लिंग कहलाता है। **जैसे–** अग्नि के साध्य होने पर धूमतत्त्व लिंग इसी कोटि में आएगा, क्योंकि यहाँ अन्वय–व्याप्ति और व्यतिरेक–व्याप्ति दोनों ही विद्यमान हैं।

जैसे– अन्वय–व्याप्ति, यत्र–यत्र धूमः तत्र–तत्र वह्निः, यथा महानसे अर्थात् जहाँ–जहाँ धुआँ होता है वहाँ–वहाँ अग्नि होती है, जैसे– रसोईघर में। **'तत्सत्त्वे तत्सत्त्वमन्वयः'** परिभाषा के अनुसार धूम के होने पर अग्नि का होना, अन्वय–व्याप्ति है। इसीप्रकार व्यतिरेक व्याप्ति जहाँ–जहाँ अग्नि नहीं होती, वहाँ–वहाँ धुआँ भी नहीं होता है। **जैसे–** महाह्रद (जलाशय) यह व्यतिरेक व्याप्ति होगी।

अतः अग्नि के साध्य होने पर धूमतत्त्व लिंग दोनों प्रकार की व्याप्तियों से युक्त होने के कारण **अन्वय–व्यतिरेकि हेतु** नामक प्रथम लिंग माना जाएगा।

(ii) **केवलान्वयि–**केवल अन्वयमात्र व्याप्ति वाला लिंग 'केवला–न्वयि' कहलाता है। **जैसे–** कोई व्यक्ति कहे कि घट अभिधेय है, क्योंकि वह पट के समान प्रमेय है (घटोऽभिधेयः प्रमेयत्वात्, पटवत्)। यहाँ प्रमेयत्व और अभिधेयत्व की व्यतिरेक–व्याप्ति न होने के कारण 'प्रमेयत्व' हेतु अर्थात् लिंग दूसरे प्रकार का अर्थात् **केवलान्वयि लिंग** होता है, क्योंकि इस संसार में सभी कुछ प्रमेय और अभिधेय होता है। अतः उनका अभाव अर्थात् व्यतिरेकरूप व्याप्ति बन ही नहीं सकती है।

(iii) **केवल–व्यतिरेकि–** जिस लिंग में केवल व्यतिरेक–व्याप्ति ही संभव होती है, अन्वय–व्याप्ति की संभावना लेशमात्र भी नहीं रहती है। वह केवल–व्यतिरेकि हेतु अर्थात् लिंग कहलाता है। **जैसे–** पृथिवी इतर पदार्थों से भिन्न है, क्योंकि वह गन्धवती है (पृथिवी इतरेभ्यः भिद्यते गन्धवत्वात्)।

प्रस्तुत उदाहरण में गन्धवती हेतु (लिंग) प्रस्तुत करते हुए पृथिवी को दूसरे पदार्थों से भिन्न सिद्ध किया गया है। यहाँ केवल

व्यतिरेक–व्याप्ति संभव है, जिसका कथन हम इसप्रकार करेंगे– 'जो इतर पदार्थों से भिन्न नहीं है, वह गन्धवती भी नहीं है।' **जैसे–** जल (यदितरेभ्यो न भिद्यते, न तद् गन्धवत्, यथा–जलम्)।

यहाँ पृथिवीमात्र के 'पक्ष' होने के कारण अन्वय–व्याप्ति सम्भव नहीं है। अतः यह केवलान्वयि हेतु की श्रेणी में आता है, क्योंकि जिस हेतु अर्थात् लिंग का अपने साध्य के साथ केवल 'व्यतिरेक' सम्बन्ध ही सम्भव हो पाता है, उसमें अन्वय–व्याप्ति का उदाहरण उपलब्ध नहीं होता है। वह लिंग (हेतु) केवलव्यतिरेक कहलाता है–

क्योंकि उपर्युक्त उदाहरण (यत्र–यत्र गन्धवत्वं तत्र–तत्र पृथिवीतरभेदः) में अन्वय–व्याप्ति का कथन ही सम्भव नहीं है, क्योंकि यहाँ गन्धवान् सभी पदार्थ पृथिवी तत्त्व में ही आ जाते हैं।

इसप्रकार हम संक्षेप में कह सकते हैं कि जिस लिंग की अपने साध्य के साथ अन्वय और व्यतिरेक दोनों व्याप्ति सम्भव होती हैं, वह अन्वय–व्यतिरेकि लिंग होता है तथा जिसकी अपने साध्य के साथ केवल अन्वय–व्याप्ति ही बन पाती है, वह हेतु लिंग केवलान्वयि लिंग की श्रेणी में आता है, जबकि केवल–व्यतिरेक व्याप्ति वाला लिंग केवल–व्यतिरेकि होता है।[1]

(य) **उपमान प्रमाण–** उपमिति का करण ही उपमान है (उपमितिकरणम्, उपमानम्) अर्थात् एक पदार्थ के धर्म को दूसरे में बताते हुए जब कोई प्रामाणिक व्यक्ति सादृश्य आदि के कारण अज्ञात वस्तु का ज्ञान कराता है तो वही **उपमिति** नामक ज्ञान कहलाता है। इसी को ग्रन्थकार ने 'संज्ञासंज्ञिसम्बन्धितज्ञान' कहा है। उपमान की इस सम्पूर्ण प्रक्रिया को उदाहरण द्वारा इसप्रकार समझ सकते हैं–

एक युवक किसी घने जंगल से गुजरते हुए प्रथम बार अन्य ग्राम में जाने की तैयारी कर रहा है, तभी उसकी माता उसे सचेत करते हुए कहती है कि बेटा! उस वन से निकलते हुए 'गवय' अर्थात्

---

[1]. परिशिष्ट–चित्र, पृष्ठ–661 ।

नील गाय से सावधान होकर जाना। उत्तर में युवक कहता है कि माँ! 'गवय' कैसा होता है? मैं तो जानता ही नही हूँ, तो फिर उससे सावधान कैसे होऊँगा?

तब उसकी माता उसे समझाते हुए कहती है कि तुमने गाय देखी है? बस 'गवय' भी गाय जैसा ही होता है (यथा गो तथा गवय इति)। माता के वचनों को हृदय में धारण करके, जब वह युवक जंगल में जाता है तो उसे गाय के समान ही एक पशु दिखायी देता है, जिसे देखकर माता के वचनों को स्मरण करके वह तत्काल निश्चय कर लेता है यह पशु ही 'गवय' (नील गाय) है। अतः वह उससे बचते हुए सावधानीपूर्वक निकल जाता है।

प्रस्तुत उदाहरण में 'पशु' संज्ञी तथा 'गवय' संज्ञा है। अतः संज्ञा–संज्ञी विषयक ज्ञान द्वारा उपमितिरूप ज्ञान की प्रतीति होती है। इसी का करण अर्थात् सहायक अनुमान है। सादृश्य विषयक ज्ञान ही यहाँ करण अर्थात् ज्ञान कराने में सहयोगी है। इस ज्ञान में कहने वाले व्यक्ति का प्रामाणिक होना अत्यावश्यक है, साथ ही यथोचित स्थान पर प्रामाणिक व्यक्ति द्वारा कहे गए वाक्यार्थ का स्मरण होना भी अनिवार्य है।

(र) शब्द प्रमाण– आप्त व्यक्तियों के वाक्य ही 'शब्द प्रमाण' की कोटि में आते हैं (आप्तवाक्यं शब्दः) आप्तपुरुष से अभिप्राय यहाँ यथार्थ अर्थात् हमेशा सत्य बोलने वाले व्यक्ति से ग्रहण करना चाहिए (आप्तस्तु यथाऽर्थवक्ता) अर्थात् जो पदार्थ जैसा हो, उसे वैसा ही बताने वाला व्यक्ति यथार्थवक्ता अथवा आप्त पुरुष कहलाएगा। वेद वाक्य भी शब्द प्रमाण के अन्तर्गत माने गए हैं अर्थात् उनके सम्बन्ध में किसी प्रकार का वाद–विवाद या तर्क करना उपयुक्त नहीं है।

हमेशा सत्य बोलने वाला समाज का कोई भी व्यक्ति आप्त पुरुष हो सकता है। उसके द्वारा कहे गए वाक्य भी शब्दप्रमाण की श्रेणी में माने जाएँगे। वाक्य दो प्रकार के होते हैं– वैदिक और

लौकिक। ईश्वरीय वाक्य होने के कारण सभी वैदिक वाक्य आप्त–प्रमाण की कोटि में आते हैं।[1]

(ग) वाक्यार्थ ज्ञान के हेतु (आकांक्षा, योग्यता और सन्निधि)– शब्द–प्रमाण की व्याख्या के प्रसंग में वाक्य की परिभाषा (वाक्यं पदसमूहः) देते हुए अन्नंभट्ट ने वाक्यार्थ ज्ञान के हेतु 'आकांक्षा, योग्यता और सन्निधि' का भी विस्तारपूर्वक उल्लेख किया है। तदनुसार–

(i) **आकांक्षा** से युक्त पदों का समूह ही वाक्य कहलाता है। अतः आकांक्षा से रहित वाक्य, प्रमाण नहीं होता है। आकांक्षा को परिभाषित करते हुए अन्नंभट्ट कहते हैं कि– 'एक पद का अन्य पद के अभाव में अन्वयबोध न करा पाना ही **आकांक्षा** है।' अतः पदों में परस्पर आकांक्षा के अभाव में पदों का समूह वाक्य नहीं कहलाएगा, जो आप्तपुरुष द्वारा उक्त होने पर भी प्रमाण की कोटि में नहीं आएगा। **जैसे–** गौ, अश्व, पुरुष, हस्ति, यह पदों का समूह होने पर भी परस्पर आकांक्षा के अभाव में वाक्य नहीं माने जाएँगे।

(ii) **योग्यता–** अर्थ के बाधारहित प्रतीत होने से है (अर्थाऽबाधो योग्यता) अर्थात् एक पद में दूसरे पद के साथ सम्बन्ध प्राप्त करने वाले अर्थ को प्रकट करने की क्षमता ही योग्यता कहलाती है। इसके अभाव में कोई भी पदों का समूह वाक्य नहीं कहा जाएगा। **जैसे–** वह्निना सिंचति (अग्नि से सींचता है)। यह पदों का समूह होते हुए भी वाक्य की कोटि में नहीं आएगा, वस्तुतः अग्नि में सिंचन की योग्यता का अभाव है, क्योंकि आग जला तो सकती है, किन्तु सींच नहीं सकती है।

(iii) **सन्निधि–** पदों के उच्चारण में समीपता को 'सन्निधि' कहते हैं। इसके अभाव में भी पदों का समूह वाक्यकोटि में नहीं आएगा। इसी का अन्य नाम 'आसत्ति' भी है। यह दो प्रकार की होती है– (क) काल विषयक (ख) स्थान विषयक।

---

[1]. परिशिष्ट चित्र, पृष्ठ–661 ।

(क) जब कोई वक्ता एक पद 'राम' का उच्चारण करने के पश्चात् चुप हो जाता है तथा कुछ समय के बाद 'जाता' है, इस पद का उच्चारण करता है, तो इन पदों के समूह में 'कालविषयक' सन्निधि के अभाव में इन्हें वाक्य नहीं कहा जाएगा।

(ख) इसीप्रकार यदि कोई वक्ता 'गाम' पद का उच्चारण करके किसी अन्य निरर्थक पद अथवा पदों को कहने के बाद 'आनय' पद का कथन करे, तो इस स्थिति में स्थानविषयक सन्निधि के अभाव में यह पदों का समूह, वाक्य की श्रेणी में नहीं माना जाएगा। इसलिए पदों के अविलम्ब, बिना किसी व्यवधान के निरन्तर उच्चारण को ही सन्निधियुक्त पदसमूह अर्थात् वाक्य कहा जाएगा।

अतः आकांक्षा, योग्यता एवं सान्निध्य में से किसी एक वाक्य हेतु के अभाव में भी पदों का समूह, वाक्य–कोटि में न आने से वेद–वाक्य अथवा आप्तपुरुष का वाक्य होने पर भी शब्दप्रमाण की श्रेणी में नहीं आएँगे।[1]

(घ) षड्विध सन्निकर्ष– इन्द्रिय और अर्थ का सन्निकर्ष, जिसे साक्षात्कार करने वाले ज्ञान का हेतु माना गया है, न्यायवैशेषिकदर्शन में छः प्रकार का होता है, जिनका हम यहाँ विस्तारपूर्वक विवेचन कर रहे हैं–

(i) **संयोग–** जिस समय चक्षु इन्द्रिय से घट सम्बन्धी ज्ञान उत्पन्न होता है, उस समय चक्षु नामक इन्द्रिय एवं घट नामक अर्थ का परस्पर 'संयोग' नामक सन्निकर्ष ही होता है।

(ii) **संयुक्तसमवाय–** इसीप्रकार जब चक्षु आदि इन्द्रिय द्वारा घट में स्थित रूपादि गुण को ग्रहण किया जाता है, जो श्याम अथवा रक्त वर्ण आदि के रूप में होता है। तब इन दोनों का 'संयुक्तसमवाय सन्निकर्ष' ही होता है, क्योंकि चक्षु से संयुक्त घट में उसका रूप समवाय सम्बन्ध से विद्यमान रहता है।

---

[1]. परिशिष्ट चित्र, पृष्ठ–661 ।

(iii) **संयुक्त समवेत समवाय–** इसके अतिरिक्त जब घटरूप में समवेतरूप से विद्यमान रूपत्व आदि सामान्य जाति आदि को ग्रहण करते हैं तो उसका प्रत्यक्ष 'संयुक्त समवेत समवाय सन्निकर्ष' द्वारा ही होगा, क्योंकि चक्षु के संयुक्त घट में रूप समवाय सम्बन्ध से विद्यमान रहता है तथा रूप में रूपत्व जाति भी समवाय अथवा समवेत रूप में स्थित है। इसलिए रूपत्व जाति का प्रत्यक्ष करने के लिए हमें उक्त 'संयुक्त समवेत समवाय' सन्निकर्ष को ही मानना होगा।

(iv) **समवाय–** इसीप्रकार 'श्रोत्र' नामक इन्द्रिय द्वारा शब्द को ग्रहण करने में 'समवाय' नामक सन्निकर्ष होता है, क्योंकि 'श्रोत्र' नामक इन्द्रिय और शब्द नामक अर्थ का सम्बन्ध **समवाय** ही होता है। वस्तुतः कान के छिद्र में स्थित आकाश ही श्रोत्र नामक इन्द्रिय है।

अतः श्रोत्र के आकाशरूप होने से तथा शब्द, आकाश का गुण होने के कारण गुण–गुणी का समवाय सम्बन्ध होता है। इसीलिए श्रोत्रेन्द्रिय के साथ आकाश के गुणरूप शब्द का गुणगुणिभाव मूलक समवाय सम्बन्ध होने के कारण श्रोत्रेन्द्रिय से शब्द का ग्रहण 'समवाय नामक सन्निकर्ष' द्वारा ही होता है।

(v) **समवेतसमवाय–** किन्तु जब हम शब्द में स्थित शब्दत्व जाति का प्रत्यक्ष करते हैं, तो उस समय 'समवेतसमवाय' सन्निकर्ष की स्थिति बनती है, क्योंकि शब्द में शब्दत्व जाति 'समवाय' सम्बन्ध से विद्यमान रहती है। अतः उसका ग्रहण करने के लिए उक्त 'समवेत समवाय सन्निकर्ष' को ही मानना होगा।

(vi) **विशेष्यविशेषण भाव–** जब हम भूतल पर घट के अभाव का प्रत्यक्ष करते हैं तो उसके लिए विशेष्यविशेषणभाव सम्बन्ध को स्वीकार करना होगा, क्योंकि तब चक्षु से संयुक्त भूतल का **घटाभाव विशेषण** होता है और **भूतल विशेष्य** होता है। इसप्रकार इन्द्रिय से सम्बद्ध भूतल, घट के अभावरूप विशेषण वाला होने से इस अभावरूप विशेषता वाला हो जाता है, क्योंकि उस समय घट का अभाव विशेष्य

होता है तथा भूतल विशेषण होता है। वस्तुतः घट के अभाव का प्रत्यक्ष हम उक्त पाँच सन्निकर्षों में से किसी के द्वारा भी नहीं कर सकते हैं। अतः किसी भी वस्तु के अभाव का प्रत्यक्ष करने के लिए न्यायवैशेषिक शास्त्र में इस 'विशेष्य–विशेषण–भाव सन्निकर्ष' को मान्यता प्रदान की गई है।

(ङ) **हेत्वाभास–** न्यायवैशेषिक दर्शन में अनुमानप्रमाण की व्याख्या के प्रसंग में पंच हेत्वाभासों की भी विस्तार से चर्चा की गई है, क्योंकि हेत्वाभास के अभाव में हेतु का पूर्ण ज्ञान सम्भव नहीं है। तर्क संग्रहकार अन्नंभट्ट ने इसकी अनुमान परिच्छेद के अन्तर्गत ही इस प्रकार व्याख्या की है–

'अनुमिति' नामक ज्ञान का मुख्य आधार 'हेतु' होता है। इसमें भी उसके सद् होने से शुद्धज्ञान की प्राप्ति होती है तथा असद् हेतु द्वारा होने वाला अनुमिति–ज्ञान अशुद्ध होता है,इसीलिए इन्हें हेत्वाभास की श्रेणी में रखा गया हैं, क्योंकि यह हेतु न होकर वस्तुतः हेतु के समान आभासित होता है, इसीलिए इसे हेत्वाभास कहा गया है।

व्यवहार की दृष्टि से इसके पाँच भेद माने गए हैं–

(a) **सव्यभिचार हेत्वाभास–** अनुमान की सत्यता के लिए आवश्यक है कि हेतु का साध्य के साथ ऐकान्तिक सम्बन्ध हो। इसीलिए इसके अभाव में वह हेतु न होकर हेत्वाभास की श्रेणी में आएगा, क्योंकि सव्यभिचार हेतु का साध्य के साथ व्याप्तिसम्बन्ध स्थापित नहीं हो पाता है। **यहाँ व्यभिचार से अभिप्राय नियम के उल्लंघन से है।** जब हेतु का सम्बन्ध साध्य से होने के साथ–साथ दूसरी वस्तुओं से भी रहता है, तो यह सव्यभिचार हेत्वाभास कहलाता है। यह तीन प्रकार का होता है– (क) साधारण, (ख) असाधारण तथा (ग) अनुपसंहारी।

(क) साधारण– सद्हेतु के अन्तर्गत पक्ष में सत्ता, सपक्ष में सत्ता एवं विपक्ष में व्यावृत्ति अर्थात् अभाव ये तीन रूप होते हैं, किन्तु

जब यह पक्ष, सपक्ष और विपक्ष तीनों में पाया जाता है, तो साधारण हेत्वाभास की कोटि में आता है, क्योंकि इसमें विपक्ष–व्यावृत्ति नहीं होती है।

जैसे– पर्वतोऽयं वह्निमान् प्रमेयत्वात् अर्थात् पर्वत अग्नि वाला है ज्ञान का विषय होने से। इस अनुमान वाक्य में प्रमेयत्व हेतु है जो **पक्ष**–पर्वत, **सपक्ष**–रसोईघर तथा **विपक्ष**–जलाशय तीनों में समानरूप से रहता है, क्योंकि जलाशय भी प्रमा अर्थात् ज्ञान का हेतु होता है।

(ख) **असाधारण–** जहाँ हेतु की स्थिति केवल पक्ष में ही विद्यमान रहती है, वहाँ असाधारण हेत्वाभास (सव्यभिचार) कहलाता है, क्योंकि इस हेतु की सत्ता सपक्ष में भी नहीं रहती है। **जैसे–** शब्दो नित्यः शब्दत्वात् अर्थात् शब्द नित्य है शब्दत्व युक्त होने से।

यहाँ वक्ता का उद्देश्य **पक्ष** शब्द में नित्यता को सिद्ध करना है तथा उसके लिए शब्दत्व **हेतुरूप** में प्रस्तुत किया गया है, किन्तु यहाँ यह **सपक्ष** आकाश में न होने के कारण व्यभिचारयुक्त है। अतः केवल पक्ष में रहने का कारण असाधारण हेत्वाभास हुआ।

(ग) **अनुपसंहारी–** जहाँ पक्ष से भिन्न सपक्ष और विपक्ष का उदाहरण ही उपलब्ध नहीं होता है, वहाँ यह हेत्वाभास होता है, क्योंकि इस हेतु द्वारा कोई निष्कर्ष (उपसंहार) नहीं निकाला जा सकता है। इसलिए इसे **अनुपसंहारी हेत्वाभास** की कोटि में रखा गया है।

जैसे– सर्वमनित्यम् प्रमेयत्वात्। यहाँ **पक्ष** सर्वम् सर्वव्यापक है, अतः **सपक्ष** और **विपक्ष** की सत्ता का प्रश्न ही नहीं उठता है। अतः यह सव्यभिचारी अनुपसंहारी हेत्वाभास कहलाएगा।

(b) **विरुद्ध हेत्वाभास–** जब हेतु साध्य को सिद्ध न करके साध्य के अभाव को ही सिद्ध करता है, तो वहाँ विरुद्ध हेत्वाभास माना गया है। अतः साध्य के अभाव से व्याप्त हेतु विरुद्ध हेत्वाभास की कोटि में आता है।

जैसे– 'शब्दो नित्यः कृतकत्वात्' अर्थात् शब्द नित्य है कार्य होने से। इस वाक्य में नित्यत्व साध्य है तथा कृतकत्व हेतुरूप में प्रयुक्त हुआ है, जबकि वास्तविक स्थिति यह है कि जो कार्य (कृतक) होता है, वह अनित्य होता है। अतः यहाँ प्रयुक्त कृतकत्व हेतु साध्य के अभाव से ही व्याप्त है तथा उसको विपरीत अर्थात् अनित्य सिद्ध कर रहा है। अतः विरुद्ध हेत्वाभास कहलाएगा।

(c) **सत्प्रतिपक्ष हेत्वाभास–** इसी को कुछ स्थलों पर **प्रकरणसम** भी कहा गया है, इसकी स्थिति वहाँ होती है, जहाँ पर साध्य के विपरीत अर्थ को सिद्ध करने वाला दूसरा हेतु विद्यमान हो अर्थात् एक हेतु के विरोधी दूसरे हेतु की उपस्थिति ही सत्प्रतिपक्ष है। इसके परिणाम स्वरूप पूर्व में प्रस्तुत हेतु द्वारा सिद्ध वाक्य का स्वतः ही खण्डन हो जाता है। **जैसे–**

शब्दो नित्यः श्रावणत्वात् शब्दवत्।
शब्दो अनित्यः कार्यत्वात् घटवत्।।

अर्थात् शब्द नित्य है, श्रवण का विषय होने से, शब्द के समान तथा शब्द अनित्य है कार्य होने से, घट के समान।

उपर्युक्त दोनों वाक्यों में पक्ष शब्द ही है तथा पहले वाक्य में नित्यता साध्य है, जबकि दूसरे में अनित्यता। इसके अतिरिक्त पहले वाक्य में हेतुरूप में श्रवणेन्द्रिय का विषय होना (श्रवेणन्द्रिय ग्राह्यता) दिया गया है तथा दूसरे में उसका कार्य होना। ये दोनों एक दूसरे के प्रतिपक्षी हैं, क्योंकि एक नित्यता को सिद्ध कर रहा है तथा दूसरा उसकी अनित्यता को। इसलिए पहले और दूसरे दोनों ही वाक्यों में दिए गए हेतु सत्प्रतिपक्ष हेत्वाभास की कोटि में परिगणित होंगे।

(d) **असिद्ध हेत्वाभास–** जो हेतु अनुमान के साधनरूप में ही निश्चित न हो, असिद्ध हेत्वाभास की श्रेणी में आता है। तर्कसंग्रहकार ने इसके तीन भेद किए हैं–

(i) **आश्रय–असिद्ध हेत्वाभास–** जिस हेतु का आश्रय ही प्रमाण द्वारा सिद्ध न हो सके, आश्रय–असिद्ध हेत्वाभास कहलाता है। **जैसे–** 'गगनारविन्दं सुरभिः, अरविन्दत्वात्' अर्थात् आकाशकमल सुरभियुक्त है, कमल होने से। यहाँ गगन–कमल में सुरभि सिद्ध करना साध्य है, जो वस्तुतः होता ही नहीं है। अतः इस हेतु अरविन्दत्वात् का आश्रय ही असिद्ध है, इसलिए आश्रय असिद्ध हेत्वाभास हुआ।

(ii) **स्वरूप–असिद्ध हेत्वाभास–** जो हेतु अपने स्वरूप से अपने पक्ष में स्थित ही नहीं रह सकता है, वह स्वरूप–असिद्ध हेत्वाभास कहलाएगा। **जैसे–** 'शब्दो गुणः चाक्षुषत्वात्' अर्थात् शब्द गुण है, दिखायी पड़ने के कारण। इस वाक्य में शब्द पक्ष है तथा गुण साध्य है, जिसके लिए चाक्षुषत्व को हेतुरूप में प्रस्तुत किया गया है, जबकि शब्द को हम नेत्र द्वारा नहीं देख सकते हैं। अतः उसमें चाक्षुषत्व होता ही नहीं है, क्योंकि उसका तो हम श्रोत्र द्वारा प्रत्यक्ष करते हैं। अतः यह हेतु स्वरूप से ही असिद्ध होने से हेत्वाभास की कोटि में आएगा।

(iii) **व्याप्यत्व–असिद्ध हेत्वाभास–** वह हेतु जिसका साध्य के साथ व्याप्ति का कोई प्रमाण नहीं होता या फिर जिसका साध्य के साथ सम्बन्ध किसी उपाधि (कारण) पर निर्भर करता है। साध्य के साथ व्याप्त न होने के कारण ही इसे 'व्याप्यत्व असिद्ध हेत्वाभास' कहा गया है।

जैसे– पर्वतो धूमवान् वह्निमत्त्वात् अर्थात् यह पर्वत धुएँ वाला है अग्नि वाला होने के कारण। इस अनुमान वाक्य में पर्वत **पक्ष** है, धूम **साध्य** है तथा अग्नि को **हेतुरूप** में प्रस्तुत किया गया है, किन्तु यहाँ साध्य धूम एवं हेतु के व्याप्ति सम्बन्ध को निर्बाध नहीं कहा जा सकता है, क्योंकि तपे हुए लोहे के पिण्ड में आग तो रहती है, किन्तु धुआँ नहीं रहता है।

जबकि इस व्याप्ति–सम्बन्ध में गीला ईंधन संयोगरूप उपाधि के आने पर यह वाक्य इसप्रकार बन सकता है– 'यत्र–यत्र आर्द्रेधन

संयोगः अग्निः, तत्र तत्र धूमः, यथा–महानसे' यहाँ गीले ईंधन का संयोग उपाधि माना जाएगा। अतः हेतु वह्निमत्व की व्याप्ति असिद्ध होने के कारण व्याप्यत्व–असिद्ध–हेत्वाभास कहलाएगा, क्योंकि उपाधिग्रस्त सम्बन्ध न तो नियत कहा जा सकता है और न हीं अव्यभिचारयुक्त ही होता है।

(e) **बाधित हेत्वाभास–** न्याय ग्रन्थों में इसे **कालात्ययापदिष्ट** नाम भी दिया गया है। यहाँ बाधित से अभिप्राय है–निषिद्ध अर्थात् जिसका साध्य ही अन्य किसी प्रमाण द्वारा रोक दिया गया हो, बाधित हेत्वाभास की कोटि में परिगणित होगा अथवा इसे इसप्रकार भी कह सकते हैं कि जिस हेतु के साध्य का अन्य किसी प्रबल प्रमाण से बाध (निषेध) कर दिया जाए, वही बाधित हेत्वाभास होता है।

जैसे– वह्निः अनुष्णो द्रव्यत्वात् अर्थात् अग्नि शीतल होती है, द्रव्यत्व युक्त होने के कारण।

यहाँ अग्नि में शीतलता सिद्ध करने के लिए उसका द्रव्य में परिगणित होना हेतुरूप में प्रस्तुत किया गया है। अतः अग्नि में अनुष्णत्व (उष्णता का अभाव) साध्य हुआ, किन्तु स्पर्शरूप प्रत्यक्ष प्रमाण द्वारा उसका बाध हो जाता है, क्योंकि छूने पर हमें अग्नि शीतल न होकर उष्ण प्रतीत होती है।

इसलिए यहाँ अग्नि की अनुष्णता सिद्ध करने के लिए जो द्रव्यत्व हेतु दिया गया है, वह स्पर्श से सम्बन्धित प्रत्यक्ष द्वारा ही बाधित हो जाता है। अतः उपर्युक्त परिभाषा के अनुसार यह बाधित हेत्वाभास की कोटि में आएगा।

(च) **आत्मा–** आचार्य अन्नंभट्ट ने तर्कसंग्रह में आत्मा को ज्ञान का अधिकरण बताते हुए इसके जीवात्मा और परमात्मा दो भेदों का उल्लेख किया है। इनमें भी **परमात्मा** को सर्वज्ञ एवं एक माना है, जबकि **जीवात्मा** विभु, नित्य एवं प्रत्येक सांसारिक प्राणी में अलग–अलग होता है।

परमात्मा और जीवात्मा के विषय में न्यायवैशेषिक दर्शन में पर्याप्त चिन्तन किया गया है। तदनुसार– 'यहाँ परमात्मा को स्रष्टा, तो जीवात्मा को इसके हाथ का खिलौना कहा गया है। इनमें एक सुख–दुःख से रहित है, तो दूसरा सुख एवं दुःख दोनों को ही अनुभव करता है। ज्ञान की स्थिति भी यहाँ परमात्मा में नित्य और जीवात्मा में अनित्यरूप से मानी गई है। इसीलिए यहाँ आत्मा को ज्ञान का अधिकरण बताया है, ज्ञान स्वरूप नहीं'।

इस प्रसंग में एक बात विशेषरूप से उल्लेखनीय है कि वैशेषिकदर्शन की आरम्भिक स्थिति में कणाद का आत्मा से अभिप्राय केवल जीवात्मा से ही था, क्योंकि वहाँ परमात्मा को मान्यता प्रदान नहीं की गई थी, जबकि बाद में टीकाकारों ने आत्मा के साथ परमात्मा का अलग से उल्लेख किया। महर्षि कणाद अथवा गौतम ने कहीं भी 'परमात्मा' का शब्दशः कथन नहीं किया है। यही कारण है कि मूल रूप से न्याय एवं वैशेषिक दोनों ही दर्शनों को 'नास्तिक' संज्ञा प्रदान की गई।

इसके अतिरिक्त आचार्य प्रशस्तपाद ने भी 'परमात्मा' के नाम का उल्लेख नहीं किया, जबकि उनके टीकाकार आचार्य श्रीधर ने न्यायकंदली टीका में जीवात्मा और परमात्मा का भिन्नरूप से कथन करते हुए जीवात्मा के चौदह और परमात्मा के छः गुणों का उल्लेख किया है। यहाँ प्रायः आत्मा से अभिप्राय जीवात्मा से ही रहा है, जो प्रत्येक शरीर में अलग–अलग विद्यमान है।

महर्षि कणाद ने आत्मा की अनेकता में 'व्यवस्था' को महत्त्वपूर्ण कारण माना है। तदनुसार– 'आत्मा एक नहीं अनेक है, क्योंकि एक शरीर में एक ही आत्मा रहता है। यद्यपि बचपन, जवानी और बुढ़ापा इत्यादि अवस्थाओं के कारण शरीर भिन्न–भिन्न सा प्रतीत होता है तथापि इसमें एक ही आत्मा की स्थिति विद्यमान है। ये अवस्था भेद वस्तुतः बाह्य शरीर के ही हैं।'

आत्मा शरीर और इन्द्रिय दोनों से सर्वथा भिन्न नित्य द्रव्य है, क्योंकि यह चैतन्य का आधार एवं गुणों का आश्रय है (गुणाश्रयो द्रव्यम्)। इसमें बुद्धि, सुख, दुःख, इच्छा, द्वेष, प्रयत्न, धर्म, अधर्म, संस्कार, संख्या, परिमाण, पृथकत्व, संयोग और विभाग इत्यादि चौदह गुणों की स्थिति मानी गयी है। इनमें से प्रथम आठ गुण अन्य द्रव्य पदार्थों में प्राप्त न होने के कारण, इसके विशेष गुण कहे गए हैं। अमूर्त होने के कारण आत्मा भी अनुमेय है।

परमात्मा को ही यहाँ 'ईश्वर' संज्ञा भी प्रदान की गई है। इसे सम्पूर्ण संसार का नियन्ता एवं प्राणियों द्वारा किए गए कर्मों के फलों को प्रदान करने वाला बताया है। परमात्मा ही वस्तुतः नित्य ज्ञान का आधार है। इसके विपरीत जीवात्मा में अनित्य ज्ञान की स्थिति मानी गई है। अणिमा आदि आठ ऐश्वर्य परमात्मा में ही रहते हैं, आत्मा में नहीं। परमात्मा की नित्य, मुक्त सत्ता है, जबकि आत्मा बद्ध और मुक्त दोनों होते हैं।

यहाँ ईश्वर को अनुमान का विषय कहा गया है, क्योंकि हम उसका प्रत्यक्ष नहीं कर सकते है। जिसप्रकार घटरूप कार्य को देख कर हम कुम्हाररूप कर्ता का अनुमान कर लेते हैं। ठीक उसीप्रकार सम्पूर्ण विश्वरूप कार्य को देखकर इसके कर्ता परमात्मा या ईश्वर का हम अनुमान कर लेते हैं, क्योंकि प्रत्येक कार्य का कोई कारण (कर्ता) अवश्य होता है और वह कर्ता कोई चेतन ही हो सकता है, अचेतन नहीं। इसलिए विश्वरूप कार्य का चेतन परमात्मा ही कर्ता है। उदयनाचार्य ने अपनी न्यायकुसुमांजलि में ईश्वर की सिद्धि हेतु अनेक तर्क प्रस्तुत किए हैं।[1]

(छ) **परमाणुवाद का सिद्धान्त–** पृथिवी, जल, तेज, और वायु इन चार द्रव्य पदार्थों के नित्य परमाणु वैशेषिकदर्शन के महत्त्वपूर्ण परमाणुवाद के सिद्धान्त की स्थापना करते हैं, क्योंकि यह दर्शन सृष्टि

---

[1]. न्याय कुसुमांजलि, स्तबक–5, कारिका–1।

की उत्पत्ति में इन चार द्रव्यों के परमाणुओं की महत्त्वपूर्ण भूमिका को स्वीकार करता है, जो मूलतः निरवयव और निष्क्रिय हैं।

ग्रन्थकार ने दीपिका टीका में प्रत्येक दृश्य पदार्थ को अवयवी मानते हुए उनमें लम्बाई, चौड़ाई और मोटाई तीन आयामों को मान्यता प्रदान की। उनके अनुसार, यदि अवयवों को निरन्तर विच्छेदित किया जाए तो एक स्थित में हम उसके टुकड़े करने में अपने को पूर्णतया असमर्थ पाएँगे।[1] यही स्थिति वस्तुतः न्यायवैशेषिक दर्शन में परमाणु की भी है तथा इस सम्बन्ध में स्थापित सिद्धान्त परमाणुवाद की श्रेणी में आता है, क्योंकि यहाँ यही परमाणु इस दर्शन के 'परमाणुवाद सिद्धान्त' का आधार रहा है।

वैशेषिक दर्शन की मान्यता है कि 'दो परमाणुओं के मिलने पर एक **द्व्यणुक** निर्मित होता है तथा तीन द्व्यणुओं के संयोग से एक **त्र्यणुक** अस्तित्व में आता है, इसी को **त्रसरेणु** भी कहते हैं। इसीप्रकार इस सृष्टि का निर्माण होता है। पृथिवी, जल, तेज और वायु का निर्माण चतुरणुक के परस्पर मिलने के परिणाम स्वरूप हुआ है, क्योंकि चार त्र्यणुकों के जुड़ने पर **चतुरणुक** का निर्माण होता है।'

इस प्रसंग में एक शंका अत्यन्त स्वाभाविक है कि जब वैशेषिक दर्शन दृष्टि में परमाणु निरवयव और निष्क्रिय हैं, तो फिर इनमें संयोग कैसे सम्भव होता है? इसके समाधान हेतु यहाँ **'अदृष्ट'** नामक तत्त्व की परिकल्पना की गयी है, जिसे अन्य नाम 'ईश्वर' भी दिया गया। दीपिकाकार का मत इस सम्बन्ध में विशेषरूप से उल्लेखनीय है, जहाँ उन्होंने ईश्वर की इच्छा को ही स्पष्टरूप से परमाणुओं में क्रिया का महत्त्वपूर्ण हेतु स्वीकार किया है–

ईश्वरस्य चिकीर्षावशात् परमाणुषु क्रिया जायते।

यद्यपि आज विज्ञान ने परमाणु के भी खण्ड करने में सफलता प्राप्त कर ली है, जिसे हम न्यूट्रॉन, इलेक्ट्रॉन, प्रोटोन कहते हैं, किन्तु

---

[1] . परं वा त्रुटेः ,गौतम ।

इस विषय में एक तथ्य विचारणीय है कि परमाणु की परिभाषा के अनुसार वह अखण्डित है तो फिर हम इस अखण्डनीय इलैक्ट्रॉनादि को ही क्यों न परमाणु मान लें, क्योंकि महर्षि गौतमादि अनेक आचार्यों ने किसी सूक्ष्मतम तत्त्व विशेष को परमाणु संज्ञा प्रदान नहीं की, अपितु टूटने की अंतिम अवस्था को परमाणु कहा है।

इस दृष्टि से यदि अब कभी इलेक्ट्रॉन आदि के भी टुकड़े हो सकेंगे, तो वे अंतिम खण्ड ही परमाणु संज्ञा से अभिहित होंगे। 'परमाणु' शब्द स्वयं में इसी तथ्य को संजोए हुए है। वस्तुतः यह सब प्राचीन स्थितियों के परिप्रेक्ष्य में देखने की आवश्यकता है। जहाँ वस्तु की सूक्ष्मता को समझाने के लिए कहा गया है कि– 'वातायन से आने वाले धूम में दिखाई देने वाले सूक्ष्मतम कण त्रसरेणु होते हैं तथा उसका भी छठा भाग परमाणु होता है, [1] आवश्यकता यहाँ अभिप्राय को ग्रहण करने की है, छीछालेदर की नहीं।

यदि हम इस सिद्धान्त के ऐतिहासिक पक्ष पर विचार करें तो इसके बीज हमें उपनिषदों में प्राप्त होते हैं। यद्यपि कुछ विद्वान् वैशेषिकदर्शन के परमाणुवाद को ग्रीक परमाणुवाद से प्रभावित मानते हैं।[2] उनके मत में 'वैशेषिक का परमाणुवाद ग्रीक परमाणुवाद का ही अनुकरण और अनुसरण है।'

किन्तु डॉ. ऊई एवं प्रो. वाशम आदि विद्वानों ने इस मान्यता का प्रबलरूप से खण्डन किया है। उनका मानना है कि **ककुद कात्यायन** नामक विद्वान् जो वस्तुतः भगवान् बुद्ध के समकालीन हैं, ने भी परमाणुवाद के संकेत दिए हैं। अतः वैशेषिक परमाणुवाद को ग्रीक परमाणुवाद से प्रभावित कहा जाना उचित नहीं है, क्योंकि इस दृष्टि से

---

[1]. जालसूर्यमरीचिस्थं यत्सूक्ष्मं दृश्यते रजः।
तस्य षष्ठतमो भागः परमाणु स उच्यते।।

[2]. इण्डियन लॉजिक एण्ड एटमिज्म, डॉ.ए.बी. कीथ,पृष्ठ– 17–18।

ग्रीक विद्वान् डिमोक्रिट्स का ककुद कात्यायन से परवर्ती होना सिद्ध होता है।

हाँ, इस विषय में कोई सन्देह नहीं है कि वैशेषिक परमाणुवाद अनेक दृष्टियों से ग्रीक परमाणुवाद से साम्य रखता है, क्योंकि आधुनिक युग में प्रसिद्ध **डाल्टन का परमाणुवाद** कणाद के परमाणुवाद के सिद्धान्त से पर्याप्त मेल खाता है तथापि ग्रीक दार्शनिकों का परमाणुवाद भारतीय परमाणुवाद से कुछ भिन्नता भी रखता है। **जैसे–**

(i) डेमोक्रिट्स और ल्यूकिप्पस इत्यादि ग्रीक दार्शनिक परमाणुओं को गुणरहित मानते हैं, जबकि महर्षि कणाद परमाणुओं को गुणयुक्त स्वीकार करते हैं।

(ii) ऐपीक्यूरस नामक ग्रीक विद्वान् सूक्ष्म परमाणु को 'एटम' संज्ञा प्रदान करते हुए इसे क्रियाशील मानते हैं, जबकि कणाद परमाणु को निष्क्रिय मानते हुए उनमें क्रियाशीलता का कारण जीवों के धर्म–अधर्म अर्थात् 'अदृष्ट' को स्वीकार करते हैं।

(iii) डेमोक्रिट्स और ल्यूकिप्पस ये दोनों ही विद्वान् मन एवं आत्मा की निर्मिति में परमाणुओं को कारण मानते हैं, जबकि कणाद की मान्यता है कि आत्मा परमाणुओं से सर्वथा पृथक् है।

(iv) महर्षि कणाद ने आत्मा को चेतन और अभौतिक तत्त्व माना, क्योंकि इसकी चेतनता ही इसे अचेतन एवं भौतिक परमाणु से भिन्न करती है। अतः अचेतन और भौतिक परमाणुओं द्वारा चेतन और अभौतिक आत्मा का निर्माण असम्भव है।

(v) इस दृष्टि से ग्रीक मान्यता भौतिकवाद की पोषक है, जबकि भारतीय वैशेषिक मान्यता को आध्यात्मवाद पर आधारित कहा जा सकता है। इस प्रसंग में यह भी उल्लेखनीय है कि नव्य नैयायिक ईश्वर को परमाणुओं में क्रिया को उत्पन्न करने वाला स्वीकार करते हैं।

इसके अतिरिक्त भारतीय दर्शनों के अन्तर्गत जैनदर्शन में भी परमाणुवाद का उल्लेख हुआ है। तदनुसार अच्छेद्य, आग्रह्य, अभेद्य, अदाह्य तथा अविभाज्य निरवयवी **पुदगल** नामक तत्त्व ही वस्तुतः परमाणु है। यही **'स्कन्ध'** नामक तत्त्व की एक इकाई कहा जा सकता है, क्योंकि दो परमाणुओं से एक द्व्यणुक, तीन से एक त्र्यणुक, चार से चतुरणुक, पाँच से पंचाणु तथा छः से षष्ठक स्कन्धों की सृष्टि होती है। उसके बाद ही **महास्कन्ध** अस्तित्व में आता है। इस दृष्टि से यहाँ भी परमाणु को ही सृष्टि का आरंभिक तत्त्व माना गया है तथा विवेचन में भी पर्याप्त साम्य परिलक्षित होता है।

(ज) सृष्टिप्रलय निरूपण– यद्यपि प्रशस्तपादभाष्य में वैशेषिक दर्शन सम्मत सृष्टि–प्रक्रिया का सर्वप्रथम विस्तारपूर्वक प्रतिपादन किया गया है तथापि यहाँ हम अन्नंभट्ट द्वारा दीपिका टीका में वर्णित सृष्टि एवं प्रलय सिद्धान्त का निरूपण कर रहे हैं। तदनुसार–

'इस सृष्टि का निर्माण पृथ्वी, जल, तेज और वायु इन चार द्रव्य पदार्थों के परमाणुओं द्वारा हुआ है। यद्यपि इन द्रव्यों के सभी परमाणु मूलरूप से निष्क्रिय हैं तथा अपनी स्वाभाविक अवस्था में शान्त एवं निःस्पन्दरूप से रहते हैं तथापि अदृष्ट अथवा ईश्वर की इच्छा[1] के कारण इन परमाणुओं में क्रिया उत्पन्न होती है। उसके बाद ही दो परमाणुओं के एक साथ मिलने पर 'द्व्यणु' की सृष्टि होती है तथा तीन द्व्यणुकों के मिलने पर त्रसरेणु या त्र्यणुक बनता है, जबकि चार त्रसरेणु के संयुक्त होने पर चतुरणु उत्पन्न होता है तथा इन्हीं से पृथ्वी, जल, तेज एवं आकाश भूतों की निर्मिति होती है। प्रत्येक द्रव्य पदार्थ की सृष्टि में इसी क्रम का अनुसरण किया गया है।'

इस प्रसंग में यह बात विशेषरूप से उल्लेखनीय है कि वैशेषिकदर्शन पृथिवी, जल, तेज, और वायु के नित्य और अनित्य दो स्वरूप मानकर इनके परमाणुरूप को नित्य और कार्यरूप को अनित्य

---

[1] . नव्य नैयायिकों के अनुसार।

मानता है। इसलिए पृथिवी, जल, तेज, और वायु के नित्य स्वरूप परमाणुओं द्वारा ही सृष्टि के निर्माण का कथन किया गया है, जबकि इन सबके अतिरिक्त आकाश, दिक्, काल, आत्मा और मन इत्यादि पाँच नित्य द्रव्य पदार्थों की सृष्टि अथवा विनाश को स्वीकार नहीं करता है। इस दृष्टि से यहाँ सृष्टिक्रम में नित्य–अनित्य उभयरूप द्रव्य पदार्थों की ही चर्चा की गई है, केवल नित्य पदार्थों की नहीं।

वैशेषिकदर्शन की मान्यता है कि जहाँ हम परमाणु का चाक्षुष प्रत्यक्ष नहीं कर पाते हैं, अणुपरिमाण विशिष्ट परमाणुओं के संयोग से उत्पन्न द्व्यणुक भी अणु परिमाण वाला ही होता है, किन्तु कार्य होने से वह अनित्य है। तीन द्व्यणुओं के संयोग से उत्पन्न त्रसरेणु एवं इससे आगे उत्पन्न होने वाले सभी कार्य द्रव्य महत्परिमाण वाला होने से उनका चाक्षुष प्रत्यक्ष सम्भव है। अतः इस सृष्टि से परमाणु और द्व्यणु को यहाँ अतीन्द्रिय माना गया है।

न्याय के समान वैशेषिकदर्शन भी परमाणु को सृष्टि का उपादान कारण, उनके परस्पर संयोग को असमवायिकारण तथा ईश्वरेच्छा एवं जीवों के अदृष्ट को निमित्त कारण मानता है।

जैसा कि हम पूर्व में निर्देश कर चुके हैं कि प्राचीन वैशेषिक दर्शन स्वभावतः शान्त अवस्था में निःस्पन्द परमाणु में स्पन्द, गति या क्रिया का कारण प्राणियों के धर्माधर्म रूप **अदृष्ट** को मानते हैं। अदृष्ट को स्पष्ट करते हुए स्वयं वैशेषिकसूत्रकार कहते हैं कि–

'अयस्कान्तमणि (चुम्बक) की ओर सुई की स्वाभाविक गति, वृक्षों के भीतर रस का नीचे से ऊपर चढ़ना,[1] अग्नि की लपटों का ऊपर उठना, वायु की तिरछी गति, मन और परमाणुओं की प्रथम गति अर्थात् स्पन्दनक्रिया इसी अदृष्ट के कारण होती है।'

---

[1] (क) मणिगमनसूचयभिसर्पणमित्यदृष्टकारणम्। वैशेषिक सूत्र– 5/1/15।
(ख) वृक्षाभिसर्पणमित्यदृष्टकारितम्। वैशेषिकसूत्र– 5/2/7।

किन्तु अर्वाचीन आचार्यों ने परमाणु–स्पन्दन एवं उससे होने वाली सृष्टि–प्रक्रिया में ईश्वर की इच्छा को परम महत्त्व प्रदान करते हुए, अदृष्ट की इसमें मात्र सहकारिता को स्वीकार किया है।[1] इनका मानना है कि जब प्राणियों के कर्म, फलोन्मुख होते हैं, तो अदृष्ट अपना कार्य करना प्रारम्भ कर देता है, तब महेश्वर की सृष्टि करने की इच्छा द्वारा आत्मा और परमाणुओं का संयोग होता है तथा इसी के कारण परमाणुओं में कर्म (गति, स्पन्दन, क्रिया) की उत्पत्ति होती है, जिससे सृष्टि का आविर्भाव होता है।

जहाँ तक सृष्टि के प्रलय का प्रश्न है। इस विषय में हमें यहाँ दो मत देखने को मिलते हैं। इनमें प्राचीन मान्यता के अनुसार उत्पन्न हुए द्व्यणु, त्रसरेणु और चतुरणुक इत्यादि कार्य–द्रव्यों के विनाश की अदृष्टीय भावना से परमाणुओं में गति उत्पन्न होती है, जिससे सर्व–प्रथम द्व्यणुक विनष्ट होता है। तत्पश्चात् द्व्यणुकों में क्रिया से त्र्यणुक नष्ट होता है। अतः विनाश की प्रक्रिया की इस निरन्तरता से अपने कारण के नाश से सभी कार्य द्रव्यों के नाश के सिद्धान्त के आधार पर सम्पूर्ण दृश्यमान संसार का विनाश हो जाता है, जिसे **'प्रलय'** कहा जाता है, किन्तु प्रलय की इस अवस्था में भी परमाणु अपने निष्क्रिय रूप में विद्यमान रहते हैं।

अर्वाचीन मत के अनुसार– सृष्टि का संहार करने की महेश्वर की इच्छा उत्पन्न होने पर अदृष्ट की शक्ति अवरुद्ध हो जाती है, जिसके परिणामस्वरूप 'प्रलय' होती है। इस क्रम में दीपिकाकार ने प्राचीन नैयायिक मान्यता का अनुकरण करते हुए दो परमाणुओं के संयोग के नाश से द्व्यणुक के नाश की बात का तथा समवायिकारण के नाश से त्र्यणुक के विनाश का प्रतिपादन किया है, जबकि नव्य

1. प्रशस्तपादभाष्य, पृष्ठ– 20, न्यायकन्दली, पृष्ठ, 52–93।

नैयायिक सभी जगह असमवायिकारण के नाश से कार्यद्रव्य के नाश को मानते हैं।[1]

दूसरे शब्दों में, प्राचीन नैयायिक यद्यपि कार्य का नाश कारण के नाश होने पर मानते हुए भी द्व्यणुक को उसका अपवाद मानते हैं, क्योंकि परमाणु के नित्य होने के कारण द्व्यणुक का विनाश उसके अधीन नहीं है, किन्तु द्व्यणुकों का विनाश परमाणुओं के परस्पर संयोग के विनाश के परिणामस्वरूप होता है।

इसके विपरीत नव्य नैयायिकों का मानना है कि विनाश के क्रम में कारण पदार्थों का नाश न मानकर, कारण पदार्थों के संयोग के नाश को ही सर्वत्र नाश का कारण मानना उचित है, क्योंकि कार्य असमवायिकारण रूप संयोग ही नष्ट होता है, पदार्थ का समवायी कारण परमाणु नहीं।

यहाँ हमें प्राचीन नैयायिकों की दृष्टि समीचीन प्रतीत नहीं होती, क्योंकि वे कार्य के विनाश से पूर्व उनके अंशों की बात को स्वीकार करते हुए कहते हैं कि– 'विनाश की प्रक्रिया में जब परमाणु अलग होते हैं तो द्व्यणुकों का नाश होता है और इसीप्रकार द्व्यणुकों के नष्ट होने पर त्रसरेणुओं का। इसप्रकार अन्तिम कार्य को अन्त में विनष्ट होने वाला कहते हैं, जबकि उत्पत्ति उसकी सबसे अन्त में होती है। पुनरपि यहाँ विनाश (प्रलय) की अवस्था में भी परमाणु एवं अन्य नित्य पदार्थों की स्थिति को स्वीकार किया गया है।

सूक्ष्मदृष्टि से विचार करने पर यह सिद्धान्त ठीक वैसा ही अव्यावहारिक प्रतीत होता है, **जैसे–** कोई मकान–निर्माण के क्रम में नींव, दीवार और छत के बनने के बाद उसके विनाश क्रम में सर्वप्रथम नींव विनाश की बात कहे, क्योंकि यहाँ निर्माण क्रम में अन्त में बनने

---

[1]. असमवायिकारणनाशाद् द्व्यणुकनाशः। समवायिकारण नाशात् त्र्यणुकनाश इति सम्प्रदायः। सर्वत्र असमवायिकारणनाशाद् द्रव्यनाशः, इति नवीनाः। दीपिका टीका, पृष्ठ– 35।

वाली छत का गिराना विनाशक्रम में सबसे पहले आएगा। उसके बाद ही दीवार और नींवादि का विनाश होगा।

वेदान्त[1] सांख्य आदि प्रायः सभी दर्शनों ने उत्पत्तिक्रम से उलटे क्रम को ही विनाश का क्रम माना है अर्थात् वहाँ प्रलयकाल में अन्तिम कार्य के विनाश की बात सर्वप्रथम कही गयी है। उसके बाद ही हम क्रमशः अन्तिम मूल कारण तक पहुँचते हैं। डॉ. दयानन्द भार्गव ने भी इस दृष्टि से प्राचीन नैयायिकों की दृष्टि को असंगत बताया है।[2] इस दृष्टि से नव्य नैयायिकों का मत उचित कहा जा सकता है।

अन्नंभट्ट ने दीपिका टीका में अवान्तर प्रलय और महाप्रलय दो प्रकार की प्रलय का कथन किया है। संसार के दृश्यमान सभी पदार्थों का नाश **'अवान्तर प्रलय'** कहलाता है, जिसे **'खण्डप्रलय'** भी कहा गया है। इस स्थिति में परमाणु अपने गुण सहित निष्क्रिय अथवा प्रसुप्त अवस्था में विद्यमान रहते हैं, क्योंकि इन्हीं परमाणुओं द्वारा अदृष्ट अथवा ईश्वरेच्छा से सृष्टि का पुनः निर्माण होता है। महाप्रलय की स्थिति में निष्क्रिय होने के साथ-साथ वे जन्यगुण रहित हो जाते हैं, क्योंकि इसके बाद सृष्टि होना सम्भव नहीं होता है।

•••

1. (क) ब्रह्मसूत्र शांकरभाष्य– 2/3/4।
   (ख) द्रष्टव्य– सांख्यकारिका, व्याख्याकार– डॉ. राकेश शास्त्री, भूमिका।
2. तर्कसंग्रह, व्याख्याकार डॉ. दयानन्द भार्गव, पृष्ठ– 40।

मीमांसा–दर्शन

1. मीमांसा शब्द की निरुक्ति– मीमांसा शब्द की व्युत्पत्ति 'विचार' अर्थ में प्रयुक्त √ मान् धातु से 'जिज्ञासा' अर्थ में 'सन्' प्रत्यय करके हुई है। इसलिए इस व्युत्पत्ति से प्राप्त होने वाले अर्थ में 'जिज्ञासा' ही प्रमुखता लिए हुए है। अतः मीमांसा शब्द का अभिप्राय 'जिज्ञासा' करने से ग्रहण करना होगा। यही कारण है कि मीमांसा दर्शन के सूत्रकार 'आचार्य जैमिनि' ने अपने 'मीमांसासूत्र' के प्रथमसूत्र में ही इसका प्रयोग 'अथातो धर्मजिज्ञासा' ऐसा कहते हुए किया है, क्योंकि इस शास्त्र का प्रमुख प्रतिपाद्य 'कर्मकाण्ड' के स्वरूप का निरूपण करना है।

इस प्रसंग में यह भी उल्लेखनीय है कि √मान् धातु का प्रयोग धातु–पाठ के अन्तर्गत भ्वादिगण और चुरादिगण दोनों में हुआ है। जहाँ प्रथम भ्वादिगण में इस धातु का अर्थ 'पूजा' है, जबकि चुरादिगण में यह 'विचार' अर्थ में प्रयुक्त हुई है। यही कारण है कि विद्वानों ने 'मीमांसा' शब्द की व्याख्या दोनों ही प्रकार से की है। इस प्रसंग में मीमांसाशास्त्र के उद्भट विद्वान् आचार्य पट्टाभिराम शास्त्री के विचार अवलोकनीय हैं, जो उन्होंने अपनी वैदुष्यपूर्ण कृति 'अध्वरमीमांसा–कुतूहलवृत्ति' में अभिव्यक्त किए हैं–

'मीमांसाशब्दः पूजितविचारार्थे प्रसिद्धः। 'मान् पूजायाम्' 'माङ् माने' इति पूजार्थे मानार्थे च धातुद्वयम्। तत्र 'मान्वधदान्शान्भ्यो दीर्घश्चाऽभ्यासस्य''[1] इति सूत्रेण 'माङ्' इत्यस्य अनुबन्धस्य धातोर्नान्तत्वं

---

[1] पाणिनि सूत्र– 3/1/6।

निपात्य अनिच्छार्थे सन् प्रत्ययेऽभ्यासस्य च दीर्घे 'मीमांसा' शब्दो निष्पद्यते।[1]

2. मीमांसा शब्द की प्राचीनता– प्राचीनकाल में भी हमें मीमांसा शब्द का अत्यधिक प्रयोग उपलब्ध होता है, किन्तु यह भी उल्लेखनीय है कि यहाँ यह प्रायः 'विचार विमर्श' अथवा 'चिन्तन' अर्थ में ही प्रयुक्त हुआ है, जबकि वैदिक साहित्य में मीमांसा शब्द का प्रयोग 'संज्ञा' और 'क्रिया' दोनों ही रूपों में हुआ है। अथर्ववेद में एक स्थल पर[2] यह 'लोगों ने अलग–अलग मीमांसा करते हुए उसके कर्मों का इस पृथिवी पर निरीक्षण किया' अर्थात् 'विचारणा' इस अर्थ में प्रयुक्त हुआ है।

इसी वेद में अन्यत्र (9/6/24) मीमांसित और मीमांसमान शब्दों का प्रयोग भी हुआ है। इसीप्रकार तैत्तिरीयसंहिता (7/5/7/1) में ब्रह्मवादी लोगों द्वारा मीमांसा करने की[3] तथा इसी संहिता में अन्यत्र (6/2/6/4–5) में इसी अर्थ में 'मीमांसान्ते' एवं 'मीमांसेरन्' पदों का प्रयोग हुआ है।[4]

इसके अतिरिक्त भी इसी संहिता में इस शब्द का प्रयोग हुआ है।[5] इसीप्रकार काठक संहिता(8/12)में भी इस शब्द का सन्देहात्मक विषय में छानबीन करने के लिए 'मीमासन्ते' शब्द का कथन किया गया है, जबकि शांखायन ब्राह्मण (2/8) में सूर्योदय के बाद और पहले होम करने की 'मीमांसा' की गई है।

इसीप्रकार छान्दोग्योपनिषद् (5/11/1) में आत्मा और ब्रह्म के सम्बन्ध में मीमांसा करने की बात का कथन हुआ है, जबकि तैत्तिरीय

---

1. अध्वरमीमांसाकुतूहलवृत्ति, पं. पट्टाभिराम शास्त्री, भाग–4, भूमिका– पृ.– 4।
2. अथर्ववेद– 9/1/3।
3. उत्सृज्यां नोत्सृज्यामिति मीमांसन्ते ब्रह्मवादिनस्तद्वदाहुत्सृज्यमेदेति (तै.स.– 7/5/7/1)
4. व्यावृत्तेदेवयजने याजयेद् व्यावृत्कामं यं पात्रे वा तल्पे वा मीमांसेरन् नैनं पात्रं न तल्पे मीमांसन्ते। (तै.सं. 6/2/6/4–5)
5. तैत्तिरीयसंहिता–2/5/3/7, 5/5/3/2, 6/1/4/5, 6/1/5/3–5।

उपनिषद (2/8) में यही शब्द आनन्द की मीमांसा के लिए प्रयुक्त हुआ है। इन सभी स्थलों पर इस शब्द का प्रयोग दार्शनिक दृष्टि से विचार करना ही रहा है।

ऐसा प्रतीत होता है कि उपनिषदों से बहुत पहले मीमांसा शब्द का प्रयोग किसी विवाद के सम्बन्ध में मीमांसा अर्थात् विचार करना और किसी निष्कर्ष पर पहुँचना था, आगे चलकर यह शब्द धर्म के सम्बन्ध में छानबीन करना, व्याख्यान देना और तर्क द्वारा संदेहात्मक विषयों का निर्णय करना हो गया।[1]

3. मीमांसाशास्त्र का स्वरूप– जैसा कि हम ऊपर उल्लेख कर चुके हैं कि उपनिषद् वाङ्मय में आते–आते मीमांसा शब्द उच्च दार्शनिक विषयों पर विचार करने रूप विस्तृत अर्थ में प्रयुक्त होने लगा, जबकि आगे चलकर इस शास्त्र का प्रमुख प्रतिपाद्य विषय कर्म–काण्ड के स्वरूप को निरूपण करने तक सीमित हो गया। ऐसा प्रतीत होता है कि वैदिक कर्मकाण्ड के प्रचार एवं प्रसार के साथ–साथ इसकी प्रक्रिया के सम्बन्ध में विद्वानों में अनेक प्रकार के मतभेदों का प्रादुर्भाव हुआ, जिनके समाधानों की आवश्यकता की दृष्टि से मीमांसा शास्त्ररूपी पृथक् दर्शन का प्रादुर्भाव हुआ। यही कारण है कि इसमें कर्मकाण्ड से सम्बन्धित अनुष्ठानों और विधिनिषेध एवं विनियोगों से जुड़े हुए विषयों को ही प्रामाणिकरूप से प्रस्तुत किया गया है।

इस प्रसंग में उल्लेखनीय यह भी है कि आरम्भ में यह शास्त्र 'तन्त्र' अथवा 'न्याय' के रूप में जाना जाता रहा, क्योंकि प्राचीनकाल में 'तन्त्र' का प्रयोग 'सिद्धान्त' अर्थ में तथा 'न्याय' शब्द का 'तर्क' के अर्थ में लम्बे समय तक किया जाता रहा है। इस शास्त्र से जुड़े अनेक प्रकार के ग्रन्थ 'न्याय कणिका', 'न्याय रत्नाकर' तथा 'तन्त्र रहस्य' आदि उक्त कथ्य की पुष्टि में उद्धृत किए जा सकते हैं।

---

1 . धर्मशास्त्र का इतिहास– पी.वी.काणे–भाग– 5, पृष्ठ– 88।

इसके अतिरिक्त इस शास्त्र के लिए 'पूर्व–मीमांसा' शब्द के प्रयोग के सम्बन्ध में भी विचार करना उचित प्रतीत होता है। वस्तुतः इस शास्त्र की मान्यता है कि– 'ज्ञान के सम्बन्ध में विचार किंवा चिन्तन करने से पहले 'कर्मकाण्ड' और 'धर्म' के सम्बन्ध में चिन्तन आवश्यक है, तभी हम ज्ञान के सर्वाधिक निकट पहुँच सकते हैं।

जहाँ तक वेदान्तदर्शन के लिए 'उत्तर मीमांसा' शब्द के प्रयोग की बात है। कर्मकाण्ड एवं धर्म के विषय में विचार करने के पश्चात् ही साधक वेदान्त अर्थात् उत्तरमीमांसा में प्रवेश करने में सक्षम है, क्योंकि इस शास्त्र का विषय ब्रह्मज्ञान रहा है तथा 'आत्मा वै ब्रह्म' कहकर इन दोनों में ऐक्य की स्थापना की गई है। इसीकारण वेदान्त दर्शन को 'ज्ञानकाण्ड' की संज्ञा प्रदान की गई है। वस्तुतः वेदान्त उपनिषद् वाक्यों को आधार बनाकर आत्मज्ञान की चर्चा का ही दर्शन है, जिससे वह मोक्ष प्राप्त करने का पक्षधर रहा है। यद्यपि साक्षात्‌रूप से पूर्वमीमांसा और उत्तरमीमांसा का कोई आपस में सम्बन्ध नहीं है।

4. मीमांसा शब्द के पर्याय– इसी प्रसंग में उल्लेखनीय यह भी है कि आचार्य जैमिनि से पहले और बाद में भी इस दर्शन के लिए अनेक शब्दों का प्रयोग देखने को मिलता है। आश्वलायन श्रौतसूत्र में (1/2) इसके लिए **'समयविद्या'** शब्द का प्रयोग हुआ है–

'अथातः सामयिकाचारिकान् धर्मान् व्याख्यास्यामः। धर्मज्ञसमय–प्रमाणम्।' (आश्वलायन श्रौतसूत्र– 1/2)[1]

इसके अलावा इस शास्त्र के साथ 'न्याय' और 'तन्त्र' की बात का उल्लेख हम पूर्व में भी कर चुके हैं। आचार्य वाचस्पति मिश्र, पार्थ सारथि मिश्र और आचार्य माधव आदि विद्वानों ने अपने मीमांसा सिद्धान्तों की व्याख्या करने के बाद भी 'न्याय' शब्द का प्रयोग करके ही उनका नामकरण किया है। इसका प्रमुख कारण वस्तुतः इस शास्त्र की विचार–प्रधानता तथा प्रमाणों द्वारा अर्थ परीक्षण करके तथ्यों का

---

[1]. तन्मूला आचाराः तत्रभवाः सामयाचारिका धर्माः। वही

प्रतिपादन करना रहा है।[1] आपदेव जैसे प्रसिद्ध मीमांसाचार्य द्वारा अपने ग्रन्थ का नाम 'मीमांसा–न्याय–प्रकाश' रखना, इस कथ्य की पुष्टि करता प्रतीत होता है।

इसके अन्य नाम पूर्वमीमांसा का विस्तृत विवेचन हम अभी कर चुके हैं। इसके अतिरिक्त भी इस दर्शन के लिए हमें पूर्वतन्त्र, विचार शास्त्र, धर्ममीमांसा[2], अध्वरमीमांसा[3] और वाक्यशास्त्र नाम भी मिलते हैं, जो किसी न किसी रूप में इस शास्त्र की प्रकृति के द्योतक कहे जा सकते हैं।

5. मीमांसा दर्शन के कुछ प्रमुख सिद्धान्त– जैसा कि हम पूर्व में उल्लेख कर चुके हैं कि– मीमांसा दर्शन में वैदिक कर्मकाण्ड को मूल रूप से आधार बनाकर अपनी मान्यता एवं सिद्धान्तों की प्रस्थापना की गई है। यही कारण है कि इस दर्शन से सम्बद्ध सभी मूल व व्याख्या ग्रन्थ इसी दिशा में प्रयास करते हुए प्रतीत होते हैं। यहाँ हम संक्षेप में इस शास्त्र के मूल सिद्धान्तों का उल्लेख कर रहे हैं–

(i) इस दर्शन की मान्यता है कि वैदिककर्मों के मूल आधार वेद हैं, जो नित्य और अपौरुषेय हैं। सृष्टि के विनष्ट होने पर भी उनकी सत्ता बनी रहती है, क्योंकि इनका निर्माण किसी व्यक्ति विशेष द्वारा नहीं किया गया है, अपितु ये सभी परमपिता परमात्मा की कृपा के प्रसाद हैं।

(ii) इसके अतिरिक्त 'आत्मतत्त्व' मृत्यु के पश्चात् भी अस्तित्व में रहता है तथा वेद प्रतिपादित यागादि का आयोजन करके व्यक्ति स्वर्ग में रहकर सुखों का उपभोग करता है **'स्वर्गकामो यजेत'** इत्यादि श्रुतिवाक्य इस कथ्य की पुष्टि में प्रमाण हैं, जिसकी मीमांसा दर्शन एवं इसके आचार्य पद–पद पर विस्तृत व्याख्या करते हैं।

---

[1]. प्रमाणैरर्थपरीक्षणं न्यायः।

[2]. धर्ममीमांसावत् वेदार्थमीमांसया ब्रह्ममीमांसाप्याक्षेप्तं शक्यते।

(भामती टीका के 1/1/1 पर शबरभाष्य)

[3]. **आचार्य वासुदेव का मीमांसाशास्त्रीय ग्रन्थ 'अध्वर मीमांसाकुतूहल वृत्तिः ।**

(iii) इसीप्रकार इस दर्शन की एक अन्य महत्त्वपूर्ण विशेषता **'अपूर्व'** नामक विशेष प्रकार के 'द्रव्य पदार्थ' को स्वीकृति प्रदान करना है। इसे दूसरे शब्दों में **'शक्ति'** भी कहा जा सकता है, क्योंकि यही शक्ति व्यक्ति के द्वारा किए गए अच्छे अथवा बुरे कर्मों के फल को जन्म–जन्मान्तर तक सुरक्षित रखती है, अपने कर्मों का फल भोगकर ही व्यक्ति इससे छुटकारा प्राप्त कर सकता है।

(iv) इसके अलावा मीमांसा दर्शन के अनुसार– दृष्टिगोचर होने वाला यह संसार वास्तव में विद्यमान है। दूसरे शब्दों में, इसकी सत्ता वास्तविक ही हैं। सम्पूर्ण सृष्टि का संचालन व्यक्ति के कर्मों से उत्पन्न होने वाले 'अदृष्ट' के आधार पर स्वतः ही हो रहा है।

(v) इस संसार के सभी प्राणी दुःखों से आक्रान्त हैं, परम कारुणिक भगवान् महर्षि जैमिनि ने धर्म का अधर्म से पृथक्‌रूप में ज्ञान कराने के लिए बारह अध्यायों वाले 'मीमांसा शास्त्र' का प्रणयन किया।

(vi) उल्लेखनीय है कि यह दर्शन, मन्त्र और ब्राह्मण दोनों की ही 'वेदस्वरूपता' प्रतिपादित करता है। आचार्य आपस्तम्ब ने अपने 'यज्ञपरिभाषा' सूत्र के अन्तर्गत **'मन्त्रब्राह्मणयोर्वेदनामधेयम्'** इस सूत्र का निर्माण करके इन दोनों की वेदरूपता का स्पष्टरूप से उल्लेख किया।

उसके बाद महर्षि जैमिनि ने 'तच्चोदकेषु मन्त्राख्या' तथा 'शेषे ब्राह्मणशब्दः' इत्यादि सूत्रों की संरचना करके मन्त्र एवं ब्राह्मण दोनों के ही स्वरूप को स्पष्ट किया। कहने का अभिप्राय यही है कि यह दर्शन जब 'अथातो धर्मजिज्ञासा' कहकर मीमांसासूत्र की प्रणिति करता है, उसका आरम्भ करता है तो भी हमें 'वेदार्थ में ही धर्मभावना' की प्रतीति होती है, जिसके कारण वेदमन्त्र तथा उसकी व्याख्या करने वाले ब्राह्मणग्रन्थों में इस दर्शन की प्रगाढ़ आस्था के ही दर्शन किए जा सकते हैं। यद्यपि इस सम्बन्ध में किंचित वैमत्य अवश्य रहा है।

(vii) इसी प्रसंग में यह भी ध्यातव्य है कि मीमांसा दर्शन 'ईश्वर' की मान्यता के सम्बन्ध में अपने तटस्थभाव का प्रदर्शन करते हुए, इसकी न तो सिद्धि ही करता है और न ही इसका खण्डन करता

है। इनके मत में– 'वेद के द्वारा ही सभी कुछ सिद्ध हो जाता है। अतः ईश्वर जैसे किसी तत्त्व को पृथक् से मानने की आवश्यकता नहीं है। 'यही कारण है शबरस्वामी एवं कुमारिलभट्ट जैसे मीमांसकाचार्यों ने धर्म– तत्त्व के निर्धारण हेतु एकमात्र 'वेदार्थ' का ही विवेचन किया है।

(viii) इसके अलावा जब–जब भी बौद्ध एवं चार्वाक जैसे नास्तिक दर्शनों द्वारा वेद एवं धर्म पर आघात किया गया, तब–तब इन्हीं मीमांसाशास्त्र के आचार्यों द्वारा अपनी अकाट्य युक्तियों का प्रयोग करके नास्तिकों के मतों का दृढ़रूप से खण्डन किया। इस दृष्टि से नास्तिकों के खण्डन में मीमांसक आचार्यों की महती एवं अविस्मरणीय भूमिका रही है।

(ix) ध्यातव्य है कि मीमांसा के जिज्ञासु को एक बात अत्यधिक विचलित करने वाली है कि यद्यपि मीमांसा दर्शन ईश्वर में आस्था की अभिव्यक्ति नहीं करता है तथापि इस दर्शन के प्रायः सभी आचार्यों ने भारतीय देवों में से गणेश[1], विष्णु[2] अथवा महादेव[3] को अपने ग्रन्थों के मंगलाचरण में स्मरण क्यों किया है?

(x) इसके अतिरिक्त एक बात और विशेषरूप से उल्लेख्य है कि– बौद्ध एवं नैयायिक दोनों ही आचार्य प्रत्यक्ष को ज्ञान स्वीकार करते हुए 'परतः प्रामाण्य' के समर्थक रहे हैं, जबकि मीमांसाशास्त्र 'स्वतः प्रामाण्य' का पोषक रहा है। तर्कभाषाकार आचार्य केशवमिश्र ने अपने न्याय–ग्रन्थ में विस्तारपूर्वक मीमांसकों के स्वतःप्रामाण्य का युक्ति पूर्वक खण्डन करते हुए **'परतः प्रामाण्यवाद'** की प्रस्थापना की है।[4]

---

[1]. वागीशाद्याः सुमनसः सर्वार्थानामुपक्रमे।
यं नत्वा कृत्कृत्याः स्युस्तं नमामि गजाननम्।। (जैमिनि न्यायमाला)

[2]. वासुदेवं रमाकान्तं नत्वा लौगाक्षिभास्करम्।
कुरुते जैमिनिनये प्रवेशायार्थसंग्रहम्।। (अर्थसंग्रह)

[3]. श्लोकवार्तिकमारिप्सुस्तस्याऽविघ्नसमाप्तये।
विश्वेश्वरं महादेवं स्तुतिपूर्वं नमस्यति।। (न्यायरत्नाकर टीका)

[4]. द्रष्टव्या– लेखक की कृति, तर्कभाषा चन्द्रिका हिन्दी व्याख्या प्रकाशक चौखम्बा ओरियण्टालिया, दिल्ली– 2018।

इनका विस्तृत एवं सूक्ष्म विवेचन हम आगे ''अर्थसंग्रह' में प्रतिपादित सिद्धान्त' शीर्षक के अन्तर्गत विस्तार करेंगे। पुनरपि यहाँ इनके कथन का प्रयोजन जिज्ञासु पाठक को सैद्धान्तिक पक्ष से मात्र अवगत कराना रहा है, जिससे इस दर्शन को समझना सरल हो सके।

6. आचार्य जैमिनि से पूर्व स्थित मीमांसकाचार्य– यह पूर्णतया सत्य है कि मीमांसा दर्शन का उपलब्ध मूलग्रन्थ आचार्य जैमिनि का 'मीमांसासूत्र' ही है, जिसे जैमिनिसूत्र की संज्ञा भी दी गई है, किन्तु यह भी उतना ही सत्य है कि 'महर्षि जैमिनि से पूर्व भी इस दर्शन के सिद्धान्तों को मानने वाले और उनकी व्याख्या करने वाले आचार्यों की सुदीर्घ परम्परा रही, उनके ग्रन्थों की अनुपलब्धता के कारण वे सभी आचार्य 'नामशेष' हैं तथापि उनके सिद्धान्तों से हमारा परिचय जैमिनि सूत्र में प्रत्यक्ष–अप्रत्यक्ष रूप से अवश्य हो जाता है, जिनमें आचार्य **बादरि, आत्रेय, लाडुकायन** और **ऐतशायन** विशेषरूप से उल्लेखनीय है।

(क) **आचार्य बादरि**– आचार्य जैमिनि ने अपने 'मीमांसासूत्र' में इनके नाम का तीन स्थलों (3/1/3, 6/1/27, 8/3/6) पर उल्लेख किया है। इसके अतिरिक्त कात्यायन श्रौतसूत्र (4/3/18) तथा ब्रह्मसूत्र (4/4/11) में भी यह नाम प्रयुक्त हुआ है। प्राचीन चरित्र कोषकार ने ब्रह्मसूत्र के प्रणेता आचार्य बादरायण से इनकी भिन्नता प्रतिपादित की है।[1]

तदनुसार– 'जैमिनिसूत्रों में निर्दिष्ट बादरि नामक आचार्य तथा बादरायण दो स्वतन्त्र व्यक्ति थे, क्योंकि बादरायण के मतों के विपरीत बादरि के अनेक मतों का निर्देश 'बादरिसूत्रों' में प्राप्त है। बादरायण देह का भाव और अभाव, इन दोनों को मान्य करता है। इसके विपरीत, बादरि देह की अभाव युक्त अवस्था को ही मानता है। इस मत–भिन्नता से दोनों आचार्य अलग व्यक्ति होने की सम्भावना स्पष्ट

---

[1]. प्राचीन चरित्र कोश– चित्राव, पृष्ठ– 505। भारतीय चरित्र कोश मण्डल, पूना– 4।

होती है।[1] यद्यपि इनके ग्रन्थ उपलब्ध न होने से अन्य जानकारी प्राप्त नहीं है, किन्तु इतना सुनिश्चितरूप से कहा जा सकता है कि ये 'मीमांसक' आचार्य थे।

(ख) **आचार्य आत्रेय–** इनके नाम का उल्लेख ब्रह्मसूत्रकार द्वारा एक स्थल पर किया गया है, जहाँ यज्ञ की अंगभूत उपासना का फल यजमान को प्राप्त होने की बात का कथन करते हुए, सभी प्रकार की उपासनाएँ स्वयं यजमान द्वारा सम्पादित करने की बात कही है। इस मत के खण्डन प्रसंग में 'आचार्य आत्रेय' को भी उद्धृत किया है।

इसके अलावा महर्षि जैमिनि ने भी (5/2/18) आचार्य **कार्ष्णाजिनि** के मत का खण्डन करने हेतु इनके मत का उल्लेख किया है। साथ ही, उन्होंने आचार्य बादरि के वैदिककर्म में सर्वाधिकार के मत का खण्डन करने हेतु इन आचार्य के मत को प्रमाणरूप में प्रस्तुत किया है।[2] इस आधार पर इन्हें मूलरूप से 'पूर्वमीमांसक' कहा जा सकता है। इसके अलावा आचार्य जैमिनि के साथ–साथ महर्षि बादरायण से पूर्व भी इनकी स्थिति सिद्ध होती है। इसीप्रकार बृहदारण्यकोपनिषद् (2/6/3) में तथा ऐतरेय ब्राह्मण (8/22) में भी इनके नाम का उल्लेख हुआ है, किन्तु इन तीनों का ऐक्य संदिग्ध है।

(ग) **आचार्य लाबुकायन–** इनके विषय में कोई जानकारी उपलब्ध नहीं है।

(घ) **आचार्य एतशायन–**प्राचीनचरित्रकोशकार ने इन्हें 'अभ्यग्नि' के पैतृक नाम की संज्ञा प्रदान की है।[3] शांखायन ब्राह्मण में इन्हें और्व कुल में उत्पन्न बताया गया है।[4] आचार्य जैमिनि ने सूत्र मीमांसा में इनके मतों का उल्लेख किया है।

---

1. प्राचीन चरित्र कोश– चित्राव, पृष्ठ– 505।
2. वेदान्तसार– व्याख्याकार, डॉ. राकेश शास्त्री, परिमल प्रकाशन, दिल्ली, पृष्ठ– 13।
3. प्राचीन चरित्र कोश, पृष्ठ– 102।
4. शांखायन ब्राह्मण– 30/5 ।

(ङ) **आचार्य जैमिनि और उनका मीमांसासूत्र–** इन्हें पूर्वमीमांसा दर्शन के व्यवस्थित एवं उपलब्ध ग्रन्थ मीमांसासूत्र के प्रणेता अर्थात् प्रवर्तक आचार्य माना जाता है। इनका समय ई.पू. चतुर्थ से 200 ई.पू. शताब्दी के लगभग निर्धारित किया गया है।[1] विद्वानों का मानना है कि दार्शनिक जगत् में सूत्र प्रणाली की उद्भावना का श्रेय महर्षि जैमिनि का जाता है, क्योंकि दर्शन सूत्र–साहित्य में सर्वप्रथम सूत्र–रचना 'जैमिनि–सूत्र' में ही उपलब्ध होती है। सम्भवतः इसी का अनुसरण अन्य दर्शनों के सूत्रकारों द्वारा भी किया गया।

जैमिनि के नाम पर हमें सामवेद की जैमिनीय शाखा में जैमिनीय संहिता, जैमिनीय ब्राह्मण, जैमिनीय श्रौतसूत्र तथा जैमिनीय गृह्यसूत्र भी उपलब्ध होते हैं। यही कारण है कि दास गुप्त आदि कुछ विद्वानों ने मीमांसा सूत्रों का सम्बन्ध एक शाखा विशेष से होने की सम्भावना व्यक्त की है। उनका मानना है कि अन्य शाखाओं के सूत्रों का लोप हो गया होगा, किन्तु उनका यह कथन इसलिए समीचीन प्रतीत नहीं होता, क्योंकि यदि ऐसा होता तो अवश्य ही अन्य किसी पूर्वमीमांसा की शाखा विशेष का कोई एक ग्रन्थ तो अवश्य मिलता।

इसी प्रसंग में एक मान्यता और भी विद्वानों में प्रचलित है कि महर्षि जैमिनि को सूत्र–मीमांसा की रचना के लिए पर्याप्त सामग्री अपने से पूर्व के आचार्यों से प्राप्त हुई होगी। अतः उन्हें मीमांसा दर्शन के प्रणेता न कहकर संकलनकर्त्ता कहना अधिक संगत प्रतीत होता है,[2] किन्तु यह मान्यता भी अधिकांश विद्वानों द्वारा समादृत नहीं हो सकी है।

किन्तु यह सुनिश्चित है कि अन्य सभी भारतीय दर्शनों की अपेक्षा मीमांसा दर्शन से सम्बन्धित साहित्य अत्यधिक विशाल एवं

---

1. (अ) डॉ. कीथ एवं दासगुप्त मीमांसा सूत्रों का रचनाकाल 200 ई.पू. मानने के पक्षधर हैं।

(ब) डॉ. राधाकृष्णन् इन्हें ई.पू.चतुर्थ शताब्दी से भी पहले की रचना मानते हैं।

2. डॉ. दास गुप्त, ए हिस्ट्री ऑफ इण्डियन फिलॉसफी, भाग–1, पृष्ठ– 370।

प्राचीन है, इस दर्शन को आधार बनाकर 16वीं, 17वीं और 18वीं शताब्दियों में उत्कृष्ट एवं विस्तृत साहित्य की रचना की गई, जिसका विवरण हम आगे प्रस्तुत करेंगे, यहाँ केवल इतना ही कथ्य है कि –

आचार्य जैमिनि के मीमांसासूत्र को द्वादश लक्षणी भी कहा गया है, क्योंकि इसमें लगभग 2700 सूत्रों को कुल बारह अध्यायों में निबद्ध किया गया है–

विषयो विशयश्चैव पूर्वपक्षस्तथोत्तरम्।
निर्णयश्चेति पंचांग शास्त्रेऽधिकरणं स्मृतम्।।

जैमिनि का 'मीमांसा सूत्र' इतना अधिक लोकप्रिय हुआ कि इस ग्रन्थ के ऊपर अनेकानेक टीकाएँ विद्वानों द्वारा लिखी गईं, जिनमें से बाईस का उल्लेख तो महामहोपाध्याय पण्डित गोपीनाथ कविराज ने ही किया है। अतः इस ग्रन्थ की महत्ता का अवलोकन करते हुए हम यहाँ इसकी विषयवस्तु का अत्यन्त संक्षेप में कथन कर रहे हैं–

(अ) **मीमांसासूत्र का प्रतिपाद्य विषय–**

प्रथम अध्याय– इसे कुल चार पादों में विभाजित करके प्रथम पाद के अन्तर्गत विधि का प्रामाण्य, द्वितीय में अर्थवाद और मन्त्रों का प्रामाण्य, तृतीय पाद के अन्तर्गत मनु आदि स्मृतियों के प्रामाण्य एवं चतुर्थ पाद में 'नामधेय' की प्रामाणिकता के सम्बन्ध में चिन्तन प्रस्तुत किया है। इसप्रकार इस अध्याय में सूत्रकार ने विधि, अर्थवाद, मन्त्र, स्मृति और नामधेय जैसे मीमांसाशास्त्र की पारिभाषिक पदावली को स्पष्ट करने एवं उनकी प्रामाणिकता प्रतिपादित करने का सफल प्रयास किया है।

द्वितीय अध्याय– इसे कुल चार पादों में विभाजित करके सूत्रकार ने क्रमशः उपोद्घात, कर्मभेद के प्रमाण्य का अपवाद एवं प्रयोगों के भेदों का विवेचन किया है तथापि प्रथम पाद के अन्तर्गत कर्म विषयक भेदों के वर्णन हेतु 'उपोद्घात' प्रस्तुत किया है। इसी में 'अपूर्व' को स्पष्ट करने के लिए **'आख्यात'** की उपयोगिता प्रतिपादित

की है। इसी पाद में तीनों वेदों का प्रतिपाद्य धर्म को बताया है। तत्पश्चात् द्वितीय पाद में धातुभेद, पुनरुक्ति आदि के कारण कर्म–भेद, तृतीय पाद में कर्मभेद की प्रामाणिकता के अपवाद तथा चतुर्थ पाद में नित्य और काम्यकर्मों के मध्य भेद–निरूपण किया गया है।

तृतीय अध्याय– इसके बाद प्रयुक्त तृतीय अध्याय में श्रुति, लिंग, वाक्य, उनके परस्पर विरोध द्रव्यों का विनियोग (प्रतिपत्तिकर्म), आकस्मिक निर्दिष्ट वस्तुओं, प्रधानकर्मों में सहायक कर्मों तथा यजमान विषयक कर्मों के सम्बन्ध में चिन्तन किया गया है। उल्लेखनीय है कि इस अध्याय को आठ भागों में विभाजित किया गया है।

प्रथम पाद में– श्रुति–प्रमाण, **द्वितीय** में, लिंग प्रमाण, **तृतीय** में, वाक्य, प्रकरण, स्थान, समाख्या इत्यादि चार प्रमाण, **चतुर्थ** में निवीत, उपवीत कर्म–विधि मीमांसा, **पंचम** में– प्रतिपत्ति कर्मवर्णन, **षष्ठ** में– सामान्यरूप से किए जाने योग्य कर्मों का वर्णन, **सप्तम** में, प्रधानकर्मों में सहयोगी प्रयाजादि कर्म वर्णन तथा **अष्टम** पाद में– यजमान के कर्मों का वर्णन किया गया है।

चतुर्थ अध्याय– ग्रन्थकार ने इसे कुल चार भागों में विभाजित करके उनके प्रधान एवं अप्रधान कर्मों की प्रयोजकता, पलाश की बनी हुई (जुहू) अर्थात् पर्ण आदि के फल एवं राजसूय याग के अन्तर्गत प्रयुक्त होने वाले अप्रधान अंगों[1] आदि का विचार किया है।

पंचम अध्याय– श्रुति, उसके विभिन्न भागों का क्रम, उनकी वृद्धि, व्यृद्धि, श्रुति की प्रबलता, निर्बलता आदि की श्रुति, अर्थ और पठनादि के क्रम से निरूपण, प्रथम पाद के अन्तर्गत किया है, जबकि दूसरे पाद में, क्रम के विशिष्ट भागों का वर्णन, तृतीय पाद में, वृद्धि पर गहन चिन्तन और चतुर्थ पाद में श्रुति आदि छः प्रमाणों में प्रथम प्रमाणों की प्रमुखता आदि के सम्बन्ध में कुल चार पादों में विचार किया गया है।

---

[1]. **अक्षैर्दीव्यति** ।

षष्ठ अध्याय– इस अध्याय को सूत्रकार ने पुनः 'आठ' भागों में विभक्त करके **प्रथम** पाद में, यज्ञ करने वाले अधिकारी का निरूपण, **द्वितीय** में, अधिकारियों का धर्म विचार, **तृतीय** में, मुख्य वस्तु के अभाव में प्राप्य वस्तु के ग्रहण की सम्भावना, **चतुर्थ** में, वस्तु विषयक लोप स्थल, **पंचम** में, प्रायश्चित्त निरूपण, **षष्ठ** में, सत्रयाग के अधिकारियों का वर्णन, **सप्तम** में, देय–अदेय वस्तु वर्णन तथा **अष्टम** पाद में, लौकिक अग्नि विषयक होम व्यवस्था का निर्देशन किया गया है।

सप्तम अध्याय– चार पादों में विभक्त इसके प्रथम पाद में, वैदिक वाक्यों की अनुपालना में एक यज्ञ के कर्मों का अन्य यज्ञ में प्रयोग, द्वितीय में, अवशिष्ट विचार। तृतीय में नामों के कारण स्थाना–न्तरण, जबकि चतुर्थ पाद में लिंग के कारण स्थानान्तरण का वर्णन किया गया है।

अष्टम अध्याय– इसके चार पादों के अन्तर्गत क्रमशः स्पष्ट लिंगों द्वारा किए गए अतिदेश, अस्पष्ट लिंगों द्वारा किए गए अतिदेश (स्थानान्तरण) प्रबल लिंगों द्वारा किए गए अतिदेश तथा अन्तिम चतुर्थ पाद में इन सभी अतिदेशों के अपवादों को प्रस्तुत किया है।

नवम अध्याय– इसे भी सूत्रकार ने चार भागों में विभाजित करके उनके अन्तर्गत क्रमशः मन्त्र में आए हुए देवता, लिंग, संख्या आदि के शब्द प्रयोग विशेष में, अवसर के अनुसार परिवर्तन करना। प्रथम व द्वितीय पाद में सामों तथा चतुर्थ पाद में 'ऊह' प्रसंग में उठने वाले प्रश्नों पर विचार किया है।

दशम अध्याय– इसीप्रकार इस अध्याय को ग्रन्थकार ने कुल आठ पादों में विभक्त करके, क्रमशः प्रथम बाध के कारण, स्वरूप कारणों के लोप का वर्णन, वेदी निष्पादन रूप मुख्य कर्म के अभाव में, वेदी निष्पादन कर्म में सहायक, अंग कार्यों के बाध होने पर, उसी द्वार के लोप का विस्तारपूर्वक उद्धरण देते हुए वर्णन किया है।

तत्पश्चात् तृतीय पाद में कार्य की एकता को बाध का कारण बताना, चतुर्थ में– प्रकृति, विकृति यागों की व्यवस्था तथा उसमें बाध के कारणों के न होने पर समुच्चय वर्णन किया है। इसीप्रकार पंचम में– बाधप्रसंग में ग्रहादि विचार, षष्ठ में, बाधप्रसंग में सामविचार तथा सप्तम में इसी प्रसंग के विभिन्न प्रकार के सामान्य प्रश्नों पर विचार एवं अन्तिम अष्टम पाद में बाध करने वाले 'नञर्थ' के सम्बन्ध में चिन्तन किया गया है। उल्लेखनीय है कि इस अध्याय का विस्तार अन्य अध्यायों की अपेक्षा सर्वाधिक रहा है।

इसीप्रकार **एकादश अध्याय** में ग्रन्थकार ने कुल चार पादों में से प्रथम में तन्त्र का उपोद्घात, द्वितीय में, तन्त्र अवाप चिन्तन, तृतीय में– तन्त्रविषयक विस्तार तथा अन्तिम चतुर्थ पाद में अवाप का विस्तार से विवेचन किया है। उल्लेखनीय है कि यहाँ प्रयुक्त अनेक शब्द पारिभाषिक हैं, जिनकी पूर्व मीमांसा दर्शन के परिप्रेक्ष्य में व्याख्या की अपेक्षा है, जिनका हमने अपने 'अर्थसंग्रह' नामक व्याख्या ग्रन्थ में विस्तार से उल्लेख किया है।

द्वादश अध्याय– ग्रन्थकार ने इस अध्याय के चार पादों के अन्तर्गत क्रमशः प्रसंग, तन्त्रियों का निर्णय, समुच्चय तथा विकल्पादि के सम्बन्ध में गहन चिन्तन प्रस्तुत किया है।

इसप्रकार हम देखते हैं कि सूत्रकार ने इस महत्त्वपूर्ण ग्रन्थ में पूर्वमीमांसा दर्शन को सर्वांगीण रूप से प्रस्तुत करने का एक श्लाघनीय एवं सफल प्रयास किया है। इस उत्कृष्ट कृति में तृतीय, षष्ठ और दशम अध्यायों के अलावा सभी अध्यायों में केवल चार--चार पाद ही प्रयुक्त हुए हैं। अतः सम्पूर्ण ग्रन्थ कुल 60 पादों में विभाजित किया गया है।

जहाँ तक सूत्रों की गणना का सम्बन्ध है। इस सम्बन्ध में दो संख्याओं की उपलब्धि होती है। प्रथम के अनुसार यह संख्या 2652 है

तो दूसरी संख्या इसे 2742 मानती है, विषय की दृष्टि से भी ग्रन्थ को अधिकरणों में विभक्त किया गया है, जिनकी कुल संख्या 915 रही है।[1]

(ब) **महर्षि जैमिनि का जीवनवृत्त–** जैसाकि अन्य सभी प्राचीन विद्वानों के सम्बन्ध में है। महर्षि जैमिनि के जीवन परिचय के सम्बन्ध में सामग्री की उपलब्धता नगण्य है। केवल **पांचरात्र** में एक स्थल पर हाथी द्वारा इनकी मृत्यु का उल्लेख अवश्य प्राप्त होता है। महाभारत के जैमिनि दार्शनिकरूप में प्रयुक्त नहीं हुए हैं। आश्वलायन और शांखायन गृह्यसूत्रों में उल्लिखित जैमिनि को भी सूत्रकार नहीं कहा जा सकता है। जैमिनिसूत्र के अर्वाचीन व्याख्याकारों में **भर्तृमित्र, भवदास, हरि** एवं **उपवर्ष** इन आचार्यों के नाम भी मिलते हैं, किन्तु इनकी कृतियाँ अनुपलब्ध होने से इस सम्बन्ध में कुछ भी कहना सम्भव नहीं है।

(स) **मीमांसा सूत्रों के वृत्तिकार–** इसके अतिरिक्त मीमांसा सूत्रों पर एक नाम 'वृत्तिकार' के रूप में भी प्राप्त होता है, जिन्हें सर्व–प्रथम होने की मान्यता कुछ विद्वानों द्वारा प्रदान की गई है, क्योंकि वे इनका समय अधिकतम ईसा की चतुर्थ शती तक ही मानने के पक्षधर रहे हैं।[2] यहाँ तक कि ई.पू. तृतीयशती में स्थित शबरस्वामी ने मीमांसासूत्र (1/1/5) के भाष्य में एक उद्धरण प्रस्तुत करते हुए इन्हें वृत्तिकार का बताया है, किन्तु यहाँ भी उन्होंने इनके नाम का कथन नहीं किया है। कुमारिलभट्ट एवं प्रभाकरभट्ट की रचनाओं में भी वार्तिककार के उद्धरणों को प्रस्तुत किया गया है। अतः वृत्तिकार का नाम 'अज्ञात' ही है। यद्यपि कुछ विद्वान् 'भवदास' तथा अन्य 'उपवर्ष' को ही वृत्तिकार मानने के पक्ष में हैं, किन्तु इस सम्बन्ध में विद्वानों में मतैक्य नहीं हैं।

(अ) **शबरस्वामी–** महर्षि जैमिनि के सूत्रों पर इन्होंने विशद भाष्य की संरचना की जिसे **'शबरभाष्य'** के नाम से जाना जाता है।

---

1. कर्म मीमांसा– ए.बी. कीथ– पृष्ठ– 4।
2. कर्म मीमांसा– ए.बी. कीथ– पृष्ठ– 7।

तथा इसकी महत्ता ब्रह्मसूत्र पर शांकरभाष्य तथा अष्टाध्यायी पर पतंजलि के महाभाष्य के समान मानी गई है। कुछ विद्वानों के मत में इनका पूर्व नाम **'आदित्यदेव'** था, किन्तु जैनों के उत्पीडन से त्रस्त होकर ये जंगल में जाकर 'भील' का वेष धारण करके रहने लगे तथा इन्होंने अपना नाम 'शबरस्वामी' रख लिया।[1] इनका समय ई.पू. तृतीय शती से लेकर[2] चतुर्थशती पूर्वार्द्ध पर्यन्त माना गया है।[3]इसका प्रकाशन अनेक स्थानों से हुआ है, जिसमें महामहोपाध्याय गंगानाथ झा का अंग्रेजी अनुवाद विशेषरूप से उल्लेखनीय है, जो दो खण्डों में बड़ौदा से प्रकाशित हुआ है।

(ब) **आचार्य भर्तृमित्र–** सातवीं शती में स्थित ये वस्तुतः वेदान्त दर्शन के आचार्य थे, किन्तु इनके नाम से मीमांसा शास्त्र पर भी एक उत्कृष्ट ग्रन्थ मिलता है। प्रसिद्ध मीमांसक कुमारिलभट्ट ने अपने श्लोकवार्तिक में अनेक स्थलों पर इनके नाम का उल्लेख किया है,[4] इसके अलावा प्रसिद्ध मीमांसक पार्थसारथि मिश्र ने अपनी 'न्याय रत्नाकर' टीका में इनके मत को उद्धृत किया है।

कुमारिलभट्ट की तो यहाँ तक मान्यता है कि भर्तृमित्र इत्यादि आचार्यों के 'अपसिद्धान्तों' के प्रभाव से मीमांसाशास्त्र 'लोकायतवत्' हो गया है। आचार्य मुकुलभट्ट ने भी अपने **'अभिधावृत्ति मातृका'** ग्रन्थ में इनके नाम का कथन किया है। इस प्रसंग में यह चिन्तनीय अवश्य है कि विशिष्टाद्वैत दर्शन के ग्रन्थों में उद्धृत भर्तृमित्र तथा श्लोकवार्तिक में कहे गए मीमांसक भर्तृमित्र क्या दोनों एक ही व्यक्ति थे अथवा भिन्न–भिन्न, किन्तु कुमारिलभट्ट की समालोचना के आधार पर इन्हें अलग–अलग मानना ही संगत प्रतीत होता है।

---

[1]. कर्म मीमांसा, ए.बी. कीथ– पृष्ठ–9।

[2]. अर्थसंग्रह– कामेश्वरमिश्र, चौखम्बा सुरभारती प्रकाशन, वाराणसी, पृष्ठ– 203।

[3]. अर्थ संग्रह– डॉ. वाचस्पति उपाध्याय, चौखम्बा पब्लिशर्स, वाराणसी,पृष्ठ– 8।

[4]. श्लोकवार्तिक–1/1/1/10, 1/1/6/130–131।

(स) **आचार्य कुमारिलभट्ट–** भाष्यकार शबरस्वामी के पश्चात् मीमांसा दर्शन की ऐतिहासिक परम्परा में इनका नाम सर्वोपरि रहा है, क्योंकि ये अपने समय के उद्भट विद्वान् और दुर्दम्य शास्त्रार्थ महारथी थे। अर्वाचीन व्याख्याकारों ने इनके नाम का स्मरण अत्यन्त आदर के साथ **'इति भट्टपादाः'** कहकर किया है। प्रभाकरभट्ट इनके शिष्य थे, जिन्हें इन्होंने ही 'गुरु' की मानद उपाधि प्रदान की थी । इन दोनों में सिद्धान्त विषयक अनेक मतभेद रहे, जिसके कारण विद्वानों में इनके काल विषयक पौर्वापर्य के सम्बन्ध में भी पर्याप्त मतवैमत्य रहा है। इसीप्रकार इनके निवास के विषय में भी विद्वानों में मतवैभिन्न दृष्टि–गोचर होता है, कुछ विद्वान् इन्हें दाक्षिणात्य तो अन्य इन्हें मिथिला निवासी मानने के पक्षधर हैं।

(द) **कुमारिलभट्ट की कृतियाँ–** कुमारिलभट्ट उत्कृष्ट प्रतिभा सम्पन्न मीमांसक थे, जो अपने सूक्ष्मविवेचन, प्रखरप्रतिभा और मौलिकचिन्तन के लिए सम्पूर्ण भारतीय दर्शन जगत् में प्रख्यात हैं। इनका समय सात सौ ई. के लगभग माना जाता है। भारत वर्ष में जिस समय बौद्धधर्म, वैदिकधर्म पर भयंकररूप से हावी हो रहा था, ऐसे समय में इन्होंने उसके प्रभाव को क्षीण करने का अद्भुत एवं श्लाघनीय प्रयास किया। विद्वन्मान्यता इन्हें पूर्व में बौद्ध मानती है, जो बाद में मीमांसक हो गए, क्योंकि इन्हें बौद्धदर्शन का भी अत्यधिक सूक्ष्म ज्ञान था। इनके तीन ग्रन्थ मुख्यरूप से मिलते हैं– (अ) श्लोकवार्तिक (ब) तन्त्रवार्तिक (स) टुप्टीका।

(अ) **श्लोकवार्तिक–** इसका प्रणयन ग्रन्थकार ने श्लोकों में किया है। इसीलिए इसे यह संज्ञा प्रदान की गई है। इसमें शाबरभाष्य के प्रथम अध्याय के प्रथम पाद की व्याख्या को श्लोकों में निबद्ध किया गया है। तर्कसम्मत दार्शनिक विचारों की प्रस्तुति के कारण आचार्य शबर ने इसे **'तर्कपाद'** की संज्ञा प्रदान की। इसमें अन्य दर्शन विषयक सिद्धान्तों की आलोचना के साथ–साथ बौद्धदर्शन के सिद्धान्तों की

विशेषरूप से आलोचना की गई है। अतः विद्वानों द्वारा ज्ञान मीमांसा और तत्त्वमीमांसा दोनों ही दृष्टियों से इसकी मुक्त–कण्ठ से प्रशंसा की गई है।

इसकी महत्ता इसी से प्रतीत होती है कि इस ग्रन्थ पर (i) पार्थसारथि मिश्र ने **न्याय रत्नाकर** टीका (ii) सुचरित मिश्र ने काशिका व्याख्या तथा (iii) उम्बेकाचार्य ने तात्पर्य टीका का प्रणयन किया, जिनका प्रकाशन चौखम्बा संस्कृत सीरीज, बनारस एवं त्रिवेन्द्रम् संस्कृत सीरीज से बहुत पहले हो चुका है।

(ब) **तन्त्रवार्तिक–** शाबरभाष्य के प्रथम अध्याय के दूसरे पाद से तृतीय अध्याय तक कुमारिलभट्ट ने इस व्याख्या का प्रणयन किया। गद्यबहुल इस कृति में ग्रन्थकार ने अपनी अद्भुत एवं मौलिक प्रतिभा को अभिव्यक्ति प्रदान की है। इसके अन्तर्गत वेद, प्रत्यक्ष, अनुभव एवं अनुमान आदि प्रमाणों को चिन्तन का आधार बताया है। साथ ही, काल, दिक् आत्मा, परमाणु एवं आकाश इन सभी को वेद के समान ही नित्य माना है।

उल्लेखनीय है कि तन्त्रवार्तिक पर भी टीका एवं व्याख्या ग्रन्थों की संरचना करके विद्वानों ने इसे मान्यता प्रदान की। तदनुसार–(i) सोमेश्वर (राणक) की न्यायसुधा टीका (ii) कमलाकरभट्ट की भावार्थ टीका (iii) गोपश्वर भट्ट की मिताक्षरा टीका (iv) परितोष मिश्र की अजिता टीका (v) अन्नंभट्ट की सुबोधिनी अथवा राणकोज्जीवनी टीका (vi) गंगाधर मिश्र की न्यायपरायण टीकाएँ अपना महत्त्वपूर्ण स्थान रखती हैं।

(स) **टुप्टीका–** शाबरभाष्य के चतुर्थ अध्याय से लेकर बारहवें अध्याय तक के शेष अंश की व्याख्या को इसके अन्तर्गत निबद्ध करके ग्रन्थकार ने शाबरभाष्य की व्याख्या को पूर्णता प्रदान की है। श्लोक वार्तिक एवं तन्त्रवार्तिक दोनों ही ग्रन्थों में ग्रन्थकार ने जिस विशदता को स्वीकार किया, वैसा विस्तार हमें इस कृति में दृष्टिगोचर नहीं होता

है। इसलिए इसे वस्तुतः अत्यन्त संक्षिप्त व्याख्या कहा जा सकता है तथापि इससे इसके महत्त्व पर कोई प्रभाव नहीं पड़ा है। यही कारण है कि कुमारिलभट्ट की इस कृति पर भी अनेक विद्वानों द्वारा लेखनी चलाकर इसके महत्त्व को स्वीकृति प्रदान की गयी, जिनमें–(i) पार्थ सारथि मिश्र की 'तन्त्ररत्न' टीका (ii) वेंकटेश की 'वार्तिकाभरण' टीका तथा (iii) उत्तमश्लोक तीर्थ की 'लघु न्याय सुधा' विशेषरूप से कथनीय हैं। इस प्रसंग में दो बातें विशेष रूप से उल्लेखनीय हैं–

प्रथम, द्रविड़ भाषा के विशेष ज्ञाता होने के आधार पर कुछ विद्वान् उन्हें 'द्राविड़' मानने के पक्षपाती हैं, जो उचित नहीं है। वस्तुतः वे बिहार प्रान्त के मैथिल ब्राह्मण मिथिला निवासी थे। **द्वितीय,** कुमारिल भट्ट के बृहट्टीका और मध्यम टीका नामक अन्य दो ग्रन्थ भी मिलते हैं। अपने श्लोक वार्तिक के पाँचवें सूत्र के नवम श्लोक में उन्होंने 'वृह–ट्टीका' का उल्लेख इसप्रकार किया है–

'अर्थापत्त्यन्तराणामप्युदाहरणप्रपंचः पक्षदोषावसरे।
श्रोत्रादिनास्तितायामित्यादिना 'बृहट्टीकायां' दर्शितः।।

इसी प्रसंग में उल्लेखनीय यह भी है कि आचार्य कुमारिलभट्ट के अद्भुत वैदुष्य से प्रभावित होकर मीमांसक मतानुयायियों का एक वर्ग उन्हीं के सिद्धान्त का अनुयायी होकर 'भाट्टमत' अथवा 'कौमारिल मत' के रूप में सम्पूर्ण दर्शन जगत् में प्रसिद्धि को प्राप्त हुआ।

(झ) **आचार्य प्रभाकर भट्ट**– वस्तुतः शाबरभाष्य के प्रणयन के बाद मीमांसाशास्त्र के अन्तर्गत सैद्धान्तिक दृष्टि से दो ज्ञान धाराओं का प्रवहण देखने को मिलता है, जिसमें एक ज्ञानधारा कुमारिलभट्ट की ओर से प्रवाहित हुई, तो दूसरी के उत्स उन्हीं के शिष्य प्रभाकरभट्ट थे। प्रभाकर आरम्भ से ही अत्यन्त तीक्ष्ण बुद्धि थे और पद–पद पर अपने ही गुरु के मत का खण्डन तार्किक आधार पर करते रहते थे। एक बार उसकी तार्किक शैली से प्रसन्न होकर स्वयं कुमारिलभट्ट ने उन्हें 'गुरु' की उपाधि प्रदान की।

तभी से लेकर उनके मत को 'गुरुमत' के रूप में प्रसिद्धि प्राप्त हुई। इसी प्रसंग में एक बात विशेषरूप से उल्लेख्य हैं कि पं. गंगानाथ झा तथा कीथ महोदय प्रभाकरमत का उद्भावक वार्तिककार को मानने के पक्षधर हैं, प्रभाकरभट्ट को नहीं। यद्यपि अधिकांश विद्वान् उनके इस मत से सहमत नहीं है।

प्रभाकर मिश्र ने **'लघ्वी'** और **'बृहती'** दो ग्रन्थों का प्रणयन शाबरभाष्य की व्याख्या के रूप में किया। इनमें लघ्वी को **'विवरण'** तथा बृहती को **'निबन्धन'** भी कहा जाता है। सरल शैली में निबद्ध इन दोनों ही ग्रन्थों में समस्त पदों का प्रयोग अत्यल्प ही दृष्टिगोचर होता है। अतः भाषा की स्पष्टता दर्शनीय है। इनका समय प्रभाकर भट्ट के समान ही छठी–सातवीं शताब्दी के लगभग ही माना गया है।

(ञ) **उम्बेकाचार्य–** ये सप्तमशती में स्थित भाट्टमत के अनुयायी विद्वानों में अग्रणी रहे हैं। कुछ विद्वान् इन्हें कुमारिलभट्ट का शिष्य मानने के भी पक्षधर हैं। इन्होंने कुमारिलभट्ट के 'श्लोक वार्तिक' ग्रन्थ पर 'तात्पर्य' नामक टीका का प्रणयन किया, जो केवल 'स्फोट– सिद्धि' पर्यन्त ही. लिखा गया है। इसका प्रकाशन मद्रास से हुआ है। इसके अतिरिक्त आचार्य मण्डन मिश्र के 'भावना विवेक' नामक ग्रन्थ के ऊपर इन्होंने एक वैदुष्य पूर्ण व्याख्या का प्रणयन भी किया, जिसका प्रकाशन वाराणसी से हुआ है।

(ट) **आचार्य मण्डन मिश्र–**इनकी गणना मीमांसा दर्शन के भाट्ट मतानुयायियों में की जाती है। विद्वत्परम्परा इन्हें 615 से 695 ई. के मध्य अर्थात् सप्तम शती में स्थित मानती है, जबकि कुछ विद्वान् इन्हें शंकराचार्य का समकालीन स्वीकार करते हैं। शंकर दिग्विजय के अनुसार ये पहले मीमांसक थे, किन्तु एक बार शास्त्रार्थ में शंकराचार्य से पराजित होने के बाद इन्होंने अपनी शर्त के अनुसार अद्वैत वेदान्त को स्वीकार कर लिया था तथा उसके पश्चात् इनकी प्रसिद्धि दार्शनिक जगत् में **'सुरेश्वराचार्य'** के नाम से हुई।

वेदान्त दर्शन पर इनका **'ब्रह्मसिद्धि'** नामक ग्रन्थ उत्कृष्ट ग्रन्थों की श्रेणी में मान्यता प्राप्त है। इसके अतिरिक्त इन्होंने अनेक अद्भुत मीमांसा ग्रन्थों की रचना भी की, जिनमें, विधि–विवेक, विभ्रम–विवेक,[1] भावना–विवेक[2], मीमांसानुक्रमणिका[3] एवं स्फोट–सिद्धि विशेषरूप से उल्लेखनीय हैं। मण्डन मिश्र अपने समय में मगध प्रदेश के उद्भट विद्वान् एवं पूर्व मीमांसक थे। इनका निवास स्थान रेवा नदी के तट पर स्थित प्राचीन **महिष्मती** था।

शंकराचार्य ने जिस श्रृंगेरी मठ की स्थापना की थी, उन्होंने बाद में इनको उसी का आचार्य नियुक्त किया। इनमें वैदुष्य की पराकाष्ठा थी, यही कारण है कि परवर्ती अनेक विद्वानों ने अपने ग्रन्थों में इनके वचनों को प्रमाणरूप में प्रस्तुत किया है। इनके सभी ग्रन्थों में विचारों की प्रौढता एवं सुगठित क्रमबद्धता के दर्शन होते हैं।

उल्लेखनीय है कि शंकराचार्य का शिष्यत्व ग्रहण करने से पूर्व इन्होंने आपस्तम्बीय मण्डनकारिका, काशीमोक्ष निर्णय आदि ग्रन्थों की रचना भी की तथा उसके बाद तैत्तिरीय श्रुतिवार्तिक, नैष्कर्म्यसिद्धि, इष्टसिद्धि, पंचीकरण वार्तिक, बृहदारण्यकोपनिषद् वार्तिक, ब्रह्मसिद्धि, ब्रह्मसूत्र भाष्य वार्तिक, विधिविवेक, मानसोल्लास, लघुवार्तिक, वार्तिक सार एवं वार्तिकसारसंग्रह, जैसे उत्कृष्ट ग्रन्थों का प्रणयन किया तथा संन्यास ग्रहण करने के बाद शांकर मत का ही अपने ग्रन्थों में समर्थन करते हुए प्रचार भी किया।

(ठ) **आचार्य वाचस्पति मिश्र–** इनका समय नवम शताब्दी तथा जन्म स्थान मिथिला माना जाता है। यद्यपि ये विशेषरूप से अद्वैत मत के प्रमुख आचार्य थे, किन्तु इन्होंने अपनी एक कृति **'न्यायकणिका'** में मीमांसकों के **'विधिविवेक'** की सुन्दर व्याख्या प्रस्तुत की है। शांकर

---

1. इसमें ख्यातियों का वैदुष्यपूर्ण विवेचन हुआ है।
2. इसके अन्तर्गत मीमांसकों की आर्थी भावना की मीमांसा हुई है।
3. इसमें महर्षि जैमिनि द्वारा विरचित सूत्रों की श्लोकरूप में संक्षिप्त व्याख्या की गई है।

भाष्य पर **'भामती'** टीका इनका अद्भुत वैदुष्यपूर्ण ग्रन्थ है। प्रायः सभी परवर्ती आचार्यों ने इनके वाक्यों को प्रमाणरूप में स्वीकार किया है। इनके उद्भट वैदुष्य के कारण इन्हें राजसम्मान की भी प्राप्ति हुई। वाचस्पति मिश्र ने सभी छः दर्शनों पर अपनी टीकाएँ लिखकर दर्शन–साहित्य को समृद्धि प्रदान की।

जिनमें वेदान्त पर 'भामती', सुरेश्वर की 'ब्रह्मसिद्धि' पर 'ब्रह्म–तत्त्व समीक्षा' सांख्यकारिका पर 'तत्त्वकौमुदी', पातंजल दर्शन पर 'तत्त्व वैशारदी', न्यायदर्शन पर 'न्यायवार्तिक तात्पर्य', पूर्वमीमांसा पर 'न्याय सूची निबन्ध', भाट्टमत पर 'तत्त्वबिन्दु' और मण्डनमिश्र के विधि–विवेक पर 'न्यायकणिका' नामक टीका विशेषरूप से उल्लेखनीय हैं।

(ड) **पं. शालिकनाथ मिश्र**– नवम शती में स्थित ये गुरुमत के समर्थक थे। ये भी मीमांसाशास्त्र के उद्भट विद्वान् थे। इन्होंने प्रमुख रूप से (i) लघ्वी की 'दीपशिखा' व्याख्या (ii) बृहती की 'ऋजुविमला पंचिका' टीका (iii) मीमांसा भाष्य परिशिष्ट (iv) प्रकरण पंचिका आदि मीमांसा ग्रन्थों की रचना की।

(ढ) **चन्द्रागुरुमताचार्य–** गुरुमत के अनुयायी इनका प्रादुर्भाव ग्यारहवीं शताब्दी के लगभग हुआ। इन्होंने जैमिनिसूत्र की स्वतन्त्र व्याख्या का प्रणयन **'न्यायरत्नाकर'** नाम से किया तथा एक अन्य ग्रन्थ 'अमृतबिन्दु' की संरचना भी की। ये मीमांसाशास्त्र के उद्भट विद्वान् थे।

(ण) **हलायुध भट्ट**– ये भाट्टमत के अनुयायी थे। इनका समय भी ग्यारहवीं शताब्दी के लगभग माना जाता है। इन्होंने मीमांसासूत्र की व्याख्यारूप में एक ही ग्रन्थ की रचना की। इनकी भाषा सरल एवं भावबोध गम्य प्रयुक्त हुई है।

(त)**पं.सोमेश्वरभट्ट**(राणक)–इनका प्रादुर्भाव भी ग्यारहवीं शताब्दी ही मान्य है। ये भाट्टमत के अनुयायी थे। इन्होंने कुमारिलभट्ट के 'तन्त्र वार्तिक' ग्रन्थ पर 'न्यायसुधा' नाम से सुन्दर टीका का प्रणयन किया।

साथ ही, 'तन्त्रसार' नामक एक अन्य मीमांसा ग्रन्थ की संरचना भी की। इनकी गणना मीमांसादर्शन के उत्कृष्ट विद्वानों में की जाती है।

(थ) **पं. मुरारि मिश्र–** इनका समय ग्यारहवीं एवं बारहवीं शती के मध्य स्वीकार किया जाता है। ये भाट्ट और गुरु दोनों ही मतों के अतिरिक्त तृतीय पंथ के अनुयायी थे। इन्होंने **'त्रिपाद नीतिनय'** तथा **'एकादश अध्याय अधिकरण'** नाम से दो मीमांसा ग्रन्थों की रचना की, जिनमें मीमांसासूत्र के सिद्धान्तों को ही स्पष्ट करने का प्रशंसनीय प्रयास किया गया है।

(द) **पं. सुचरित मिश्र–** 'भाट्ट' मत के अनुयायी इनका समय बारहवीं शताब्दी स्वीकार किया गया है। इन्होंने कुमारिल भट्ट की 'श्लोकवार्तिक' पर **'काशिका'** नाम से टीका का प्रणयन करके मीमांसा साहित्य में श्रीवृद्धि की। साथ ही, **'विधि–विचार'** नाम से अन्य ग्रन्थ की संरचना भी की। ये दोनों ही ग्रन्थ इनकी उत्कृष्ट प्रतिभा के निदर्शन कहे जा सकते हैं।

(ध) **आचार्य पार्थसारथि मिश्र–** इनका प्रादुर्भाव भी बारहवीं शती ही स्वीकार किया गया है। कुमारिलभट्ट के सिद्धान्तों का अनुसरण करने वाले विद्वत्समाज में इनका नाम अत्यन्त आदर एवं श्रद्धा के साथ लिया जाता है। प्रायः विद्वान् इनकी जन्म स्थली मिथिला को मानते हैं। कुछ विद्वान् इनका समय नवीं शती मानने के पक्षधर भी हैं। ये मीमांसाशास्त्र के उद्भट विद्वान् थे। भाट्टसम्प्रदाय की यशोवृद्धि हेतु इन्होंने अनेक ग्रन्थों का प्रणयन किया, जिनमें दो प्रकरण ग्रन्थ भी हैं। इनके समय तक 'प्रकरण ग्रन्थों' के लेखन की परम्परा प्रारम्भ हो गई थी, इनके ग्रन्थों की सूची इसप्रकार है–

(अ) **न्याय रत्नमाला–** इसमें सात शास्त्रीय विषयों, प्रयुक्ति–तिलक, स्वतःप्रामाण्य निरूपण, विधि–निर्णय, नित्यकाम्य विवेक, अंग निर्णय तथा व्याप्तिविवेक आदि की सारगर्भित एवं विस्तृत विवेचना की गई है। इस ग्रन्थ की महत्ता इसी से प्रतीत होती है कि सत्रहवीं शती

में स्थित रामानुजाचार्य ने इस पर **'नायकरत्न'** नामक टीका का प्रणयन किया, जिसका प्रकाशन मूल सहित बड़ौदा से हुआ है।

(ब) **शास्त्रदीपिका**– जैमिनिसूत्र पर अधिकरण क्रम के अनुसार इस व्याख्या का प्रणयन किया गया है। इसे मीमांसाशास्त्र के सिद्धान्तों को प्रतिपादित करने वाला उत्कृष्ट ग्रन्थ माना गया है। इसकी महत्ता इसी बात से अभिव्यक्त होती है कि अनेकानेक विद्वानों ने इस ग्रन्थ पर अपनी टीका एवं व्याख्याओं की संरचना करके इसे गौरवान्वित किया, जिसका संक्षेप में विवरण इसप्रकार है–

(स)**शास्त्रदीपिका की टीकाएँ**–(क) आचार्य सोमनाथ की मयूख मालिका टीका (ख) यज्ञनारायण की प्रभामण्डल व्याख्या(ग) अप्यय–दीक्षित की मयूखावलि टीका (घ) राजचूडामणि की कर्पूरवर्तिका टीका (ङ) दिनकरभट्ट की व्याख्या (च) अनुभव आनन्दयति की प्रभामण्डल व्याख्या (छ) चम्पकनाथ की प्रकाश टीका (ज) वैद्यनाथ की प्रभा टीका (झ) रामकृष्ण की सिद्धान्त चन्द्रिका (ञ) भीमाचार्य की व्याख्या (ट) शंकरभट्ट की प्रकाश टीका (ठ) नारायण भट्ट की व्याख्या (ड) कमलाकर भट्ट की आलोक टीका (ढ) सुदर्शनाचार्य की तर्कपाद पर्यन्त प्रकाश टीका (ण) न्यायरत्नाकर की श्लोक वार्तिक टीका विशेष रूप से उल्लेखनीय हैं।

इसी प्रसंग में यह भी ध्यातव्य है कि शास्त्रदीपिका नामक इस महत्त्वपूर्ण ग्रन्थ का प्रकाशन, आचार्य रामकृष्णभट्ट विरचित केवल तर्क–पाद पर्यन्त **'युक्तिस्नेहप्रपूरणी'** तथा आचार्य सोमनाथ की 'मयूख मालिका' टीका के साथ निर्णयसागर प्रेस, मुम्बई से हुआ, जो विद्वानों में अत्यधिक समादृत हुआ।

पार्थसारथि मिश्र से पूर्व भी श्लोकवार्तिक पर अनेक विद्वानों ने टीकाओं का प्रणयन किया, जिनमें मिथिला प्रदेश के निवासी सुचरित मिश्र (दशम शती) की 'काशिका', तन्त्रवार्तिक पर सोमेश्वरभट्ट (ग्यार–हवीं शती) की 'न्यायसुधा' विशेष हैं।

(न) **पं. परितोष मिश्र**–इनका समय भी बारह सौ ईस्वी के लगभग माना गया है। ये मीमांसाशास्त्र के उद्भट विद्वान् थे।

तन्त्रवार्तिक पर इनकी 'अजिता' टीका विशेषरूप से उल्लेखनीय है। विद्वानों की सम्मति में 'न्यायसुधा' की अपेक्षा 'अजिता' टीका अपेक्षाकृत अधिक सरल एवं बोधगम्य प्रयुक्त हुई है। 'अजिता' टीका का ही अन्य नाम **'तत्त्वटीका–निबन्धन'** भी है, ये भाट्टमत के अनुयायी थे।

(प) **पं. गंगाधर मिश्र–** तेरहवीं शती में स्थित इनकी गणना भाट्टमत के अनुयायियों में की जाती है। इन्होंने भी तन्त्रवार्तिक पर ही **'न्यायपरायण'** टीका का प्रणयन किया, जो विद्वानों में अत्यधिक लोकप्रिय हुई। यहाँ तक हमने तेरहवीं शती तक के प्रमुख मीमांसकों का विवरण प्रस्तुत किया। इसके पश्चात् हम शेष मीमांसा दर्शन के विद्वानों का कालक्रम से अत्यन्त संक्षेप में विवेचन प्रस्तुत कर रहे हैं–

(7) **14वीं शती के विद्वान्–** इस काल–खण्ड में नन्दीश्वर, इन्द्रपति ठाकुर, अन्नंभट्ट और भट्ट विष्णु इन चार मीमांसक विद्वानों का प्रादुर्भाव हुआ, जिनका विवरण इसप्रकार है–

क्रं.स.	**विद्वान्**	**मतानुयायी**	**कृति**
1.	नन्दीश्वर	गुरुमत के अनुयायी	प्रभाकर विजय
2.	इन्द्रपति ठाकुर	भाट्टमत के अनुयायी	मीमांसा पल्वल
3.	अन्नंभट्ट	भाट्टमतानुयायी	सुबोधिनी तन्त्रवार्तिक की व्याख्या
4.	भट्टविष्णु	गुरुमत के अनुयायी	क. रणकफक्किका न्यायसुधा की व्याख्या ख. नयतत्त्व संग्रह

(8) **15वीं शती के विद्वान्**– इस कालखण्ड में गोविन्द ठाकुर और माधवाचार्य दो विद्वानों के नाम उपलब्ध होते हैं–

क)	गोविन्द ठाकुर	भाट्टमीमांसक	अधिकरण माला तथा
ख)	माधवाचार्य	भाट्टमीमांसक	जैमिनि न्यायमाला और विस्तर।

(9) **16वीं शती के विद्वान्**– मीमांसा दर्शन के विद्वानों की दृष्टि से 16वीं, 17वीं और 18वीं शती अत्यधिक समृद्ध रही है। इस काल–खण्ड में मीमांसाशास्त्र के अनेक विद्वानों का प्रादुर्भाव हुआ और उन सभी ने अपनी उत्कृष्ट कृतियों की संरचना करके इस शास्त्र के साहित्य को समृद्ध किया, जिनका विवरण क्रमशः इसप्रकार है–

1) अप्पयदीक्षित	भाट्ट मतानुयायी	पद्यमय विधिरसायन ग्रन्थ तथा इसी पर विवेक–सुखोपजीविनी गद्यमयी टीका
2) देवनाथ ठाकुर	भाट्ट मीमांसक	अधिकरण कौमुदी
3) नारायणभट्ट(द्वितीय)	भाट्टमीमांसक	शास्त्रदीपिका के अष्टम अध्याय पर व्याख्या
4) रघुनाथ भट्टाचार्य	भाट्ट मीमांसक	मीमांसा रत्न (मीमांसाशास्त्र का उद्भट ग्रन्थ)
5) वरदराज	गुरु मतानुयायी	भवनाथ के न्याय–विवेक पर 'दीपिका' टीका
6) विजयीन्द्र तीर्थ	भाट्ट मीमांसक	(i) न्यायाध्वदीपिका (ii) मीमांसा न्याय कौमुदी (iii) उपसंहार विजय
7) वेंकटेश्वर दीक्षित	भाट्ट मीमांसक	टुप्टीका की व्याख्या वार्तिकाभरण

(10) **17वीं शती के विद्वान्–** इस शती के मीमांसाशास्त्रियों का संक्षेप में परिचय इसप्रकार है–

1 अनन्तदेव (द्वितीय)	भाट्ट मीमांसक	(i) मीमांसा न्याय प्रकाश की टीका फल सांकर्य खण्डन (ii) स्मृति कौस्तुम्भ।
2 आपदेव	भाट्ट मीमांसक	(i) मीमांसा न्याय प्रकाश (ii) अधिकरण चन्द्रिका
3 कमलाकर भट्ट	भाट्ट मीमांसक	(i) आलोक शास्त्रदीपिका की टीका (ii)भावार्थ–तन्त्र वार्तिक की टीका (iii) शास्त्रमाला–जैमिनीय सूत्र की स्वतन्त्र व्याख्या।
4 कौण्डदेव	भाट्ट मीमांसक	(i) भाट्टमत प्रदीपिका
5 खण्डदेव मिश्र	भाट्ट मीमांसक	(i) भाट्ट रहस्य (ii) मीमांसा कौस्तुभ (iii) भाट्ट दीपिका
6 गदाधर भट्टाचार्य	भाट्ट मीमांसक	(i) विधि स्वरूप विचार

7 गोपाल भट्ट (द्वितीय)	भाट्टमीमांसक	(i) विधिभूषण
8 चिदानन्द पण्डित	भाट्ट मीमांसक	(i) नीतितत्त्वाविर्भाव
9 जीवदेव	भाट्ट मीमांसक	(i) भट्टभास्कर
10 दिनकर भट्ट	भाट्ट मीमांसक	शास्त्रदीपिका की टीका (i) भाट्ट दिनकरी
11 नीलकण्ठ दीक्षित	भाट्ट मीमांसक	(i) मीमांसा न्याय संग्रह भट्टारक।
12 यज्ञनारायण दीक्षित	भाट्ट मीमांसक	प्रभामण्डल तर्कपाद के अतिरिक्त अंश की व्याख्या।
13 राघवेन्द्र यति	भाट्ट मीमांसक	(i) भट्टसंग्रह जैमिनिसूत्र की व्याख्या।
14 राजचूडामणिदीक्षित	भाट्ट मीमांसक	(i) तन्त्र रक्षामणि, जैमिनिसूत्र की व्याख्या (ii) कर्पूरवर्तिका शास्त्रदीपिका की व्याख्या (iii) संकर्ष न्याय मुक्तावली जैमिनि के संकर्षकाण्ड पर टीका
15 रामकृष्णदीक्षित	भाट्ट मीमांसक	(i) मीमांसा न्याय दर्पण जैमिनिसूत्र की व्याख्या
16 विश्वेश्वर अथवा गागाभट्ट	भाट्ट मीमांसक	(i) भाट्ट चिन्तामणि मीमांसा सूत्रों की स्वतन्त्र व्याख्या (ii) कुसुमांजलि जैमिनि सूत्रवृत्ति (i) शिवार्कोदय श्लोकवार्तिक पर पद्यबद्ध ग्रन्थ।
17 वेंकटाध्वरिन्	भाट्ट मीमांसक	(i) विधित्रय परित्राण (ii) मीमांसा मकरन्द
18 वैद्यनाथ तत्सत्	भाट्ट मीमांसक	(i) प्रभाशास्त्र दीपिका टीका (ii) न्यायबिन्दु टीका अधिकरण क्रम से लिखित।
19 शंकरभट्ट (प्रथम)	भाट्ट मीमांसक	(i)प्रकाश शास्त्रदीपिका की टीका (ii) मीमांसा बालप्रकाश (iii) मीमांसा संग्रह
20 शंकरभट्ट (द्वितीय)	भाट्ट मीमांसक	(i) भट्ट भास्कर,

		जैमिनिसूत्र की व्याख्या
21 सोमनाथ दीक्षित	भाट्ट मीमांसक	(i) मयूख मालिका, तर्कपाद के अलावा शास्त्रदीपिका के शेषांश की व्याख्या।
22 भट्टकेशव	भाट्टमीमांसक	मीमांसार्थ प्रकाश
23 रामकृष्णभट्ट	भाट्टमीमांसक	सिद्धान्त चन्द्रिका शास्त्र दीपिका की तर्कपदान्त टीका

(11) 18वीं शती के विद्वान्– इस शती के मीमांसकों का संक्षिप्त परिचय इसप्रकार है–

1. कृष्णयज्वन्	भाट्ट मीमांसक	मीमांसा परिभाषा
2. नारायण तीर्थ	भाट्ट मीमांसक	भाट्ट परिभाषा
3. नारायण पण्डित	भाट्ट मीमांसक	पिष्ट पशु मीमांसा गद्य पद्यमयी रचना।
4. नारायण भट्ट (प्रथम)	भाट्ट मीमांसक	निबन्ध–तन्त्रवार्तिक टीका मानमेयोदय
5. ब्रह्मानन्द सरस्वती	भाट्ट मीमांसक	मीमांसा चन्द्रिका जैमिनिसूत्र की व्याख्या
6. भास्कर राय	भाट्ट मीमांसक	वाद कुतूहल
7. मुरारि मिश्र (तृतीय)	भाट्ट मीमांसक	अंगत्व निरुक्ति
8. राघवानन्द सरस्वती	भाट्ट मीमांसक	मीमांसासूत्र दीधिति अथवा न्याय लीलावती मीमांसा–स्तवक
9. रामानुजाचार्य	भाट्ट व गुरुमत समर्थक	(i) तन्त्ररहस्य (प्रभाकर मत का) (ii) नायकरत्न पार्थसारथि मिश्र की 'न्याय रत्नमाला' की टीका।
10. वासुदेव दीक्षित	भाट्ट मीमांसक	अध्वर मीमांसा कुतूहल वृत्ति
11. शम्भुभट्ट	भाट्ट मीमांसक	(i) प्रभावली भाट्टदीपिका की व्याख्या (ii) पूर्वमीमांसाधिकरण संक्षेप

उपर्युक्त विवरण से स्पष्ट है कि इस कालखण्ड में लगभग सत्तर से भी अधिक विद्वानों ने मीमांसादर्शन को अपनी लेखनी द्वारा

समृद्ध किया, किन्तु यह सूची भी अन्तिम नहीं है। इससे कहीं अधिक विद्वानों ने इस दिशा में प्रयास किए होंगे, जिनका नाम काल के गाल में समा गया होगा।

इसके अतिरिक्त उपर्युक्त सारणियों का अवलोकन करने पर हम यह भी देखते हैं कि गुरुमत की अपेक्षा भाट्टमत अधिक लोकप्रिय हुआ। अधिकांश विद्वानों ने भाट्ट मत को ही अपेक्षाकृत अधिक स्पष्ट करने का प्रयास किया।

(12) **लौगाभिक्षास्कर**– मीमांसा दर्शन पर इनकी एकमात्र कृति 'अर्थसंग्रह' उपलब्ध होती है। भास्कर इनका नाम तथा 'लौगाक्षि' इनके वंश का नाम था। ये आचार्य **मुद्गल के पुत्र** एवं **रुद्र के पौत्र** थे। विद्वानों ने इनके दाक्षिणात्य होने की सम्भावना व्यक्त की है। कुछ विद्वानों का यह भी मानना है कि–'अर्थसंग्रह' के मंगलाचरण में इन्होंने 'वासुदेव' पद द्वारा अपने पिता का तथा 'रमा' पद द्वारा अपनी माता का स्मरण किया है।[1]

'अर्थसंग्रह' ग्रन्थ की रचना इन्होंने ऐसे जिज्ञासुओं के लिए की है, जो महनीय मीमांसाशास्त्र में प्रवेश करना चाहते हैं।[2] अतः यहाँ प्रकरण ग्रन्थों के प्रणयन का निर्वाह करते हुए अत्यन्त सरल भाषा शैली में 'मीमांसा दर्शन' के सिद्धान्तों को प्रतिपादित किया गया है।

'अर्थसंग्रह' के अतिरिक्त इन्होंने **'तर्ककौमुदी'** नामक ग्रन्थ का भी प्रणयन किया, जिसमें वैशेषिक सिद्धान्तों का अत्यन्त सरलरूप में प्रतिपादन किया गया है। इस प्रसंग में उल्लेखनीय यह भी है कि इस कृति में इन्होंने स्वयं को **'भास्कर शर्मा'** इस नाम से उद्धृत किया है–

विद्वद्भास्करशर्मा यो बालव्युत्पत्तिसिद्धये।

---

[1]. वासुदेव रमाकान्तं नत्वा लौगाक्षिभास्करः।
कुरुते जैमिनिनये प्रवेशाय अर्थसंग्रहः।।

[2]. बालानां सुखबोधाय भास्करेण सुमेधसा।
रचितोऽयं समासेन जैमिनीयार्थसंग्रहः।।

यथा कणादसिद्धान्तमकरोत्तर्ककौमुदीम्।।

इसी प्रसंग में उल्लेखनीय बिन्दु यह भी है कि लौगाक्षिभास्कर के जन्म स्थान के विषय में, वस्तुतः दो मत प्रचलित हैं। **प्रथम**, ये दाक्षिणात्य थे, जिसको 'मीमांसा कुसुमांजलि' के प्रणेता डॉ. उमेश मिश्र एवं अन्य कुछ विद्वान् मान्यता प्रदान करते हैं, जबकि उनकी तर्क–कौमुदी कृति में एक स्थल पर 'मणिकर्णिका' का उल्लेख होने के कारण डॉ. ए. बी. कीथ इन्हें वाराणसी का निवासी मानने के पक्षधर रहे हैं, किन्तु इनके वंशादि के कारण (लौगाक्षि) इन्हें दाक्षिणात्य मानना ही उपयुक्त प्रतीत हो सकता है, किन्तु यह सम्भव है कि तर्ककौमुदी की रचना के समय इनका दीर्घकालीन प्रवास वाराणसी में रहा हो।

इसके अलावा इस बात से अधिकांश विचारक सहमत हैं कि लौगाक्षिभास्कर एवं आपदेव दोनों ही मीमांसक विद्वान् सत्रहवीं शताब्दी में रहे हैं, किन्तु इस सम्बन्ध में भी विद्वानों में मतैक्य नहीं है कि आपदेव, लौगाक्षिभास्कर से पूर्ववर्ती हैं अथवा लौगाक्षिभास्कर, आपदेव से पहले हुए हैं, इसका मुख्य कारण आपदेव के 'मीमांसा न्याय प्रकाश' और 'अर्थसंग्रह' में परस्पर साम्य रहा है। इसलिए यहाँ इस सम्बन्ध में चिन्तन करना भी अनिवार्य प्रतीत होता है।

(a) **लौगाक्षिभास्कर का आपदेव से परवर्ती होने का पक्ष–** इसे मानने वालों में डॉ. कीथ और डॉ. राधाकृष्णन् एवं महामहोपाध्याय चिन्नस्वामी शास्त्री का नाम विशेषरूप से उल्लेखनीय है। इनका मत है कि लौगाक्षिभास्कर ने 'आपदेव' के 'मीमांसा न्याय प्रकाश' को आधार बनाकर अपने मीमांसाग्रन्थ 'अर्थसंग्रह' का प्रणयन किया। इसीकारण ये विद्वान् इनका समय सत्रहवीं शताब्दी मानने के पक्षधर भी हैं, किन्तु एफ. एजर्टन महोदय इन्हें आपदेव से पूर्ववर्ती मानने के प्रबलतम समर्थकों में से हैं। इन्होंने आपदेव के 'मीमांसा न्यायप्रकाश' का अंग्रेजी में अनुवाद किया तथा इसकी भूमिका में इन्होंने लौगाक्षिभास्कर को आपदेव से पूर्ववर्ती होने के सम्बन्ध में अनेक प्रकार के तर्क प्रस्तुत

किए। हम यहाँ प्रथमतः डॉ. कीथ एवं डॉ. राधाकृष्णन् द्वारा इस सम्बन्ध में प्रस्तुत तर्कों को प्रस्तुत कर रहे हैं, जो उन्होंने एजर्टन महोदय के मत का खण्डन करने के लिए प्रस्तुत किए हैं–

'अर्थसंग्रह' लघु आकार में एक प्रकरण ग्रन्थ होने के कारण मीमांसाशास्त्र के सिद्धान्तों को स्पष्ट करने में अनेक स्थलों पर वैसा सफल नहीं हो सका है, जिन्हें स्पष्ट करने के लिए उनके परवर्ती आपदेव ने अपने 'मीमांसा न्यायप्रकाश' नामक ग्रन्थ की संरचना की।

यह भी सत्य है कि इन दोनों ही मीमांसकों ने अपने–अपने विषय का आकलन करने के लिए पार्थसारथि मिश्र द्वारा विरचित न्यायरत्न माला, तन्त्ररत्न और शास्त्रदीपिका का पर्याप्त उपयोग किया है और इसका महत्त्वपूर्ण कारण यह हैं, इन दोनों ही ग्रन्थों में पार्थ–सारथि मिश्र के ग्रन्थों की अनेकानेक पंक्तियाँ अनेक स्थलों पर अविकल रूप से प्रयुक्त हुई हैं।

इसके अतिरिक्त सत्रहवीं शती मीमांसा युग का 'ह्रास काल' माना गया है। इसलिए विषय को सरल करने की दृष्टि से इस युग में विरचित ग्रन्थों का कलेवर एवं स्वरूप अपेक्षाकृत न्यून होता गया है, जिसकी परिणति लौगाक्षिभास्कर का प्रकरण ग्रन्थ संक्षिप्त 'अर्थसंग्रह' है, जिसमें मीमांसा सिद्धान्तों को अत्यन्त सरलरूप में प्रस्तुत किया गया है।

तदनुसार– ऐसा प्रतीत होता है कि आपदेव का 'मीमांसा न्याय प्रकाश' ग्रन्थ भी मीमांसा का प्रारम्भिक ज्ञान प्राप्त करने वाले जिज्ञासुओं के लिए अपेक्षाकृत क्लिष्ट प्रतीत रहा होगा, जिसके कारण लौगाक्षिभास्कर ने अत्यन्त सरल और लघुरूप में 'अर्थसंग्रह' की रचना की होगी।

इसीप्रकार जिन मतों का खण्डन आपदेव ने अपने 'मीमांसा न्याय प्रकाश' में किया है, वे सभी प्रायः प्राचीन रहे हैं। इस प्रसंग में उल्लेखनीय यह भी है कि इस मत के समर्थक **चिन्नस्वामी** ने ऐसे

स्थलों का अन्वेषण करके उनके प्रासंगिक अन्य मतों के उद्भावकों का कथन भी किया है।

.इस सम्बन्ध में हमारा भी यही मन्तव्य है कि 'अर्थसंग्रह' मीमांसाशास्त्र का कोई नवीन ग्रन्थ अथवा मत नहीं है, अपितु प्राचीन ग्रन्थों में प्रतिपादित सिद्धान्तों के आधार पर उन्हें सरलतमरूप में सरल भाषा एवं शैली में प्रस्तुत करने का लेखक का श्लाघनीय प्रयास है।

इसके अलावा 'अर्थसंग्रह' का कलेवर अत्यन्त संक्षिप्त होने के कारण इसमें ग्रन्थकार को मीमांसा के अन्य अनेक मतों के खण्डन–मण्डन का अवसर नहीं मिल सका है। यही कारण है कि अर्थसंग्रहकार ने 'आपदेव' के 'मीमांसा न्याय प्रकाश' के अनेक खण्डन करने योग्य स्थलों का खण्डन नहीं किया है। अतः इस आधार पर उन्हें आपदेव का पश्चाद्वर्ती मानना संगत प्रतीत नहीं होता।

(b) **लौगाक्षिभास्कर का आपदेव से पूर्ववर्तीत्व–** इस मान्यता के विद्वानों में प्रमुखरूप से 'मीमांसा न्याय प्रकाश' के अंग्रेजी अनुवादक श्री **एजर्टन महोदय** का नाम विशेषरूप से उल्लेखनीय है। उनके मत में–

(i) 'मीमांसा न्याय प्रकाश' के अनेक अंशों में 'अर्थसंग्रह' के साथ प्रासंगिकता एवं सामीप्य की प्रतीति होती है, न कि पार्थसारथि मिश्र की 'न्यायरत्न माला' के अंशों से। अतः लौगाक्षिभास्कर को आपदेव का पूर्ववर्ती मानना उचित प्रतीत होता है।

(ii) इस प्रसंग में उल्लेखनीय यह भी है कि चिन्नस्वामी ने कुछ इसप्रकार के समान अंशों की तुलना करते हुए पार्थसारथि मिश्र की 'न्यायरत्न माला' को ही आपदेव के 'मीमांसा न्याय प्रकाश' नामक रचना का आधार माना है, किन्तु इसी क्रम में यह भी ध्यातव्य है कि वे अंश अपेक्षाकृत 'अर्थसंग्रह' के मन्तव्य के अधिक निकट कहे जा सकते हैं।

(iii) इस सम्बन्ध में लेशमात्र भी संदेह नहीं है कि आपदेव ने अपनी कृति की संरचना में 'न्यायरत्नमाला' का उपयोग किया है, किन्तु साम्य के आधार पर अनेक अंश 'न्यायरत्नमाला' की अपेक्षा 'अर्थसंग्रह' से लिए हुए प्रतीत होते हैं।

(iv) 'अर्थसंग्रह' अत्यन्त लघु आकार का मीमांसा ग्रन्थ है तथा इसमें अनेक स्थल अस्पष्ट भी हैं। यही कारण है कि आपदेव जैसे विद्वान् ने इसकी स्पष्टता के लिए, 'अर्थसंग्रह' को आधार बनाकर उसी वर्ण्य विषय का अपेक्षाकृत विस्तृत विवेचन अपने ग्रन्थ 'मीमांसा न्याय प्रकाश' में किया है। अतः आपदेव को लौगाक्षिभास्कर का परवर्ती मानना संगत प्रतीत होता है।[1]

(v) एजर्टन महोदय का मन्तव्य यह भी है कि–मीमांसा न्याय प्रकाश में ऐसे भी कुछ अंश उपलब्ध होते हैं, जिनमें अर्थसंग्रहकार के मतों का खण्डन किया गया है और ऐसा परवर्ती व्यक्ति द्वारा ही किया जा सकता है, पूर्ववर्ती द्वारा नहीं। अतः अर्थसंग्रहकार, आपदेव से पूर्ववर्ती सिद्ध होते हैं। उन्होंने इस क्रम में ऐसे कई स्थलों की ओर निर्देश किया है, जहाँ अर्थसंग्रहकार के मतों का खण्डन किया गया है, **जैसे–** 'मीमांसा न्याय प्रकाश' में प्रयुक्त[2]– **'न तन्मात्रसंकोचार्यत्वा दुपसंहारस्य, तदन्यमात्रसंकोचार्थत्वात् पर्युदासस्येति केचित्।'**

इत्यादि अंश को एजर्टन महोदय 'अर्थसंग्रह' के इस अंश का खण्डन मानने के पक्षधर हैं–

उपसंहारो हि तन्मात्रसंकोचार्थः। .... पर्युदासस्तु तदन्यमात्र–संकोचार्थ इति ततो भेदात्।[3]

(vi) उनकी मान्यता है कि यहाँ प्रयुक्त 'केचित्' और 'अन्ये' पदों से क्रमशः सोमेश्वर एवं पार्थसारथि मिश्र के मतों का ग्रहण करना

---

[1]. मीमांसान्याय प्रकाश– प्रस्तावना–पृष्ठ– 20।

[2]. मीमांसा न्याय प्रकाश– पृष्ठ– 172–173।

[3]. अर्थसंग्रह, विभाग संख्या– 83।

उचित नहीं है। चिन्नस्वामी शास्त्री ने कुछ ऐसा ही किया है, जो संगत प्रतीत नहीं होता है। इसका महत्त्वूपर्ण कारण इनकी कृतियों में प्रासंगिक मतों का प्राप्त न होना रहा है।

उपर्युक्त संक्षिप्त विवेचन से स्पष्ट है कि लौगाक्षिभास्कर को आपदेव का परवर्ती मानना अधिक उचित एवं न्यायसंगत प्रतीत होता है और उसका महत्त्वपूर्ण कारण ग्रन्थ प्रणयन की सरणि हमेशा प्रौढ़ता से सरलता की ओर प्रवाहित होती है। 'अर्थसंग्रह' आपदेव के 'मीमांसा न्याय प्रकाश' ग्रन्थ की अपेक्षा सरल एवं सुबोध भाषा में लिखा गया 'प्रकरण ग्रन्थ' है, जबकि आपदेव का 'मीमांसा न्याय प्रकाश' एक प्रौढ़ शैली में लिखा हुआ है। अतः डॉ. कीथ, चिन्नस्वामी तथा डॉ. राधाकृष्णन् का मत इस विषय में मान्य एवं प्रशस्य है।

(c) **लौगक्षिभास्कर की कृतियाँ–** जैसा कि हम पूर्व में उल्लेख कर चुके हैं कि लौगाक्षिभास्कर ने केवल दो ही कृतियों की संरचना की। **प्रथम,** न्याय वैशेषिक का ग्रन्थ 'तर्ककौमुदी' तथा **द्वितीय,** मीमांसा शास्त्र का प्रकरण ग्रन्थ 'अर्थसंग्रह'।

हम यहाँ इन दोनों कृतियों का अत्यन्त संक्षेप में परिचय प्रस्तुत कर रहे हैं–

(a) **तर्ककौमुदी–** तर्ककौमुदी लौगाक्षिभास्कर का अद्वितीय वैशेषिक ग्रन्थ है। इन दोनों ग्रन्थों में किस ग्रन्थ की रचना पहले की गई, इस सम्बन्ध में स्पष्टरूप से नहीं कहा जा सकता है, पुनरपि इतना अवश्य है कि इसमें ग्रन्थकार ने 'प्रशस्तपाद भाष्य' का अनुकरण किया है। मंगलाचरण के बाद ग्रन्थ के आरम्भ में वैशेषिक दर्शन के सप्त पदार्थों व नौ द्रव्यों का कथन इसप्रकार किया गया है–

'तत्राभिधेयाः पदार्थाः। ते च द्रव्यगुणकर्मसामान्यविशेषसमवा–याभावाः सप्तैव। द्रव्याणि पृथिव्यप्तेजोवाप्वाकाशकालदिगात्ममनांसि नवैव।'

तत्पश्चात् इन सबकी व्याख्या की गई है। इसी प्रसंग में उल्लेखनीय यह भी है कि यहाँ न्यायसम्मत पदार्थों का भी विवेचन हुआ है। इस कृति के उपसंहार में ग्रन्थकार ने अपना नाम 'भास्कर शर्मा' बताया है। साथ ही, 'अर्थसंग्रह' के समान ही यहाँ भी वासुदेव को अत्यन्त आदर के साथ नमन किया गया है–

श्रीवासुदेवं सुरवैरिभंगं रमाधरालङ्कृतसुन्दरांगम्।
पादाब्जसंभूतपवित्रमङ्गं नमामि तं वारितदोसषङ्गम्।।

इन्हीं उल्लेखों के आधार पर कुछ विद्वानों ने इनकी माता का नाम **रमा** तथा पिता **वासुदेव** को बताने का प्रयास किया है, जो संगत प्रतीत नहीं होता है। स्पष्टरूप से यहाँ लेखक की पौराणिक देव भगवान् विष्णु के प्रति आस्था की अभिव्यक्ति हुई है।

कहते हैं कि लौगाक्षिभास्कर को अपने वैदुष्य पर अत्यधिक अहंकार था, तभी तो उन्होंने अपने लिए विद्वत्भास्करशर्मा विशेषण का प्रयोग स्वयं ही किया है। इसके अतिरिक्त 'अर्थसंग्रह' में प्रयुक्त 'सुमेधसा' पद भी इसी कथ्य की पुष्टि करता प्रतीत होता है।

इसी प्रसंग में उल्लेख्य तथ्य यह भी है कि 'अर्थसंग्रह' के प्रणयन के समय इन्होंने मीमांसा दर्शन के प्रवर्तक आचार्य जैमिनि को स्मरण न करके तर्ककौमुदी में 'अक्षपाद' एवं 'कणाद' को स्मरण किया है, जो इनकी स्वतन्त्र विचारधारा की पुष्टि करता है–

अक्षपादं मुनिं नत्वा कणादं च ततः परम्।
लौगाक्षिणा भास्करेण तन्यते तर्ककौमुदी।।[1]

इन उल्लेखों से इनका पूर्व में न्याय वैशेषिक होना तथा पहले तर्ककौमुदी की रचना करना भी अभिव्यंजित होता है, किन्तु इस सम्पूर्ण विवेचन से इतना निश्चयपूर्वक अवश्य कहा जा सकता है कि लौगा–क्षिभास्कर ने अपने दोनों ही ग्रन्थों का प्रणयन 'बालव्युत्पत्तिसिद्धि' और

---

1 विद्वत्भास्करशर्मा यो बालव्युत्पत्तिसिद्धये।
यथा कणादसिद्धान्तमकरोत्तर्ककौमुदीम्।।

'बालानां सुखबोधाय' किया है, जिसमें उन्हें पर्याप्त सफलता भी प्राप्त हुई है। यद्यपि अन्नंभट्ट के 'तर्कसंग्रह' नामक वैशेषिक दर्शन के ग्रन्थ के समक्ष उनकी 'तर्ककौमुदी ' को उसप्रकार की मान्यता प्राप्त नहीं हो सकी, किन्तु 'अर्थसंग्रह' ने अवश्य मीमांसाशास्त्र की सरलरूप में प्रस्तुति की दृष्टि से प्रशंसनीय मान्यता प्राप्त की है।

(b) **''अर्थसंग्रह' लेखन का प्रयोजन–** ऐसा प्रतीत होता है कि ग्रन्थकार के प्रादुर्भाव काल सत्रहवीं शताब्दी में विद्यमान साहित्यिक एवं सामाजिक दोनों ही प्रकार की परिस्थितियों ने इन्हें इन दोनों लघु प्रकरण ग्रन्थों का प्रणयन करने की प्रेरणा प्रदान की। इस काल–खण्ड में विशेषरूप से न्याय और वेदान्तदर्शन का पठन–पाठन विद्वानों के प्रचलन में अधिक रहा। इसीकारण इन दोनों दर्शनों के समक्ष विद्वानों व सामान्य अध्येताओं को मीमांसा–दर्शन अपेक्षाकृत क्लिष्ट प्रतीत होने लगा तथा इसी समय मीमांसाशास्त्र का ज्ञान प्राप्त करने के लिए विशालकाय और समासप्रधान सभी ग्रन्थ अनुपयोगी से रह गए।

अतः इस दर्शन की गुत्थियों को सरल भाषा शैली में लिखे जाने की आवश्यकता अनुभव की जाने लगी, जिससे अत्यन्त सरलता पूर्वक मीमांसा दर्शन के गूढ़ तत्त्वों को समझा जा सके। युग की इस आवश्यकता की अनुभूति करके लौगाक्षिभास्कर ने क्रमशः वैशेषिक दर्शन तथा उसके बाद मीमांसा दर्शन पर 'तर्ककौमुदी' और 'अर्थसंग्रह' इन दोनों प्रकरण–ग्रन्थों का प्रणयन किया। इन दोनों ही ग्रन्थों में लेखक द्वारा स्पष्टरूप से 'बालानां सुखबोधाय'[1] तथा 'बालव्युत्पत्ति–सिद्धये'[2] लिखना उक्त तथ्य की पुष्टि करता है।

(c) **'अर्थसंग्रह' की टीकाएँ एवं व्याख्या ग्रन्थ–** 'अर्थसंग्रह' यद्यपि स्वयं में मीमांसा–दर्शन का प्रवेश द्वार है तथापि इसको अपेक्षा कृत अधिक सरल बनाने के लिए अनेकानेक विद्वानों ने इस लघु ग्रन्थ

1. 'अर्थसंग्रह' के उपसंहार में लेखन।
2. 'तत्त्वकौमुदी' के अन्त में लेखन।

पर अपनी लेखनी चलाकर बोधगम्य बनाने का प्रशंसनीय प्रयास किया, जिनका विवरण इसप्रकार है–

(i) **'अर्थसंग्रह' कौमुदी टीका**– इसका लेखन परमहंस **रामेश्वर भिक्षु** द्वारा किया गया। इसे सर्वाधिक प्राचीन होने का गौरव प्राप्त है। इनके गुरु का नाम **'सदाशिवेन्द्र सरस्वती'** और परम गुरु का नाम **'गोपालेन्द्र सरस्वती'** था। इस टीका का लेखन वाराणसी में निवास करते हुए किया गया। ये सभी सूचनाएँ हमें इसी टीका ग्रन्थ के उपसंहारात्मक श्लोकों से प्राप्त होती हैं। मंगलाचरण के अन्तर्गत ग्रन्थकार ने स्वयं ग्रन्थ के लेखन का प्रयोजन बताते हुए कहा है कि–

श्रीजैमिनितये ग्रन्थप्रवेशाय निरूपतिः।
विदुषां तत्र बालानां कौमुदीयं वितन्यते।।[1]

अर्थात् बालबुद्धि जिज्ञासुओं के लिए जो जैमिनिशास्त्र में प्रवेश करना चाहते हैं, इस कौमुदी टीका का विस्तार किया जा रहा है।

ऐसा प्रतीत हो रहा है कि संन्यास परम्परा में दीक्षित होने के कारण इन्होंने अपने वंश का उल्लेख यहाँ नहीं किया है। इसमें मूल लेखक के प्रत्येक विषय को स्पष्ट एवं विशदरूप से प्रस्तुत करने का श्लाघनीय प्रयास किया है। सामान्य अध्येता को भी इसके अध्ययन से मूलग्रन्थ का अभिप्राय एवं मीमांसाशास्त्र के सिद्धान्तों का परिचय सहज ही हृदयंगम होता जाता है।

इस टीका का सर्वप्रथम प्रकाशन 1900 ई. के लगभग बनारस से तथा उसके बाद 1922 ई. में बम्बई से हुआ। पुनः इसके बम्बई एवं बनारस से अनेक संस्करण अलग–अलग स्थानों से प्रकाशित हो चुके हैं, जो इस ग्रन्थ की लोकप्रियता का परिचायक कहा जा सकता है। इन संस्करणों में डॉ. जी. थिबो का अंग्रेजी अनुवाद प्रमुख है।

(ii) **अर्थप्रतिपादिका टीका**– इस ग्रन्थ की दूसरी महत्त्वपूर्ण टीका महामहोपाध्याय **कृष्णनाथ** न्याय पंचानन की 'अर्थ प्रतिपादिका'

---

1. **'तत्त्वकौमुदी के अन्त में लेखन। 'अर्थसंग्रह कौमुदी मंगलाचरण श्लोक।**

है। यह ग्रन्थ 1882 ई. में प्रकाशित हुआ। इसके अतिरिक्त डॉ. डी. वी. गोखले ने 'कौमुदी' व्याख्या सहित इसका अंग्रेजी अनुवाद किया, जिसको अन्त में शब्दकोष सहित ओरिएण्टल बुक एजेन्सी, पूना ने 1932 ई. में प्रकाशित किया। इसीप्रकार ए. बी. गजेन्द्र गडकर और डी. करमकर दोनों ने संयुक्तरूप से 'अर्थसंग्रह' का अनुवाद, सरल अंग्रेजी टिप्पणियों के साथ किया, जो अपनी बोधगम्यता एवं विस्तार के कारण अत्यन्त लोकप्रिय हुआ।

(iii) **दीपिका टीका**– इसके अलावा 1953 ई. में चौखम्बा संस्कृत सीरीज, बनारस से श्री **टाटाम्बर** स्वामी द्वारा विरचित 'दीपिका' नामक हिन्दी टीका प्रथम बार प्रकाशित हुई। अत्यन्त संक्षिप्त इस टीका में लेखक ने रामेश्वर की कौमुदी व्याख्या का अनुसरण किया है।

(iv) **अर्थालोक टीका–** इसके बाद 1977 ई. में संस्कृत के उद्भट विद्वान् पं. पट्टाभिराम शास्त्री के 'अर्थालोक लोचन' टीका का प्रकाशन चौखम्बा ओरियण्टालिया द्वारा बनारस से किया गया। संस्कृत भाषा में लिखी गई इसी टीका को प्रस्तुत करते हुए डॉ. वाचस्पति उपाध्याय ने 'अर्थालोक लोचन' का प्रणयन किया, जिसका प्रकाशन चौखम्बा पब्लिशर्स ने बनारस से 2014 ई. में किया है।

(v) **अन्य टीकाएँ–** इसके अतिरिक्त डॉ. दयानन्द शास्त्री की अर्थबोधिनी चौखम्बा विद्या भवन, वाराणसी से 2003 ई. में प्रकाशित हिन्दी व्याख्या एवं डॉ. कामेश्वर मिश्र द्वारा विरचित हिन्दी टीका का प्रकाशन भी 'प्रकाश' हिन्दी व्याख्या सहित चौखम्बा प्रकाशन द्वारा 2017 में किया गया।

(अ) **अमला टीका–** इसके अलावा जीवानन्द विद्यासागर की टीका जिसका प्रकाशन कलकत्ता से हुआ, महामहोपाध्याय श्री प्रमथ नाथ तर्कभूषण की 'अमला' टीका जो 1899 ई. में यही से प्रकाशित हुई हैं, सारगर्भित एवं महत्त्वपूर्ण टीकाओं में परिगणित है।

(आ) इसीप्रकार लेखक की भी 'चन्द्रिका' हिन्दी व्याख्या डायग्राम के साथ चौखम्भा ओरियन्टालिया, दिल्ली से सन् 2019 में प्रकाशित हुई है।

प्रस्तुत इतिहास लेखन में डॉ. वाचस्पति उपाध्याय, डॉ. कामेश्वर मिश्र एवं डॉ. दयानन्द शास्त्री तथा अन्यान्य अनेक टीका ग्रन्थों से विशेषरूप से सहायता ली गई है। मीमांसक आचार्यों के काल–निर्धारण जिसे हमने यहाँ सरलता की दृष्टि से प्रस्तुत किया है। एतदर्थ हम इन सभी विद्वानों के प्रति विशेष रूप से हृदय से आभार और धन्यवाद ज्ञापित करते हैं।

(13) **मीमांसा दर्शन के सिद्धान्त** – मीमांसाशास्त्र के प्रकरण ग्रन्थ 'अर्थसंग्रह' का प्रमुख प्रतिपाद्य जैमिनीय सिद्धान्तों को आधार बनाकर इनकी सरलरूप में प्रस्तुति करना है। विषय के गाम्भीर्य को ध्यान में रखते हुए, वेद का अध्ययन किए हुए जिज्ञासु को अत्यन्त अल्प प्रयास से सरल एवं सुबोध शैली में धर्मविषयक विचार में प्रवेश कराना ही इसका मुख्य प्रयोजन रहा है। इसी कथ्य को ग्रन्थकार ने अन्त में अभिव्यक्ति प्रदान की है।[1]

(1) **उपोद्घात–** ग्रन्थ का आरम्भ करते समय आचार्य लौगाक्षिभास्कर ने इस शास्त्र के प्रयोजन को सुनिश्चित एवं सिद्ध करने के लिए जिज्ञासु के मन में धर्म के प्रति जिज्ञासा की उत्पत्ति हेतु मीमांसाशास्त्र का प्रथम जैमिनिसूत्र ही उद्धृत किया है–

'अथातो धर्मजिज्ञासा'

इससे इतना तो स्पष्ट ही है कि मीमांसा दर्शन एक धर्मशास्त्र है, जो पूर्णतया वेदों पर आधारित है। इसीलिए यहाँ अपौरुषेय वेद की प्रामाणिकता को पद–पद पर स्वीकार किया गया है। यही कारण है कि इस शास्त्र के मुख्यरूप से दो पहलू हैं। **प्रथम,** वेदों का अक्षर ज्ञान

---

[1]. बालानां सुखबोधाय भास्करेण सुमेधसा।
रचितोऽयं समासेन जैमिनीयार्थसंग्रहः।।

जो गुरुमुख से ही सम्भव है। **द्वितीय,** इसकी क्रियान्विति जो यहाँ यागादि क्रियाओं द्वारा पूरी की गई है। इस प्रसंग में एक बात यह भी उल्लेखनीय है कि मीमांसाशास्त्र 'याग', क्रिया और धर्म तीनों शब्दों को पर्यायवाची स्वीकार करता है। इसके अनुसार वेद अपौरुषेय हैं शब्दात्मक हैं, अनित्य हैं। ईश्वर ने भी उनकी रचना नहीं की है, व्यक्ति विशेष की बात तो दूर की है। वस्तुतः मीमांसादर्शन 'ईश्वर' की सत्ता में भी विश्वास नहीं करता है। इसके अनुसार–

'सम्पूर्ण वेद का सम्बन्ध' 'याग' से है।

मीमांसाशास्त्र सम्पूर्ण वेद को पाँच प्रभेदों में विभाजित करके इसकी व्याख्या करता है, जिन्हें हम इसप्रकार समझ सकते हैं–

(चित्र–1) **सम्पूर्ण वेद के पाँच भेद**

विधि | मन्त्र | नामधेय | निषेध | अर्थवाद
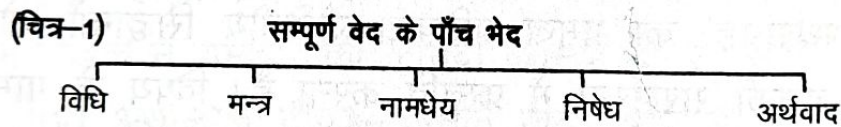
इनका विस्तृत विवेचन हम आगे करेंगे, यहाँ सर्वप्रथम अर्थ–संग्रह के आरम्भ में 'उपोद्घात' के अन्तर्गत वर्णित कुछ पारिभाषिक शब्दों को स्पष्ट करना आवश्यक है। तदनुसार–

मीमांसा वस्तुतः 'कर्मकाण्ड' शास्त्र है, जो वेद प्रतिपादित 'याग क्रियाओं' का अक्षरशः पालन करने का निर्देश देता है, जिससे व्यक्ति को 'स्वर्गादि' की प्राप्ति होती है। इसीकारण यह शास्त्र सर्वप्रथम 'गुरुमुख' से वेदों का अक्षरज्ञान प्राप्त करने की बात करता है। उसके बाद ही व्यक्ति मीमांसाशास्त्र को समझने, उसमें प्रवेश करने में समर्थ है। इन सबका कथन अर्थसंग्रहकार ने ग्रन्थ के 'उपोद्घात' में किया है।

'अर्थसंग्रह' के 'उपोद्घात' अर्थात् प्रस्तावना के अन्तर्गत ग्रन्थ–कार ने अनेक बातों को स्पष्ट किया, जिसके अन्तर्गत गुरुमुख से वेद का श्रवण तथा उसका अनुकरण करते हुए अभ्यास, वेद को समझने में सुविधा प्रमुख हैं। उसके बाद ही व्यक्ति को प्रत्यक्ष दिखायी देने वाले अर्थ 'दृष्ट–अर्थ' वाले धर्म अर्थात् वेद में जिज्ञासा करना उचित है।

यह सम्पूर्ण कथ्य ग्रन्थकार ने आरम्भ में ही आचार्य जैमिनि के मीमांसासूत्र के प्रथम सूत्र **'अथातो धर्मजिज्ञासा'** की व्याख्या के प्रसंग में किया है।

इसी क्रम में उन्होंने मीमांसाशास्त्र से जुड़े महत्त्वपूर्ण पारि–भाषिक शब्दों 'भावना' भेद सहित और धर्मलक्षण में प्रयुक्त **'चोदना'** पदों की भी विस्तार से व्याख्या की है, जिन्हें स्पष्ट करने का हम यहाँ विनम्र प्रयास कर रहे हैं–

(क) भावना– आचार्य लौगाक्षिभास्कर ने विधिवाक्य 'स्वर्गकामो यजेत' धातु एवं प्रत्यय के अंशों का सूक्ष्म विवेचन करने के क्रम में 'भावना' के लक्षण और भेदों का कथन इसप्रकार किया है–

'भावना नाम भवितुर्भावनानुकूलो भावयितुर्व्यापारविशेषः। सा च द्विधा, शाब्दीभावना आर्थीभावना चेति।'

इस लक्षण को एक उदाहरण वाक्य में इसप्रकार समझा जा सकता है। **जैसे–** देवदत्त नाम का कोई व्यक्ति यज्ञदत्त नामक अन्य व्यक्ति को आदेश देता है कि 'गाम् आनय'। तब यज्ञदत्त उसके इस वाक्य को सुनकर 'गलकम्बलयुक्त पशुविशेष' को लेकर देवदत्त के पास आ जाता है।

'भावना' के लक्षण में प्रयुक्त **'भवितुः'** पद द्वारा देवदत्त को कहा गया है। 'भावनानुकूलः' शब्द द्वारा उसके 'गाम् आनय' आदेश वाक्य में अभिप्राय है तथा यहाँ प्रयुक्त 'भावयितुः' पद का अभिप्राय यज्ञदत्त का इस वाक्य को सुनना व उस पर अर्थात् उसके अर्थ पर मनन करना व उसे समझकर अग्रिम पद व्यापार विशेष द्वारा 'गाम् आनयन' रूप क्रिया को सम्पादित करना है।

कुछ ही क्षणों में होने वाली इस सम्पूर्ण प्रक्रिया को संक्षिप्त रूप में तथा विस्तृतरूप में दोनों ही दृष्टि से मीमांसा दर्शन में विचार करके 'भावना' का नाम दिया है, जिसे उन्होंने 'शाब्दी भावना' और **'आर्थी भावना' रूप में दो प्रकार का बताया है।**

(अ) **शाब्दी भावना–** सर्वप्रथम तो ध्यातव्य है कि 'शाब्दी भावना' प्रवर्तक वाक्य प्रयोग करने वाले में विद्यमान होती है। **जैसे–** उपर्युक्त 'गाम् आनय' प्रवर्तक वाक्य का प्रयोग देवदत्त द्वारा करने से यह देवदत्त में स्थित मानी जाएगी, जो लौकिक वाक्य का प्रयोग करने वाली और वैदिक विधि वाक्यों में प्रयुक्त होने वाली 'शाब्दी भावना' भेद से दो प्रकार की होती है, जिसे उदाहरण द्वारा इसप्रकार भी समझा जा सकता है–

(चित्र– 2)

भावना (मानसिक व्यापारः)
भवितुः भावनानुकूलो भावयितुः व्यापार–विशेषः
सा द्विधा

- 'शाब्दी भावना' (देवदत्त का 'गामानय' आदेश)
  - वैदिक वाक्य में प्रयोग होने वाली (स्वर्गकामः यजेत्)
  - लौकिक वाक्य में प्रयोग होने वाली (गामानय ओदनं पच)
- आर्थी भावना (यज्ञदत्त द्वारा गोरानयन क्रिया सम्पादित करना)
  - वैदिक वाक्य में प्रयोग होने वाली (स्वर्गकामः यजेत)
  - लौकिक वाक्य में प्रयोग होने वाली (ओदनं पच) (गामानय)
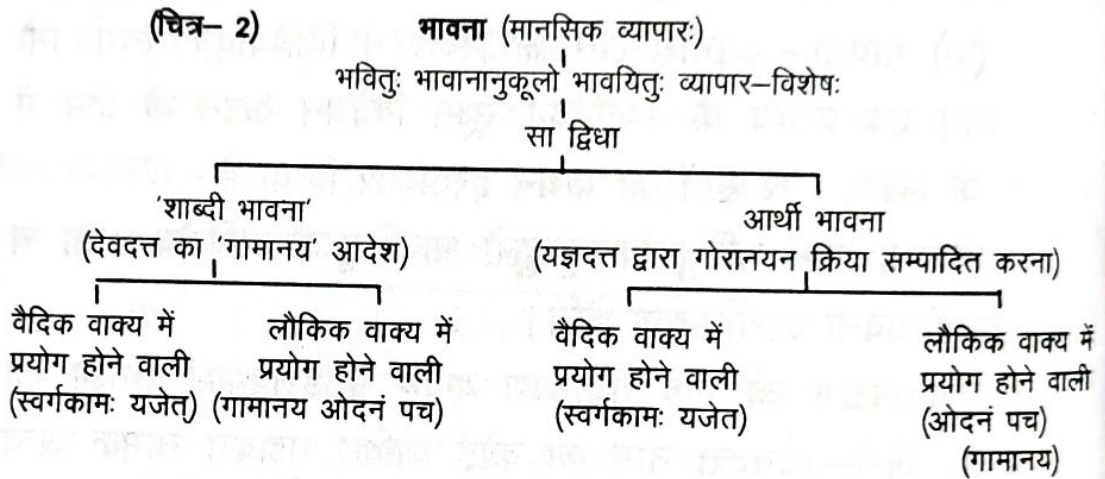
(आ) आर्थी भावना– इस प्रसंग में उल्लेखनीय यह भी है कि 'आर्थी भावना' की उत्पत्ति हमेशा ही 'शाब्दी भावना' से ही होती है। दूसरे शब्दों में, यज्ञदत्त में 'गाम् आनयन' रूप अनुष्ठान के प्रति उत्पन्न प्रवृत्ति ही 'आर्थी भावना' के लौकिक वाक्यगत 'आर्थी भावना' का उदाहरण है, जबकि वैदिक वाक्य में श्रोतृगत यागानुष्ठान के प्रति उत्पन्न प्रवृत्ति वैदिक वाक्यगत दूसरे प्रकार की 'आर्थी भावना' कहलाएगी।

इसीप्रकार यह भी ध्यातव्य है कि 'शाब्दी भावना' हो अथवा आर्थी भावना, प्रत्येक में साध्य, साधन और इतिहासकर्ता इन तीन अंशों का होना भी सुनिश्चित है, क्योंकि जिसप्रकार, लौकिक विधिवाक्य की भावना में 'कुर्यात्' करे, इस वाक्य में प्रमुखरूप में तीन अंश हैं–

(i) किम् कुर्यात् ? (ii) केन कुर्यात् ? (iii) कथम् कुर्यात्?

इसीप्रकार वैदिक विधिवाक्य **'यजेत स्वर्गकामः'** इत्यादि स्थल में स्थित भावना में भी –

(i) किम् भावयेत्? (ii) केन भावयेत्? (iii) कथम् भावयेत्?

इसप्रकार के तीन अंशों की अपेक्षा होती है तथा जिन अंशों द्वारा क्रमशः इन आकांक्षाओं की शान्ति हो, उन्हीं को क्रमशः **साध्य, साधन** एवं **इतिकर्तव्यता** कहते हैं। इस प्रसंग में एक बात यह भी विशेषरूप से कथनीय है कि– 'शाब्दी भावना' का 'साध्य', 'आर्थी भावना' होती है, क्योंकि यही 'आर्थी भावना' को उत्पन्न करने वाली है। **दूसरी** बात 'शाब्दी भावना' के ज्ञान का साधन 'लिंगादि प्रत्यय' का ज्ञान होता है।

तीसरी, बात क्योंकि 'शाब्दी भावना' के साध्य अर्थात् श्रोता व्यक्ति में क्रिया के अनुष्ठान के प्रति होने वाली उन्मुखतारूप 'आर्थी भावना' की उत्पत्ति, विधेय के प्रशंसक वाक्य अर्थात् अर्थवाद से होती है। अतः इसी अर्थवाद द्वारा ज्ञात क्रिया की प्रशंसा ही **'इतिकर्तव्यता'** की श्रेणी में आती है। इस सम्पूर्ण अभिप्राय को इसप्रकार भी समझा जा सकता है–
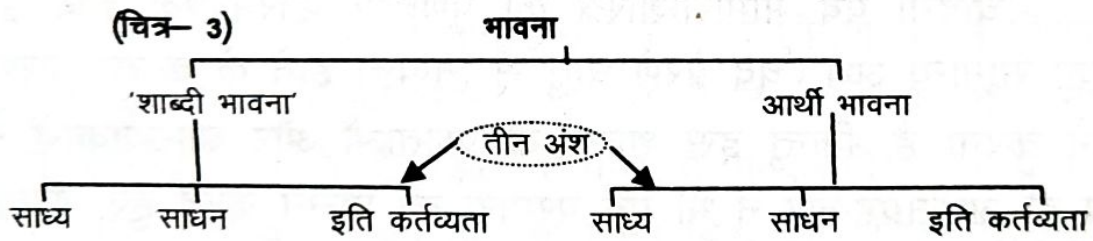
(3) चोदना लक्षण– वस्तुतः 'चोदना' पद वेद के एक अंश 'विधि' मात्र का कथन करने वाला है, किन्तु जैमिनिसूत्र में यह सम्पूर्ण वेदरूप अर्थ के लिए प्रयुक्त हुआ है। आचार्य जैमिनि ने अपने मीमांसासूत्र (1/1/2) में स्पष्टरूप से धर्म की परिभाषा में इस शब्द का इसप्रकार प्रयोग किया है–

'चोदना लक्षणोऽर्थो धर्मः (जैमिनि सूत्र–1/1/2)

इसका अभिप्राय यही है कि 'चोदना'अर्थात् विधि द्वारा जिसका विधान किया जाता है, वही 'धर्म' होता है। वस्तुतः जैमिनिसूत्र में 'चोदना' पद का अर्थ सम्पूर्ण वेदमात्र है, उसके पाँच अंगों में से एक

'विधि' मात्र देशविशेष का अभिप्राय ग्रहण करना यहाँ उचित नहीं है, क्योंकि इसमें लेशमात्र भी संदेह नहीं है कि 'चोदना' पद का सामान्य अर्थ विधि–वाक्य है, किन्तु 'मन्त्र' और 'नामधेय' ये दोनों भी 'विधि' अर्थात् 'चोदना' से ही सम्बद्ध होने के कारण भिन्न नहीं हैं।

इतना ही नहीं, वेद के अन्य दो अंग **'निषेध'** और **'अर्थवाद'** इन दोनों में 'अर्थवाद' तो लोगों को यागादि अनुष्ठान हेतु प्रेरित करता ही है। अतः वह भी 'चोदना' से भिन्न नहीं समझना चाहिए। इसके अतिरिक्त प्रत्यक्षरूप से प्रवर्तन हेतु प्रेरित करने वाले 'चोदना' पद वाक्य 'अर्थवाद' वाक्य और निवर्तनरूप अर्थ को कहने वाला निषेध पद, ये दोनों ही आपस में विरोध अर्थ वाले होने पर भी, शब्द को सुनने के बाद उत्पन्न होने वाली प्रवृत्ति और निवृत्तिरूप बुद्धि ही 'चोदना' पद वाच्य है। इसलिए 'निषेध' में भी उसका विरोध स्वतः ही समाप्त हो जाता है। उपर्युक्त सम्पूर्ण विवेचन का संक्षेप में यही अभिप्राय है कि–

'चोदना पद मीमांसाशास्त्र का पूर्णतया पारिभाषिक शब्द है।[1] इसका सामान्य अर्थ √चुद प्रेरणे धातु से निष्पन्न होने के कारण 'प्रेरणा' प्रदान करना है, किन्तु इस शास्त्र के प्रणेताओं और व्याख्याकारों ने, साथ ही अर्थसंग्रहकार ने भी पूर्व परम्परा का पालन करते हुए, इसकी विधि, मन्त्र, नामधेय और अर्थवाद सभी पाँच वेदों के अंगों में विवक्षा की है। तत्पश्चात् प्रसंग प्राप्त सम्पूर्ण वेद के पाँच प्रभेदों का क्रमशः विवेचन प्रस्तुत[2] कर रहे हैं, जिनकी 'अर्थसंग्रह' में ग्रन्थकार ने व्याख्या की है–

(4) **विधि विभाग–** जैसा कि पूर्व में उल्लेख किया गया है कि मीमांसा शास्त्र के अनुसार 'विधि' वेद के पांच अंगों में से प्रथम एवं प्रमुख है। इसे सुनकर व्यक्ति में यागादि के अनुष्ठान करने के प्रति

---

1. चोदनालक्षणोऽर्थो धर्मः (जैमिनि सूत्र–1/1/2)
2. स च विधिमन्त्रामधेयनिषेधार्थवादभेदात् पंचविधः।

प्रवृत्ति उत्पन्न होती है। यहाँ यागादि के अनुष्ठान के माध्यम से स्वर्ग–प्राप्ति का कथन किया गया है। **जैसे–** 'स्वर्गकामो यजेत' अर्थात् यदि व्यक्ति स्वर्ग की कामना करता है तो उसे याग का अनुष्ठान करना श्रेयस्कर है।

मीमांसा दर्शन में वेद के उस भाग को 'विधि' कहा गया है, जो लौकिक प्रमाणों के माध्यम से ज्ञान न होने वाले पदार्थों (क) प्रधान क्रिया (ख) अंगक्रिया (ग) द्रव्य (घ) क्रम तथा (ङ) अधिकार आदि का विधान करती है। इस सम्बन्ध में अर्थसंग्रहकार का वक्तव्य उल्लेखनीय है–

'तत्राज्ञातार्थज्ञापको' वेदभागो विधिः'[1]

इसे उदाहरण द्वारा आसानीं से समझा जा सकता है। **जैसे–** स्वर्गकामः अग्निहोत्रं जुहुयात्' यह वेदवाक्य होने से वैदिक विधि की श्रेणी में आता है, क्योंकि इसके द्वारा स्वर्ग प्राप्त कराने वाले को 'अग्निहोत्र' नामक याग का अनुष्ठान करने का निर्देश प्रदान किया जा रहा है। इस प्रसंग में उल्लेखनीय यह भी है कि अग्निहोत्र के अनुष्ठान द्वारा स्वर्गप्राप्ति होती है। इस सम्बन्ध में प्रत्यक्षादि अन्य प्रमाण न होकर एक मात्र वेद–वाक्य ही प्रमाण है। विधि को परिभाषित करने के बाद अर्थसंग्रहकार ने 'विधि' का विभाजन प्रथमतः तीन प्रकार से किया है–

---

[1] . विभाग संख्या-- 13।
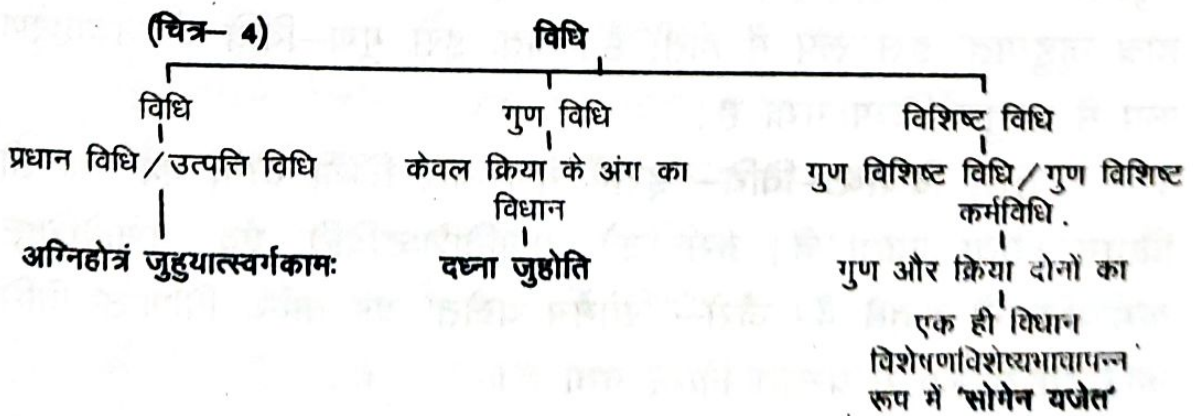
(क) प्रथम विभाजन– जैसा कि स्पष्ट है कि इस विभाजन में तीन प्रकार की विधियों का कथन किया गया है– विधि, गुणविधि और विशिष्ट विधि। इनकी हम क्रमशः व्याख्या प्रस्तुत कर रहे हैं–

(i) **विधि विभाग–** जैसा कि उपर्युक्त चित्र से स्पष्ट है कि इसी को 'प्रधान विधि' अथवा 'उत्पत्ति विधि' भी कहा जाता है। इसका महत्त्वपूर्ण कारण अन्य प्रमाणों के माध्यम से अज्ञात अर्थ अर्थात् क्रिया का ज्ञान इसी प्रधान विधि द्वारा कराया जाता है–

'तत्राज्ञातार्थज्ञापको वेदविभागो विधिः'

यद्यपि ग्रन्थकार द्वारा प्रदत्त विधि का यह लक्षण सामान्य लक्षण की श्रेणी में आता है, 'विधि विशेष' का नहीं, किन्तु ग्रन्थकार ने यहाँ 'उत्पत्ति विधि' का उदाहरण– **'अग्निहोत्रं जुहुयात् स्वर्गकामः'** दिया है। इसीलिए यहाँ इसे 'उत्पत्ति विधि' में मानकर ही प्रस्तुत किया गया है।

(ii) **गुण–विधि–** इसमें क्रिया का विधान न करके क्रिया के अंग का विधान किया जाता है। इसीलिए इसका यह नामकरण किया गया है। यहाँ क्रिया की प्राप्ति अन्य उत्पत्ति विधियों के माध्यम से होती हैं **जैसे– 'दध्ना जुहोति।'**

इस स्थल पर यज्ञकर्म में 'दधि' का विधान किया गया है तथा 'जुहोति' पद द्वारा प्रतीत होने वाली होमरूप क्रिया की प्राप्ति 'अग्नि–होत्रं जुहुयात्' इस रूप में होती है। अतः इसे गुण–विधि के उदाहरण रूप में प्रस्तुत किया गया है।

(iii) **विशिष्ट–विधि–** इसमें गुण और क्रिया दोनों का एक ही विधान किया जाता है। इसी को 'गुणविशिष्टविधि' एवं 'गुणविशिष्ट कर्मविधि' भी कहते हैं। **जैसे– 'सोमेन यजेत'** यह वाक्य विशिष्ट–विधि के उदाहरणरूप में प्रस्तुत किया गया है।

इसी प्रसंग में उल्लेखनीय है कि– सामान्य दृष्टि से यह वाक्य भी 'दध्ना जुहोति' गुणविधि वाक्य के समान ही प्रतीत होता है, किन्तु

वैदिक योग व्यवस्था के अन्तर्गत 'दध्ना जुहोति' ऐसे याग से सम्बद्ध है, जिसे हम 'अग्निहोत्रं जुहुयात' से प्राप्त करते हैं, जबकि उपर्युक्त 'सोमेन यजेत' वाक्य किसी भी पूर्वतः प्राप्त कर्म से सम्बद्ध नहीं है।

इसके अतिरिक्त इसकी सहायक सामग्री का बोधक भी कोई अलग वाक्य नहीं है। परिणामस्वरूप इस वाक्य द्वारा प्रधान–कर्म–याग और उसके सम्पादक द्रव्य, इन दोनों का ही एक साथ ग्रहण हो रहा है। अतः 'सोमेन यजेत' वाक्य से ऐसे याग का ज्ञान होता है, जिसे सोम पदार्थ द्वारा सम्पन्न किया जाना है। इसप्रकार इस वाक्य द्वारा गुण–विशिष्ट यज्ञादि कर्म का विधान होने से इसे 'विशिष्ट विधि' संज्ञा प्रदान की गई है।

(ख) विधि विभाग का द्वितीय विभाजन– इस विभाजन के अन्तर्गत विधि के चार प्रभेद किए गए हैं, जो इसप्रकार हैं–
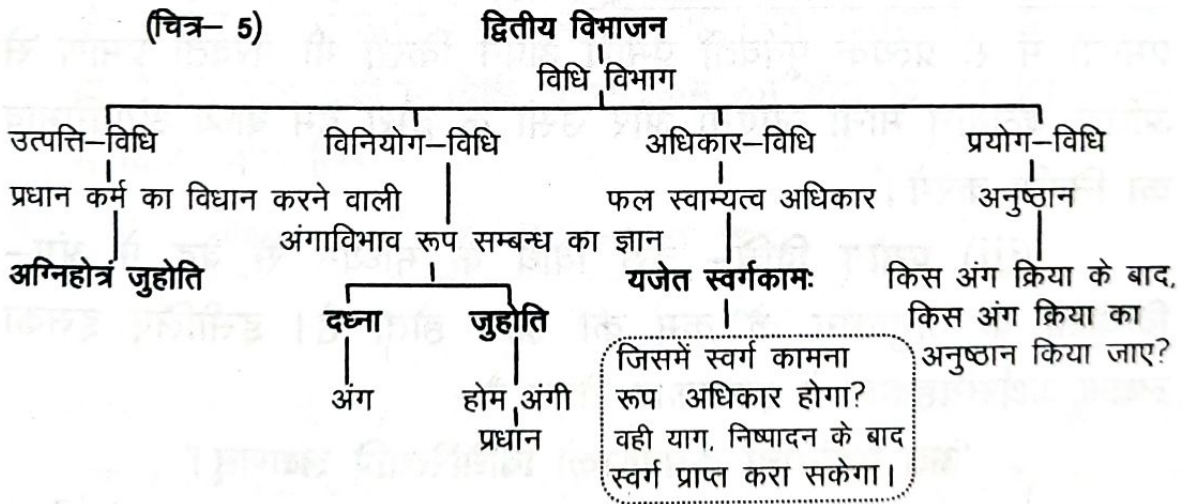
इन चारों प्रभेदों को हम इसप्रकार समझ सकते हैं–

(i) **उत्पत्तिविधि–** यह विधि केवल इसप्रकार के कर्म का विधान करती है, जिसका ज्ञान अन्य किसी प्रमाण द्वारा सम्भव नहीं होता है। प्रथम विभाजन में इसे ही 'विधि' अथवा 'प्रधान–विधि' संज्ञा प्रदान की गई है। इसके उदाहरणरूप में 'अग्निहोत्रं जुहोति' वेदवाक्य को ही ग्रहण किया जा सकता है।

(ii) **विनियोग विधि–** इस विधि द्वारा अंगी और अंग के मध्य होने वाले 'अंगांगिभाव' सम्बन्ध का ज्ञान होता है। **उदाहरणार्थ–** पूर्व में

उद्धृत 'दध्ना जुहोति' उदाहरण में दधि होम का अंग है तथा 'होम' दधि का अंगी अर्थात् प्रधान है, क्योंकि यह सर्वमान्य सिद्धान्त है कि 'जिसके लिए दूसरा हो, उसे अंगी तथा जो दूसरे के लिए हो, उसे 'अंग' कहते हैं। मीमांसाशास्त्र में विनियोग–विधि स्थलों पर अंग और अंगी विषयक निर्णय हेतु छः प्रमाणों का उल्लेख किया गया है–
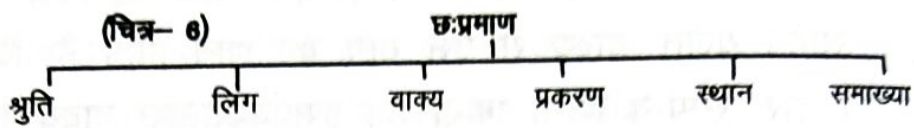
इस प्रसंग में उल्लेखनीय यह भी है कि अनेक बार किसी स्थल विशेष पर उक्त छः प्रमाणों में से एकाधिक प्रमाणों की प्रवृत्ति होने पर मीमांसा दर्शन प्रत्येक पूर्ववर्ती प्रमाण को परवर्ती प्रमाण की अपेक्षा प्राथमिकता प्रदान करता है। यही कारण है कि यहाँ प्रदत्त छः प्रमाणों में से प्रत्येक पूर्ववर्ती प्रमाण अपने किसी भी परवर्ती प्रमाण से अधिक बलवान् माना जाएगा और उसी के द्वारा हम बोध्य अंगांगिभाव का निर्णय करेंगे।[1]

(iii) **प्रयोग विधि–** इस विधि के माध्यम से वेद में अंग–क्रियाओं के अनुष्ठान के क्रम का ज्ञान होता है। इसीलिए इसका लक्षण अर्थसंग्रहकार ने इसप्रकार किया है–

'अत एवांगानां क्रमबोधको विधिरित्यपि लक्षणम्।'

कहने का अभिप्राय यह है कि– वैदिक यागक्रियाओं में किस अंगक्रिया के अनुष्ठान के बाद किस अंगक्रिया का अनुष्ठान किया जाना चाहिए, इसप्रकार की जानकारी अर्थात् अनुष्ठान के क्रम का निर्णय, इसी 'प्रयोग विधि' के माध्यम से होता है, क्योंकि यहाँ प्रयुक्त 'प्रयोग' से अभिप्राय 'अनुष्ठान' से ही है।

---

[1]. इसका विस्तार से विवेचन हेतु द्रष्टव्य लेखककृत अर्थसंग्रह 'चन्द्रिका' व्याख्या विभाग संख्या 22 एवं उससे आगे।

इसका महत्त्वपूर्ण कारण यह है कि यदि किसी भी याग की अंगक्रियाओं को क्रमशः एक के पश्चात् दूसरी, इस रूप में अव्यवहित रूप से सम्पादित नहीं किया जाएगा, तो याग में होने वाली अंग–क्रियाओं में अविच्छिन्नता का अभाव होगा और जिससे उनमें सहभाव न होने से यागानुष्ठान में विलम्ब होगा, क्योंकि शीघ्र अनुष्ठान तभी सम्भव है, जब याग–कर्ता को अंगभूत क्रियाओं के क्रम का यथोचित ज्ञान हो।

इसप्रकार कहा जा सकता है कि अनुष्ठान अर्थात् प्रयोग की शीघ्रता अर्थात् प्राशुभाव का बोध कराने वाली विधि को ही प्रयोग विधि कहते हैं। इसीकारण इसका लक्षण यहाँ इसप्रकार भी किया गया है–

'प्रयोगप्राशुभावबोधको विधिः प्रयोगविधिः।'

उदाहरणार्थ –वेदं कृत्वा वेदिं करोति' इस प्रयोग–विधि वाक्य में प्रयुक्त 'क्त्वा' प्रत्यय द्वारा ज्ञात होता है कि 'वेद' अर्थात् 'कुशमुष्टि' के निर्माण के अनन्तर वेदी का निर्माण करना चाहिए। उल्लेखनीय यह भी है कि इस **प्रयोग–विधि में भी क्रम का बोध छः प्रमाणों** के माध्यम से किया गया है–

(चित्र– 7) प्रयोग–विधिक्रम बोधक प्रमाण

श्रुति | अर्थ | पाठ | स्थान | मुख्य | समाख्या | प्रवृत्ति
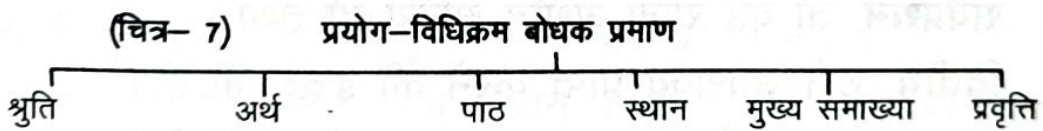
यहाँ भी अर्थात् विधि–प्रयोग विषयक स्थलों पर श्रुति आदि एक से अधिक प्रमाणों के प्रवृत्त होने की स्थिति में पूर्ववर्ती प्रमाण द्वारा निर्णय किया गया क्रम ही प्रामाणिक और स्वीकार्य होता है। दूसरे शब्दों में, श्रुति, अर्थ, पाठ, स्थान, समाख्या और प्रवृत्ति इन सभी छः प्रमाणों में भी प्रत्येक पूर्ववर्ती प्रमाण की अपने परवर्ती प्रमाणों से बलवत्ता होती है, क्योंकि प्रत्येक पूर्ववर्ती प्रमाण–क्रम के निर्णय का बोध परवर्ती प्रमाण की अपेक्षा शीघ्र कराता है।

(v) **अधिकारी विधि–** क्रिया के फल का स्वामी होना अर्थात् 'फलस्वाम्यं' ही अधिकार शब्द का अर्थ है। अतः जिस विधि के माध्यम

से यह जानकारी होती है कि 'किस क्रिया के फल का भोक्ता कौन व्यक्ति हो सकता है?' उसी विधि को मीमांसाशास्त्र 'अधिकार विधि' की श्रेणी में रखता है। इस दर्शन के अनुसार सभी लोग सभी प्रकार के याग करने के अधिकारी नहीं होते हैं।

यही कारण है कि इस विधि के अन्तर्गत याग–कर्म करने वालों के विशेषणों का उल्लेख किया गया है, जिन्हें यहाँ अधिकार संज्ञा प्रदान की गई है, क्योंकि इन विशेषणों के आधार पर अनुष्ठाता, अनुष्ठान की गई क्रिया के फल का भोक्ता होता है **जैसे–**

'यजेत स्वर्गकामः' यह एक अधिकार विधि है। इसका यही अभिप्राय है कि 'जिस व्यक्ति में स्वर्गप्राप्ति की कामनारूप अधिकार होगा, उसे ही इस याग के निष्पादन के पश्चात् स्वर्ग की प्राप्ति हो सकेगी।'

इसीप्रकार अधिकार–विधि का अन्य उदाहरण– **'राजा राज–सूयेन स्वाराज्यकामो यजेत'** में भी यही अभिप्राय निहित है, क्योंकि इस विधि द्वारा राजसूय याग के अनुष्ठान का फल उसी व्यक्ति को प्राप्त हो सकता है, जिसमें ये दो विशेषताएँ हों–

सर्वप्रथम, तो वह राजा अर्थात् क्षत्रिय हो तथा

द्वितीय, उसे स्वाराज्य प्राप्त करने की इच्छा भी हो।

अतः 'राजत्व' और 'स्वाराज्य कामना' ये दोनों विशेषण उसके याग विषयक अधिकार का कथन कर रहे हैं। इसीलिए मीमांसाशास्त्र इस विधि को **'अधिकार–विधि'** के अन्तर्गत स्वीकृति प्रदान करता है।

(ग) तृतीय विभाजन– विधि–विभाग के उक्त **तृतीय विभाजन** में निम्न तीन प्रभेदों का उल्लेख हुआ है–

आचार्य कुमारिलभट्ट ने तन्त्रवार्तिक में प्रस्तुत एक श्लोक में इन सभी तीनों विधियों का कथन इसप्रकार किया है–

विधिरत्यन्तमप्राप्तौ नियमः पाक्षिके सति।
तत्र चान्यत्र च प्राप्तौ परिसंख्येति गीयते।। (1/2/3/4)

(a) **अपूर्व–विधि–** इसी को पूर्व दोनों विभाजनों में क्रमशः **'प्रधान–विधि'** और **'उत्पत्ति–विधि'** भी कहा है, जबकि आचार्य कुमारिल भट्ट ने इसके लिए केवल **'विधि'** शब्द का ही प्रयोग किया है।

(b) **नियम–विधि–** अनेक प्रकार के साधनों के माध्यम से सिद्ध होने में समर्थ क्रिया की सिद्धि, जब अभिप्रेत न होने वाले साधन द्वारा हो जाए, उस स्थिति में अभिप्रेत साधन की प्राप्ति कराने वाली विधि को 'नियम–विधि' कहा जाता है–

'नानासाधनसाध्यक्रियायामेकसाधनप्राप्तावप्राप्तस्य अपरसाधनस्य प्रापको विधिर्नियमविधिः।

जैसे– **'व्रीहीनवहन्ति'** अर्थात् धान कूटना चाहिए।

यद्यपि धान से उसकी भूसी को हटाने के लिए कूटने के अलावा अनेक साधनों का प्रयोग सम्भव है। अतः **'अवहनन'** अर्थात् कूटने के अलावा दूसरे किसी साधन की प्राप्ति की स्थिति में वेद–विधि द्वारा अप्राप्त अवहनन का विधान 'नियम–विधि' रूप विधिवाक्य से ही किया जाता है।

(c) **परिसंख्या–विधि–** सामान्यरूप से परिसंख्या शब्द का अभिप्राय वर्जन–बुद्धि से है–

'उभयोश्च युगपत्प्राप्तावितरव्यावृत्तिपरो विधिः परिसंख्याविधिः ('विभागसंख्या– 63)

उल्लेखनीय है कि इस विधि में 'विध्यात्मक' शब्दावली होते हुए भी उसका अभिप्राय निषेधात्मक होता है। दूसरे शब्दों में, दो प्रकार के वैकल्पिक पदार्थों की एक साथ प्राप्ति होने पर किसी एक विशेष

पदार्थ की निवृत्ति का बोध कराने वाली विधि को ही यह मीमांसाशास्त्र **'परिसंख्या विधि'** की संज्ञा प्रदान करता है।

जैसे– 'पंच पंचनखाः भक्ष्या' अर्थात् पंजे से युक्त पाँच प्रकार के प्राणी ही ब्राह्मण और क्षत्रिय के लिए भक्ष्य है। इन पाँच प्राणियों में खरगोश, साही, गोह, गैंडा, और कछुआ इनकी गणना की गई है। अतः यहाँ प्रत्यक्षरूप से विध्यात्मक शब्दावली के होते हुए भी पंच, 'पंचनखा भक्ष्याः' का निषेधात्मक अभिप्राय इसप्रकार प्रतीत हो रहा है–

'ब्राह्मण और क्षत्रिय को पाँच प्रकार के पंचनख प्राणियों के अलावा अन्य जीवों का भक्षण नहीं करना चाहिए'।

यद्यपि सामान्यरूप से हम देखते हैं कि कि यदि कोई व्यक्ति कई दिनों का भूखा हो, तो वह अपनी भूख को शान्त करने के लिए किसी भी प्रकार के जीव को खाने के लिए उद्यत रहता है, किन्तु **'परिसंख्या–विधि'** के इस उदाहरण में 'पंच पंचनख' जीवों के खाने का निर्देश करके इन जीवों के अलावा दूसरे जीवों को किसी भी विकट परिस्थिति में न खाने का विधान किया गया है। यही इस विधि का **परिसख्या विधित्व** है। इस विधि के दो भेदों का यहाँ उल्लेख किया गया है– (क) **श्रौती परिसंख्या** (ख) **लाक्षणिकी परिसंख्या।** इनमें भी द्वितीय लाक्षणिकी परिसंख्या में ग्रन्थकार ने तीन दोषों (i) श्रुतिहानि (ii) अश्रुतकल्पना (iii) प्राप्तबाध का उल्लेख किया है।[1]

इस प्रसंग में वस्तुतः इतना ही कथ्य है कि– विधियों के इन त्रिविध विभाजन के पीछे 'मीमांसाशास्त्र' का **'दृष्टिकोण भेद'** को समझाना मात्र उद्देश्य है, क्योंकि 'व्रीहीनवहन्ति' यद्यपि 'विनियोग विधि' और 'नियमविधि' दोनों में ही परिगणित है। इसीप्रकार 'यजेत स्वर्ग–कामः' श्रुति भी दृष्टिकोण भेद की प्रमुखता के कारण ही 'अपूर्व–विधि और 'अधिकार विधि' दोनों में ही कथित हुई है।

---

[1]. इसके विस्तार से विवेचन हेतु द्रष्टव्य लेखककृत अर्थसंग्रह 'चन्द्रिका' व्याख्या, पृष्ठ--280–284 ।

इसप्रकार विधि को वेद का प्रमुख अंग कहा जा सकता है, जिसे सुनकर याग आदि के अनुष्ठान के प्रति व्यक्ति की प्रवृत्ति होती है, क्योंकि कुछ विशेष प्रकार के यागानुष्ठानों द्वारा यहाँ अनेक प्रकार के स्वर्गादि सुखों की प्राप्ति कही गई है। इसी के माध्यम से उस क्रिया के सम्बन्ध में अनेकप्रकार के विधि विषयक निर्देश भी दिए गए हैं।

(घ) श्रौती परिसंख्या– परिसंख्या के अन्तर्गत दो पदार्थों में से विधि–श्रुत' द्वारा दूसरे की व्यावृत्ति करते हैं, यदि यह व्यावृत्ति साक्षात् रूप से 'श्रुत' पद द्वारा की जाती है, तो इतर व्यावर्तक उस परिसंख्या को श्रौती परिसंख्या कहा जाता है। **जैसे–**

'अत्र हि एव आवपन्ति' अर्थात् यहीं पर 'आवाप' करते हैं।

यहाँ प्रयुक्त 'आवाप' से अभिप्राय 'सभी के प्रक्षेप' से ग्रहण करना चाहिए। पवमान क्रिया के प्रसंग में प्रयुक्त इस अंश का पूर्णरूप इसप्रकार होगा–

'त्रीणि ह वै यज्ञस्योदराणि गायत्री बृहत्यनुष्टुप्, अत्र ह्येवा–वपन्ति, अत एवोद्वपन्ति।'

(ग) लाक्षणिकी परिसंख्या– जिस परिसंख्या में 'एव' आदि इतर व्यावर्तक शब्द का साक्षात्‌रूप से प्रयोग नहीं होता है, किन्तु लक्षणा शब्दशक्ति के द्वारा 'इतर व्यावर्तक' पद की परिकल्पना कर लेते हैं, उसे लाक्षणिकी परिसंख्या कहते हैं। **जैसे–**'पंच पंचनखा भक्ष्या' इत्यादि उदाहरण में इतर व्यावर्तक 'एव' पद का प्रयोग नहीं किया गया है, किन्तु उसकी कल्पना कर ली गयी है। (द्रष्टव्य–विभाग संख्या, 64)

(i) **मन्त्र–** यह वेद का **दूसरा प्रभेद** है। वस्तुतः याग आदि क्रियाओं के अनुष्ठान में मन्त्र भी उपयोगी होने से धर्मपरक होते हैं। किसी भी प्रकार के यागानुष्ठान के लिए अनेक पदार्थों– घी, समिधा, पात्र, हव्य आदि द्रव्यों की आवश्यकता होती है। इसके अलावा याग की अंग–क्रियाओं का सम्बन्ध देवता आदि से भी होता है। इन सभी में

से किसी एक के अभाव में भी याग–क्रिया का अनुष्ठान सम्भव नहीं है। इतना ही नहीं, उपर्युक्त सामग्री के उपस्थित होने पर भी यागानुष्ठान में उपयुक्त पदार्थों का स्मरण मन्त्रों द्वारा ही किया जाना सम्भव है, यही वेदमन्त्रों की सबसे बड़ी उपयोगिता है। इसीलिए मीमांसा शास्त्र मन्त्रों को परिभाषित करते हुए कहता है कि –

'प्रयोगसमवेतार्थस्मारकामन्त्राः।' (विभाग संख्या–61)

इस प्रसंग में उल्लेखनीय यह भी है कि मीमांसाशास्त्र यागानुष्ठान में प्रयोग किए जाने वाले सभी प्रकार के पदार्थों का स्मरण भी मन्त्रों के उच्चारण के द्वारा ही करने का प्रबल पक्षधर है **(मन्त्रैरेव स्मर्तव्यम्)**। दूसरे शब्दों में, प्रयोग समवेत अर्थ का स्मरण कराना ही वेदमन्त्रों के उच्चारण का प्रत्यक्ष दिखायी देने वाला प्रयोजन है।

इसके अतिरिक्त वेद के कुछ मन्त्रों में प्रयोग–समवेत पदार्थों के स्मरण कराने की सामर्थ्य नहीं है। ऐसे मन्त्रों के उच्चारण को **'अगत्या अदृष्टार्थक'** मानना ही उचित है।[1] इसप्रकार उपर्युक्त संक्षिप्त विवेचन के आधार पर निष्कर्षरूप में यही कहना उचित होगा कि–

'याग आदि क्रियाओं के अनुष्ठान में अत्यधिक उपयोगी होने के कारण मन्त्रों को भी धर्मपरक अर्थात् क्रियापरक मानना ही उचित एवं न्यायसंगत है।'

(ii) **नामधेय–** 'विधि' और 'मन्त्र' का विवेचन करने के बाद बारी आती है, वेद के **तृतीय प्रभेद** 'नामधेय' की । यह शब्द वस्तुतः कर्ममीमांसा का पारिभाषिक शब्द है, जो 'यागविशेष' के संज्ञारूप में प्रयुक्त होता है, क्योंकि नामधेय में प्रयुक्त 'नाम' का अर्थ 'संज्ञा' से है।

अतः मीमांसाशास्त्र की विधियों में प्रयुक्त यागशक्ति के माध्यम से प्राप्त होने वाले किसी अर्थविशेष का बोधक न मानकर, यदि 'यागविशेष' का नाम स्वीकार कर लिया जाता है, तो उस शब्द को 'नामधेय' कहते हैं। उदाहरण के माध्यम से इसे सरलतापूर्वक समझा जा सकता है–

---

[1]. विभाग संख्या– 66।

'उदभिदा यजेत पशुकामः'

यह एक विधिवाक्य है और इसका सामान्य अर्थ यही है कि– पशुओं को प्राप्त करने की कामना रखने वाला व्यक्ति 'उदभिद' द्वारा याग का सम्पादन (अनुष्ठान) करे। यहाँ प्रयुक्त 'उदभिद' पद का यौगिक अर्थ **कुदाली** है, जो मिट्टी खोदने के काम आती है। इसकी व्युत्पत्ति इसप्रकार प्रदर्शित की जा सकती है–

'उदभिद्यते ऊर्ध्वं विदीर्यते भूमिरनेन'

किन्तु मीमांसाशास्त्र की दृष्टि में यह पारिभाषिकरूप में 'याग–विशेष' के लिए प्रयुक्त हुआ है। इस प्रसंग में ध्यातव्य यह भी है कि यहाँ किसी भी शब्द को 'याग नामधेय' मानने के कुछ कारण होते हैं, जिनके आधार पर किसी शब्द विशेष को 'याग' नाम दिया जाता है।

ग्रन्थकार ने यहाँ ऐसे चार निमित्तों का कथन किया है, जिनके आधार पर शब्द 'याग' के नामधेय माने जाते हैं। तदनुसार–

(अ) मत्वर्थलक्षणा होने का भय (ब) वाक्य भेद होने का भय
(स) तत्प्रख्यशास्त्र (द) तदव्यपदेश

इनका विस्तृत विवरण अर्थसंग्रह की विभाग संख्या 68–74 में दिया गया है।

(1) पुनरपि यहाँ इन्हें संक्षेप में इसप्रकार समझा जा सकता है। यदि किसी शब्द विशेष का यौगिक अर्थ लेने पर **मत्वर्थ लक्षणा** की आवश्यकता प्रतीत हो तो इस दोष से बचने के लिए उस शब्द का यौगिक अर्थ न लेकर, उसे याग का 'नामधेय' मान लिया जाता है, क्योंकि ऐसे स्थलों पर 'मत्वर्थ लक्षणा' को दोषरूप माना गया है।

(2) इसके अतिरिक्त यदि किसी स्थल पर शब्द के यौगिक अर्थ को स्वीकार करने पर 'वाक्य भेद' की प्रतीति हो तो इस दोष से बचने के लिए, उसे याग का 'नामधेय' मानना होगा।

(3) इसीप्रकार यदि गुण का बोध कराने वाले अन्य श्रुतिरूप प्रमाण की प्राप्ति हो, तो वहाँ भी वह शब्द गुणबोधक न होकर याग का ही 'नामधेय' हो जाता है।

(4) यद्यपि सामान्यरूप से उपमान और उपमेय दोनों ही भिन्न होते हैं, किन्तु फिर भी यदि किसी स्थल पर विधि और अर्थवाद में उपमेय और उपमान भिन्न–भिन्न न हो, तो भी ऐसे स्थलों पर विधिगत शब्द याग का ही 'नामधेय' होगा।[1]

इस प्रसंग में उल्लेखनीय यह भी है कि कुछ विद्वानों का यह भी मानना है कि एक अन्य **'उत्पत्तिशिष्टगुणबलीयत्व'** को भी पंचम नामधेय मानना चाहिए, किन्तु ग्रन्थकार इसका अन्तर्भाव 'तत्प्रख्य शास्त्र' रूप निमित्त में ही करने के पक्षधर हैं।

(iii) **निषेध–** तत्पश्चात् वेद के चतुर्थ प्रभेद के रूप में ग्रन्थकार ने 'निषेध' पर चिन्तन करते हुए कहा है कि 'व्यक्ति को जो वेद–वाक्य' अनर्थ की कारणस्वरूप क्रियाओं को करने से रोकते हैं, उन्हें इस श्रेणी में रखा जाता है, जो वेद के चतुर्थ प्रभेद के रूप में मान्य है। उन्होंने इसकी व्याख्या इसप्रकार की है–

'पुरुषस्य निवर्तकं वाक्यं निषेधः।'[2]

उल्लेख्य है कि वेद का विधिवाक्य व्यक्ति को किसी अनुष्ठान के प्रति प्रवृत्त करता है तो निषेधवाक्य उसी को क्रिया से निवृत्त करता है। इसे उदाहरण द्वारा इसप्रकार समझ सकते हैं–**'न कलंजं भक्षयेत्'**

यहाँ प्रयुक्त कलंज शब्द का अभिप्राय– 'विष बुझे बाण द्वारा मारे गए पशु अथवा पक्षी के माँस से है' अतः इस निषेध वाक्य का अर्थ हुआ कि 'विष बुझे बाण आदि किसी भी हथियार द्वारा मारे गए किसी भी पशु अथवा पक्षी के माँस का भक्षण नहीं करना चाहिए।'

इसप्रकार इस वाक्य द्वारा 'कलंज' भक्षणरूप क्रिया में प्रवृत्त होने का किसी भी स्त्री अथवा पुरुष के लिए निषेध किया जा रहा है और इसका कारण अनिष्ट की प्राप्ति ही है, चाहे वह नरक या मरण रूप अनर्थ की प्राप्ति ही क्यों न हो।

---

1. द्रष्टव्य–विभागसंख्या– 64–74।
2. वही–75।

इस प्रसंग में उल्लेखनीय यह भी है कि इसप्रकार के निषेध–वाक्यों में निवर्तना का बोध 'नञ्' के प्रयोग द्वारा ही होता है, क्योंकि यदि 'भक्षयेत्' पद में स्थित 'लिंग' (विधिलिंग) प्रत्यय के अर्थरूप 'शाब्दी भावना' का अन्वय नञ् (नकार) के साथ नहीं होगा, तो इसप्रकार के निषेधरूप अर्थ की प्राप्ति ही नहीं होगी। वस्तुस्थिति यह है कि 'नञ्' का स्वभाव ही अपने से अन्वित पदार्थ के विरोध का ख्यापक होना है।

इसी प्रसंग में यह भी ध्यातव्य है कि– प्रत्यय के अर्थ 'नञ्' के अर्थ के साथ अन्वय न होकर धातु के अर्थ के साथ अन्वय होता है। इस विषय पर ग्रन्थकार ने विस्तारपूर्वक विभाग संख्या–78–74 में विवेचना (मीमांसा) प्रस्तुत की है, जिसका हम यहाँ विस्तारभय से उल्लेख नहीं कर रहे हैं, क्योंकि यहाँ हमारा उद्देश्य वेद के चतुर्थ प्रभेद निषेध को स्पष्ट करना मात्र है।

(E) **अर्थवाद–** तत्पश्चात् वेद के अन्तिम प्रभेद 'अर्थवाद' को भी मीमांसाशास्त्र के अनुसार स्पष्ट करते हैं, क्योंकि यह भी परम्परया धर्म अर्थात् याग आदि क्रिया से ही सम्बद्ध है। इस प्रसंग में उल्ले–खनीय है कि वेद के विधि–वाक्य द्वारा विधेय पदार्थ की प्रशंसा की जाती है तो निषेधवाक्य द्वारा निषेध पदार्थ की निन्दा, वस्तुतः इसी 'अर्थवाद' के माध्यम से की जाती है, जिसे ग्रन्थकार ने इसप्रकार स्पष्ट किया है–

'प्राशस्त्यनिन्दान्यतरपरं वाक्यमर्थवादः'

इसी क्रम में यह कथ्य भी विशेषरूप से उल्लेखनीय है कि– सम्पूर्ण 'अर्थसंग्रह' के अन्तर्गत सर्वाधिक विस्तार 'विधि भाग' को प्रदान किया गया है, यहाँ इसकी व्याख्या 13 गद्यखण्डों से लेकर 60 खण्ड संख्या तक रही है। अतः स्पष्ट है कि प्रस्तुत ग्रन्थ के इन सभी खण्डों में विधि का महत्त्व सर्वाधिक रहा है। विषय के अनुसार गद्य खण्डों की संख्या इसप्रकार है– **उपोद्घात** (1–12), **विधि** (13–60), **मन्त्र** (61–66), **नामधेय** (67–74), **निषेध** (75–85), **अर्थवाद** (86–89), **प्रयोजन** (90)। विधि–भाग में भी विनियोग विधि के अन्तर्गत अंगविभाग का

ज्ञान कराने में प्रयुक्त होने वाले छः प्रमाणों की उदाहरणपूर्वक विस्तार से समीक्षा की गयी है। यहाँ विवेचित ये छः प्रमाण इसप्रकार है– श्रुति, लिंग, वाक्य, प्रकरण, स्थान, समाख्या।

ग्रन्थकार ने यहाँ 'पारार्थ्य' के पयार्यवाची 'अंगत्व' का लक्षण इसप्रकार दिया है–

'परोद्देशप्रवृत्तकृतिसाध्यत्वम्'

अर्थात् किसी के भी उद्देश्य से कार्य में प्रवृत्त हुए पुरुष की 'कृति' अर्थात् 'व्यापार' द्वारा सिद्ध होने वाला ही 'पारार्थ्य' अथवा 'अंगत्व' कहलाता है। इसका मीमांसाशास्त्र में अत्यधिक महत्त्व है। अतः इसे सूक्ष्मतापूर्वक समझना अत्यावश्यक है।

(घ) अर्थवाद– ग्रन्थकार ने अर्थवाद को दो प्रकार से वर्गीकृत किया है–
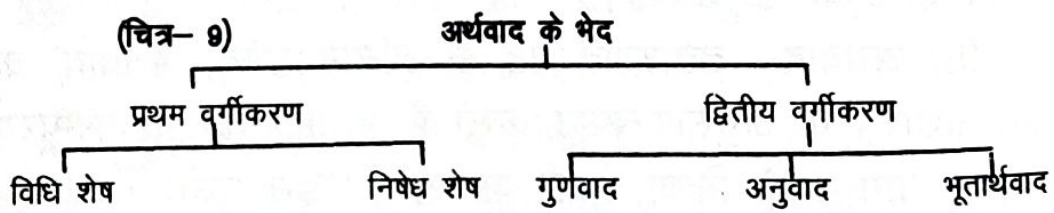
उपर्युक्त चित्र से स्पष्ट है कि पहले वर्गीकरण का मुख्य आधार क्रमशः विधेय और निषेध्य रहा है, जिसे दूसरे शब्दों में, प्रशंसा एवं निन्दा भी कहा जा सकता है, जबकि अर्थवाद के दूसरे वर्गीकरण में अर्थवाद के प्रतिपाद्य विषयक ज्ञान का दूसरे प्रमाणों के माध्यम से होना अथवा न होना निर्देशित हुआ है। अब हम इन्हें क्रमशः स्पष्ट करने का प्रयास करेंगे।

(क) प्रथम वर्गीकरण

(i) **विधिशेष अर्थवाद**– आचार्य जैमिनि के अनुसार– **'विधिना त्वेकवाक्यत्वात् स्तुत्यर्थेन विधीनां स्युः।'**[1]

अर्थात् वेदवाक्य का मुख्य अंश 'विधि' है, जबकि 'अर्थवाद' उसका शेष अंश है। यही कारण है कि विधिवाक्य और उसके अर्थवाद

---

[1]. जैमिनि सूत्र–1/27।

रूप वाक्य में एक वाक्यता ही विद्यमान रहती है। इसी दृष्टि से उस अर्थवाद को जो 'विधि' के माध्यम से 'विधेय' पदार्थ की स्तुति किंवा प्रशंसा करता है, 'विधिशेष' कहते हैं, जिसका उद्देश्य किसी भी व्यक्ति को विधेय पदार्थ का अनुष्ठान करने के लिए प्रेरित करना है।

(ii) **निषेध शेष–** इसीप्रकार जिस अर्थवाद के माध्यम से निषेध वाक्य, निषेध पदार्थ की निन्दा करता है, उसे 'मीमांसा दर्शन' 'निषेध शेष' की श्रेणी में रखता है। इसका उद्देश्य केवल इतना होता है कि निषेध्य पदार्थ की निन्दा करके यह श्रोता में निषेध्य क्रिया के अनुष्ठान में निवर्तना की उत्पत्ति करता है। दूसरे शब्दों में, यह उसे अनर्थभूत क्रिया को करने से रोकता है।

(ख) द्वितीय वर्गीकरण– इस वर्गीकरण में अर्थवाद के प्रतिपाद्य विषय के ज्ञान का दूसरे प्रमाणों द्वारा होना अथवा न होना, निहित होता है, इन्हें तीन बिन्दुओं में विभाजित करके देखा गया है–

(i) **गुणवाद–** इसकी विवेचना ग्रन्थकार ने विभाग संख्या 88 के अन्तर्गत की है। तदनुसार– यदि अर्थवाद के वाच्यार्थ अर्थात् अभिधार्थ का विरोध प्रत्यक्ष आदि अन्य प्रमाणों के माध्यम से हो जाता है, तो उस स्थिति में उसके लाक्षणिक अर्थ को स्वीकृति प्रदान की जाती है, जिसे मीमांसाशास्त्र ने 'गुणवाद' की संज्ञा प्रदान की है।

(ii) **अनुवाद–** इसके अन्तर्गत हम अर्थवाद के वाच्यार्थ को अन्य प्रमाण अथवा एकाधिक प्रमाणों के माध्यम से पहले से ही जानते हैं। इसे यहाँ 'अनुवाद' के नाम से कहा गया है।

(iii) **भूतार्थवाद–** इस अर्थवाद का विषय किसी भी दूसरे प्रमाण अथवा प्रमाणों से बाधित नहीं होता है तथा न ही किसी दूसरे प्रमाण से पहले ज्ञात ही रहता है। मीमांसा दर्शन उसे तृतीय 'भूता–र्थवाद' कहता है।

उपर्युक्त संक्षिप्त विवेचन में हमने मीमांसाशास्त्र के मुख्य–मुख्य बिन्दुओं की सरल शैली में व्याख्या करने का प्रयास किया है। इनकी गम्भीरता को समझने के लिए तत्तत् स्थल पर विस्तृत अध्ययन की

अपेक्षा है। इस सम्पूर्ण विवेचन से इतना तो स्पष्ट है कि मीमांसा दर्शन केवल वेद की प्रामाणिकता को उसके अपौरुषेयरूप में स्वीकार करके उसे पाँच प्रभेदों में विभाजित करते हुए, उसके प्रत्येक अंग की सूक्ष्मातिसूक्ष्म व्याख्या करता है।

(14) **मीमांसादर्शन में 'अर्थसंग्रह' का स्थान–** मीमांसा वस्तुतः कर्मकाण्डपरक दर्शन है। यद्यपि आचार्य जैमिनि को इस दर्शन का प्रणेता ऋषि माना जाता है तथा उनके 'मीमांसा सूत्र' को इस शास्त्र का आद्यग्रन्थ, इसके बाद आने वाले मीमांसकों ने इसी ग्रन्थ को आधार बनाकर मीमांसा दर्शन के सिद्धान्तों को अपनी–अपनी शैली में सरलरूप में प्रस्तुत करने का प्रशंसनीय प्रयास किया, जिनका विवेचन हम अत्यन्त संक्षेप में ऊपर कर चुके हैं।

इसी प्रयास के अन्तर्गत विवेच्य आचार्य लौगाक्षिभास्कर ने भी अत्यन्त लघुरूप में 'अर्थसंग्रह' की प्रस्तुति की। पुनरपि इस दर्शन के अन्य सभी दीर्घ आकार वाले व्याख्या ग्रन्थों की अपेक्षा, मीमांसा दर्शन को अत्यन्त सरल रीति से समझने के इच्छुक जिज्ञासु लोगों के लिए 'अर्थसंग्रह' निश्चय ही संजीवनी का कार्य करता है। यही इस ग्रन्थ का मीमांसाशास्त्रीय जगत् में महत्त्वपूर्ण स्थान कहा जा सकता है।

वस्तुस्थिति तो यह है कि 'अर्थसंग्रह' की लोकप्रियता का सबसे बड़ा एवं मुख्य कारण इसकी सरल, संक्षिप्त भाषा शैली ही है, जिसे हम परमश्रद्धेय डॉ.गंगानाथ झा के शब्दों में इसप्रकार अभिव्यक्त कर सकते हैं–

It is an elementary book which is so very useful for the beginners. Due to its easy and style the book has become so very popular amogost the Sanskritists.[1]

यही कारण है कि आज देश–विदेश के विश्वविद्यालयों में मीमांसादर्शन का किसी भी स्त्तर पर अध्ययन करने के लिए 'अर्थसंग्रह'

---

[1] . मीमांसा इन ईट्स सोर्स, बिब्लियोग्राफी, पृष्ठ– 53।

को ही पाठ्यक्रम में निर्धारित किया हुआ है। यह दूसरी बात है कि इस शास्त्र के गहन चिन्तकों की आज अल्पता ही प्रतीत होती है।

(15) **मीमांसा दर्शन में प्रयुक्त कुछ पारिभाषिक शब्द**– उल्लेखनीय है कि इस दर्शन में कुछ इसप्रकार के शब्दों का प्रयोग हुआ है, जो विशिष्ट अर्थों में प्रयुक्त हुए हैं। यही कारण है कि इन शब्दों को जानने के अभाव में यह दर्शन सहृदय पाठक के लिए किंचित् दुरूह हो गया है। इसलिए मीमांसा दर्शन के जिज्ञासु के लिए हम इनका अत्यन्त संक्षेप में उल्लेख कर रहे हैं। इसलिए कठिनाई की अनुभूति होने पर इन शब्दों के अर्थों को जानना उपयोगी होगा–

अग्निषोमीय– इसका प्रयोग यहाँ 'याग विशेष' एवं 'पशु विशेष' दोनों ही अर्थों में हुआ है। **अतिरात्र**– अनुयाज याग–विशेष, **अभिषेचनीय**– सोगयाग विशेष, उद्भिद्, **आनुबन्ध्य**– याग विशेष, **उपाकरण**– याग में पशुक्रिया विशेष का किया जाना, **क्रत्वर्थत्व**– याग के लिए उपयुक्त होना, **चित्रा, समित्**–याग विशेष का नाम, प्रयाज **साद्यस्क्र**– विशेष याग का नाम, **विकृति**– याग विशेष, श्येनयाग विशेष, **अधिकार विधि**– चार विधियों में से एक विशेष विधि, **अध्वर्यु**– यजुर्वेद के मन्त्रों का उच्चारण करने वाला ऋत्विक्, **अनन्यगत्या**– अन्य कोई उपाय न होने के कारण, **अनुबन्ध्य**– यज्ञ में प्रयोग किया जाने वाला पशु विशेष, **अनुवाक्य**–यज्ञ में प्रयुक्त मन्त्र विशेष, **अभिक्रमण**– पास में जाना, घूमना, **अभिधात्री**– श्रुति का प्रभेद विशेष, **अदृष्ट**– पूर्व जन्मों के कर्मफल, जो भोग के अभाव में अग्रिम जन्मों में भी प्राणी के सूक्ष्म शरीर के साथ रहते हैं, **अर्थक्रम**– प्रयोग विधि द्वारा क्रमबोध में प्रमाण विशेष, **अर्थवाद**–वेद के पाँच प्रभेदों में से महत्त्वपूर्ण एक प्रभेद, **अवघात**– कूटना, **अवत्त**– कटा हुआ, **अश्वाभिधानी**– घोड़े की लगाम, **आमन होम**– क्रिया विशेष, **आम्नान**– उच्चारण, **आम्नाय**– वेद, **आश्रयण**– आश्रय ग्रहण करना, **आश्विनग्रह**– अश्विन् देव का पात्र विशेष, **आहवनीय**– एक अग्नि का नाम, **उपक्रम**– प्रारम्भ, **उपभृत्**–

पात्र विशेष, **उपसंहार**– विषय का संक्षिप्तीकरण, **उपसर्जन**– गौण, **उलप**– सरकण्डा(एक प्रकार का तिनका), **एक प्रसरता**– एक वाक्यता, **औपवसथ्य**– दिन विशेष, **कलंज**– विष बुझे बाण से मारे गए पशु, पक्षी का मांस, **क्रतु**– याग, **क्लृप्त**– निश्चित रूप से, **गार्हपत्य**–एक प्रकार की अग्नि, **गुण–विधि**– विधि का एक भेद, **चोदक**– अतिदेश वाक्य, **जुहू**– यज्ञ में प्रयुक्त पात्रविशेष, **ज्ञापक**– बताने वाला, **ज्ञाप्य**– जानने योग्य, **देवन**– जुआ खेलना, **निपातन**– गिराना, नियोजन– पशु की रस्सी से 'यूप' में बाँधने की क्रिया, **परिच्छेदक**– सीमित करने वाला, **परिहार**– नाश, **पर्यवसान**– समाप्ति, **पवमान**– स्तोत्र विशेष, **पारार्थ्य**– दूसरे के लिए उपयोगी, **पुरोडाश**– चावल के आटे का बना पिण्ड विशेष, **प्रत्यवाय**– पाप, **प्रत्यासत्ति**– समीपता, **मत्वर्थ लक्षणा**– लक्षणा विशेष, **यवागूपाक**– लपसी, **यूप**– यज्ञस्तम्भ, **विकल्प प्रसक्ति**– विकल्प का हो जाना, **विक्षेप**– निर्णय न कर पाना, **विधत्तै**– विधान कराता है, **विधात्री**– श्रुति प्रभेद विशेष, **विधान**– प्राप्ति, **विनियोक्त्री**– श्रुति प्रभेद विशेष, **विनियोग**– अंगांगिभाव, **वेद**– अपौरुषेय, अनादि, नित्य एवं शाश्वत ज्ञान, **वैगुण्य**– हानि, **वैतुष्य**– भूसी को दूर करना, **शुन्धन मन्त्र**– मन्त्र विशेष, **श्रौती परिसंख्या**– परिसंख्या विधि का भेद, **षोडशी**– पात्र विशेष, **समाख्या**– विनियोग बोध में सहायक प्रमाण विशेष, **समुच्चित**– युक्त, **सवनीय**– दिन विशेष, पशु विशेष, याग विशेष, **सुत्याकाल**– दिन विशेष, **सोम**– यज्ञ के लिए उपयोग द्रव्य विशेष, **सौर्य**– विकृति याग विशेष, **स्रुवा**– यज्ञ में काम आने वाला पात्र विशेष।

•••

वेदान्त–दर्शन

(i) **वेदान्तदर्शन के मूल स्रोत**– वेदान्त दर्शन भी अत्यधिक प्राचीन है, क्योंकि विश्व के सर्वाधिक प्राचीन ग्रन्थ ऋग्वेद में इसके मूल स्रोत मिलते हैं। यद्यपि वहाँ यह व्यवस्थित रूप से प्रयुक्त नहीं हुआ है तथापि इसके बीज यहाँ पर अवश्य देखे जा सकते हैं। सम्पूर्ण सृष्टि की संरचना तथा संचालन हेतु यहाँ पर ब्रह्म, ईश्वर तथा 'जीव' तीनों को ही स्पष्टरूप से स्वीकृति प्रदान की गयी है। पुरुष सूक्त के आरम्भ में वर्णित आदिपुरुष, वेदान्त के ब्रह्म की सामर्थ्य से पर्याप्त मेल खाता है–

सहस्रशीर्षा पुरुषः सहस्राक्षः सहस्रपात्।
स भूमिं विश्वतो वृत्वात्यतिष्ठद्दशाङ्गुलम्।।[1]

इसीप्रकार आदिपुरुष से उत्पन्न विराट् पुरुष जो वेदान्त का ईश्वर है तथा उसका आश्रय लेकर उत्पन्न हुआ, पुरुष ही वस्तुतः जीवात्मा अर्थात् वेदान्त का 'जीव' है–

तस्माद् विराळजायत विराजो अधिपूरुषः।
स जातो अत्यरिच्यत पश्चाद् भूमिमथो पुरः।।[2]

इसीप्रकार–

द्वा सुपर्णा सयुजा सखाया समानं विश्वं परिषस्वजाते।
तयोरन्यः पिप्पलं स्वाद्वत्त्यनश्नन्यो अभिचाकशीति।।[1]

---

[1]. **ऋग्वेद**– 10/90/1।
[2]. **ऋग्वेद**–10/90/5 ।

यहाँ वर्णित विश्व, वेदान्त की माया तथा पिप्पल उसके भोगने के योग्य पदार्थ हैं। भोगने वाला पक्षी वेदान्त का 'जीव' तथा न भोगने वाला दूसरा पक्षी ईश्वर है। इस आधार पर ऋग्वेद में वेदान्त के तत्त्वों को सहज ही स्वीकार किया जा सकता है। हाँ इतना अवश्य है कि वेदान्त दर्शन के ग्रन्थों वेदान्तसार आदि में व्यवस्थितरूप से प्रतिपादित सिद्धान्तों के यहाँ पर दर्शन नहीं होते हैं।

किन्तु इतना अवश्य कहा जा सकता है कि वैदिक संहिताओं तथा ब्राह्मण ग्रन्थों से वेदान्त दर्शन का चिन्तन निश्चय ही आरम्भ हो गया था। उक्त कथ्य की पुष्टि दूसरे उदाहरणों से भी होती है। जैसे- ऋग्वेद के नासदीय सूक्त में वेदान्त की माया के रजस् एवं तमोगुणों का उल्लेख हुआ है।[2] इसी सूक्त के अग्रिम मन्त्र में प्रयुक्त 'सत्' को विद्वानों ने 'सत्त्व' गुण के अर्थ में प्रयुक्त माना है-

सतो बन्धुमसति निरविन्दन्। ऋग्वेद–10 / 129 / 4।

इसके अलावा 'पुरुष एवेदं सर्वम्' (ऋग्वेद– 10 / 90 / 2) एवं यो अस्याध्यक्षः परमे व्योमन् इत्यादि मन्त्रों में सम्पूर्ण सृष्टि के स्वामी, सत्यस्वरूप, प्रकाशमय, आनन्दस्वरूप ईश्वर अथवा ब्रह्म के दर्शन भी किए जा सकते हैं। इसप्रकार सूक्ष्मरूप से अन्वेषण करने पर ऋग्वेद के मन्त्रों में अनेक स्थलों पर वेदान्त के सिद्धान्तों को मूलरूप में सहज ही देखा जा सकता है। इसी आधार पर यह भी कहा जा सकता है कि इस दर्शन के तत्त्वों का पल्लवन संहिता एवं उपनिषद्काल के बीच में भी अवश्य हुआ होगा, तभी तो उपनिषदों तक आते–आते हमें इस दर्शन के परिष्कृत तथा व्यवस्थित रूप से दर्शन होते हैं, जिनके विषय में हम आगे उल्लेख कर रहे हैं।

(ii) **उपनिषदों में वेदान्तदर्शन**– उपनिषद् अध्यात्म विद्या या ब्रह्मविद्या की व्याख्या करने वाले हैं। वेद का अन्तिम भाग होने के

1. ऋग्वेद–1 / 164 / 20 ।
2. नासीद्रजो नो व्योमा परो यत्। ऋग्वेद–10 / 129 / 1 ।
तम आसीत्तमसा गूळ्हमग्रे। वही– 10 / 129 / 3 ।

कारण इन्हें वेदान्त भी कहा जाता है। 'वेदान्तो नाम उपनिषद्प्रमाणम्' परिभाषा के अनुसार उपनिषदों को प्रमाणरूप से चलने वाला शास्त्र ही वेदान्त दर्शन के नाम से कहा गया। इस दृष्टि से इस दर्शन में उपनिषदों का महत्त्व स्वतः ही सिद्ध हो जाता है। उपनिषद् शब्द से ज्ञानकाण्ड के विशाल दार्शनिक साहित्य का बोध होता है, जिसकी सृष्टि वैदिक कर्मकाण्ड की प्रतिक्रिया के फलस्वरूप हुई।

उपनिषद् शब्द 'उप' तथा 'नि' उपसर्गपूर्वक 'सद्' धातु से क्विप् प्रत्यय करके निष्पन्न हुआ है। इसलिए अर्थ की दृष्टि से यह शब्द वेदान्त दर्शन को ही इंगित करता है, क्योंकि इसके अनुशीलन से मुमुक्षुओं की संसार बीजरूपी अविद्या नष्ट हो जाती है और उनका गर्भ में निवास, जन्म, जरा, मृत्यु आदि विषयक दुःख सर्वथा शिथिल हो जाते हैं तथा अन्त में तो वह स्वयं ब्रह्म स्वरूप ही हो जाता है। यही कारण है कि उपनिषद् तथा वेदान्त को अभिन्न माना गया है। यों भी वेदान्त दर्शन की व्याख्या करते हुए विद्वानों ने पद–पद पर उपनिषदों के वाक्यों को ही उद्धृत किया है।

इसी प्रसंग में यह भी कथनीय है कि उपनिषदों की संख्या 220 से भी अधिक होने पर इन सभी में वेदान्त के सिद्धान्तों का उल्लेख नहीं हुआ है, किन्तु इनमें से लगभग बीस उपनिषद् जो अत्यधिक प्राचीन माने गए हैं, जो ब्राह्मण ग्रन्थों के परिशिष्ट भाग में प्रयुक्त हुए हैं,[1] ये सभी वस्तुतः भारतीय दर्शन के विकास की प्रारम्भिक अवस्था को प्रदर्शित करते हैं।

पुनरपि इन सभी में वेदान्त दर्शन अपने शुद्धरूप में तथा अपने मूलरूप में सुरक्षित है। इसके अलावा कुछ ऐसे उपनिषद् भी हैं, जो इस दर्शन का विवेचन तो करते हैं, किन्तु उतने परिष्कृत रूप में नहीं,

---

[1]. ऐतरेय उपनिषद्, कौषीतकि उपनिषद्,, तैत्तिरीय उपनिषद्, बृहदारण्य–कोपनिषद्, छान्दोग्योपनिषद्, केनोपनिषद् आदि क्रमशः ऋग्वेद, कृष्णयजुर्वेद, शुक्लयजुर्वेद तथा सामवेद की तलवकार शाखा से जुड़े हुए हैं, क्योंकि ये इनके ब्राह्मण ग्रन्थों में प्रयुक्त हुए हैं।

क्योंकि वहाँ हमें सांख्य एवं योगदर्शन के तत्त्व भी मिलते हैं, जिनकी संख्या आठ रही है।[1] इसप्रकार कहा जा सकता है कि ये सभी चौदह उपनिषद् वेदान्त दर्शन की आधारशिला कहे जा सकते हैं, क्योंकि वेदान्त दर्शन के ग्रन्थकारों एवं व्याख्याकारों ने इन्हीं उपनिषदों से पद पद पर वाक्यों को उद्धृत किया है। उपनिषदों का यही साहित्य 'वेदान्त' भी कहा जाता है, क्योंकि वेदान्त का तो सम्पूर्ण कलेवर ही उपनिषद् हैं। इसीलिए विद्वानों ने इसे उपनिषद् के पुत्र की संज्ञा भी प्रदान की है।

यह बात अवश्य है कि यहाँ वेदान्त दर्शन के तत्त्व इधर–उधर अव्यवस्थित रूप से विद्यमान हैं। वे तर्क की कसौटी पर कसे नहीं गए हैं। बाद में आने वाले विद्वानों ने इन्हीं सिद्धान्तों को तर्क की कसौटी पर कसते हुए व्यवस्थित रूप दे दिया है। इसी मन्तव्य को आचार्य शंकर ने इसप्रकार अभिव्यक्त किया है–

वेदान्तवाक्यकुसुमग्रथनार्थत्वात् सूत्राणाम्।
वेदान्तवाक्यानि हि सूत्रैरुदाहृत्य विचार्यन्ते।।[2]

इसलिए निश्चयपूर्वक कहा जा सकता है कि वेदान्तदर्शन के मूलरूप को भलीप्रकार समझने के लिए उक्त प्रमुख उपनिषदों का अध्ययन भी अवश्य करना चाहिए।

(iii) **वेदान्तदर्शन के प्रमुख आचार्य एवं उनके ग्रन्थ–** जैसा कि हमने अभी उल्लेख किया कि उपनिषदों में वेदान्तदर्शन के सिद्धान्तों का असम्बद्धरूप में प्रयोग हुआ है। उन्हें सर्वप्रथम व्यवस्थित रूप देने का श्रेय आचार्य **बादरायण** को जाता है, जिन्होंने **ब्रह्मसूत्र** नामक ग्रन्थ की संरचना की। इस दृष्टि से विद्वानों ने इन्हें वेदान्त दर्शन का संस्थापक अथवा प्रणेता आचार्य भी कहा है। ब्रह्मसूत्र पर

---

1 . कठोपनिषद्, श्वेताश्वतरोपनिषद्, महानारायणोपनिषद्, ईशोपनिषद्, मुण्डकोपनिषद्, प्रश्नोपनिषद्, मैत्रायणी उपनिषद्, माण्डूक्योपनिषद् इनका सम्बन्ध यजुर्वेद तथा अथर्ववेद के साथ रहा है।

2 . ब्रह्मसूत्र शांकरभाष्य।

अनेक विद्वानों ने वैदुष्यपूर्णभाष्य करके इस दर्शन के साहित्य की श्रीवृद्धि की। अनेक ग्रन्थ स्वतन्त्ररूप से भी लिखे गए। वस्तुतः वेदान्त दर्शन पर इतने विपुल साहित्य की रचना की गई कि यदि उसका विस्तार से उल्लेख किया जाए तो अपने आप में विशालग्रन्थ का ही निर्माण हो जाए, किन्तु हम यहाँ इनका अत्यन्त संक्षेप में उल्लेख कर रहे हैं।

वेदान्त दर्शन के आचार्यों का व्यवस्थितरूप से अध्ययन हम इन्हें तीन श्रेणियों में विभाजित करके कर सकते हैं। **प्रथम**, वे आचार्य जिनका महर्षि बादरायण के ब्रह्मसूत्र में नामोल्लेख हुआ है। **द्वितीय,** आचार्य शंकर के पूर्ववर्ती आचार्य। **तृतीय,** आचार्य शंकर के परवर्ती आचार्य। अब हम इनका क्रमशः उल्लेख करते हैं।

(1) **आचार्य बादरायण–** इस दर्शन के प्रणेता आचार्य माने गए हैं। विद्वानों ने इनका समय 400 ई.पू. के लगभग निर्धारित किया है। महर्षि 'बदर' का वंशज होने के कारण इन्हें इस नाम से जाना जाता है।[1] भारतीय परम्परा इन्हें तथा महर्षि पराशर के पुत्र कृष्णद्वैपायन वेदव्यास को एक ही स्वीकार करती है। इन्होंने वेदान्तदर्शन के प्रसिद्ध ग्रन्थ ब्रह्मसूत्र की संरचना की। इसके चार अध्याय, सोलह पाद, एक सौ बानवें अधिकरणों में पाँच सौ पचपन सूत्र प्रयुक्त हुए हैं। इसी को उत्तर मीमांसा, बादरायणसूत्र, ब्रह्ममीमांसा, वेदान्तसूत्र, व्याससूत्र, तथा शारीरकसूत्र के नाम से भी जाना जाता है।

इस ग्रन्थ में बृहदारण्यक, छान्दोग्य, कौषीतकि, ऐतरेय, मुण्डक, प्रश्न, श्वेताश्वतर एवं जाबाल आदि उपनिषद् ग्रन्थों में प्राप्त वाक्यों पर विचार किया गया है। इसके **प्रथम अध्याय** में स्पष्ट, अस्पष्ट एवं संदिग्ध श्रुतियों का ब्रह्म में समन्वय किया गया है। **द्वितीय अध्याय** में अन्य दार्शनिक मतों का दोष प्रदर्शन करके युक्तिपूर्वक वेदान्तमत की स्थापना की गई है। **तृतीय अध्याय** में 'जीव' और ब्रह्म का लक्षण करते हुए उसे मुक्ति का बहिरंग एवं अन्तरंग साधन बताया है। **चतुर्थ**

---

1. प्राचीन चरित्रकोश–पृष्ठ– 505।

अध्याय में जीवनमुक्ति, 'जीव' की उत्क्रान्ति तथा सगुण–निर्गुण उपासना का दिग्दर्शन कराया गया है।

इन सूत्रों का प्रमुख उद्देश्य उपनिषदों के तत्त्वज्ञान का समन्वय करना है। इसमें सामान्यरूप से पहले पूर्वपक्ष की स्थापना पुनः सिद्धान्तपक्ष का प्रस्तुतीकरण, इसी रचनापद्धति को अपनाया गया है, किन्तु कुछ स्थलों पर पहले सिद्धान्तपक्ष देकर बाद में पूर्वपक्ष को भी प्रस्तुत किया गया है, जिसे **'प्रतिलोम पद्धति'** कहते हैं।

ब्रह्मसूत्र के अनेकभाष्य प्रचलित हैं, जिनमें शंकराचार्य का शारीरिकभाष्य, रामानुजाचार्य का श्रीभाष्य, मध्वाचार्य का पूर्णप्रज्ञभाष्य प्रसिद्ध हैं। इसके अतिरिक्त भास्कराचार्य ने भास्करभाष्य, निम्बार्काचार्य ने वेदान्तपारिजात, श्रीकण्ठ ने शैवभाष्य, श्रीपति ने श्रीकरभाष्य, बल्लभाचार्य ने अणुभाष्य, विज्ञानभिक्षु ने विज्ञानामृत तथा आचार्य बलदेव ने गोविन्दभाष्य की भी संरचना की।[1]

इस ग्रन्थ में अनेक स्थलों पर महर्षि बादरायण का अन्य पुरुष के रूप में उल्लेख किया गया है। इस आधार पर कुछ विद्वानों ने इन सूत्रों का रचियता उन्हें मानने में आपत्ति प्रदर्शित की है, किन्तु डॉ. राधाकृष्णन् आदि प्रसिद्ध दार्शनिक विद्वानों ने इस आधार पर इस मन्तव्य का खण्डन किया है कि ग्रन्थकार द्वारा स्वयं का उल्लेख अन्य पुरुष में करने की प्राचीन भारतीय परम्परा रही है। अतः यह विचार मान्य नहीं है।

(क) **बादरायण विरचित ब्रह्मसूत्र में उल्लिखित आचार्य–** महर्षि बादरायण ने ब्रह्मसूत्र में पूर्वकालिक अनेक आचार्यों के मतों की विवेचना उनके नामोल्लेखपूर्व की है, किन्तु उन आचार्यों के ग्रन्थ आज उपलब्ध नहीं है। इनमें आत्रेय के नाम का उल्लेख एक बार (3/4/44) आश्मरथ्य का दो बार (1/2/19, 1/4/20), औडुलोमि

---

[1]. भूमिका– ब्रह्मसूत्र शांकरभाष्य, प्रकाशक– गोविन्दमठ, वाराणसी।

का तीन बार (1/4/2, 3/4/45, 4/4/6), कार्ष्णाजिनि का एक बार (3/1/19), काशकृत्स्न का एक बार (1/4/22), जैमिनि का ग्यारह बार तथा बादरि पराशर का चार बार (1/2/30, 3/1/11, 4/3/7, 4/4/10) किया है। अब हम इनका संक्षेप में विवरण प्रस्तुत कर रहे हैं।

(2) **आचार्य आत्रेय–** ब्रह्मसूत्रकार ने एक स्थल पर इनके नाम का उल्लेख करते हुए, 'यजमान को ही यज्ञ की अंगभूत उपासना का फल प्राप्त होता है, ऋत्विक को नहीं। इसलिए सम्पूर्ण उपासनाएँ स्वयं यजमान को ही करनी चाहिए, पुरोहित के माध्यम से इन्हें सम्पादित नहीं कराना चाहिए' इत्यादि मत का खण्डन आचार्य औडुलौमि के मत को प्रमाणरूप में उद्धृत करके किया है।

आचार्य जैमिनि ने भी अपने मीमांसा दर्शन में (5/2/18) आचार्य कार्ष्णाजिनि के मत का खण्डन करने के लिए आचार्य आत्रेय के मत का सिद्धान्तरूप में उल्लेख किया है। साथ ही, उन्होंने बादरि के वैदिक कर्म में सर्वाधिकार के मत का खण्डन करने के लिए भी आत्रेय के मत को प्रमाणरूप में प्रस्तुत किया है। (6/1/26) इस दृष्टि से ये मूलतः पूर्वमीमांसा के आचार्य प्रतीत होते हैं, साथ ही महर्षि बादरायण से पूर्व में इनकी स्थिति सिद्ध होती है।

बृहदारण्यकोपनिषद् (2/6/3) में इनका मांटी के शिष्यरूप में, ऐतरेय ब्राह्मण (8/22) में अंगराज के पुरोहितरूप में इस नाम का उल्लेख हुआ है, किन्तु ये तीनों एक ही व्यक्ति हैं अथवा अलग–अलग, इस सम्बन्ध में निश्चितरूप से नहीं कहा जा सकता है।

(3) **आचार्य आश्मरथ्य–** आचार्य जैमिनि ने मीमांसा दर्शन में इनके मत का उल्लेख करके उसका खण्डन किया है। अतः इन्हें निःसंदेह वेदान्त का आचार्य स्वीकार किया जा सकता है। आश्मरथ का वंशज होने के कारण इनका यह नाम पड़ा।[1] सूत्रग्रन्थों में भी

---

[1]. प्राचीन चरित्रकोश– पृष्ठ– 63।

इनके नाम का उल्लेख मिलता है।[1] ब्रह्म के लिए वैश्वानर के प्रयोग प्रसंग में ब्रह्मसूत्र में इनके नाम का दो बार उल्लेख हुआ है। (1/2/21, 1/4/20)। अनेक विद्वान् इन्हें द्वैताद्वैत मत का सर्वाधिक प्राचीन आचार्य मानते हैं। ये परमात्मा और विज्ञानात्मा में भेदाभेद के समर्थक रहे हैं।

आचार्य शंकर एवं भामतीकार वाचस्पतिमिश्र ने इन्हें विशिष्टा–द्वैतवादी सिद्ध किया है। इनके अनुसार परमेश्वर अनन्त होने पर भी उपासक के ऊपर अनुग्रह करने हेतु प्रदेशमात्र स्थान में प्रकट होते हैं। आगे चलकर इनके भेदाभेदवाद का यादवप्रकाश आदि द्वारा पल्लवन किया गया।

(4) **आचार्य औडुलौमि–** ये परमतत्त्वज्ञानी थे। केवल ब्रह्मसूत्र में ही इनके नाम का उल्लेख हुआ है–(1/4/21, 3/4/45, 4/4/6)। मीमांसासूत्रकार ने इनके नाम का कथन नहीं किया है। ये भी वेदान्त के आचार्य तथा भेदाभेदवाद के समर्थक विद्वान् थे। इनके अनुसार– सांसारिक स्थिति में 'जीव' और ब्रह्म में भेद होता है, किन्तु मुक्ति की स्थिति में इन दोनों में अभेद होता है।

मीमांसक आचार्य आत्रेय के मत का खण्डन करने के लिए महर्षि बादरायण ने इनके मत का नामोल्लेखपूर्वक कथन किया है। ब्रह्मसूत्र में एक स्थल पर (4/4/51) ग्रन्थकार ने आचार्य जैमिनि के इस मत को प्रदर्शित करके कि– 'मुक्त व्यक्ति ब्रह्म के स्वरूप को प्राप्त होता है, वह निष्पाप, सर्वज्ञ तथा ऐश्वर्य आदि का अधिकारी हो जाता है' औडुलौमि के इस मत द्वारा खण्डन किया है कि 'चैतन्य ही आत्मा का स्वरूप है। इसलिए वह मुक्ति की अवस्था में चैतन्यमात्र को ही प्राप्त होता है। सत्य संकल्पत्व, सर्वज्ञत्व तथा सर्वेश्वरत्व आदि धर्मों की स्थिति उसमें नहीं रहती है।

---

[1] आश्वलायन श्रौत्रसूत्र– 6/10।

(5) **आचार्य कार्ष्णाजिनि–** ये आचार्य बादरायण एवं महर्षि जैमिनि से पूर्ववर्ती आचार्य प्रतीत होते हैं, क्योंकि ब्रह्मसूत्र में एक स्थल पर (3/1/9) तथा जैमिनिसूत्र में दो स्थलों पर (4/3/17, 6/7/35) इनके नाम का उल्लेख हुआ है। ब्रह्मसूत्रकार ने इनके मत का उल्लेख अपने मत के समर्थन में, पृथ्वी पर 'जीव' के पुनरागमन के प्रसंग में किया है। तदनुसार 'जीव' अपने अवशिष्ट कर्मों (अनुशयभूत कर्म) के साथ ही पृथ्वी पर आता है। ये अवशिष्टकर्म ही उसकी अन्य योनि में कारण होते हैं, जबकि मीमांसासूत्रकार ने इनके मत का खण्डन करते हुए इनके नाम का उल्लेख किया है।

अतः इन्हें निःसन्देह वेदान्त का आचार्य स्वीकार किया जा सकता है। इन्होंने कार्ष्णाजिनि नामक स्मृति ग्रन्थ की भी रचना की। इसलिए इनका उल्लेख धर्मशास्त्र के इतिहास में भी किया गया है। डॉ. पी.वी. काणे ने मुख्य स्मृतिकार एवं उपस्मृतिकारों के अतिरिक्त 21 अन्य स्मृतिकारों में इनके नाम की गणना करते हुए वीरमित्रोदय का उद्धरण प्रस्तुत किया है–

वसिष्ठो नारदश्चैव सुमन्तुश्च पितामहः।
विष्णुः कार्ष्णाजिनिः सत्यव्रतो गार्ग्यश्च देवलः।।

पैठीनसि, हेमाद्रि, माधवाचार्य आदि ग्रन्थकारों ने भी कार्ष्णाजिनि स्मृति का उल्लेख किया है।[1] इसके अतिरिक्त मिताक्षरा, अपरार्क, स्मृतिचन्द्रिका तथा श्राद्धविषयक अन्य ग्रन्थों में भी इनके नाम का कथन किया गया है। राशियों के चिह्नों के विषय में इनके द्वारा विरचित एक श्लोक अपरार्क में भी दिया गया है।[2] ये महर्षि बादरि के मत के समर्थक रहे हैं।

(6) **आचार्य काशकृत्स्न–** आचार्य जैमिनि ने अपने पूर्वमीमांसा दर्शन में इनके नाम का उल्लेख नहीं किया है,किन्तु आचार्य बादरायण

---

[1] प्राचीन चरित्रकोश, पृष्ठ– 137।
[2] वही ।

ने इनके मत का समर्थन करते हुए ब्रह्मसूत्र में एक स्थल पर (1/4/22) इनके नाम का कथन किया है। अतः ये भी बादरायण से पूर्ववर्ती आचार्य सिद्ध होते हैं। ये अद्वैतवादी थे। इनके अनुसार– परमब्रह्म ही जगत् का मुख्य कारण है तथा प्रलयावस्था में यह उसी में समाविष्ट हो जाता है। इसके अतिरिक्त जीव, ब्रह्म का विकार नहीं है, अपितु सृष्टि के समय अविकृत ब्रह्म ही जीवरूप में विद्यमान रहता है। आचार्य शंकर ने इनके मत को श्रुतिसम्मत माना है–

'काशकृत्स्नस्याचार्यस्य अविकृतः परमेश्वरो जीवो नान्य इति मतम् तत् काशकृत्स्नीयं मतं श्रुत्यसारीति गम्यते, अतिपादयिषितार्था–नुसारात् 'तत्त्वमसि' इत्यादि श्रुतिभ्यः।'[1]

(7) **आचार्य जैमिनि–** ये कृष्णद्वैपायन व्यास के सामवेद के शिष्य थे। इन्होंने पूर्वमीमांसा दर्शन के प्रसिद्ध ग्रन्थ जैमिनिसूत्र की संरचना की। ये आचार्य बादरायण के समकालीन प्रतीत होते हैं, क्योंकि मीमांसादर्शन के सिद्धान्तों का ब्रह्मसूत्र में तथा ब्रह्मसूत्र के सिद्धान्तों का मीमांसादर्शन में खण्डन देखने को मिलता है। अनेक स्थलों पर मीमांसादर्शन ने ब्रह्मसूत्र के सिद्धान्तों को ग्रहण भी किया है। इनके पुत्र का नाम **सुमन्तु** तथा पौत्र का नाम **सत्वान** था।

इन्होंने सामवेद की राणायनीय शाखा के जैमिनीय नामक नवम भेद की संरचना की। इस संहिता को कर्नाटक में विशेष सम्मान प्राप्त है।[2] इसीप्रकार जैमिनीय ब्राह्मण तथा जैमिनीयोपनिषद् ब्राह्मण नामक सामवेदीय ब्राह्मणग्रन्थों का भी इन्होंने प्रणयन किया। ये दोनों ही ग्रन्थ आज भी विद्यमान हैं।

इसके अलावा इन्होंने जैमिनिसूत्र, जैमिनिनिघण्टु, जैमिनिपुराण, ज्येष्ठमाहात्म्य, जैमिनिभागवत, जैमिनिभारत, जैमिनिगृह्यसूत्र, जैमिनि सूत्रकारिका, जैमिनिस्तोत्र तथा जैमिनिस्मृति इत्यादि ग्रन्थों की भी

---

1. ब्रह्मसूत्र शांकरभाष्य– 1/4/22।
2. प्राचीन चरित्रकोश, पृष्ठ– 236।

संरचना की। ये सामवेदी श्रुतर्षि थे। साथ ही, ब्रह्माण्ड पुराण के प्रवर्तक ऋषियों की परम्परा में भी इनके नाम का उल्लेख मिलता है।

आचार्य जैमिनि द्वारा विरचित 'जैमिनिसूत्र', 'पूर्वमीमांसा' अथवा 'कर्ममीमांसा' नाम से भी प्रसिद्ध है। यज्ञसम्बन्धी वाक्यों का अर्थविषयक मतभेद दूर करके अभिप्राय प्रदर्शित करना ही इस ग्रन्थ का मुख्य प्रयोजन है। इन्हीं सूत्रों से 'वाक्यार्थविचारशास्त्र' की उत्पत्ति मानी गयी है। इस ग्रन्थ के ग्यारह अध्यायों में कुल 2500 सूत्र हैं। सूत्रग्रन्थों में इन्हें सर्वाधिक प्राचीन माना गया है।

'जैमिनिसूत्रों' के ऊपर उपवर्ष की वृत्ति, शाबरभाष्य, प्रभाकरभट्ट की बृहती, कुमारिलभट्ट का वार्तिक, पार्थसारथिमिश्र की शास्त्रदीपिका मण्डनमिश्र के विधिविवेक तथा भावनाविवेक खण्डदेव की भाट्टदीपिका आदि व्याख्या ग्रन्थ प्रसिद्ध हैं।[1] आचार्य जैमिनि ने यज्ञों में प्रयुक्त होने वाले ब्राह्मण ग्रन्थों के वाक्यार्थों की अन्विति करने के लिए सूत्रों की रचना की, जिन्हें 'जैमिनिसूत्र' कहा गया। इसीकारण इसे पूर्वमीमांसा नाम से भी जाना गया, जबकि आचार्य बादरायण विरचित 'ब्रह्मसूत्र' में वेद के उत्तरभाग के रूप में प्रसिद्ध उपनिषद् वाक्यों का विचार किया गया है। अतः इसे उत्तर–मीमांसा के रूप में ख्याति हुई।

(8) **आचार्य बादरि–** इनके मत का उल्लेख ब्रह्मसूत्र में पुनर्जन्म के विषय में छान्दोग्योपनिषद् के कथन 'तद् य इह रमणीय–चरणाः' के सम्बन्ध में विविध आचार्यों के मत का उल्लेख करने के प्रसंग में किया गया है।[2] इसके अतिरिक्त मीमांसा सूत्रकार ने भी चार स्थलों[3] पर नाम का उल्लेख करते हुए पूर्वपक्ष के रूप में खण्डन के लिए इनके मत का उल्लेख किया है, जबकि आचार्य बादरायण ने अपने मत के समर्थन में इन्हें प्रस्तुत किया है। अतः स्पष्टरूप से कहा

---

1. प्राचीन चरित्रकोष, पृष्ठ– 236।
2. ब्रह्मसूत्र– 1/2/30,3/1/11,4/3/7, 4/4/10 ।
3. मीमांसासूत्र– 3/1/3,6/1/27,8/3/6,9/2/30।

जा सकता है कि ये वेदान्तदर्शन के आचार्य थे तथा तात्कालिक समय में अत्यधिक प्रसिद्ध थे।

जैमिनिसूत्र में निर्दिष्ट बादरि नामक आचार्य तथा महर्षि बादरायण वस्तुतः दोनों भिन्न व्यक्ति थे, क्योंकि बादरायण के मतों के विपरीत बादरि के अनेक मतों का निर्देश 'बादरिसूत्रों' में हुआ है।[1] आचार्य बादरायण ने देह का भाव और अभाव दोनों को स्वीकार किया है, जबकि आचार्य बादरि देह की अभावयुक्त अवस्था को ही मान्यता प्रदान करते हैं। यह मत वैभिन्य दोनों आचार्यों के भिन्न–भिन्न होने की सम्भावना की पुष्टि करता है।

यत्र–तत्र उल्लिखित सिद्धान्तों के आधार पर इनकी मान्यताओं को संक्षेप में हम इसप्रकार प्रदर्शित कर सकते हैं–

(क) अवशिष्टशोभन अथवा अशोभन कर्मों के साथ ही जीवात्मा इस संसार में पुनरागमन करता है।

(ख) यद्यपि परमेश्वर महान् हैं, फिर भी प्रदेशमात्र हृदय अर्थात् मन द्वारा उनका स्मरण किया जा सकता है।

(ग) छान्दोग्य उपनिषद् के वाक्य 'स एनान् ब्रह्म गमयति' में प्रयुक्त ब्रह्म पद से अभिप्राय कार्य–ब्रह्म से है, क्योंकि परब्रह्म तो सर्वत्र है, उसे प्राप्त करने हेतु लोकोत्तर में जाने की आवश्यकता नहीं है।

(घ) गतिश्रुति बल से कार्य–ब्रह्म अर्थात् सगुणब्रह्म की ही प्राप्ति हो सकती है। वस्तुतः अमानव पुरुष ही ब्रह्म की प्राप्ति कराने में सक्षम हैं।

(ङ) वेदज्ञानी पुरुष के शरीर आदि नहीं होतें हैं तथा मुक्त पुरुष निरिन्द्रिय तथा शरीरविहीन होते हैं।

(च) वैदिककर्म करने का सभी को अधिकार है।

(iv) **आचार्य शंकर के पूर्ववर्ती वेदान्तदर्शन के आचार्य–** महर्षि बादरायण के ब्रह्मसूत्र में उल्लेख किए गए उक्त आचार्यों के अतिरिक्त

---

1. ब्रह्मसूत्र– 4/4/10–12।

पश्चाद्वर्ती अन्यान्य ग्रन्थों में भी वेदान्तदर्शन के कुछ आचार्यों के नामों का कथन किया गया है, जिनमें भर्तृप्रपंच, भर्तृहरि, भर्तृमित्र, उपवर्ष, बोधायन, ब्रह्मनन्दी, टंक, ब्रह्मदत्त, भारुचि, सुन्दरपाण्ड्य, आचार्य गौडपाद एवं आचार्य गोविन्द विशेषरूप से उल्लेखनीय हैं। अब हम इनका संक्षेप में विवरण प्रस्तुत कर रहे हैं–

(9) **आचार्य भर्तृप्रपंच–** इन्होंने कठोपनिषद् एवं बृहदारण्यकोपनिषद् पर भाष्य की संरचना की। ये प्रमाणसमुच्चयवादी आचार्य के रूप में विख्यात थे। इनके मत में लौकिकप्रमाण और वेद दोनों ही सत्य हैं। इसलिए इन्होंने लौकिक प्रमाण गम्यभेद तथा वेदगम्य अभेद दोनों को सत्यरूप में स्वीकार किया है। इनकी सम्मति में जिसप्रकार केवल कर्म मोक्ष का साधन नहीं होता है। ठीक उसीप्रकार केवल ज्ञान भी मोक्ष प्रदान नहीं कर सकता है। अतः मोक्षप्राप्ति के लिए ज्ञान–कर्म–समुच्चय ही उत्कृष्ट साधन है।

इनके अनुसार–मोक्ष दो प्रकार होता है–(1) अपवर्ग (2) ब्रह्म भाव की प्राप्ति। इसी शरीर से ब्रह्म साक्षात्कार होने की स्थिति में अपवर्ग होता है, जबकि देहपात के पश्चात् ही साधक को ब्रह्मभाव की प्राप्ति होती है। ब्रह्म में 'जीव' का लय होने के कारण ही इसे **'ब्रह्मभावापत्ति'** कहा गया है। इसी को 'परामुक्ति' भी कहते हैं।

ऐसा प्रतीत होता है कि सुरेश्वराचार्य एवं आनन्दगिरि के समय में आचार्य भर्तृप्रपंच का ग्रन्थ उपलब्ध था, क्योंकि इन आचार्यों द्वारा इनके मत की प्रस्थापना एवं व्याख्या की शैली से इस बात की पुष्टि होती है। शंकराचार्य ने अपने बृहदारयण्कोपनिषद् भाष्य में भर्तृप्रपंच के लिए परिहास रूप में 'औपनिषदमन्य' पद का प्रयोग किया है, किन्तु इससे उनके महत्त्व में किसी प्रकार की कमी नहीं होती है। वस्तुतः तात्कालिक समय में दार्शनिक क्षेत्र में इनके पाण्डित्य का पर्याप्त प्रभाव था। इसीकारण शंकराचार्य के साक्षात् शिष्यों ने भी अपने ग्रन्थों में 'सम्प्रदायवित्' एवं 'ब्रह्मवादी' कहकर इनकी प्रशंसा की है।

इनके मत में– 'परमार्थ एक भी है और अनेक भी। ब्रह्मरूप में वह एक है तथा जगत् रूप में अनेकरूपों वाला है। इसीकारण इन्होंने ज्ञान एवं कर्म दोनों की सार्थकता को स्वीकार किया। इनकी दृष्टि में 'जीव' में विद्या, कर्म तथा पूर्वकर्म के संस्कार विद्यमान रहते हैं। परमात्मा से अभिव्यक्त हुई अविद्या, 'जीव' में विकार उत्पन्न करती हुई अनात्म स्वरूप अन्तःकरण में धर्मभाव से विद्यमान रहती है।

इनके विचार में परममोक्ष प्राप्त करने से पूर्व 'जीव' हिरण्यगर्भ भाव को प्राप्त होते हैं, जो वस्तुतः मुक्तावस्था न होकर मोक्ष की पूर्वकालीन अवस्थामात्र है। इस अवस्था में परमात्मा का सान्निध्य हमेशा के लिए विद्यमान रहता है। काम, वासना आदि 'जीव' के धर्म हैं। ब्रह्म एक होने पर भी समुद्र की तरंग के समान द्वैताद्वैत है, जिसप्रकार अद्वैतभाव सत्य है, ठीक उसीप्रकार द्वैत भी सत्य है।

(10) **आचार्य भर्तृमित्र–** जयन्तभट्ट कृत न्यायमंजरी में पृष्ठ– 213 से 226 तक तथा यामुनाचार्य के सिद्धित्रय में पृष्ठ– 4–5 में नामोल्लेखपूर्वक इनके सिद्धान्तों को प्रतिपादित किया गया है। इसके आधार पर इन्हें वेदान्तदर्शन का आचार्य माना जा सकता है। इनके नाम से मीमांसादर्शन पर भी एक ग्रन्थ उपलब्ध होता है। कुमारिलभट्ट ने अपने श्लोकवार्तिक में अनेक स्थलों पर इनके नाम का उल्लेख किया है।[1] साथ ही, टीकाकार पार्थसारथि मिश्र ने भी अपनी न्याय रत्नाकर नामक टीका में इसीप्रकार का अभिप्राय अभिव्यक्त किया है।

कुमारिलभट्ट के अनुसार– भर्तृमित्र इत्यादि आचार्यों के अप-सिद्धान्तों के प्रभाव से मीमांसाशास्त्र लोकायतवत् हो गया। इसलिए विशिष्टद्वैत दर्शन के ग्रन्थों में उल्लिखित भर्तृमित्र तथा श्लोकवार्तिक में कहे गए मीमांसक भर्तृमित्र एक ही व्यक्ति थे अथवा अलग–अलग, यह निश्चयपूर्वक कहना अत्यन्त कठिन है, किन्तु कुमारिलभट्ट की समा-लोचना के आधार पर इन्हें भिन्न व्यक्ति मानना ही उचित प्रतीत होता

---

1. श्लोकवार्तिक–1/1/1/10, 1/1/6/130–131।

है। आचार्य मुकुलभट्ट ने भी अपने 'अभिधावृत्तिमातृका' नामक ग्रन्थ में इनके नाम का उल्लेख किया है।[1]

(11) **आचार्य भर्तृहरि**– यामुनाचार्य के ग्रन्थ 'सिद्धित्रय' में इनके नाम का भी उल्लेख किया गया है। ये प्रसिद्ध वैयाकरण थे। इन्हें महर्षि पतंजलि के व्याकरण महाभाष्य का सर्वाधिक प्राचीन एवं प्रामाणिक टीकाकार माना गया है। महाभाष्य पर लिखी गयी इनकी टीका 'महाभाष्य प्रदीप' ने विद्वानों में विशिष्टस्थान प्राप्त किया। इनके नाम से वाक्यपदीय के पहले दो काण्डों पर 'स्वोपज्ञटीका', वेदान्त–सूत्रवृत्ति, मीमांसासूत्रवृत्ति ग्रन्थ उपलब्ध होते हैं।[2] विद्वानों ने श्रृंगार–शतक, नीतिशतक एवं वैराग्यशतक के रचयिता राजा भर्तृहरि को इनसे भिन्न माना है।[3]

पुण्यराज के अनुसार– आचार्य भर्तृहरि के गुरु का नाम वसुरात था। चीनी यात्री इत्सिंग ने इन्हें बौद्ध धर्मावलम्बी स्वीकार किया है। उनके अनुसार इन्होंने सात बार प्रवृज्या ग्रहण की थी, किन्तु कुछ विद्वान् इन्हें वैदिक धर्मावलम्बी स्वीकार करते हैं।[4] वाक्यपदीय व्याकरण विषयक ग्रन्थ होने पर भी प्रसिद्ध दार्शनिकग्रन्थ है। निःसन्देहरूप से इसका आधार वेदान्त दर्शन के अद्वैतसिद्धान्त को ही स्वीकार किया जा सकता है।

कुछ विद्वानों के मत में आचार्य मण्डनमिश्र ने आचार्य भर्तृहरि द्वारा प्रतिपादित शब्द ब्रह्मवाद का आश्रय लेकर ही अपने 'ब्रह्मसिद्धि' नामक ग्रन्थ की संरचना की, जिस पर वाचस्पतिमिश्र द्वारा विरचित ब्रह्मतत्त्व समीक्षा नाम की टीका मिलती है। काश्मीरीय शिवाद्वैत के प्रमुख आचार्य, उत्पलाचार्य के गुरु आचार्य सोमानन्द ने अपने 'शिव दृष्टि' नामक ग्रन्थ में भर्तृहरि के शब्दाद्वयवाद की विशेषरूप से

---

[1]. अभिधावृत्तिमातृका–पृष्ठ–17।

[2]. प्राचीन चरित्रकोश–चित्राव, पृष्ठ– 553।

[3]. वही।

[4]. संस्कृत व्याकरण का इतिहास, युधिष्ठिर मीमांसक, पृष्ठ– 257।

समालोचना की है। इसके अतिरिक्त शान्तरक्षित कृत तत्त्वसंग्रह, अविमुक्तात्मकृत इष्टसिद्धि तथा जयन्तकृत न्यायमंजरी में भी शब्द–अद्वैतावाद का विस्तारपूर्वक उल्लेख मिलता है।

उत्पलाचार्य एवं सोमानन्द के वचनों से ज्ञात होता है कि आचार्य भर्तृहरि एवं उनके सिद्धान्त का अनुकरण करने वाले शब्द ब्रह्मवादी दार्शनिक विद्वान् 'पश्यन्तीवाक्' को ही शब्दब्रह्म का स्वरूप स्वीकार करते थे। इस वाक् को विश्व के नियामक एवं अन्तर्यामी चित्त तत्त्व से अभिन्न माना गया है। आचार्य भर्तृहरि ने ब्रह्म को यथार्थ सत्ता मानते हुए, शब्द एवं ब्रह्म में अभिन्नता प्रतिपादित करते हुए सम्पूर्ण जगत् को ब्रह्म का विवर्त स्वीकार किया है–

अनादिनिधनं ब्रह्मं शब्दतत्त्वं यदक्षरम्।
निवर्ततेऽर्थभावेन प्रक्रिया जगतो यतः।।

इनके अनुसार– व्याकरण के सिद्धान्तों के अध्ययन एवं मनन द्वारा मोक्ष की प्राप्ति की जा सकती है। इनके परवर्ती आचार्य, मण्डनमिश्र ने इनके सिद्धान्तों एवं मान्यताओं से प्रभावित होकर 'स्फोट सिद्धि' नामक ग्रन्थ की संरचना की। प्रो. मैक्समूलर ने आचार्य भर्तृहरि को ईसा की सप्तम शताब्दी के पूर्वार्द्ध में स्थित माना है।

(12) **आचार्य उपवर्ष**– शंकराचार्य[1] एवं शबरस्वामी के भाष्य[2] में इनके नाम का उल्लेख हुआ है। वहाँ इनके लिए सम्मानजनक 'भगवान्' शब्द का प्रयोग तात्कालिक समय में इनके गौरव तथा श्रेष्ठता को सिद्ध करता है, साथ ही, इससे यह भी प्रतीत होता है कि इन्होंने पूर्वमीमांसा एवं उत्तरमीमांसा दोनों पर ही अपनी विद्वतापूर्ण व्याख्या की संरचना की थी।

---

1 . 'इत एव चाकृष्याचार्येण शबरस्वामीना प्रमाणलक्षणे वर्णितम्। अत एव च भगवतोपवर्षेण प्रथमे तन्त्रे आत्मास्तित्वाभिधानप्रसक्तौ शारीरके वक्ष्याम इत्युदधा-स्कृतः' (ब्रह्मसूत्रशांकरभाष्य– 3/3/53)

2 . अथ गौरित्यत्र शब्दः गकारौकारविसर्जनीयः इति भगवानुपवर्षः। (मीमांसा शबर भाष्य– 1/1/5)

मणिमेखले नामक तमिलभाषा में लिखे गए एक प्राचीन ग्रन्थ में आचार्य जैमिनि तथा व्यास के साथ ही आठ प्रमाणों को मान्यता प्रदान करने वाले 'कृत्कोटि' नामक आचार्य के नाम का उल्लेख हुआ है। इनके साथ उपवर्ष आचार्य का सम्बन्ध स्थापित करने का विद्वानों ने प्रयास किया है, जो न्यायसंगत प्रतीत नहीं होता है, क्योंकि आचार्य उपवर्ष वस्तुतः अन्य मीमांसकों एवं वेदान्तियों के समान केवल छः प्रमाणों को ही मान्यता प्रदान करते हैं। आचार्य बलदेव उपाध्याय ने इन्हें 200 ई. के लगभग स्थित माना है।

(13) **आचार्य बौधायन**– वेदार्थसंग्रह में गुरुदेव, कपर्दी, टंक तथा आचार्य भारुचि के साथ इनके नाम का भी उल्लेख मिलता है। डॉ. थीबो आदि विद्वानों का विचार है कि इन्होंने ब्रह्मसूत्र पर एक वृत्ति की संरचना की थी। यद्यपि इस समय यह कृति उपलब्ध नहीं है तथापि रामानुजाचार्य के श्रीभाष्य में इसके उद्धरण मिलते हैं। प्रसिद्ध जर्मन विद्वान् जैकोबी ने इनका मीमांसासूत्र पर वृत्ति लिखना स्वीकार किया है।[1] ये कल्पसूत्रों के प्रवर्तक आचार्य बौधायन से भिन्न हैं। इसके अतिरिक्त **प्रपंचहृदय** नामक ग्रन्थ से भी यह बात सिद्ध होती है कि इनके द्वारा निर्मित वेदान्तवृत्ति का नाम कृतकोटि था।[2] अनेक विद्वानों ने इन्हें द्रविड़ देश का निवासी स्वीकार किया है।[3]

(14) **आचार्य टंक**– आचार्य रामानुज ने वेदान्तसंग्रह में इनके नाम का उल्लेख किया है। ये विशिष्टाद्वैत सिद्धान्त के समर्थक थे। कुछ विद्वान् ब्रह्मनन्दी आचार्य के साथ इनकी अभिन्नता का प्रतिपादन करते हैं, किन्तु इस विषय में निश्चितरूप से कुछ भी कहना कठिन है।

(15) **आचार्य ब्रह्मनन्दी**– आचार्य मधुसूदन सरस्वती ने संक्षिप्त शारीरक टीका में (3/117) इनके नाम का उल्लेख किया है। ऐसा

---

1. जनरल ऑफ दॉ अमेरिकन ओरियण्टल सोसायटी– पृष्ठ– 17–191।
2. प्रपंचहृदय–त्रिवेन्द्रम्, पृष्ठ–39)
3. प्राचीन चरित्रकोश, पृष्ठ– 525।

प्रतीत होता है कि ये सम्भवतः अद्वैतवेदान्त के आचार्य थे तथा प्राचीन वेदान्त साहित्य में छान्दोग्य वाक्यकार अथवा केवल वाक्यकार के नाम से प्रसिद्ध थे, क्योंकि इन्होंने वाक्य नामक छान्दोग्यव्याख्यान की संरचना की थी, जिस पर द्रमिडचार्य ने भाष्य लिखा। जैसा कि हम पूर्व में उल्लेख कर चुके हैं, कुछ विद्वानों ने आचार्य टंक के साथ इनकी अभिन्नता प्रतिपादित की है।

(16) **आचार्य ब्रह्मदत्त**– शंकराचार्य के पूर्ववर्ती वेदान्ताचार्यों में इनके नाम का उल्लेख भी प्राप्त होता है। ये अद्वैतवादी आचार्य थे,[1] शंकराचार्य ने बृहदारण्यकोपनिषद् (1/4/7) के भाष्य में भी इनके मत का उल्लेख किया है। प्राचीन वेदान्ताचार्य आश्मरथ्य के भेदाभेद के सिद्धान्त से इनके मत की अनुकूलता प्रतीत होती है, क्योंकि उन्होंने ब्रह्म से 'जीव' की उत्पत्ति तथा मुक्ति की स्थिति में उसका उसी में लीन होना स्वीकार किया है, जबकि ब्रह्मदत्त ने भी 'जीव' की उत्पत्ति एवं विनाश की स्थिति को मान्यता प्रदान की है।

इनके अनुसार– अज्ञान की निवृत्ति भावनाजन्य ज्ञान से ही होती है, औपनिषदिक ज्ञान मुक्ति के लिए पर्याप्त नहीं है, क्योंकि इस ज्ञान के प्राप्त करने के पश्चात् भी जीवन पर्यन्त भावना आवश्यक है। इनके मत में, शरीर के रहने पर भी उपाय के माध्यम से देवता का साक्षात्कार सम्भव है, किन्तु उसके साथ मिलन देह के अभाव में ही सम्भव है। इसप्रकार प्रारब्धकर्मों से प्राप्त की हुई देह उपास्य के साथ उपासक के मिलन में बाधक है,[2] जिसप्रकार मृत्यु के पश्चात् स्वर्ग की प्राप्ति होती है, उसीप्रकार देह छूटने के पश्चात् ही मोक्ष भी सम्भव है।

(17) **आचार्य भारुचि**– आचार्य रामानुज ने अपने वेदान्तसंग्रह में[3] प्राचीन वेदान्ताचार्यों का उल्लेख करते हुए इनके नाम का सर्वप्रथम

---

1. नैष्कर्म्यसिद्धि– 1/68।

2. बृहदारण्यकोपनिषद् वार्तिक, पृष्ठ– 1357 व नैष्कर्म्यसिद्धिटीका– 'चन्द्रिका' पृष्ठ– 1–67।

3. वेदान्त संग्रह– पृष्ठ– 154 ।

उल्लेख किया है। इन आचार्यों के नाम हैं– भारुचि, टंक, बोधायन, गुहदेव, कपर्दिक तथा द्रमिलाचार्य। इसीप्रकार विज्ञानेश्वर की मिताक्षरा टीका[1] में तथा माधवाचार्य की पराशरसंहिता टीका[2] में एवं सरस्वती विलास आदि ग्रन्थों में आचार्य भारुचि के नाम का कथन किया गया है।

मिताक्षरा का समय विद्वानों ने 1050 ई. निर्धारित किया है। अतः इनका काल इससे पूर्व सिद्ध होता है। डा. पी.वी. काणे ने धर्मशास्त्र के इतिहास में इनका समय नवीं शताब्दी का पूर्वार्द्ध माना है।[3] श्री निवासदास ने यतीन्द्रमत दीपिका में अन्य वेदान्ताचार्यों के नामोल्लेख के प्रसंग में इनका भी कथन किया है। ऐसा प्रतीत होता है कि इन्होंने आचार्य विष्णुकृत धर्मसूत्र के ऊपर टीका की संरचना की थी। कुछ विद्वान् धर्मशास्त्रकार भारुचि तथा वेदान्ताचार्य भारुचि को भिन्न मानते हैं, किन्तु काणे महोदय ने दोनों के एक होने की सम्भावना व्यक्त करते हुए इन्हें विश्वरूप का समकालीन माना है।[4]

(18) **द्रविडाचार्य–** ये भी प्राचीन वेदान्ताचार्य थे। इन्होंने छान्दोग्योपनिषद् पर अत्यन्त बृहद्भाष्य की संरचना की। साथ ही, बृहदारण्यकोपनिषद् पर भी भाष्य लिखा। अपने माण्डूक्योपनिषद् भाष्य में (2/32, 2/20) आचार्यशंकर ने इन्हें 'आगमवित्' कहकर सम्मानित किया है तथा बृहदारण्यकोपनिषद् भाष्य में 'सम्प्रदायवित्' कहकर सम्बोधित किया है। इन सम्बोधनों से तात्कालिक समय के दार्शनिक विद्वानों में इनके गौरव की अभिव्यक्ति होती है।

यही कारण है कि शंकराचार्य ने कहीं भी इनके मत का खण्डन नहीं किया है। इनका दूसरा नाम द्रमिलाचार्य भी मिलता है। ये अद्वैतमत के समर्थक थे। इसके अतिरिक्त रामानुजाचार्य ने अपने

---

1. मिताक्षरा टीका– 1/18, 2/124 ।
2. पराशर टीका–(2/3, पृष्ठ– 510।
3. धर्मशास्त्र का इतिहास, पी.वी. काणे, प्रथम भाग– हिन्दी अनुवाद, पृष्ठ– 68।
4. वही।

वेदान्तसंग्रह में ही इनके नाम का उल्लेख किया है। विद्वानों ने यामुनाचार्य के सिद्धित्रय में आये 'भाष्यकृत' शब्द का सम्बन्ध इन्हीं द्रविड़ाचार्य से माना है–

'भगवता बादरायणेन इदमर्थमेव सूत्राणि प्रणीतानि विवृतानि च परिमितगम्भीरभाष्यकृता' (सिद्धित्रय–यमुनाचार्य)

(19) **गौडपादाचार्य–** इन्हें अद्वैतवेदान्त का प्रथम प्रवर्तक एवं प्रधान आचार्य माना गया है, क्योंकि अद्वैतवेदान्त की गुरुपरम्परा अत्यन्त प्राचीन होते हुए भी इसके सिद्धान्तों का क्रमबद्धरूप में प्रस्थापन एवं प्रतिपादन इन्हीं के द्वारा किया गया। कुछ विद्वानों ने इन्हें बौद्धदर्शन से प्रभावित माना है। इनके जीवन के सम्बन्ध में कुछ विशेष बात नहीं मिलती, किन्तु शंकराचार्य के शिष्य सुरेश्वराचार्य के **नैष्कर्म्यसिद्धि** नामक ग्रन्थ से केवल इतना ज्ञात होता है कि ये गौड़प्रदेश के निवासी थे। विद्वानों ने इन्हें ईसा पूर्व द्वितीय शताब्दी के पूर्वभाग में स्थित माना है, जिसका आधार इनके ग्रन्थों में बौद्धमत का स्पष्टरूप से उल्लेख न होना रहा है।

इन्होंने माण्डूक्योपनिषद् पर प्रसिद्ध कृति' माण्डूक्यकारिका' की संरचना की, जिस पर शंकराचार्य ने भाष्य की रचना की तथा इसी कारिका पर मिताक्षरा नामक टीका भी मिलती है। परवर्ती आचार्यों ने इस कारिका को प्रमाणरूप में स्वीकार किया है। इस ग्रन्थ को चार प्रकरणों में विभाजित किया गया है– (1) आगम (2) नैतथ्य (3) अद्वैत (4) अतीतशान्ति।

इनका दूसरा ग्रन्थ 'उत्तरगीताभाष्य' मिलता है। उत्तरगीता महाभारत का ही एक अंश है, किन्तु यह अंश महाभारत की सभी प्रतियों में उपलब्ध नहीं है। ईश्वरकृष्ण की सांख्यकारिका पर भी आचार्य गौडपाद का भाष्य उपलब्ध है,[1] किन्तु विद्वानों ने इन्हें पूर्व

---

1 लेखककृत सांख्यकारिका 'चन्द्रिका' व्याख्या, प्रकाशक, संस्कृत ग्रन्थागार, दिल्ली– 1998, एवं प्रस्तुत पुस्तक में सांख्यदर्शन खण्ड।

गौडपाद से भिन्न माना है, क्योंकि सांख्यकारिका के भाष्यकार आचार्य गौडपाद का समय ईसा की सप्तम शताब्दी माना गया है।[1]

आचार्य गौडपाद अद्वैतवाद के प्रमुख आचार्य थे। अपनी कारिकाओं में उन्होंने जिन सिद्धान्तों को बीजरूप में प्रदर्शित किया, उन्हीं को आचार्य शंकर ने अपने ग्रन्थों में सरलशैली में प्रतिपादित किया है। कारिकाओं में निर्दिष्ट उनके मत को विद्वानों ने 'अजातवाद' की संज्ञा प्रदान की।

इनके अनुसार– वस्तुतः जगत् की उत्पत्ति नहीं हुई, एकमात्र अखण्ड चिद्घन सत्ता ही हमें मोहवश प्रपंचवत् प्रतीत हो रही है–

मनोदृश्यमिदं द्वैतमद्वैतं परमार्थतः।
मनसो ह्यमनीभावे द्वैतं नैवोपलभ्यते।।
न निरोधो न चोत्पत्तिर्न बद्धो न च साधकः।
न मुमुक्ष र्न वै मुक्त इत्येष परमार्थता।।

अर्थात् उत्पत्ति, प्रलय, बद्धता, साधकत्व, मुमुक्षत्व एवं मुक्तभाव ये सभी परमार्थ नहीं है, जिसप्रकार रज्जु में सर्प, सीपी में चाँदी तथा स्वर्ण में आभूषणों की प्रतीति होती है, ठीक उसीप्रकार माया की महिमा द्वारा सर्वसंगशून्य निर्विशेष 'चित्' तत्त्व में ही समस्त पदार्थों की प्रतीति हो रही है। अतः एकमात्र वही वस्तु सत् एवं परमार्थ है।

(20) **आचार्य गोविन्दपाद–** ये आचार्य गौडपाद के शिष्य तथा शंकराचार्य के गुरु थे। शंकराचार्य की जीवनी से केवल इनका नर्मदा तट निवासी होना सिद्ध होता है। ये अपने समय के उद्भट विद्वान् थे। इनका कोई ग्रन्थ उपलब्ध नहीं होता है।

(v) **शंकराचार्य एवं उत्तरवर्ती वेदान्ताचार्य–** शंकराचार्य को अद्वैतवाद का प्रवर्तक आचार्य माना जाता है। अद्वैतमत को शांकरमत या शांकरदर्शन भी कहते हैं। ब्रह्मसूत्र पर उपलब्ध भाष्यों में सर्वाधिक

---

[1] वही, भूमिका, पृष्ठ– 33।

प्राचीन शांकरभाष्य माना जाता है। आचार्य शंकर की प्रामाणिक जीवनी का कहीं भी उल्लेख नहीं मिलता, किन्तु परवर्तीकाल में उनके जीवन की घटनाओं का कहीं–कहीं संकलन किया गया है, जिनमें आनन्द गिरि की शंकरदिग्विजय, चिद्विलास की शंकरविजय तथा माधवाचार्य की संक्षिप्त शंकरजय मुख्य हैं। इन्हीं ग्रन्थों के आधार पर हम उनके विषय में यहाँ विवरण प्रस्तुत कर रहे हैं–

शंकराचार्य का जन्म केरल प्रदेश की पूर्णा नदी के तटवर्ती ग्राम **कलादी** में वैशाख शुक्ल 5 को 788ई. में हुआ। इनके पिता का नाम **शिवगुरु** तथा माता का नाम **सुभद्रा** था। भगवान् शंकर की आराधना से पुत्र–प्राप्ति होने के कारण उन्होंने इनका नाम भी शंकर रखा। बालक शंकर बाल्यावस्था से ही अद्भुत प्रतिभा एवं स्मरणशक्ति के धनी थे। अतः सात वर्ष क़ी अवस्था तक इन्होंने वेद, वेदान्त और वेदांगों का विधिवत् अध्ययन कर लिया। इनकी असाधारण प्रतिभा से सभी गुरुजन प्रभावित एवं आश्चर्यचकित थे।

विद्याध्ययन समाप्त करने के पश्चात् घर लौटकर इन्होंने माता से संन्यास ग्रहण करने की अनुमति मांगी. । मात्राज्ञा प्राप्त कर आठ वर्ष की अवस्था में ये घर से निकल पड़े, क्योंकि शंकर माता के बहुत बड़े भक्त थे, इसलिए उनकी अनुमति के बिना, उन्हें कष्ट देकर संन्यास लेना नहीं चाहते थे। घर से प्रस्थान करने के बाद इन्होंने नर्मदा के तट पर स्वामी गोविन्दपाद से शिक्षा ग्रहण की। उऩ्होंने इनका नाम **पूज्यपादाचार्य** रखा। गुरु की कृपा से शीघ्र ही ये बहुत बड़े योग्यसिद्ध महात्मा हो गए। उनकी सिद्धि से प्रसन्न होकर गुरु ने इन्हें काशी जाकर वेदान्तसूत्र पर भाष्य लिखने की आज्ञा दी। जहाँ उनके वैदुष्य की ख्याति बढ़ने लगी और लोग उनके पास आकर उनका शिष्यत्व ग्रहण करने लगे।

विद्यार्णव नामक ग्रन्थ के अनुसार इनके शिष्यों की संख्या 14 थी, ज़िनमें पाँच संन्यासी तथा नौ गृहस्थ थे। इनके प्रथम शिष्य का

नाम **पद्मपाद** था। शेष चार संन्यासी शिष्यों में शंकर, बोध, गीर्वाण तथा आनन्दतीर्थ का नाम उल्लेखनीय है। सुन्दर, विष्णुशर्मा, लक्ष्मण मल्लिकार्जुन, त्रिविक्रम, श्रीधर, कपर्दी, केशव और दामोदर इनके गृहस्थ शिष्य थे। काशी में रहते हुए इन्होंने सभी विरुद्ध मतावलम्बियों को परास्त किया तथा ब्रह्मसूत्र पर भाष्य की संरचना की।

वहाँ से कुरुक्षेत्र होते हुए ये बदरिकाश्रम गए, जहाँ इन्होंने कुछ अन्य ग्रन्थों की रचना की। इन्होंने अपनी 12 वर्ष की अवस्था से सोलह वर्ष की अवस्था तक सभी ग्रन्थों की रचना की। वहाँ से चलकर ये प्रयाग गए, जहाँ कुमारिलभट्ट से इनकी मुलाकात हुई। वहाँ से मगध की माहिष्मती नगरी में मण्डनमिश्र के पास शास्त्रार्थ हेतु गए। मण्डनमिश्र की पत्नी 'भारती' शास्त्रार्थ में निर्णायक रूप में रहीं। अन्त में मण्डनमिश्र की पराजय होने के पश्चात् उन्होंने आचार्य शंकर का शिष्यत्व ग्रहण कर लिया। ये ही आगे चलकर सुरेश्वराचार्य के नाम से प्रख्यात हुए।

मगधविजय करके शंकराचार्य दक्षिण की ओर गए, जहाँ इन्होंने शैव और कापालिकों को परास्त किया। वहाँ से चलकर दक्षिण में तुंगभद्रा के तट पर मन्दिर बनवाकर उसमें शारदादेवी की स्थापना की। इसके साथ ही स्थापित मठ को शृंगेरीमठ के रूप में प्रसिद्धि प्राप्त हुई तथा अपने शिष्य सुरेश्वराचार्य को इस मठ में आचार्य पद पर नियुक्त किया। इन्हीं दिनों माता की मृत्यु निकट जानकर माता को दिए गए वचन के अनुसार वापस घर आकर माता की अन्त्येष्टिक्रिया सम्पन्न की। इनके पिता का देहान्त इनकी तीन वर्ष की आयु में ही हो गया था।

पुनः शृंगेरीमठ में वापस आए तथा वहाँ से पुरी जाकर गोवर्धन मठ की स्थापना की एवं अपने प्रथम शिष्य पद्मपादाचार्य को मठाधिपति नियुक्त किया। चोल एवं पाण्ड्य देश के राजाओं की सहायता से इन्होंने दक्षिण में शाक्त, गाणपत्य तथा कापालिक सम्प्रदाय के

अनाचारों को दूर किया। तत्पश्चात् इन्होंने उत्तरभारत की ओर प्रस्थान किया। मार्ग में उज्जैन में होने वाली भैरवों की भीषण साधना को बन्द किया। पुनः गुजरात आकर द्वारकामठ की स्थापना करके अपने शिष्य हस्तामलकाचार्य को आचार्य पद पर प्रतिष्ठित किया।

पुनः गांगेय प्रदेश के पण्डितों को परास्त कर काश्मीर के शारदा क्षेत्र में आकर वहाँ के पण्डितों को परास्त करके, अपने मत की स्थापना की। तत्पश्चात् आसाम के कामरूप स्थान में जाकर शैवों से शास्त्रार्थ किया। पुनः बदरिकाश्रम आकर ज्योतिर्मठ की स्थापना करके अपने शिष्य तोटकाचार्य को वहाँ का मठाधीश नियुक्त किया। वहाँ से केदारक्षेत्र आए, जहाँ इन्होंने कुछ ही दिन बाद 32 वर्ष की आयु में निर्वाण प्राप्त किया।

यद्यपि शंकराचार्य के नाम से लिखे गए 272 ग्रन्थ बताए जाते हैं, किन्तु यह कहना कठिन है कि वे सभी आद्य शंकराचार्य द्वारा लिखे गए, क्योंकि बाद में शंकराचार्य उपाधिधारी विद्वानों ने भी ग्रन्थों की रचना की, जिन्होंने अपने पूरे नामों का उल्लेख नहीं किया। पुनरपि अधिकांश विद्वत्सम्मत ग्रन्थों के नाम इसप्रकार हैं–

ब्रह्मसूत्रभाष्य, उपनिषद्भाष्य (ईश, केन, कठ, प्रश्न, मुण्डक, माण्डूक्य, ऐतरेय, तैत्तिरीय, छान्दोग्य, बृहदारण्यक, श्वेताश्तर इत्यादि) गीताभाष्य, विष्णुसहस्रनामभाष्य, सनत्सुजातीयभाष्य, हस्तामलकभाष्य, ललितात्रिशतीभाष्य, विवेकचूड़ामणि, प्रबोधसुधाकर, उपदेशसाहस्री, अपरोक्षानुभूति, शतश्लोकी, दशश्लोकी, सर्ववेदान्त सिद्धान्त सारसंग्रह वाक्यसुधा, पंचीकरण, प्रपंचसारतन्त्र, आत्मबोध, मनीषापंचक, आनन्द–लहरीस्तोत्र इत्यादि।

आचार्य शंकर का सिद्धान्त अद्वैतवाद के नाम से प्रसिद्ध है, तदनुसार इन्होंने ब्रह्म के अतिरिक्त अन्य समस्त जगत् को मिथ्या प्रतिपादित किया **(ब्रह्मसत्यं जगन्मिथ्या)** एतदर्थ इन्होंने मायावाद की स्थापना की। इसे विद्वानों ने इनका अमोघमन्त्र बताया, जिसके माध्यम

से इन्होंने ब्रह्म एवं जगत् विषयक पहेली को सुलझाकर विद्वानों के समक्ष रखा। तदनुसार– सम्पूर्ण दृश्यमान जगत् ब्रह्म का विवर्तमात्र है। जैसे– हमें रज्जु में सर्प की भ्रान्ति हो जाती है, ठीक उसीप्रकार ब्रह्मतत्त्व में ही हमें जगत् की भ्रान्ति हो रही है। उन्होंने आत्मा को स्वतःसिद्ध माना है।

इनके मत में 'मोक्ष' एक व्यावहारिक सत्य है। इसे प्राप्त करने के लिए इन्होंने ज्ञान, कर्म एवं उपासना सभी की उपादेयता को स्वीकार किया। इसीकारण इनका सिद्धान्त केवल विद्वानों, ज्ञानियों एवं योगियों के लिए ही उपयोगी नहीं, अपितु सामान्य व्यक्ति के लिए भी उपयोगी सिद्ध हुआ है। आचार्य शंकर के परवर्ती वेदान्तदर्शन के आचार्यों की परम्परा अत्यन्त विशाल रही है। यहाँ हम उनका संक्षेप में उल्लेख कर रहे हैं–

(22) **पद्मपादाचार्य–** ये शंकराचार्य के प्रथम शिष्य थे। इनका पूर्वनाम **सइन्दन** था। दक्षिण के चोलप्रदेश में इनका जन्म हुआ। ये गुरु के परमभक्त एवं आज्ञापालक थे। पद्मपाद नाम इन्हें शंकराचार्य ने दिया था। एक बार जब उग्रभैरव नामक कापालिक ने शंकराचार्य की बलि चढ़ानी चाही, तो आचार्य पद्मपाद ने उसी का वध कर दिया। शंकराचार्य ने इन्हें पुरी के गोवर्धनमठ का अध्यक्ष बनाया, इन्होंने अपने जीवनपर्यन्त अद्वैतमत का प्रचार किया।

इनका एक अपूर्ण ग्रन्थ पंचपादिका, आत्मानात्मविवेक, प्रपंचसार तथा सुरेश्वराचार्यकृत लघुवार्तिक की टीका उपलब्ध हैं। पंचपादिका में शारीरक भाष्य के केवल चार सूत्रों की व्याख्या की गई है, जिस पर प्रकाशात्ममुनि की **विवरण** नामक टीका तथा इस पर भी अखण्डानन्द मुनि की **तत्त्वदीपन** नाम की टीका मिलती है। आचार्य पद्मपाद के शिष्यों में से ही दशनामी संन्यासियों की 'आश्रम' और 'अरण्य' शाखाएँ निकली हैं।

(23) **आचार्य मण्डनमिश्र**– इनका अन्य नाम सुरेश्वराचार्य भी था। ये रेवा नदी के तटवर्ती प्राचीन महिष्मती के निवासी थे। मण्डन मिश्र अपने समय के मगधप्रदेश के सबसे बड़े विद्वान् और पूर्वमीमांसक थे। ऐसी मान्यता है कि पहले ये कुमारिलभट्ट के शिष्य थे तथा उन्होंने ही शंकराचार्य को इनसे शास्त्रार्थ करने के लिए भेजा था। आचार्य शंकर ने इनके घर पर पहुँच कर इनसे शास्त्रार्थ किया तथा शास्त्रार्थ में इन्हें परास्त किया। अतः शर्त के अनुसार शंकराचार्य का शिष्यत्व ग्रहण करके ये संन्यासी हो गए तथा विश्वरूप एवं सुरेश्वराचार्य के नाम से प्रसिद्ध हुए।

शंकराचार्य ने बाद में शृंगेरी मठ की स्थापना करके इन्हें वहाँ का आचार्य नियुक्त किया। सुरेश्वराचार्य पाण्डित्य के अगाध सागर थे। इनके ग्रन्थों में विचारों की प्रौढ़ता एवं क्रमबद्धता देखने को मिलती है। चित्सुख, विद्यारण्य, सदानन्द, गोविन्दानन्द, अप्पयदीक्षित आदि परवर्ती आचार्यों ने इनके वचनों को अपने ग्रन्थों में प्रमाणरूप में प्रस्तुत किया है।

संन्यास ग्रहण करने से पहले इन्होंने आपस्तम्बीय मण्डन कारिका, भावनाविवेक एवं काशीमोक्षनिर्णय नामक ग्रन्थों की रचना की तथा उसके पश्चात् इन्होंने तैत्तिरीयश्रुतिवार्तिक, नैष्कर्म्यसिद्धि, इष्ट सिद्धि, पंचीकरणवार्तिक, बृहदारण्यकोपनिषद्वार्तिक, ब्रह्मसिद्धि, ब्रह्मसूत्र भाष्यवार्तिक, विधिविवेक, मानसोल्लास, लघुवार्तिक, वार्तिकसार तथा वार्तिकसारसंग्रह ग्रन्थों की संरचना की। संन्यास ग्रहण करने के बाद इन्होंने शंकरमत का ही प्रचार किया तथा अपने ग्रन्थों में भी उन्हीं के मत का समर्थन किया।

(24) **सर्वज्ञात्ममुनि**– शंकराचार्य द्वारा स्थापित शृंगेरीमठ की गद्दी पर आठवीं शताब्दी के अन्त में इन्हें पदस्थापित किया गया। इनका दूसरा नाम **नित्यबोधाचार्य** था। शंकरमत के प्रचार की दृष्टि से इन्होंने 'संक्षेपशारीरक' ग्रन्थ की संरचना की। इनके गुरु का नाम

देवेश्वराचार्य था। मधुसूदन सरस्वती एवं स्वामीरामतीर्थ ने सुरेश्वराचार्य से इसकी अभिन्नता प्रतिपादित की है, जो कालक्रम की दृष्टि से संगत प्रतीत नहीं होती है।

शृंगेरीमठ के प्राचीन लेखों से इनका स्थितिकाल 758 ई. से 848 ई. प्रतीत होता है। ब्रह्मसूत्रशांकरभाष्य के आधार पर लिखे गए **'संक्षेपशारीरक'** में श्लोक एवं वार्तिक दोनों की संरचना की गई है। चार अध्यायों में विभक्त इस ग्रन्थ के प्रथम अध्याय में 562, द्वितीय में 248, तृतीय में 365 तथा चतुर्थ में 53 श्लोक हैं। परवर्ती आचार्यों ने इसे प्रमाणरूप में स्वीकार किया है तथा मधुसूदनसरस्वती एवं स्वामी रामतीर्थ ने इस ग्रन्थ पर टीकाएँ भी लिखी हैं।

(25) **आचार्य वाचस्पतिमिश्र**– इनका जन्मस्थान मिथिला माना जाता है। इनके ग्रन्थों से प्रतीत होता है कि ये अपने विषय के धुरन्धर विद्वान् तथा अद्वैतमत के प्रमुख आचार्य थे। विद्वानों ने इनका समय आठवीं शताब्दी के अन्त से लेकर नवम शती का प्रारम्भ निर्धारित किया है। इनके बाद के प्रायः सभी आचार्यों ने इनके वाक्यों को प्रमाण रूप में स्वीकार किया है। इन्होंने शंकरभाष्य पर **भामती** टीका का प्रणयन किया। शंकरमत को समझने हेतु इसका अध्ययन अनिवार्य माना जाता है। इनके वैदुष्य से प्रभावित होकर इन्हें राजसम्मान की प्राप्ति हुई।

कहते हैं, ये ग्रन्थ लिखने में इतने अधिक तल्लीन रहते थे कि इन्हें अपने आसपास का भी कोई भान नहीं रहता था, जब ये शारीरक भाष्य की टीका लिख रहे थे तो कमरे में दीपक बुझ गया। तब इनकी पत्नी भामती ने कमरे में आकर वह दीपक जलाया। उसी समय इनका परिचय अपनी पत्नी से हुआ, तभी पत्नी ने अपने पातिव्रत्य से इन्हें परिचित कराया तो उससे प्रभावित होकर इन्होंने अपनी टीका का नाम 'भामती' रखने का निश्चय करके अपनी पत्नी को सदैव के लिए अमर बना दिया।

वाचस्पतिमिश्र ने छहों दर्शनों पर अपनी टीकाएँ लिखीं। इन्होंने वेदान्त पर 'भामती', सुरेश्वरकृत ब्रह्मसिद्धि पर 'ब्रह्मतत्त्वसमीक्षा', सांख्य कारिका पर 'तत्त्वकौमुदी', पातंजलदर्शन पर 'तत्त्ववैशारदी', न्यायदर्शन पर 'न्यायवार्तिकतात्पर्य', पूर्वमीमांसादर्शन पर 'न्यायसूचीनिबन्ध, भाट्टमत पर 'तत्त्वबिन्दु' तथा मण्डनमिश्र के विधिविवेक पर 'न्यायकणिका' नामक टीका की संरचना की। इनके ग्रन्थों में तत्तत् आचार्य के सिद्धान्तों का निष्पक्षभाव से समर्थन के साथ–साथ, उनमें मौलिकता के दर्शन भी होते हैं। शांकर सिद्धान्त के प्रचार में इनका बहुत बड़ा हाथ माना जाता है। ये विद्वान् ही नहीं, अपितु उच्चकोटि के साधक भी थे।

(26) **श्रीकृष्णमिश्र यति–** नवम एवं दशम शती तक वेदान्त विषयक चर्चा विद्वानों तक सीमित थी, किन्तु इसका प्रभाव बढ़ने के कारण धीरे–धीरे यह सर्वसाधारण में भी लोकप्रिय होने लगी। इस दृष्टि से ग्याहरवीं शती में नाटक–काव्यादि के माध्यम से वेदान्तदर्शन को समझाने का प्रयास आरम्भ हुआ, क्योंकि काव्यादि सर्वसाधारण पर गद्य की अपेक्षा अधिक प्रभावशाली होते हैं। साथ ही, ये सुबोध भी होते हैं। अतः अद्वैतमत का प्रचार करने की दृष्टि से श्रीकृष्णमिश्र ने **'प्रबोधचन्द्रोदय'** नामक नाटक की संरचना की। इनका काल ग्यारहवीं शती का उत्तरार्द्ध माना जाता है, ये संन्यासी थे। इनके द्वारा विरचित नाटक के माध्यम से ही इनकी कवित्व शक्ति एवं दार्शनिकप्रतिभा दोनों का ही परिचय प्राप्त होता है।

(27) **प्रकाशात्मयति–** ग्यारहवीं शती में आचार्य रामानुज ने शांकरमत का जोरदार खण्डन किया। उसी समय इन्होंने शांकरमत की प्रस्थापना का प्रयास किया। इन्होंने पद्मपादाचार्य द्वारा विरचित पंचपादिका पर 'पंचपादिकाविवरण' नामक टीका का प्रणयन किया। अद्वैतसिद्धान्त की दृष्टि से यह टीका अत्यन्त महत्त्वपूर्ण स्थान रखती है, क्योंकि परवर्ती आचार्यों ने अनेकशः इसके वाक्यों को प्रमाणरूप में उद्धृत किया है। विद्वानों ने इनका स्थितिकाल दसवीं शताब्दी एवं

तेरहवीं शताब्दी के मध्य निर्धारित किया है। इनके गुरु का नाम **अनन्यानुभव** था। इनके ग्रन्थों से पता चलता है कि इनके गुरु को ब्रह्म का साक्षात्कार हुआ था, इनका दूसरा नाम **प्रकाशानुभव** था।

(28) **आचार्य अद्वैतानन्द**–इनका जन्म 1149 ई. में दक्षिण भारत में स्थित कावेरी नदी के तट पर **पंचनद** नामक स्थान में हुआ। इनके पिता **प्रेमनाथ** तथा माता **पार्वतीदेवी** थीं। कौंडिण्य गौत्र में उत्पन्न इनका पूर्वनाम **सीतानाथ** था। इन्होंने सत्रह वर्ष की आयु में संन्यास ग्रहण किया। कांची स्थित शारदामठ के अध्यक्ष भूमानन्द (चन्द्रशेखर सरस्वती) इनके गुरु थे, जिन्होंने लगभग 1166 ई. में अद्वैतानन्द को अपने स्थान पर नियुक्त करके काशी के लिए प्रस्थान किया।

संन्यास लेने से पूर्व ही अद्वैतानन्द ने न्याय एवं मीमांसादर्शन में पर्याप्त निपुणता प्राप्त कर ली थी। स्वामी रामानन्द से इन्होंने शारीरक सूत्रभाष्य का अध्ययन किया, इनके प्रति अद्वैतानन्द की अगाध श्रद्धा थी। 33 वर्षों तक मठ के अध्यक्ष पद पर रहने के पश्चात् 50 वर्ष की आयु में इन्होंने सन् 1199 ई. में समाधि ग्रहण की। इन्हें चिद्विलास एवं आनन्दबोधाचार्य के नाम से भी जाना जाता है।

इन्होंने ब्रह्मविद्याभरण, शान्तिविवरण तथा गुरुप्रदीप आदि तीन ग्रन्थों की रचना की। इनमें ब्रह्मविद्याभरण ही प्रमुख एवं महत्त्वपूर्ण माना जाता है। इसमें ब्रह्मसूत्र के चारों अध्यायों की व्याख्या प्रस्तुत की गई है। इन्होंने अपने ग्रन्थों में प्रायः वाचस्पतिमिश्र के मत का ही अनुकरण किया है।

(29) **श्रीहर्षमिश्र**– श्रीहर्ष दार्शनिक और पण्डित कवि दोनों थे। इनके पिता का नाम श्रीहीर पण्डित तथा माता का नाम मामल्ल देवी था। माँ भगवती की उपासना के फलस्वरूप इन्हें पुत्ररत्न (श्रीहर्ष) की प्राप्ति हुई। ये अनन्य पितृभक्त तथा दृढप्रतिज्ञ थे। कहते हैं चिन्तामणि मन्त्र की सिद्धि के फलस्वरूप इन्हें समस्त विद्याओं में नैपुण्य तथा अद्भुत वाक्चातुर्य की प्राप्ति हुई। तत्पश्चात् कान्यकुब्ज के राजा की

सभा में जाकर इन्होंने शास्त्रार्थ करके राजपण्डितों को पराजित किया तथा राज्यानुकम्पा प्राप्त की। उनके आश्रयदाता राजा का नाम जय चन्द्र अथवा जयन्तचन्द्र था।

श्रीहर्ष के समय में देश में न्यायदर्शन का विशेष प्रभाव था। साथ ही, दक्षिण और उत्तरभारत में रामानुज एवं निम्बार्क के मतों का भी प्रचार हो रहा था। ऐसे समय में इन्होंने अपनी अपूर्व प्रतिभा द्वारा अद्वैतमत का समर्थन किया। न्यायमत का खण्डन करने हेतु इन्होंने **'खण्डनखण्डखाद्य'** नामक अद्भुत एवं प्रौढग्रन्थ की संरचना की। इनका दूसरा काव्यग्रन्थ 'नैषधचरित' है, जिसमें इनके अपूर्व कवित्व एवं पाण्डित्य की अभिव्यक्ति हुई है।

इनके अतिरिक्त इन्होंने अर्णववर्णन, शिवशक्तिसिद्धि, साहसांक चम्पू, छन्दःप्रशस्ति, विजयप्रशस्ति, गौडोर्वीश कुलप्रशस्ति, ईश्वराभिसन्धि तथा स्थैर्यविचारण प्रकरण इत्यादि ग्रन्थों की भी संरचना की। अपने ग्रन्थों में इन्होंने विशेषरूप से उदयनाचार्य के न्यायमत का खण्डन करते हुए अद्वैतमत की स्थापना की है। इनके खण्डनखण्डखाद्य को ही **'अनिर्वचनीयसर्वस्व'** के नाम से भी जाना जाता है।

(30) **आनन्दबोध–** ये बारहवीं शताब्दी में विद्यमान थे। इन्होंने विभिन्न ग्रन्थों से संग्रह करके 'न्याय मरकन्द' नामक ग्रन्थ की रचना की। तेरहवीं शताब्दी में विद्यमान चित्सुखाचार्य ने इस ग्रन्थ की व्याख्या प्रस्तुत की, ये संन्यासी थे। इनके जीवन की इससे अधिक कुछ बात नहीं है। इनके तीन ग्रन्थ प्राप्त होते हैं। न्याय मकरन्द प्रमाणमाला, न्यायदीपावली। इन तीनों में ही इन्होंने अद्वैतमत का विवेचन किया है।

(31) **आचार्य अमलानन्द–** इनका आविर्भाव दक्षिण भारत में हुआ। इन्हें देवगिरि के राजा महादेव (1260 ई. से 1271 ई.) तथा राजा रामचन्द्र का समसामयिक माना जाता है। अतः इनका स्थिति काल तेरहवीं शताब्दी का उत्तरार्द्ध मानना उचित प्रतीत होता है। इनके गुरु का नाम अनुभवानन्द था। ये अद्वैतमत के समर्थक थे। इन्होंने

तीन ग्रन्थों की रचना की–वेदान्तकल्पतरू, शास्त्रदर्पण तथा पंचपादिका दर्पण। इनमें से प्रथम में वाचस्पतिमिश्र की भामती टीका की व्याख्या की गई है। यह अद्वैतसिद्धान्त का प्रामाणिक ग्रन्थ माना जाता है। द्वितीय में ब्रह्मसूत्र के अधिकरणों की व्याख्या हुई है तथा तृतीय ग्रन्थ पद्मपादाचार्य की 'पंचपादिका' नामक ग्रन्थ की व्याख्या है। इन तीन ग्रन्थों में भाषा प्रांजल तथा भावों की गम्भीरता देखने को मिलती है।

(32) **चित्सुखाचार्य–** बारहवीं एवं तेरहवीं शताब्दी भारतीय दार्शनिक इतिहास में खण्डन–मण्डन का युग रहा है। इस कालावधि में द्वैत–अद्वैतवादी न्यायमत के आचार्य परस्पर एक–दूसरे के सिद्धान्तों का खण्डन करने में लगे हुए थे। इन दिनों न्यायमत का प्रभाव बढ़ रहा था। अतः बारहवीं शती में श्रीहर्ष ने न्यायमत का खण्डन किया। पुनः तेरहवीं शती के आरम्भ में आचार्य गणेश ने उनके मत को काटकर पुनः न्यायमत की प्रस्थापना की। इसीप्रकार द्वैतवादी वैष्णवाचार्य भी अद्वैतमत के खण्डन में लिप्त थे।

ऐसे समय में चित्सुखाचार्य ने अद्वैतमत के समर्थन तथा न्याय आदि मतों का खण्डन करके शांकरमत की रक्षा की। एतदर्थ इन्होंने 'तत्त्वप्रदीपिका', न्यायमकरन्द की टीका तथा खण्डनखण्डखाद्य की टीका लिखी। इनमें तत्त्वदीपिका का दूसरा नाम **चित्सुखी** भी है। इसके मंगलाचारण के अनुसार इनके गुरु का नाम 'ज्ञानोत्तम' था। इस ग्रन्थ में इन्होंने 12वीं शतीं में स्थित न्यायलीलावतीकार वल्लभा–चार्य के मत का खण्डन श्रीहर्ष के मत का उद्धरण देते हुए किया है। अतः इनका समय तेरहवीं शताब्दी माना गया है।

(33) **आचार्य शंकरानन्द–** चौदहवीं शताब्दी में स्थित अद्वैतवादी आचार्य शंकरानन्द, विद्यारण्य स्वामी के शिक्षा गुरु थे, क्योंकि इन्होंने पंचदशी एवं विवरणप्रमेयसंग्रह के मंगलाचरण में इन्हें गुरु रूप में प्रणाम किया है। इन्होंने शांकरमत के प्रचारार्थ 'ब्रह्मसूत्रदीपिका', गीता की टीका तथा 108 उपनिषदों की टीका की संरचना की। इनके ग्रन्थों के अध्ययन से इनके अगाध पाण्डित्य की अभिव्यक्ति होती है। एक

आत्म पुराण नामक ग्रन्थ भी इनके नाम से मिलता है। इन्होंने अपने ग्रन्थों में सर्वत्र शंकराचार्य का ही अनुसरण किया है।

(34) **विद्यारण्यमुनि**– इनका दूसरा नाम 'माधव' था। ये विजय नगर राज्य के संस्थापक थे। सन् 1336 ई. के लगभग इन्होंने महाराज वीर बुक्क का राजसिंहासन पर अभिषेक किया तथा स्वयं उनके प्रधान मन्त्री बने। ये बहुमुखी प्रतिभा के धनी थे। ये उच्चकोटि के दार्शनिक, कवि, वैयाकरण, स्मृतिसंग्रहकार और राजनीतिज्ञ थे। प्रसिद्ध विशिष्टा–द्वैताचार्य वेदान्तदेशिकाचार्य इनके समकालीन और बालसखा थे। इनका स्थितिकाल विद्वानों ने 1296 ई. से 1386 ई. निर्धारित किया है।

लोकमान्यता के अनुसार इनका जन्म तुंगभद्रा नदी के तटवर्ती हाम्पी नगर के पास एक गाँव में हुआ था। इनका सूत्र बोधायन तथा गोत्र भारद्वाज था 'पराशरमाधव' नामक ग्रन्थ के अनुसार इनके पिता का नाम **मायण** तथा माता का नाम **श्रीमती** था। सायण और भोगनाथ इनके दो भाई थे, ये दोनों ही भाई अत्यन्त प्रतिभाशाली थे, जिसमें सायण ने वेदों पर विद्वत्तापूर्ण भाष्यों की संरचना की। वृद्धावस्था (1377 ई.) में इन्होंने विद्यारण्यस्वामी के नाम से संन्यास ग्रहण किया। किंवदन्तियों के अनुसार इनकी मृत्यु 90 वर्ष की आयु में हुई। इन्होंने गुरुरूप में वीद्यातीर्थ, भारतीतीर्थ एवं शंकरानन्द को स्मरण किया है।[1]

अपने जीवनकाल में इन्होंने अनेक ग्रन्थों की रचना की। जिनमें– माधवीय धातुवृत्ति व्याकरणग्रन्थ, जैमिनीय न्यायमाला एवं उसकी टीका 'विवरण' (पूर्वमीमांसा विषयक ग्रन्थ), पराशरमाधव (स्मृति शास्त्र विषयक ग्रन्थ), सर्वदर्शनसंग्रह (समस्त दर्शनों का सारसंग्रह), विवरणप्रमेयसंग्रह (पद्मपादकृत पंचपादिका विवरण की व्याख्या), सूत संहिता की टीका (स्कन्द पुराण के अन्तर्गत स्थित सूतसंहिता–वेदान्त के सिद्धान्तों की व्याख्या) पंचदशी (अद्वैतवेदान्त का प्रकरण ग्रन्थ, 15 प्रकरण, 1500 श्लोकों में निबद्ध), अनुभूति प्रकाश (श्लोकबद्ध उपनिषद

---

[1]. पंचदशी एवं विवरणप्रमेय संग्रह– मंगलाचरण।

आख्यायिकाएँ), अपरोक्षानुभूति की टीका (शंकराचार्य विरचित अपरोक्षा–नुभूति ग्रन्थ पर वैदुष्यपूर्ण टीका), जीवनमुक्तिविवेक (संन्यासियों के धर्मों का विस्तृत निरूपण), ऐतरेयोपनिषद् दीपिका (शांकरभाष्यानुसारी व्याख्या), तैत्तिरीयोपनिषद् दीपिका (शांकरभाष्यानुसारी टीका), छान्दो–ग्योपनिषद् दीपिका (शांकरभाष्यानुसारी) बृहदारण्यकवार्तिकसार (शांकर भाष्य पर लिखे गए सुरेश्वराचार्य वार्तिक का श्लोकबद्धसार), शंकर दिग्विजय· (शंकराचार्य जीवनचरितविषयक उत्कृष्ट काव्यरचना, काल–माधव (स्मृतिशास्त्र विषयक ग्रन्थ)।

उपर्युक्त ग्रन्थों से इनकी सर्वतोमुखी प्रतिभा का परिचय सहज ही प्राप्त हो जाता है। ये उच्चकोटि के राजनीतिज्ञ होने के साथ–साथ तत्त्वनिष्ठ एवं तपोमयीवृत्ति के धनी थे। संन्यास ग्रहण करने के बाद ये श्रृंगेरीमठ के अध्यक्षरूप में प्रतिष्ठित भी रहे।

(35) **आचार्य आनन्दगिरि**– शंकराचार्य ने जितने भी भाष्य किए उन सभी पर इन्होंने टीका लिखी है। भाष्यों के अभिप्राय को अभिव्यक्त करने में टीकाएँ अत्यधिक सहायक रही हैं। इसके अतिरिक्त इन्होंने **'शंकर दिग्विजय'** नामक एक स्वतन्त्र ग्रन्थ की भी रचना की, जिसकी संरचना विद्यारण्यस्वामी की 'शंकरदिग्विजय' के बाद की गयी है। अतः इन्हें विद्यारण्यस्वामी से परवर्ती तथा अप्पयदीक्षित से पूर्ववर्ती कहा जा सकता है, क्योंकि उन्होंने सिद्धान्तलेशसंग्रह में इनकी न्याय निर्णयटीका का उल्लेख किया है। इस दृष्टि से इन्हें पन्द्रहवीं शती में स्थित माना जा सकता है, क्योंकि विद्वानों ने विद्यारण्यस्वामी का समय 14वीं शताब्दी तथा अप्पयदीक्षित का सोलहवीं शताब्दी में निर्धारित किया है।

इनका दूसरा नाम आनन्दज्ञान था, यद्यपि इनके जीवन के सम्बन्ध में अधिक जानकारी उपलब्ध नहीं है तथापि इतना अवश्य कहा जा सकता है कि ये सफल टीकाकार, उन्नत दार्शनिक तथा सरल संन्यासी थे। इनके गुरु **शुद्धानन्दस्वामी** थे। कुछ विद्वानों ने इन्हें

शंकराचार्य का शिष्य भी माना है, किन्तु कालक्रम की दृष्टि से यह समीचीन प्रतीत नहीं होता। इन्होंने शंकराचार्यकृत उपनिषद्भाष्य, गीता भाष्य, शारीरकभाष्य तथा शतश्लोकी पर वैदुष्यपूर्ण टीकाएँ लिखीं। इसके अतिरिक्त सुरेश्वराचार्यकृत तैत्तिरीयोपनिषदवार्तिक तथा बृहदा–रण्यकोपनिषद् वार्तिक पर भी टीका लिखी।

(36) **प्रकाशनन्दाचार्य–** इन्होंने 'वेदान्तसिद्धान्तमुक्तावली' ग्रन्थ की रचना की। इनका स्थिति काल पन्द्रहवीं शताब्दी माना गया है, क्योंकि अप्पयदीक्षित ने सिद्धान्तलेशसंग्रह में इनके मत का उल्लेख किया है। अतः ये अप्पयदीक्षित से पूर्ववर्ती हुए। साथ ही, अपनी 'वेदान्तसिद्धान्तमुक्तावली' में पंचदशी के उदाहरण प्रस्तुत करने के कारण विद्यारण्यस्वामी से परवर्ती सिद्ध होते हैं। इनके गुरु का नाम ज्ञानानन्द था।

'वेदान्तसिद्धान्तमुक्तावली' वेदान्त का उत्कृष्टकोटि का प्रमाण ग्रन्थ माना गया है। इसमें गद्य में विचार–विवेचन करते हुए पद्य में सिद्धान्त निरूपण किया गया है। इस ग्रन्थ पर अप्पयदीक्षित ने 'सिद्धान्तदीपिकावृत्ति' का प्रणयन किया।

(37) **आचार्य मल्लनाराध्य–** इनका जन्म सोलहवीं शताब्दी के आरम्भ में कोटीश वंश में हुआ। ये दक्षिणभारत के निवासी थे। इन्होंने द्वैतवादियों के मत का खण्डन करने के उद्देश्य से 'अद्वैतरत्न' तथा 'अभेदरत्न' नामक दो प्रकरण ग्रन्थों की संरचना की। ये दोनों ग्रन्थ अभी तक प्रकाशित नहीं हुए हैं।

(38) **आचार्य नृसिंहाश्रम–** अद्वैतसम्प्रदाय के प्रमुख आचार्यों में इनकी गणनी की जाती है। इनका स्थितिकाल सोलहवीं शताब्दी का पूर्वार्द्ध माना गया है, क्योंकि इन्होंने अपने 'तत्त्वविवेक' नामक ग्रन्थ का पूर्ण होने का समय सं. 1604 अर्थात् 1547 ई. बताया है। ये उद्भट दार्शनिक एवं प्रौढ़पण्डित थे। इन्हीं की प्रेरणा से अप्पयदीक्षित ने

परिमल, न्यायरक्षामणि तथा सिद्धान्तलेश आदि वेदान्तग्रन्थों की रचना की थी।

इन्होंने 'भावप्रकाशिका' (प्रकाशात्मयतिकृत– पंचपादिकाविवरण की टीका) 'तत्त्वविवेक' एवं इसी पर स्वयं 'तत्त्वदीपन' टीका, भेद धिक्कार (भेदभाव का खण्डन), अद्वैतदीपिका (अद्वैतवेदान्त का युक्ति प्रधान ग्रन्थ), वैदिकसिद्धान्तसंग्रह (ब्रह्मा, विष्णु, महेश तीनों देवों का ऐक्य प्रतिपादित) तथा तत्त्वबोधिनी (सर्वज्ञात्ममुनिकृत संक्षेपशारीरक की व्याख्या) इत्यादि ग्रन्थों की संरचना की। ये सभी उच्चकोटि के ग्रन्थ युक्तिप्रधान शैली में लिखे गए हैं।

(39) **आचार्य रंगराजाध्वरी**– ये सुप्रसिद्ध विद्वान् अप्पयदीक्षित के पिता थे। इनके पिता अद्वैत सम्प्रदाय के प्रसिद्ध आचार्य दीक्षित थे। अनेक यज्ञों को सम्पादित कराने के कारण इन्हें 'दीक्षित' पदनाम से विभूषित किया गया। इनका मूलनाम वक्षःस्थलाचार्य था। ये कांची के निवासी थे तथा विजयनगर के राजा कृष्णदेव के सभापण्डित थे। इन्होंने दो विवाह किए। इनमें पहली पत्नी शैवमतावलम्बी ब्राह्मण की पुत्री थी तथा दूसरी श्री बैकुण्ठाचार्य वंश में उत्पन्न रंगमाचार्य की कन्या थी। इसका नाम तोतारम्बा देवी था। इनके चार पुत्रों में सबसे बड़े रंगराजाध्वरी थे।

अप्पयदीक्षित ने अपने ग्रन्थों में पिता, पितामह तथा मातामह आदि का विस्तारपूर्वक परिचय दिया है। रंगराजाध्वरी सभी विद्याओं में निपुण थे। उनका पाण्डित्य असाधारण था। उन्होंने अपने पुत्र अप्पयदीक्षित को स्वयं विभिन्न विषयों की शिक्षा प्रदान की। इस बात को अप्पयदीक्षित ने स्वयं स्वीकार किया है–

तन्मूलानिह संग्रहेण कतिचित्सिद्धान्तभेदान्धियः।
शुद्ध्यै संकलयामि तातचरणव्याख्यावचः ख्यापितान्।।

रंगराजाध्वरी ने 'अद्वैतविद्यामुकुर' तथा 'विवरणदर्पण' नामक अद्वैतमत का प्रतिपादन करने वाले दो महत्त्वपूर्ण ग्रन्थों की संरचना

की। इसमें न्याय, वैशेषिक, सांख्य आदि मतों का खण्डन करके अद्वैतमत की स्थापना की गई है।

(40) **आचार्य अप्पयदीक्षित**– शंकराचार्य के परवर्ती विद्वानों में अद्वैत सम्प्रदाय की परम्परा में अप्पयदीक्षित का नाम अग्रगण्य है। ये आलंकारिक, वैयाकरण एवं धुरन्धर दार्शनिक थे तथा अकबर और जहाँगीर के शासनकाल में हुए। इनका जन्म सन् 1550 ई. में हुआ। इनके पिता रंगराजाध्वरि तथा पितामह आचार्यदीक्षित थे। इनके छोटे भाई का नाम **अच्चान दीक्षित** था। यद्यपि इन्हें अपने पिता एवं पितामह से अद्वैतमत की शिक्षा प्राप्त हुई थी तथापि ये परम शिवभक्त थे।

इन्हें विजयनगर राज्य के सभी राजाओं से अत्यधिक सम्मान प्राप्त हुआ। ये सिद्धान्तकौमुदीकार भट्टोजिदीक्षित के गुरु थे। कुछ समय तक ये दोनों साथ–साथ काशी में रहे। अपने मृत्युकाल में इन्होंने चिदम्बरम् जाने की इच्छा व्यक्त की। इनकी मृत्यु 72 वर्ष की आयु में सन् 1622 ई. में हुई। मृत्यु के समय इनके ग्यारह पुत्र तथा छोटे भाई के पौत्र नीलकण्ठदीक्षित पास ही उपस्थित थे।

इन्होंने अलंकार, व्याकरण, मीमांसा, वेदान्त आदि विभिन्न विषयों पर लगभग 104 ग्रन्थों की रचना की। वे सभी वर्तमान समय में उपलब्ध नहीं हैं। प्राप्य ग्रन्थों का यहाँ नामोल्लेख किया जा रहा है– 1. कुवलयानन्द ('चन्द्रालोक' नामक अलंकार ग्रन्थ की विस्तृत व्याख्या), 2. चित्रमीमांसा (अर्थचित्रविषयक ग्रन्थ), 3. वृत्तिवार्तिक (अभिधा, लक्षणा शब्द शक्ति विवेचन) 4. नामसंग्रहमाला (आलंकारिक कोश) 5. नक्षत्रवादावली (सत्ताईस संदिग्ध विषयों का विवेचन) 6. प्राकृतचन्द्रिका (प्राकृत शब्दानुशासन की आलोचना) 7. चित्रपुट 8. विधिरसायन 9. सुखोपयोजनी 10. उपक्रमपराक्रम 11. वादनक्षत्रमाला (सात से ग्यारह तक मीमांसाग्रन्थ) 12. परिमल (कल्पतरु की व्याख्या) 13. न्यायरक्षामणि (ब्रह्मसूत्र प्रथम अध्याय की व्याख्या) 14. सिद्धान्तलेश (अद्वैतसम्प्रदाय के आचार्यों के मत का निरूपण) 15. मतसारार्थसंग्रह

(श्रीकण्ठशंकर, रामानुज आदि आचार्यों के मतों का परिचय 12 से 15 तक वेदान्तग्रन्थ) 16. न्यायमंजरी (शांकर सिद्धान्तानुसारी) 17. न्याय मुक्तावली (मध्वमतानुसारी) 18. नियमयूथमालिका (रामानुजमतानुसारी) 19. शिवार्कमणिदीपिका 20. रत्नत्रयपरीक्षा (श्रीकण्ठ मतानुसारी) 21. मणिमालिका 22. शिखररिणीमाला, 23. शिवतत्त्वविवेक 24. ब्रह्मतर्कस्तव 25. शिवार्चनचन्द्रिका 26. शिवध्यानपद्धति 27. आदित्यस्तवरत्न, 28. मध्वतन्त्रमुखमर्दन 29. यादवाभ्युदय का भाष्य (21 से 29 तक सभी ग्रन्थ शैवमतानुसारी)

इसके अतिरिक्त शिवकर्णामृत, रामायणतात्पर्यसंग्रह, भारत–तात्पर्यसंग्रह, शिवाद्वैतविनिर्णय, पंचरत्नस्तव एवं उसकी व्याख्या, शिवा–नन्दलहरी, दुर्गाचन्द्रकला स्तुति एवं व्याख्या, कृष्णध्यानपद्धति व्याख्या सहित तथा आत्मार्पण आदि अनेक ग्रन्थ भी इनकी कृतियों में परिगणित हैं। इनके ग्रन्थों से इनकी सर्वतोमुखी प्रतिभा का परिचय प्राप्त होता है। मीमांसादर्शन के तो ये प्रकाण्ड विद्वान् थे। शिवार्कमणि दीपिका से इनके न्याय, मीमांसा, व्याकरण तथा अलंकारशास्त्र विषयक प्रगाढ़ पाण्डित्य की अभिव्यक्ति होती है। विद्वानों ने इन्हें एक जीववादी एवं बिम्ब–प्रतिबिम्बवादी कहकर इनका वैशिष्ट्य प्रतिपादित किया है।

(41) **आचार्य भट्टोजिदीक्षित–** ये प्रसिद्ध वैयाकरण थे। इनके द्वारा लिखे गए ग्रन्थों में आचार्य पाणिनि के सूत्रों पर व्याख्यारूप में लिखा गया ग्रन्थ 'सिद्धान्तकौमुदी' तथा इसकी व्याख्यारूप में लिखा गया ग्रन्थ 'प्रौढमनोरमा' अत्यधिक प्रसिद्ध है। इनका तीसरा ग्रन्थ 'शब्द कौस्तुभ' है, जिसमें पातंजलमहाभाष्य के विषय का युक्तिपूर्वक समर्थन किया गया है। चतुर्थ ग्रन्थ 'वैयाकरणभूषण' है।

इन व्याकरण ग्रन्थों के अतिरिक्त इन्होंने 'तत्त्वकौस्तुभ' एवं 'वेदान्त तत्त्वविवेकटीका विवरण' नामक दो वेदान्तविषयक ग्रन्थों की भी संरचना की। इन दोनों ग्रन्थों में इन्होंने द्वैतवाद का खण्डन किया है। वेदान्तशास्त्र में ये आचार्य अप्पयदीक्षित के शिष्य थे तथा व्याकरण

शास्त्र के इनके गुरु प्रक्रियाप्रकाशकार श्रीकृष्णदीक्षित थे। ये असाधारण प्रतिभा के धनी थे। प्रौढ़मनोरमा में इन्होंने अद्भुत चातुर्यपूर्वक अपने गुरु के मत का खण्डन किया है।

(42) **आचार्य सदाशिव ब्रह्मेन्द्र–** ये कांची कामकोटि पीठ के अधीश्वर एवं संन्यासी थे। इन्होंने अद्वैतविद्याविलास, बोधार्यात्मनिर्वेद गुरुरत्नमालिका तथा ब्रह्मकीर्तनतरंगिणी नामक ग्रन्थों की रचना की अद्वैतानन्दबोधेन्द्र के प्रति इनकी अगाध श्रद्धा थी।

(43) **आचार्य नीलकण्ठसूरि–** इनका जन्म महाराष्ट्र प्रदेश में गोदावरी नदी के तट पर **कूर्पर** नामक स्थान में हुआ। इनका स्थिति काल 16वीं शताब्दी माना गया है। चतुर्धर वंश में उत्पन्न इनके पिता का नाम **गोविन्दसूरि** था। इनकी महाभारत पर लिखी गयी टीका 'भारतभावदीप' अत्यधिक प्रसिद्ध है। ये अद्वैतवादी आचार्य थे। गीता की व्याख्या के आरम्भ में इन्होंने शंकराचार्य एवं श्रीधरादि विद्वान आचार्यों की श्रद्धापूर्वक वन्दना की है।

(44) **आचार्य सदानन्दयोगीन्द्र–** इनका स्थितिकाल विद्वानों ने सोलहवीं शताब्दी का पूर्वार्द्ध निर्धारित किया है। इन्होंने अद्वैतवेदान्त पर अत्यन्त सरलशैली में 'वेदान्तसार' नामक प्रकरण ग्रन्थ की रचना की। यह वस्तुतः सम्पूर्ण वेदान्त सिद्धान्तों का परिचायक ग्रन्थ है। साथ ही वेदान्तदर्शन के प्रारम्भिक ज्ञान प्राप्त करने वाले जिज्ञासुओं के लिए अत्यन्त उपयोगी है। प्रस्तुत ग्रन्थ में वेदान्त के सिद्धान्तों का उल्लेख इसी ग्रन्थ के आधार पर किया गया है।

वेदान्तसार के मंगलाचरण में इन्होंने श्लेष के माध्यम से अपने गुरु **अद्वयानन्द** को नमन किया है। इस ग्रन्थ पर नृसिंह सरस्वती ने सुबोधिनी टीका, आपदेव ने बालबोधिनी तथा स्वामी रामतीर्थ ने विद्वन्मनोरंजनी टीकाओं की संरचना की। इनमें नृसिंह सरस्वती की सुबोधिनीटीका के अन्त में लिखे गए श्लोक में टीका का रचनाकाल शक संवत् 1518 बताया गया है। अतः स्पष्टरूप से कहा जा सकता है

कि इस समय तक वेदान्तसार ने विद्वानों में पर्याप्त प्रसिद्धि प्राप्त कर ली थी। इसके अतिरिक्त उन्होंने एक ग्रन्थ **'शंकर दिग्विजय'** की भी रचना की, जो सम्प्रति अप्राप्य है।

(45) **आचार्य नृसिंहसरस्वती–** इन्होंने सन् 1596 ई. में आचार्य सदानन्द के प्रसिद्धग्रन्थ वेदान्तसार पर 'सुबोधिनी' नाम टीका की संरचना की। इसलिए इनका स्थितिकाल सोलहवीं शती का उत्तरार्द्ध माना गया है। इनके गुरु का नाम **कृष्णानन्दस्वामी** था। इसी सुबोधिनी टीका के कारण वेदान्तजगत् में आचार्य नृसिंह को प्रतिष्ठा प्राप्त हुई। इससे इनकी उच्चकोटि की प्रतिभा का सहज ही अनुमान लगाया जा सकता है।

(46) **स्वामी रामतीर्थ–** ये वेदान्तसार के द्वितीय टीकाकार हैं। इनका स्थितिकाल सत्रहवीं शताब्दी माना गया है। स्वामी **कृष्णतीर्थ** इनके गुरु थे। इन्होंने आचार्य सदानन्द के वेदान्तसार पर **'विद्व–न्मनोरंजनी'** टीका का प्रणयन किया। इसके अतिरिक्त इन्होंने 'संक्षेप–शारीरक' के ऊपर 'अन्वयार्थप्रकाशिका', शंकराचार्यकृत उपदेशसाहस्री पर 'पदयोजनिका' नामक टीकाएँ भी लिखीं एवं मैत्रायणी उपनिषद् पर भी इन्होंने एक टीका की संरचना की, जो सम्भवतः उपलब्ध नहीं है। इनकी कृतियों के कारण वेदान्त जगत् में इनका नाम सम्मानपूर्वक लिया जाता है।

(47) **आचार्य आपदेव**– मूलतः ये मीमांसक थे। इनके द्वारा विरचित 'मीमांसान्यायप्रकाश' पूर्वमीमांसा का प्रामाणिक प्रकरणग्रन्थ माना जाता है, किन्तु मीमांसक होते हुए भी इन्होंने सदानन्द विरचित वेदान्तसार नामक प्रसिद्ध प्रकरणग्रन्थ के ऊपर 'बालबोधिनी' नामक सुन्दर टीका का प्रणयन किया। यह टीका वस्तुतः नृसिंह सरस्वती की 'सुबोधिनी, रामतीर्थकृत 'विद्वन्मनोरंजिनी' इन दोनों टीकाओं की अपेक्षा अधिक उत्कृष्ट मानी जाती है। कुछ विद्वान् इन्हें पूर्वमीमांसा का प्रौढ़ विद्वान् होते हुए भी अद्वैतवादी मानते हैं।

(48) **आचार्य मधुसूदनसरस्वती**– इनका जन्म बंगप्रदेश में हुआ। ये फरीदपुर जिले के अन्तर्गत **कोटालियापाडा** नामक ग्राम के निवासी थे। ये आजन्म ब्रह्मचारी रहे। इनके दीक्षागुरु का नाम विश्वेश्वर सरस्वती था। इन्हीं की प्रेरणा से इन्होंने दण्ड धारण किया। इनके विद्यागुरु **माधवसरस्वती** थे। विद्याध्ययन के अनन्तर इन्होंने काशी जाकर अनेक पण्डितों को शास्त्रार्थ में पराजित किया।

आचार्य मधुसूदनसरस्वती अद्वैतसम्प्रदाय के उद्भट विद्वान् थे इनके युक्तिकौशल एवं उत्कृष्ट मेधासामर्थ्य के कारण इन्हें अद्वैत साहित्य का युगनिर्माता भी कहा जाता है। इनके पूर्ववर्ती आचार्यों की युक्ति में शास्त्रप्रमाण प्रधान रहता था, किन्तु इन्होंने मुख्यरूप से अनुमान प्रमाण के बल पर ही अपने सिद्धान्त की स्थापना की है। अद्वैत सिद्धान्त का प्रधान स्तम्भ होते हुए भी इनकी कृतियों में सगुण भक्ति को अभिव्यक्ति मिली है। इसके अतिरिक्त इनके द्वारा विरचित 'भक्तिरसायन' नामक ग्रन्थ उनके अद्भुत भक्तिभाव का परिचायक है। इससे इनकी भगवद्रसज्ञता एवं भावुकता का परिचय प्राप्त होता है। इन्होंने अनेकग्रन्थों की संरचना की, जिनका संक्षिप्त विवरण इसप्रकार है–

(1) सिद्धान्तबिन्दु(शंकराचार्य विरचित 'दशश्लोकी' की व्याख्या), (2) संक्षेपशारीरक की व्याख्या (3) अद्वैतसिद्धि (चार परिच्छेदों में निबद्ध अद्वैतसिद्धान्त का उच्चकोटि का ग्रन्थ) (4) अद्वैतरत्नलक्षण (द्वैतवाद का खण्डन एवं अद्वैतवाद की स्थापना) (5)वेदान्तकल्पलतिका (वेदान्तग्रन्थ) (6) गूढार्थदीपिका (श्रीमद्भगवद्गीता की सर्वोत्तम व्याख्या) (7) प्रस्थान भेद (सभी शास्त्रों का सामंजस्य करके उनका अद्वैत में तात्पर्य प्रदर्शित किया है। यहं ग्रन्थ लेखक की अद्भुत प्रतिभा का द्योतक है) (8) महिम्नस्तोत्र की टीका (प्रत्येक श्लोक की शिव एवं विष्णुपरक व्याख्या करके असाधारणकौशल प्रदर्शित किया है) (9) भक्तिरसायन (भक्ति विषयक लक्षणग्रन्थ)।

(49) **आचार्य धर्मराज अध्वरीन्द्र–** इनका स्थितिकाल 17वीं शताब्दी का आरम्भ माना गया है। इन्होंने **'वेदान्तपरिभाषा'** नामक उत्कृष्ट एवं अद्वैतसिद्धान्त के लिए अत्यन्त उपयोगी प्रकरणग्रन्थ की रचना की। इस पर अनेक विद्वानों ने टीकाएँ लिखीं। अद्वैतवेदान्त के रहस्य को समझने के लिए इस ग्रन्थ का अध्ययन अत्यन्त उपयोगी है। इनके गुरु का नाम **वेंकटनाथ** था। इसके अतिरिक्त इन्होंने गंगेशोपाध्यायकृत 'तत्त्वचिन्तामणि' नामक नव्यन्याय के ग्रन्थ पर 'तर्क–चूडामणि' नामक टीका भी लिखी। इसमें इन्होंने अपनी पूर्ववर्ती दश टीकाओं के मत का खण्डन किया है।

(50) **आचार्य गोविन्दानन्द–** इनका भी स्थितिकाल 17वीं शताब्दी रहा है। इनके विद्यागुरु **शिवराम** थे। इन्होंने शारीरकभाष्य पर 'रत्नप्रभा' नामक टीका लिखी। इसे शरीरकभाष्य की टीकाओं में सर्वाधिक सरल माना गया है। इस टीका में इन्होंने भाष्य के प्रायः प्रत्येक पद की व्याख्या प्रस्तुत की है। अतः यह टीका भाष्य को हृदयंगम कराने में सर्वाधिक उपयोगी है। ग्रन्थकार के अनुसार जो जिज्ञासु विस्तृत और गम्भीर टीकाओं को समझने में असमर्थ हैं, यह व्याख्या उन्हीं के लिए लिखी गयी है–

विस्तृतग्रन्थवीक्षायामलसं यस्य मानसम्।
व्याख्या तदर्थमारब्धा भाष्यरत्नप्रभाभिधा।।

(51) **रामानन्द सरस्वती–** ये स्वामी गोविन्दानन्द के शिष्य थे। अतः इनका स्थितिकाल 17वीं शताब्दी माना गया है। इन्होंने ब्रह्मसूत्र की शांकरभाष्यानुसारी 'ब्रह्मामृतवर्षिणी' नामक टीका का सरल भाषा में प्रणयन किया। इसके अतिरिक्त इनका दूसरा ग्रन्थ **पद्मपादाचार्य** की पंचपादिका पर प्रकाशात्मयति द्वारा लिखे गए 'विवरण' नामक ग्रन्थ पर 'विवरणोपन्यास' नामक व्याख्या है। इसकी तुलना विद्यारण्यस्वामी के 'विवरणप्रमेयसंग्रह' से की जा सकती है। इस ग्रन्थ में इन्होंने गद्य में विचार करने के उपरान्त फलरूप सिद्धान्त को पद्य में प्रस्तुत किया है।

(52) **काश्मीरक सदानन्दयति–** इन्होंने अद्वैतसिद्धि नामक प्रकरण ग्रन्थ का प्रणयन किया। ये काश्मीरप्रदेश के निवासी थे। इसलिए इनके नाम से पूर्व काश्मीरक शब्द का प्रयोग किया जाता है। इनका समय 17वीं शताब्दी माना गया है। प्रतिविश्ववाद एवं अव-च्छिन्नवाद विषयक विवादों की विवेचना में न पड़कर इन्होंने अपने ग्रन्थ में एक जीववाद को ही वेदान्त का मुख्यसिद्धान्त प्रतिपादित किया है, क्योंकि जिज्ञासु वस्तुतः प्रबल साधना द्वारा ऐकात्म्य का अनुभव करने तक ही वाग्जाल में फँसा रहता है।

(53) **ब्रह्मानन्द सरस्वती–** ये अद्वैतसिद्धि के टीकाकार एवं मधुसूदन सरस्वती के समकालीन आचार्य थे। इनकी गणना अद्वैतवाद के प्रमुख आचार्यों में की जाती है। इनका स्थितिकाल 17वीं शताब्दी माना गया है। इनके दीक्षागुरु परमानन्द एवं विद्यागुरु नारायणतीर्थ थे। इसके अतिरिक्त इन्होंने शिवराम नामक व्यक्ति को भी अपनी लघु चन्द्रिका के अन्त में अत्यन्त श्रद्धापूर्वक नमन किया है। इन्होंने व्यासराज के शिष्य रामाचार्य की 'तरंगिणी' के मत का खण्डन करने हेतु अद्वैतसिद्धि पर 'लघुचन्द्रिका' ग्रन्थ की संरचना की। इस ग्रन्थ से इनकी दार्शनिक प्रतिभा का सुन्दर परिचय प्राप्त होता है।

इसमें रामाचार्य की सभी आपत्तियों का अत्यन्त संतोषजनक समाधान किया गया है। इन्होंने अपने ग्रन्थ में संसार का मिथ्यात्व, एकजीववाद, निर्गुणब्रह्मवाद, आनन्दरूप मुक्तिवाद इन सभी विषयों का सुन्दर विवेचन किया है। इसके अतिरिक्त इन्होंने मधुसूदन के सिद्धान्त बिन्दु पर 'रत्नावली' एवं 'सूत्रमुक्तावली' नामक दो ग्रन्थों की भी रचना की।

(54) **आचार्य अच्युतकृष्णानन्द–** ये कावेरी तट पर स्थित **नीलकण्ठेश्वरम्** नामक स्थान पर निवास करते थे तथा कृष्ण के परम भक्त थे। सिद्धान्तलेश पर लिखी इनकी टीका का नाम 'कृष्णालंकार' है। इससे इनके पाण्डित्य का अच्छा परिचय प्राप्त होता है। ये परम

गुरुभक्त एवं विनम्र थे। इसके अतिरिक्त इन्होंने तैत्तिरीयोपनिषद् शांकरभाष्य पर 'वनमाला' नामक टीका की भी संरचना की। इससे भी इनकी कृष्णभक्ति का परिचय प्राप्त होता है।

(55) **आचार्य महादेव सरस्वती–** इनका समय 18वीं शताब्दी माना गया है। ये स्वयं प्रकाशानन्द सरस्वती के शिष्य थे। इन्होंने वेदान्तदर्शन पर **तत्त्वानुसंधान** नामक प्रकरणग्रन्थ की रचना करके उस पर स्वयं ही अद्वैतचिन्ताकौस्तुभ नामक टीका का प्रणयन किया। 'तत्त्वानुसंधान' अद्वैतसिद्धान्त का ज्ञान कराने के लिए अत्यन्त सरल भाषा में लिखा गया ग्रन्थ है। यह ग्रन्थ वेदान्त के आरम्भिक जिज्ञासुओं के लिए अत्यन्त उपयोगी है।

(56) **आचार्य सदाशिवेन्द्र सरस्वती–** इन्होंने 18वीं शताब्दी में **करूर** नामक स्थान पर जन्म ग्रहण किया। इनका अध्ययन तांजोर जिले के तिरुविसानाल्लूर नामक स्थान पर हुआ। असाधारण प्रतिभा के धनी इनकी तार्किकशक्ति अत्यन्त क्षीण थी। ये असाधारण योगी थे। इनके दीक्षागुरु परमशिवेन्द्र सरस्वती थे। दक्षिण भारत में इनके जीवन की अनेक चमत्कारपूर्ण घटनाएँ आज भी प्रसिद्ध हैं। कहा जाता है कि इन्होंने यूरोप में तुर्की तक भ्रमण किया था। नेरूर के पास इनकी समाधि आज भी बनी हुई हैं।

इन्होंने ब्रह्मसूत्रों पर शांकरभाष्यानुसारिणी, 'ब्रह्मतत्त्व प्रकाशिका' नामक वृत्ति की संरचना की। बारह उपनिषदों पर टीका, योगसूत्रों पर 'योगसुधाकर' 'आत्मविद्याविलास' 'कविताकल्पवल्ली' तथा 'अद्वैतमंजरी' इत्यादि ग्रन्थों का भी इन्होंने प्रणयन किया। इनमें ब्रह्मसूत्र शांकरभाष्य को समझने के लिए 'ब्रह्मतत्त्व प्रकाशिका' अत्यन्त उपयोगी ग्रन्थ है। इनकी सभी रचनाएँ सरल एवं भावपूर्ण हैं। ये वस्तुतः महान् योगी एवं परम् अद्वैतनिष्ठ सिद्ध महात्मा थे।

(57) **आचार्य आयन्नदीक्षित–** इनका स्थितिकाल 18वीं शताब्दी माना गया है। ये **वेंकटेश** के शिष्य थे। आचार्य वेंकटेश ने अक्षयषष्टि

और दायशतक नामक दो ग्रन्थों का प्रणयन किया, जबकि आयन्न दीक्षित ने 'व्यासतात्पर्यनिर्णय' नामक केवल एक, किन्तु अद्भुत ग्रन्थ की रचना की। भगवान् वेदव्यास के वेदान्तसूत्रों की अलग–अलग विद्वानों ने अद्वैतवादी, विशिष्टाद्वैती, शुद्धाद्वैती, द्वैताद्वैती, तथा शिवाद्वैती व्याख्याएँ प्रस्तुत कीं। इन मत सिद्धान्तों में पर्याय भिन्नता होते हुए भी सभी ने अपने–अपने सिद्धान्त को मूल सिद्धान्त के अधिक निकट बताया।

ऐसी स्थिति में भगवान् वेदव्यास के अभिप्राय को ही समझना कठिन हो गया। आयन्नदीक्षित ने मौलिक युक्तियों को प्रस्तुत करते हुए व्यास के अद्वैत में ही मुख्यतात्पर्य–सिद्धि की और अद्वैतसिद्धान्त के प्रति रुचि रखने वाले प्रत्येक व्यक्ति के लिए 'व्यासतात्पर्यनिर्णय' वस्तुतः संग्रहणीय ग्रन्थ है। वेदान्त के प्राचीन आचार्यों के विवरण हेतु महामहोपाध्याय पं. गोपीनाथकविराज के लेखों का ही यहाँ मुख्यरूप से प्रयोग किया गया है।

यहाँ तक हमने वेदान्तदर्शन के प्रमुख आचार्यों का संक्षेप में विवरण प्रस्तुत किया। वस्तुतः वेदान्तदर्शन की शाखा–प्रशाखाओं के आचार्यों की सुदीर्घपरम्परा रही है। उनमें सभी का उल्लेख यहाँ सम्भव भी नहीं है। अन्वेषणपूर्वक इसके स्वतन्त्र लेखन एवं प्रकाशन की महती आवश्यकता है, जिससे अनेक अपरिचित, किन्तु महत्त्वपूर्ण आचार्यों एवं उनकी कृतियों से वेदान्तजगत् का परिचय हो सकेगा।

(iv) **वेदान्तदर्शन के प्रमुख सिद्धान्त–** इसके बाद हम वेदान्त दर्शन के मुख्य सिद्धान्तों का आचार्य सदानन्द योगीन्द्र द्वारा विरचित वेदान्तसार प्रकरण ग्रन्थ के आधार पर यहाँ उल्लेख कर रहे हैं–

(a) **ब्रह्म–** वेदान्तदर्शन और विशेषरूप से अद्वैतवेदान्त एकमात्र ब्रह्म को सत्य, नित्य एवं सर्वोपरि तत्त्व के रूप में मान्यता प्रदान करता है। इसीकारण इस दर्शन का प्रारम्भ ही **'ब्रह्मजिज्ञासा'** से होता है।[1]

---

[1] . अथातो ब्रह्मजिज्ञासा–ब्रह्मसूत्र ।

वस्तुतः इस परमतत्त्व ब्रह्म के ज्ञात हो जाने पर किसी अन्य वस्तु के ज्ञान की आवश्यकता ही नहीं रहती है। अतः यहाँ इसका ज्ञान परम आवश्यक माना गया है।

'बृह्वृद्धौ' वृद्धि अर्थ में प्रयुक्त √बृह् धातु से 'मनिन्' प्रत्यय करके ब्रह्म शब्द निष्पन्न होता है अर्थात् महान्, व्यापक, निरवधिक, निरतिशय महत्त्व से युक्त तत्त्व ही ब्रह्म है। 'बृहणाद् ब्रह्म' इस व्युत्पत्ति के अनुसार देश, काल तथा वस्तु आदि से अपरिच्छिन्न नित्य तत्त्व ही ब्रह्म है।[1] इससे ब्रह्म के निरतिशय महत्त्व की स्पष्ट प्रतीति होती है।

वेदान्तियों के अनुसार यह तत्त्व, प्रत्यक्ष, अनुमान एवं शब्द आदि प्रमाणों द्वारा सिद्ध नहीं किया जा सकता है, अपितु 'मैं हूँ' इसप्रकार के अनुभव का आधार ही इसकी सत्ता को सिद्ध करता है। इसके अतिरिक्त यहाँ श्रुति (वेद–उपनिषदादि) को ब्रह्मसिद्धि में प्रबल प्रमाण के रूप में मान्यता प्रदान की है। ब्रह्मतत्त्व का लक्षण करते हुए वेदान्तदर्शन कहता है कि जिसप्रकार उष्णता, लौहित्य एवं प्रकाश द्वारा दीपक का लक्षण किया जा सकता है। ठीक उसीप्रकार सत्, चित् और आनन्द इन तीन शब्दों के माध्यम से ब्रह्म का स्वरूप प्रतिपादित किया जा सकता है। श्रुतिवाक्य इस विषय में प्रमाण हैं–

1. **सत्यं ज्ञानमनन्तं ब्रह्म** (तैत्तिरीयोपनिषद्– 2/1/1)
2. **विज्ञानमानन्दं ब्रह्म** (बृहदारण्यकोपिनषद्– 3/9/28)
3. **आनन्दो ब्रह्मेति व्यजानात्** (तैत्तिरीयोपनिषद्– 3/6)

छान्दोग्योपनिषद्कार का इस विषय में कथन है– सदेव सोम्येदमग्र आसीदेकमेवाद्वितीयम् (6/2/1) अर्थात् सृष्टि के आरम्भ में एक अद्वितीय तत्त्व की ही सत्ता थी। वेदान्तदर्शन के अनुसार यह सत्ता केवल ब्रह्म की थी। इस प्रसंग में सत् की व्याख्या करते हुए आचार्य शंकर कहते हैं कि–

---

[1] ब्रह्मसूत्र (शांकरभाष्य) 1/1/1 पर रत्नप्रभा टीका।

'सत् उसे कहा जाता है, जो तीनों कालों में विद्यमान हो तथा ब्रह्म ही एकमात्र ऐसी वस्तु है, जिसका अस्तित्व तीनों कालों में विद्यमान रहता है। यह न केवल सृष्टि के आरम्भ में विद्यमान था, अपितु वर्तमान में भी इसकी स्थिति है और प्रलयकाल के पश्चात् भी रहेगा। यह वस्तुतः कालातीत यथार्थसत्ता है।'

इसके अतिरिक्त ब्रह्म **चिद्रूप** है, जो ज्ञानवाची 'चिती संज्ञाने' धातु से 'क्विप्' प्रत्यय करके निष्पन्न होता है। इसीलिए शंकराचार्य आदि विद्वानों ने इसे ज्ञानस्वरूप माना है। श्रुति इसे 'विज्ञान' शब्द के माध्यम से कहती है।[1] विज्ञान शब्द का सामान्य अर्थ विशिष्ट या विशुद्धज्ञान भी किया जा सकता है। अतः ब्रह्म विशुद्ध या विशिष्टज्ञान स्वरूप है।

इसीप्रकार 'चित्' का एक अर्थ चैतन्य भी है, जिससे ब्रह्म का जड़रहित होना अभिव्यक्त होता है। अतः संसार के सभी प्राणियों एवं वनस्पति आदि में जो चैतन्य प्रतीत होता है, वह चित् स्वरूप ब्रह्म के कारण ही है, क्योंकि सर्वव्यापक होने से उसकी सत्ता सम्पूर्ण सृष्टि के कण–कण में है। कुछ विद्वानों ने 'चित्त' शब्द का प्रकाश अर्थ भी किया है।[2] मुण्डकोपनिषद् में ब्रह्म की 'ज्योतिषां ज्योतिः' कहकर व्याख्या की गयी है।[3]

इसप्रकार ब्रह्म के लिए प्रयुक्त 'चित्' शब्द ज्ञान, विज्ञान, चैतन्य तथा स्वप्रकाशत्व आदि अर्थों को अभिव्यक्त करता है। इससे ब्रह्म की सत्ता, ज्ञानरूपता एवं स्वयंप्रकाशत्व आदि विशेषताएँ प्रकट होती हैं। ब्रह्म के स्वरूप की व्याख्या में तीसरे 'आनन्द' शब्द का प्रयोग किया जाता है। उपनिषद्, ब्रह्मसूत्र एवं वेदान्त के सभी ग्रन्थों में इसके इस स्वरूप को मान्यता प्रदान की गई है। तैत्तिरीयोपनिषद को

---

1. विज्ञानमानन्दं ब्रह्म। बृहदारण्यकोपनिषद्– 3/9/28।
2. स्वप्रकाशत्वं चित्त्वम्। ब्रह्मसूत्र भामतीटीका–वाचस्पतिमिश्र 1/1/1।
3. मुण्डकोपनिषद्– 2/2/9 ।

इस विषय में स्पष्टरूप से कथन है– 'आनन्दो ब्रह्मेति व्यजानात्',[1] यहाँ आनन्द शब्द ब्रह्म में आनन्द की प्रचुरता एवं पूर्णता को अभिव्यक्त करता है। बृहदारण्यकोपनिषद् ने भी ब्रह्म की 'सर्वोच्च आनन्द' कहकर व्याख्या की है।[2]

इसके अतिरिक्त ब्रह्म के लिए 'अनन्तम्' पद का प्रयोग भी श्रुतियों ने किया है।[3] यहाँ अनन्त का अभिप्राय है कि जिसका कोई अन्त अर्थात् सीमा न हो। अतः वह सर्वव्यापक, नित्य एवं सर्वात्मक है। वेदान्तदर्शन में ब्रह्म की बीजशक्ति के रूप में माया अथवा अविद्या का उल्लेख किया गया है। इसकी उपाधि से युक्त ब्रह्म ही 'ईश्वर' कहलाता है। यहाँ इसी ईश्वर को सम्पूर्ण चराचर जगत् की रचना का निमित्त और उपादानकारण माना गया है। अपनी प्रधानता की स्थिति में चैतन्यरूप ब्रह्म **निमित्तकरण** तथा अपनी उपाधि की प्रधानता की स्थिति में **उपादानकारण** होता है। ठीक उस मकड़ी के समान जो अपने शरीर के चैतन्य के कारण तन्तुजाल का निमित्तकारण होती है तथा शरीर से निकलने वाले तरल पदार्थ से तन्तुजाल का निर्माण करने में उपादानकारण भी है।

यह दर्शन ब्रह्म को सर्वशक्तिमान् मानता है। इसके अनुसार सृष्टि की रचना के लिए ब्रह्म को किसी बाह्य सत्ता की आवश्यकता नहीं होती है। मुण्डकोपनिषद् के अनुसार 'जिसप्रकार जीवितपुरुष के शरीर से केश और रोम स्वतः उत्पन्न होते हैं, ठीक उसीप्रकार अक्षर ब्रह्म से यह सम्पूर्ण चराचरजगत् उत्पन्न होता है।[4] इस जगत् की रचना करने के पश्चात् वह इसी में अनुप्रविष्ट हो जाता है।[5] इसीकारण एक होते हुए भी इसकी सभी यहाँ भूतों पदार्थों एवं स्थानों

---

[1]. तैत्तिरीयोपनिषद्– 3/6 ।

[2]. बृहदारण्यकोपनिषद् –4/3/32।

[3]. सत्यं ज्ञानमनन्तं ब्रह्म–तैत्तिरीयोपनिषद्– 2/1/1।

[4]. मुण्डकोपनिषद– 1/1/7 ।

[5]. तत् सृष्ट्वा तदैवानुप्राविशत्। तैत्तिरीयोपनिषद्– 2/6/1 ।

में अर्थात् जगत् के कण–कण में सत्ता को स्वीकार किया गया है।[1] वही यह प्राणियों के कर्म–अकर्म, धर्म–अधर्म का साक्षी है तथा उन्हें कर्म का फल प्रदान करता है। शंकराचार्य के अनुसार 'इस संसाररूपी वृक्ष का मूल ब्रह्म ही है।'

इसके अतिरिक्त ब्रह्म को यहाँ **'अवाङ्मनसगोचर'** कहा गया है, क्योंकि उसे न तो आँखों से देखा जा सकता है, न ही वह मन और वाणी से जानने में समर्थ हैं। अत्यन्त सूक्ष्म होने के कारण वह अविज्ञेय है तथा अकथनीय है। फिर भी योगविद्या से योग्य गुरु के मार्गदर्शन में उसका साक्षात्कार किया जा सकता है, किन्तु उसके स्वरूप की व्याख्या असम्भव है। गूँगे के गुड़ के समान उसके आनन्द को केवल अनुभव किया जा सकता है।

इसीकारण उपनिषदों में ब्रह्म के स्वरूप का वर्णन करने के लिए **'नेति नेति'** की शैली को अपनाया गया है। यहाँ 'नेति नेति' का दो बार प्रयोग माया एवं उसके प्रपंच का निराकरण करके एकमात्र ब्रह्म की सत्ता को इंगित करने के लिए विशेष अभिप्राय हेतु किया गया है। वेदान्त के अनुसार– यद्यपि यह परमतत्त्व ब्रह्म एक है[2], किन्तु पारमार्थिक एवं व्यावहारिक दृष्टि से इसकी सगुण और निर्गुण दो रूपों में परिकल्पना की गई है। माया की उपाधि से विशिष्ट ब्रह्म ही ईश्वर सगुण, साकार या सविशेष कहा गया है तथा इससे रहित ब्रह्म ही निर्गुण, निराकार या निर्विशेष माना गया है।

उपनिषदों में ब्रह्म का ध्यान करने का सर्वश्रेष्ठ आधार 'ओम' या 'ओंकार' को माना गया है।[3] इसका ध्यान करने से साधक ब्रह्मलोक को प्राप्त करता है। इसके अतिरिक्त ब्रह्म को मुक्तजीवों का

---

1. एको देवः सर्वभूतेषु गूढः सर्वव्यापी सर्वभूतान्तरात्मा।
कर्माध्यक्षः सर्वभूताधिवासः साक्षी चेता केवलो निर्गुणश्च।।
श्वेताश्वतरोपनिषद्– 6/11

2. 'एकमेवाद्वितीयं ब्रह्मं' । छान्दोग्योपनिषद्– 6/2/1 ।

3. 'ओमित्येकाक्षरं' ब्रह्म ध्येयं सर्वमुमुक्षुभिः। ध्यानबिन्दूपनिषद्–2 ।

आश्रय कहा गया है।[1] ब्रह्म का साक्षात्कार होने के पश्चात् साधक के हृदय की ग्रन्थियाँ खुल जाती हैं तथा उसके सभी संशय दूर हो जाते हैं। ब्रह्म को जानने वाला व्यक्ति ठीक उसीप्रकार ब्रह्म ही हो जाता है, जिसप्रकार बहती हुई नदियाँ समुद्र में मिलकर अपने नामरूप को खोकर उसमें एकाकार हो जाती हैं। ब्रह्म का सायुज्य प्राप्त करके व्यक्ति का पुनः इस संसार में आगमन नहीं होता है– 'न स पुनरावर्तते'। इसीकारण ब्रह्म को आश्रय, अमृतमय एवं अविनश्वर कहा गया है। गीता ने भी इस बात का अनुमोदन किया है–

अव्यक्तोऽक्षर इत्युक्तस्तमाहुः परमां गतिम्।
यं प्राप्य न निवर्तन्ते तद्धाम परमं मम।।[2]

(b) **आत्मा–** वेदान्तदर्शन के प्रमाणरूप उपनिषद् ग्रन्थों में आत्मा के स्वरूप पर विशद चर्चा की गई है। यहाँ इसके लिए प्रायः उन्हीं विशेषणों का प्रयोग किया गया है, जो ब्रह्म के लिए प्रयुक्त हुए हैं। इस दृष्टि से इसे ब्रह्म का ही दूसरा नाम भी कहा जा सकता है। उपनिषदों में इसे **'अयमात्मा ब्रह्म'** कहकर प्रत्यक्षतः स्वीकार भी किया गया है। ब्रह्म के समान ही आत्मा के अस्तित्व को भी 'मैं हूँ' अथवा 'मैं नहीं हूँ' इस अनुभव द्वारा स्वतःसिद्ध माना गया है। इसके अनुसार–

जिसप्रकार सूर्य को दिखाने के लिए दीपक की आवश्यकता नहीं होती है, ठीक उसीप्रकार आत्मा के अस्तित्व को सिद्ध करने के लिए प्रमाणों की आवश्यकता नहीं है। इसीकारण बृहदारण्यकोपनिषद में याज्ञवल्क्य ने कहा कि 'अरे विज्ञातारं केन विजानीयात्'[3] अर्थात् 'जो सबको जानने वाला है, उसे हम किस साधन द्वारा जान सकते हैं?'

---

[1] मुण्डकोपनिषद्– 2/2/8।
[2] श्रीमद्भगवद्गीता– 8/21 ।
[3] बृहदारण्यकोपनिषद्– 2/4/14 ।

आत्मा भी ब्रह्म के समान ही सत्–चित् एवं आनन्दस्वरूप है। वर्तमान, भूत और भविष्यत् तीनों कालों में ही अबाधितरूप में विद्यमान रहने के कारण इसे 'सत्' कहा गया है।[1] साथ ही, इस शब्द से इसके अमर, नित्य, शाश्वत, पुराण तथा अजन्मा स्वरूप पर भी प्रकाश पड़ता है। आत्मा की यहाँ स्वयंप्रकाशस्वरूप कहकर प्रशंसा की गई है। पंचदशीकार विद्यारण्यस्वामी ने आत्मा के इस वैशिष्ट्य को नृत्यशाला में रखे गए दीपक का उदाहरण देकर अत्यन्त सुन्दरढंग से प्रतिपादित किया है। तदनुसार– 'जिसप्रकार नृत्यशाला में रखा हुआ दीपक, नृत्यशाला के स्वामी, सहृदय सामाजिक तथा नर्तकी को समानरूप से प्रकाशित करता है एवं स्वामी की अनुपस्थिति में भी स्वयं प्रदीप्त होता रहता है। ठीक उसीप्रकार यह साक्षीरूप आत्मा, अहंकार, बुद्धि एवं तत्तत् विषयों को प्रकाशित करता है तथा सुषुप्ति अवस्था में अहंकार आदि के विद्यमान न होने पर स्वयं भी प्रकाशित होता रहता है।

इसके अतिरिक्त आत्मा को अच्छेद्य, अग्राह्य, अक्लेद्य तथा अशोष्य बताते हुए नित्य, सर्वव्यापी, स्थाणु, अचल एवं सनातन कहा गया है।[2] अद्वैतवेदान्त के अनुसार आत्मा तीन प्रकार के शरीर– स्थूल, सूक्ष्म तथा कारण एवं पाँच प्रकार के कोशों से अलग है, किन्तु जीव अज्ञानवश एवं तादात्म्य के कारण शरीरत्रय तथा पंचकोशों को ही किसी न किसी रूप में आत्मा समझने लगता है। यह अविवेक ही उसके **भवबन्धन** का कारण बनता है। सद्गुरु के उपदेश द्वारा साधक आत्मा को इनसे अलग समझ लेता है तथा इस स्थिति में आत्मज्ञान होने पर वह ब्रह्म ही हो जाता है।

इसी अभिप्राय को पंचदशीकार ने अत्यन्त सुन्दरढंग से इस प्रकार प्रस्तुत किया है–

---

1. न जायते म्रियते वा विपश्चिन्नायं कुतश्चिन्न बभूव कश्चित्।
अजो नित्यः शाश्वोऽयं पुराणो न हन्यते हन्यमाने शरीरे। 1/2/18।

2. अच्छेद्योऽयमदाह्योऽयमक्लेद्योऽशोष्य एव च।
नित्यः सर्वगतः स्थाणुरचलोऽयं सनातनः।। श्रीमद्भगवद्गीता– 2/1/3 ।

यथा मुज्जादिषीकैवमात्मा युक्त्या समुद्धृतः।
शरीरतृतीयाद्धीरैः परं ब्रह्मैव जायते।। (पंचदशी 1/42)

अर्थात् जिसप्रकार मूँज से इषिका (सिरकी) युक्तिपूर्वक निकाल ली जाती है। उसीप्रकार धीरपुरूष आत्मा को तीन प्रकार के शरीरों से पृथक् जान लेता है। उस स्थिति में वह परमब्रह्म हो जाता है। इसके अतिरिक्त उपनिषदों में आत्मा को विभु, सर्वगत, अत्यन्त सूक्ष्म, अदृष्ट अव्यवहार्य, अग्राह्य, अलक्षण, अचिन्त्य, अखण्ड, शुद्ध, अन्तर्यामी, कूटस्थ, अविनाशी, विज्ञानघन, नित्यशुद्धबुद्ध मुक्तस्वभाव के रूप में भी वर्णित किया गया है।[1] अद्वैतवेदान्त के अनुयायियों ने आत्मा को 'परममहत्' परिणाम वाला माना है। साथ ही, इन्होंने आत्मा में श्रुतिप्रमाणों एवं युक्तियों द्वारा एकत्व का प्रतिपादन किया है। यहाँ सांख्य के 'पुरुष–बहुत्व' का यह कहकर खण्डन किया गया है कि जिसप्रकार एक अग्नि विभिन्न स्थानों एवं पदार्थों में अनेकरूपों में उद्भासित होता है, जबकि वास्तव में वह एक ही है। ठीक उसीप्रकार सभी प्राणियों में रहने वाला यह आत्मा भी एक ही है।

अग्निर्यथैको भुवनं प्रविष्टो रूपं रूपं प्रतिरूपो बभूव।
एकस्तथा सर्वभूतान्तरात्मा रूपं रूपं प्रतिरूपो बहिश्च।।[2]

(c) **माया** (अज्ञान)– इसी का दूसरा नाम अज्ञान भी है। माया– वाद अद्वैतवेदान्त का प्रमुख सिद्धान्त है। इसी सिद्धान्त के आधार पर यह दर्शन 'ब्रह्मसत्यं जगन्मिथ्या' का तात्त्विक एवं सारगर्भित विवेचन करता है। इस दृष्टि से इसे वेदान्त चिन्तन का मूल आधार भी कह सकते हैं। वेदान्त के ग्रन्थों में इसे भ्रान्ति, अविद्या, तमस्, मिथ्याज्ञान, विपर्ययमोह, अग्रहण तथा प्रकृति आदि नामों से अभिहित किया गया है। वस्तुतः वेदान्त की दृष्टि से माया, अविद्या तथा अज्ञान

---

[1]. कठोपनिषद्– 1/3/10–11, मुण्डकोपनिषद्–1/1/6, माण्डूक्योपनिषद्–6।

[2]. कठोपनिषद्– 2/5/8 ।

ये तीनों शब्द समानार्थक माने गए हैं। अतः एक ही अभिप्राय की अभिव्यक्ति करते हैं।

श्रुति एवं स्मृति के आधार पर माया को अनादि, अनिर्वचनीय, भावरूप और मिथ्या कहा गया है। यह सत्त्व, रजस् एवं तमस् इन तीन गुणों के कारण त्रिगुणात्मिका है। इसकी आवरण एवं विक्षेप दो शक्तियाँ हैं। इनमें से प्रथम आवरण शक्ति वस्तु के यथार्थ स्वरूप को आवृत कर लेती है तथा विक्षेप शक्ति द्वारा जगत् का निर्माण किया जाता है। अद्वैत वेदान्त के अर्वाचीन ग्रन्थों में 'माया' के स्थान पर 'अज्ञान' शब्द का प्रयोग किया गया है। अतः हम उसी के आधार पर 'अज्ञान' के स्वरूप का प्रतिपादन कर रहे हैं। आचार्य सदानन्द के वेदान्तसार में 'अज्ञान' का लक्षण इसप्रकार किया गया है–

'अज्ञानं तु सदसद्भ्यामनिर्वचनीयं त्रिगुणात्मकं ज्ञानविरोधी भावरूपं यत्किंचिदिति' अर्थात् अज्ञान सत् एवं असत् से भिन्न अर्थात् **अनिर्वचनीय** है। तीन गुणों वाला, ज्ञान विरोधी, भावरूप तथा 'कुछ है', इस स्वरूप वाला है। अतः इस लक्षण के आधार पर अज्ञान अथवा माया का विवेचन हम इसप्रकार कर सकते हैं–

(क) **सदसदभ्यामनिर्वचनीयम्**– अज्ञान को सत् और असत् दोनों से भिन्न होने के कारण 'अनिर्वचनीय' कहा गया है, क्योंकि यदि हम इसे 'सत्' रूप मानें तो इसका ब्रह्म के समान बाध नहीं होना चाहिए, जबकि आत्मज्ञान होने पर इसकी निवृत्ति हो जाती है। इसलिए यह सत् नहीं हो सकता और यदि इसे 'असत्' माना जाए तो वन्ध्या पुत्र के समान इसकी प्रतीति नहीं होनी चाहिए, जबकि किसी वस्तु के न जानने पर 'अहमज्ञः' इस रूप में हमें अनुभववाक्यों द्वारा इसकी प्रतीति होती है। अतः अज्ञान को असद्रूप भी नहीं माना जा सकता है। परिणामस्वरूप सदसद् से विलक्षण होने के कारण इसे अनिर्वचनीय कहा गया है। माया अथवा अज्ञान की अनिर्वचीनयता का प्रतिपादन **करते हुए शंकराचार्य कहते हैं–**

सन्नाप्यसन्नाप्युभयात्मिका नो
भिन्नाप्यभिन्नाप्युभयात्मिका नो।
सांगाप्यनंगाप्युभयात्मिका नो
महाद्भुतानिर्वचनीयरूपा।। (विवेक चूडामणि– 111)

'अर्थात् माया न सत् है, न असत् है तथा सत्–असत् के रूप में उभयात्मक भी नहीं है। यह न सांग है न अंगरहित है, न उभयरूप ही है, अपितु यह अत्यन्त अद्भुत तथा अनिर्वचनीय है।'

(ख) **त्रिगुणात्मिका**– वेदान्त, माया अथवा अज्ञान को सत्त्वगुण, रजोगुण एवं तमोगुण से युक्त मानता है, जिसे यह श्रुति[1], स्मृति[2] एवं अनुभव के आधार पर सिद्ध करता है। सत्कार्यवाद के सिद्धान्त के अनुसार कार्य में दिखायी देने वाले गुण, कारण में भी विद्यमान रहते हैं। अतः अज्ञान अथवा माया से उत्पन्न होने वाले तेज में लोहित, जल में शुक्ल तथा पृथिवी (अन्न) में कृष्णगुण विद्यमान हैं। वेदान्त इसी सिद्धान्त को मान्यता प्रदान करता है। इस विषय में छान्दोग्योपनिषद् में भी उल्लेख है– **'यदग्ने रोहितं रूपं तेजसस्तदरूपं यच्छुक्लं तदपां यत् कृष्णं तदन्नस्य'।**[3] अतः अज्ञान अथवा माया की त्रिगुणात्मिकता सिद्ध होती है।

(ग) **ज्ञानविरोधी**– वेदान्तदर्शन तमोगुण–प्रधान आवरण एवं विक्षेप शक्तिद्वय से युक्त अज्ञान से उपहित (आवृत्त) चैतन्य अर्थात् ब्रह्म से सृष्टि की उत्पत्ति मानता है। अतः अज्ञान ही सृष्टि का मूल कारण है। यहाँ एकमात्र ब्रह्म ही सत्य है, दृश्यमान यह सम्पूर्ण जगत् मिथ्या है। **ब्रह्मसत्यं जगन्मिथ्या।** अज्ञान ब्रह्म के साक्षात्कार में बाधक है। इसलिए इसे **ज्ञानविरोधी** कहा गया है, क्योंकि श्रवण, मनन, निदिध्यासन आदि साधनों का अनुष्ठान करता हुआ साधक जब ब्रह्म

---

[1]. देवात्मशक्तिं स्वगुणैर्निगुढाम् । श्वेताश्वतरोपनिषद्– 1/3।

[2]. देवी ह्येषा गुणमयी मम माया दुरत्यया। मामेव ये प्रपद्यन्ते मायामेतां तरन्ति ते। श्रीमद्भगवद्गीता– 7/14)

[3]. छान्दोग्योपनिषद्– 6/4/1 ।

का साक्षात्कार कर लेता है, तो उसका अज्ञान निवृत्त हो जाता है। अतः माया अथवा अज्ञान को ज्ञान के माध्यम से बाधित किया जा सकता है। ठीक उसीप्रकार **जैसे–** सूर्य के प्रकाश द्वारा अन्धकार दूर हो जाता है।

(घ) **भावरूप–** अद्वैतवेदान्त अज्ञान को भावरूप भी स्वीकार करता है। इस विषय में चित्सुखाचार्य का कथन उल्लेखनीय है–

अनादि भावरूपं यद् विज्ञानेन विलीयते।
तदज्ञानमिति प्राज्ञा लक्षणं संप्रचक्षते।। (चित्सुखी–1/9)

अर्थात् अज्ञान अनादि और भावरूप है। इसकी भावरूपता इसी बात से सिद्ध होती है कि ज्ञान के उत्पन्न होने पर यह विलीन हो जाता है।

इसके अतिरिक्त प्रत्यक्ष आदि प्रमाणों के आधार पर भी इसकी भावरूपता का प्रतिपादन किया गया है, क्योंकि 'मैं अज्ञ हूँ', 'मैं किसी को नहीं जानता हूँ, इस रूप में प्रत्यक्ष–अनुभव प्रतीति ही अज्ञान की भावरूपता को सिद्ध करती है–

प्रत्यक्षं तावदहमज्ञः, अन्यं च न जानामि इत्यपरोक्षावभासदर्शनात्[1]

इसीप्रकार अनुमान एवं अर्थापत्तिप्रमाण द्वारा भी इसकी भाव रूपता का प्रतिपादन विद्वानों द्वारा किया गया है। 'मायां तु प्रकृतिं विद्यात्,'[2] इत्यादि श्रुतिवाक्य भी इसकी भावरूपता को ही सिद्ध करते हैं।

(ङ) **यत्किंचित्–** यद्यपि अज्ञान त्रिगुणात्मक एवं भावरूप है तथापि इसके सम्बन्ध में 'इदमित्थम्' यह ऐसा ही है, यह नहीं कहा जा सकता है। इसीलिए वेदान्ताचार्यों ने 'यत्किंचित्' कहकर इसके स्वरूप को स्पष्ट करने का प्रयास किया है। यही अज्ञान की विलक्षणता एवं

---

1. पंचपादिका विवरण, प्रकाशात्मयति, पृष्ठ– 74 ।
2. श्वेताश्वतरोपनिषद्– 4/10 ।

अनिर्वचनीयता भी है। अधिकांश वेदान्ती ब्रह्म को अज्ञान का आश्रय मानते हैं।

(क) **अज्ञान के भेद**– अद्वैतवेदान्त में उपाधि भेद के आधार पर व्यावहारिक दृष्टि से अज्ञान के दो भेद माने गए हैं, **समष्टिरूप अज्ञान** एवं **व्यष्टिरूप अज्ञान।** यहाँ समष्टि से अभिप्राय एक से तथा व्यष्टि द्वारा अनेक में आशय ग्रहण किया गया है। **जैसे–** समष्टिरूप में कहने की इच्छा से वृक्षों के समूह को वन तथा व्यष्टिरूप में कथन की अभिलाषा से अलग–अलग वृक्ष को आम, जामुन, पीपल आदि शब्दों से व्यवहृत किया जाता है। इसीप्रकार समष्टिगत अनेक जलकणों के समूह को 'जलाशय' तथा व्यष्टिरूप में एक–एक जलकण अथवा वापी, कूप, तडाग आदि अनेक नामों से पृथक्–पृथक् व्यवहार करते हैं। ठीक उसीप्रकार अन्तःकरण उपाधियों से नानारूप में प्रतीत हो रहे जीवगत अज्ञानों की समष्टि के अभिप्राय से अनेक ज्ञान इसप्रकार का व्यवहार किया जाता है। वास्तव में अज्ञान एक ही है। केवल उपाधि भेद के कारण उसके लिए एकत्व और अनेकत्व का व्यवहार होता है।

(ख) **अज्ञान की शक्तियाँ–** अज्ञान की **आवरण** और **विक्षेप** नामक दो शक्तियाँ मानी गई हैं। इनमें आवरण शक्ति द्वारा वस्तु के वास्तविक एवं सत्यरूप को आच्छादित कर दिया जाता है तथा विक्षेप शक्ति उसमें अनेक प्रकार के अवास्तविक रूपों का आभास कराती है, जिसे यहाँ रज्जु में सर्प की भ्रान्ति द्वारा समझाया गया है। तदनुसार अन्धकार में पड़ी हुई रस्सी में अज्ञान की प्रथम आवरण शक्ति द्वारा उसके वास्तविक एवं सत्यरूप रज्जु को पहले आच्छादित किया जाता है। तत्पश्चात् अज्ञान की द्वितीय विक्षेप शक्ति द्वारा अपने सामर्थ्य से उसमें अवास्तविक एवं असत्यरूप 'सर्प' का आभास कराया जाता है।

ठीक इसीप्रकार अज्ञान की आवरणशक्ति ब्रह्म अथवा आत्मा के वास्तविकरूप को आच्छादित कर लेती है। तत्पश्चात् इसकी विक्षेप शक्ति द्वारा इसमें आकाशादि सृष्टि प्रपंच की उद्भावना कर दी जाती

है। इसप्रकार सूक्ष्मशरीर से लेकर स्थूल ब्रह्माण्ड पर्यन्त नाम रूपात्मक जगत् की रचना, इसी विक्षेप शक्ति द्वारा की जाती है। यह सम्पूर्ण सृष्टि वस्तुतः पानी के बुलबुले के समान नाशवान् है। इसी आधार पर यहाँ 'ब्रह्मसत्यं जगन्मिथ्या' का उद्घोष किया गया।

इसके अतिरिक्त आत्मा को कर्तृत्व, भोक्तृत्व एवं सुखदुःख मोहात्मक इत्यादि सांसारिक तुच्छ भावनाओं का अनुभव भी इसी विक्षेप शक्ति के कारण होता है। जिसप्रकार प्रकाश पड़ने पर व्यक्ति की सर्प विषयक कल्पना विलीन हो जाती है। ठीक उसीप्रकार ज्ञान होने पर जगत् की सत्य परिकल्पना एवं आत्मा के कर्तृत्व आदि की भावना भी विनष्ट हो जाती है। अतः आत्मा के कर्तृत्व की भावना संसार की वास्तविक प्रतीति दोनों ही रस्सी में सर्पत्व की भावना के समान पूर्णतया मिथ्या है। इसी अभिप्राय को भगवद्गीता में इसप्रकार कहा गया है– **'न कर्तृत्वं न कर्माणि लोकस्य सृजति प्रभुः।'** 5/14

इसप्रकार यह स्पष्ट है कि अज्ञान, आवरण एवं विक्षेप शक्ति द्वारा अपने आश्रय आत्मा अथवा ब्रह्म का बल प्राप्त करके उसके स्वयं प्रकाशत्व को आच्छादित कर उसमें ईश्वर, जीव, जगत्, की आकृति के रूप में रज्जु में सर्प के समान मिथ्याप्रपंच की सृष्टि करता है।[1]

इस प्रसंग में एक प्रश्न स्वाभाविकरूप से उठता है कि स्वयं प्रकाश, चित्स्वरूप, अपरिच्छिन्न ब्रह्म अथवा आत्मा को जड़, परि–च्छिन्न, अव्यापक अज्ञान द्वारा किस प्रकार आवृत किया जाता है? इस सम्बन्ध में वेदान्तशास्त्रियों ने अत्यन्त सुन्दर उदाहरण प्रस्तुत किया है– 'अज्ञान की आवरणशक्ति सीमित होते हुए भी असीम आत्मा अथवा ब्रह्म को उसीप्रकार आवृत्त कर लेती है, जिसप्रकार विशाल आकार वाले प्रकाशपुंज सूर्य को मेघ का छोटा सा टुकड़ा आच्छादित कर

---

1. आच्छाद्य विक्षिपति संस्फुरदाम्परूपं जीवेश्वर जगदाकृतिभिर्मृषैव।
अज्ञानमावरणविभ्रमशक्तियोगदात्मत्वमात्रविषयाश्रयताबलेन।।
संक्षेपशारीरक– 1/20 ।

लेता है। अज्ञानी व्यक्ति, मेघ द्वारा दृष्टि के आच्छन्न होने पर सूर्य को मेघ से ढका हुआ मानता है, वैसे ही अज्ञानी व्यक्ति मुक्त आत्मा को बन्धनयुक्त समझता है–

घनच्छन्नदृष्टिर्घनच्छन्नमर्कं
यथा मन्यते निष्प्रभं चातिमूढः ।
तथा बद्धवद् भाति यो मूढ़दृष्टेः
स नित्योपलब्धिस्वरूपोऽहमात्मा।। (हस्तामलक–10)

(d) **ईश्वर–** यह सामान्य सिद्धान्त है कि प्रत्येक कार्य का कोई न कोई कारण अवश्य होता है। इसलिए सम्पूर्ण चराचर जगत् को देखकर यह अनुमान सहज ही किया जा सकता है कि इसका भी कोई कारण होना चाहिए, जिससे यह उत्पन्न हुआ है। वेदान्तदर्शन इस प्रपंच का कारण 'ईश्वर' को स्वीकार करता है। अब प्रश्न उठता है कि यह ईश्वर क्या है? यद्यपि अद्वैतवेदान्त में एकमात्र चैतन्यतत्त्व परमब्रह्म की सत्ता को सर्वोपरि स्वीकार किया गया है, जो नित्य, शुद्ध–बुद्ध, मुक्तस्वभाव तथा अविकारी है तथापि माया की सृष्टिगत उत्कृष्ट उपाधि से युक्त एवं माया की उपाधि से विवर्जित, इन दो भेदों को भी मान्यता प्रदान की गई है।[1]

माया की समष्टिगत उत्कृष्ट उपाधि से युक्त होकर निर्गुण ब्रह्म ही सगुण बन जाता है। इसी को 'ईश्वर' संज्ञा प्रदान की गई है।[2] इसे सर्वज्ञ, सर्वेश्वर, सर्वनियन्ता, अन्तर्यामी, जगत् का कारण एवं आनन्दमय माना गया है। ईश्वर के इन गुणों एवं विशेषणों का प्रतिपादन श्रुतिग्रन्थों में अनेकशः देखने को मिलता है।[3]

---

[1]. द्विरूपं हि ब्रह्म अवगम्यते, नामरूपविकारभेदोपाधिविशिष्टं, तद्विपरीतं च सर्वोपाधिविवर्जितम्। ब्रह्मसूत्र शांकरभाष्य– 1/1/11 ।

[2]. तच्छक्त्युपाधिसंयोगाद् ब्रह्मैवेश्वरतां व्रजेत्। पंचदशी– 3/40।

[3]. मुण्डकोपनिषदं– 1/1/9, कठोपनिषद– 2/3/3, श्रीमद्भगवद्गीता– 18/61 ।

इसी बात को हम इसप्रकार भी कह सकते हैं कि त्रिगुणात्मिका माया अथवा अज्ञान को शुद्ध–सत्त्वगुण की प्रधानता और अप्रधानता के आधार पर उत्कृष्ट उपाधि एवं निकृष्ट उपाधि के रूप में जाना जा सकता है। इसी विशुद्धसत्त्वप्रधान उत्कृष्ट उपाधिभूतसमष्टिमूलक अज्ञान से उपहित चैतन्य (परमब्रह्म) को 'ईश्वर' तथा निकृष्टोपाधिभूतव्यष्टिमूलक अज्ञान से उपाहित चैतन्य को अद्वैतवेदान्त 'जीव' मानता है। यहाँ विशुद्धसत्त्वप्रधान से अभिप्राय रजोगुण एवं तमोगुण से अनमिभूत सत्त्वगुण की प्रधानता से ही ग्रहण करना चाहिए।

यहाँ इसी ईश्वर को जगत् की उत्पत्ति, स्थिति और लय का कारण माना गया है। ईश्वर सर्वशक्तिमान् है। अपनी शक्ति द्वारा यह कुछ भी करने में समर्थ हैं, इसका कोई कारण नहीं है। वह अनादि है। ईश्वर की शक्ति अलौकिक है, क्योंकि हाथ न होने पर भी वह पदार्थों को ग्रहण कर सकता है, पैर न होने पर भी उसकी सर्वत्र गति है। वह आँख न होते हुए भी देखता है, कान न होते हुए भी सुनता है। संसार के सभी पदार्थों को वह जानता है, किन्तु उसके लिए यथार्थ 'रूप' को जानना अत्यन्त दुष्कर कार्य है।

सम्पूर्ण चराचररूप प्रपंचसमूह का साक्षीरूप में ज्ञाता होने के कारण ईश्वर को 'सर्वज्ञ' कहा गया है। सभी जीवों को उनके कर्म के अनुसार फल प्रदान करने वाला होने के कारण उसे सर्वेश्वर अथवा ईश्वर तथा सभी जीवों के हृदय के अन्दर स्थित होकर बुद्धि का नियामक होने से अन्तर्यामी तथा आनन्द की प्रचुरता होने के कारण इसे 'आनन्दमय' कहा गया है।

ईश्वर की अलौकिक शक्ति को अद्वैतवेदान्त में 'माया' कहा गया है। माया की शक्ति से युक्त ईश्वर सृष्टि की रचना में समर्थ होता है। यहाँ सृष्टि के प्रति ईश्वर को उपादान एवं निमित्तकारण दोनों माना गया है, जिसप्रकार एक मकड़ी तन्तुकार्य के प्रति अपनी प्रधानता से निमित्तकारण तथा अपनी उपाधि की प्रधानता से

उपादानकारण होती है। उसीप्रकार ईश्वर भी चैतन्य की प्रधानता से सृष्टि का निमित्तकरण एवं मायारूप उपाधि से युक्त होने से उपादान कारण होता है। यह सृष्टि उत्पत्ति उसीप्रकार ईश्वर की स्वाभाविक क्रिया है, जिसप्रकार पुरुष के शरीर से केश और लोम स्वाभाविक रूप से उत्पन्न होते हैं।

(e) **जीव–** जैसा कि पूर्व में हम कह चुके हैं कि अद्वैतवेदान्त निकृष्टोपाधिभूतव्यष्टिमूलक अज्ञान से उपाहित चैतन्य को 'जीव' संज्ञा प्रदान करता है। इसप्रकार 'जीव' अविद्या से अवच्छिन्नचैतन्य है तथा अविद्या, कर्म, शरीर, इन्द्रियाँ और अन्तःकरण इसकी उपाधियाँ हैं। यहाँ इसे शरीरेन्द्रियरूपी पिंजरे का अध्यक्ष तथा कर्मफल का भोक्ता माना गया है। शंकराचार्य ने देहेन्द्रिय, मन, बुद्धि उपाधियों से परिच्छिन्न परब्रह्म को ही शरीरधारी 'जीव' संज्ञा प्रदान की है।[1]

इसप्रकार ब्रह्म, ईश्वर एवं 'जीव' इन तीनों में तात्त्विकभेद न होकर केवल उपाधिमात्र का ही भेद है। इनमें 'जीव' स्थूल एवं सूक्ष्म तत्त्वों का संगठन है। चैतन्य इसकी प्रमुख विशेषता है। दूसरे शब्दों में, शरीर, बाह्य और अन्तःकरणों से युक्त चैतन्य का नाम ही 'जीव' है। इसका तीन प्रकार के शरीरों से सम्बन्ध रहता है– स्थूल, सूक्ष्म एवं कारण शरीर। जीवभाव को प्राप्त करने की स्थिति में चैतंन्य स्थूलशरीर धारण करता है, जिसे वह मृत्यु के समय साँप की केंचुली के समान छोड़ देती है। श्रीमद्भगवद्गीता ने इसे पुराने वस्त्र को छोड़ने के समान कहा है–

वासंसि जीर्णानि यथा विहाय नवानि गृह्णाति नरोऽपराणि।
तथा शरीराणि विहाय जीर्णान्यन्यानि संयाति नवानि देही।[2]

---

[1] पर एवात्मा देहेन्द्रियमनोबुदधयुपाधिभिः परिच्छिद्यमानो बालैः शारीर इत्युपचर्यते। ब्रह्मसूत्र शांकरभाष्य– 1/2/6।

[2] श्रीमद्भगवद्गीता– 2/22 ।

स्थूल शरीर एवं सूक्ष्म शरीर का सम्बन्ध पंचकर्मेन्द्रियों, मन, बुद्धि तथा पंचप्राण से है, जिसका हम आगे विस्तारपूर्वक उल्लेख करेंगे। स्थूल भागों का आयतन होने के कारण स्थूलशरीर को अन्नमय कोश की संज्ञा दी गई है। मन, बुद्धि आदि उपर्युक्त 17 तत्त्वों से युक्त सूक्ष्मशरीर में मनोमय, प्राणमय तथा विज्ञानमय कोशों की स्थिति मानी गई है। अद्वैतवेदान्त की मान्यता के अनुसार जीवात्मा इसी सूक्ष्मशरीर द्वारा इहलोक का परित्याग करके, परलोक में प्रस्थान करता है अथवा एक स्थूलशरीर को छोड़कर दूसरे स्थूलशरीर में प्रवेश करता है। अपनी सूक्ष्मावस्था के कारण यह स्थूल नेत्रों द्वारा दिखाई भी नहीं देता है।

यहाँ उपाधि–वैविध्य के आधार पर 'जीव' की प्राज्ञ, तैजस् और विश्व तीन अवस्थाओं का उल्लेख किया है। मलिनसत्त्वप्रधान अज्ञान की व्यष्टि से उपहित चैतन्य को 'प्राज्ञ' कहा गया है। इसीप्रकार सूक्ष्मशरीर की व्यष्टि से उपहित चैतन्य को 'तैजस्' तथा स्थूलशरीर की व्यष्टि से उपहित चैतन्य को 'विश्व' संज्ञा प्रदान की गई है। 'जीव' के इन तीन भेदों के सम्बन्ध में आचार्य गौडपाद इसप्रकार कहते हैं–

बहिष्प्रज्ञो विभुर्विश्वो ह्यन्तः प्रज्ञस्तु तैजसः।
धनप्रज्ञस्तथा प्राज्ञ एक एव त्रिधा स्मृतः।।[1]

वेदान्तदर्शन मनोमय आदि पंचकोशों से विशिष्ट चैतन्य अर्थात 'जीव' को कर्ता, भोक्ता एवं सुख, दुःख का अभिमानी मानता है। इस सम्बन्ध में आचार्य शंकर का यह कथन भी उल्लेखनीय है–

'कर्तृत्वभोक्तृत्वविशिष्टिजीवो मनोमयादिपंचकोशविशिष्टः।'[2]

अद्वैतसिद्धान्त की मान्यता के अनुसार पंचकोशों से आवृत होते हुए भी यह जीवात्मा उनसे अलग है। रेशम बनाने वाले कीड़ों के समान अन्नमयादि कोशों से आवृत होकर यह दुःख पाता है एवं इन्हीं

---

1. माण्डूक्योपनिषद, गौडपादकारिका–1।
2. बृहदारण्यकोपनिषद शांकरभाष्य– 1/4/15

में भटकता रहता है, किन्तु आत्मज्ञान अर्थात् अपने स्वरूप का सही–सही ज्ञान प्राप्त करने पर वह मुक्ति (मोक्ष) को प्राप्त कर लेता है। अन्यथा उसे इस संसार में विविध प्राणियों के शरीरों में (कर्मा–नुसार) बार–बार जन्म लेना पड़ता है। इस विषय में विद्यारण्यस्वामी का यह कथन विशेषरूप से उल्लेखनीय है–

यथा मुंजादिषीकैवमात्मा युक्त्या समुद्धृतः।
शरीरतृतीयाद्घोरैः परं ब्रह्मैव जायते।। (पंचदशी– 1/33)

अर्थात् जिसप्रकार मूँज से सींक युक्ति से यत्नपूर्वक निकाल ली जाती है। ठीक उसीप्रकार युक्तिपूर्वक आत्मा को शरीरत्रय एवं पंचकोशों से अलग कर लेने पर जीवात्मा (जीव) परमब्रह्म हो जाता है।

(क) **'जीव' की चार अवस्थाएँ–** आचार्य गौडपाद ने 'जीव' की चार अवस्थाओं का कथन किया है **जाग्रत, स्वप्न, सुषुप्ति, एवं तुरीय।** हम यहाँ इनका संक्षेप में उल्लेख कर रहे हैं– इनमें **प्रथम** अवस्था में 'जीव' मन एवं इन्द्रियों के माध्यम से बाह्य पदार्थों का ज्ञान प्राप्त करता है। इस स्थिति में उसका स्थूलशरीर, इन्द्रिय, मन, बुद्धि आदि सचेष्ट रहते हैं। अन्नमयकोष से आबद्ध हुआ यह सांसारिक पदार्थों का उपभोग करता है। आचार्य गौडपाद ने 'जीव' को इस अवस्था में बाह्यविषयों को प्रकाशित करने वाला अर्थात् बहिष्प्रज्ञ एवं स्थूलभुक् कहा है।[1]

द्वितीय, स्वप्नावस्था में 'जीव' का शरीर और इन्द्रियाँ विश्राम करती हैं, किन्तु उसका मन क्रियाशील रहता है। इस अवस्था में 'जीव' का सूक्ष्मशरीर से सम्बन्ध होता है तथा वह मनोमय, प्राणमय एवं विज्ञानमय इन तीन कोशों से आबद्ध रहता है। वेदान्ताचार्यों ने इसे अन्तःप्रज्ञ एवं **प्रविविक्तभुक्** संज्ञा प्रदान की है। मन की वासना के अनुरूप कार्य करने के कारण इसे **अन्तःप्रज्ञ** भी कहा गया है।

---

[1] माण्डूक्योपनिषद्, आगमप्रकरण–3।

तृतीय, सुषुप्ति अवस्था में 'जीव' न तो किसी प्रकार की कामना करता है और न ही कोई स्वप्न देखता है, क्योंकि उसके स्थूलदेह, इन्द्रियाँ अन्तःकरण आदि कार्य नहीं करते हैं। जाग्रत एवं स्वप्नावस्था में 'जीव' आनन्द के साथ दुःख का भी अनुभव करता है, किन्तु इस अवस्था में केवल आनन्द की प्रचुरता रहती है। अतः उसे 'आनन्दभुक्' कहा जाता है। इस अवस्था में 'जीव' चैतन्य से प्रदीप्त अज्ञानवृत्ति की प्रधानता से युक्त हुआ **'चेतोमुख'** भी कहलाता है। प्रसुप्त अवस्था में बुद्धि उसीप्रकार स्थित रहती है, जिसप्रकार वट के बीज में वट का वृक्ष छिपा रहता है। यह आनन्दमयकोष से आबद्ध अवस्था है।

चतुर्थ, तुरीय अवस्था में सभी प्रकार के प्रपंचों का उपशम हो जाता है। इसमें 'जीव' न अन्तःप्रज्ञ रहता है, न बहिष्प्रज्ञ और न ही उभयप्रज्ञ। यह उसका शान्त, शिव एवं अद्वैतरूप माना गया है। सभी प्रकार के दुःखों की निवृत्ति होकर कार्यकारणभाव समाप्त हो जाता है। साथ ही, वासना–बीजों का भी नाश हो जाता है। सभी कोशों से मुक्त होकर 'जीव' इस अवस्था में ब्रह्ममय बन जाता है। अनादि माया अथवा अज्ञान उसका साथ छोड़ देता है तथा उसे पूर्णतया अवबुद्ध एवं अद्वैतभाव की प्राप्ति होती है।

(f) **जगत्–** अद्वैतवेदान्त जगत् को मिथ्या प्रतिपादित करता है– 'ब्रह्मसत्यं जगन्मिथ्या'' ब्रह्म अथवा आत्मज्ञान न होने की स्थिति तक ही यह जगत् हमें सत्य प्रतीत होता है। उसकी यह प्रतीति सीप में चाँदी अथवा रज्जु में सर्प के समान मानी गई है, क्योंकि इसकी सत्ता आत्मज्ञान न होने की स्थिति पर्यन्त ही रहती है। जिसप्रकार अज्ञान की निवृत्ति होने पर सीपी और रज्जु हमें अपने वास्तविकरूप में प्रतीत होते हैं, ठीक उसीप्रकार ब्रह्मबोध होने पर जगत् का मिथ्यात्व स्वतः सिद्ध हो जाता है।

वेदान्त सत्कार्यवाद के सिद्धान्त को मानता है। उसकी दृष्टि से यह जगत् ब्रह्म (ईश्वर) का कार्य है। साथ ही प्रातिभासिक, व्याव–हारिक एवं पारमार्थिक इन तीन प्रकार की सत्ताओं में से यहाँ जगत की व्यावहारिक तथा प्रातिभासिक सत्ता को स्वीकार किया गया है, क्योंकि पदार्थ की वह सत्ता जो प्रतीतिकाल में सत्य प्रतीत हो, किन्तु कुछ समय के पश्चात् अन्य ज्ञान द्वारा बाधित हो जाए प्रातिभासिक कहलाती है। **जैसे–** रज्जु में सर्प की प्रतीति, क्योंकि प्रकाश की स्थिति में रज्जु में सर्पविषयक ज्ञान का बाध होकर यथार्थसत्ता रज्जु का भान हो जाता है। उसीप्रकार इस दृश्यमान जगत् की प्रतीति ब्रह्म ज्ञान पर्यन्त होती है। अतः यही इसकी **प्रातिभासिक सत्ता** हुई।

इसके अतिरिक्त व्यवहार के समय दिखायी देने वाली पदार्थों की सत्ता को **व्यावहारिक सत्ता** कहा जाता है, क्योंकि यह सम्पूर्ण जगत् तथा इसके घट, पट आदि पदार्थ व्यवहारकाल में सत्य हैं। अतः इसे व्यावहारिकसत्ता वाला भी माना जाएगा। पारमार्थिक सत्ता भौतिक पदार्थों की सत्ता से भिन्न एवं विलक्षण होती है, क्योंकि तीनों कालों में एकरूप में अवस्थित रहने वाली सत्ता पारमार्थिक कहलाती है तथा यह दृश्यमान जगत् एवं इसके घट–पट आदि पदार्थ विकारवान् हैं, नश्वर हैं, कल नहीं रहेंगे। अतः इसकी पारमार्थिकसत्ता का निषेध किया गया है। वेदान्त में एकमात्र ब्रह्म की **पारमार्थिक सत्ता** स्वीकार की गई है।

इस आधार पर यह निष्कर्षरूप में कहा जा सकता है कि ब्रह्म पारमार्थिक दृष्टि से सत्य है तथा जगत् की सत्ता केवल व्यवहारकाल तक सीमित है। पारमार्थिक दृष्टि से जगत् मिथ्या है। दार्शनिक भाषा में दृश्यमान जगत् रस्सी में सर्प के समान केवल आभासित होता है। इसीकारण ब्रह्मज्ञान सम्पन्न 'जीवन्मुक्त' को यह जगत् परमार्थतः असत् एवं मिथ्या प्रतीत होता है।

इस प्रसंग में यह उल्लेखनीय है कि तत्त्वज्ञान की स्थिति में जगत् अर्थात् बाह्यपदार्थों का अभाव नहीं होता है। उसकी सत्ता पूर्ववत्

बनी रहती है। यदि ऐसा नहीं होता तो एक 'जीव' के मुक्त होने पर सभी के लिए जगत् का अभाव हो जाता। इसलिए तत्त्वज्ञान की स्थिति में इसे इसप्रकार समझना चाहिए कि दृश्यमान जगत् अपने उसी रूप में विद्यमान रहता है। केवल साधक का दृष्टिकोण बदल जाता है। उसकी भावना या ज्ञान में अन्तर आ जाता है और वह ब्रह्मैक्य को प्राप्त करके जगत् को मिथ्या मानने लगता है।

(g) **शरीरत्रय–** वेदान्तदर्शन के अनुसार 'जीव' के तीन शरीर होते हैं– (अ) कारण शरीर, (ब) सूक्ष्मशरीर एवं (स) स्थूल शरीर–

स्थूलं सूक्ष्मं कारणाख्यमुपाधित्रितयं चित्रेः।
एभिर्विशिष्टो जीवः स्याद् विमुक्तः परमेश्वरः।।

(क) **कारणशरीर–** सृष्टि के प्रारम्भ में 'जीव' कारणशरीर का आश्रय लेकर विद्यमान रहता है। जैसाकि पूर्व में प्रतिपादित किया जा चुका है कि अद्वैतवेदान्त केवल ब्रह्म की शाश्वतस्थिति को ही स्वीकार करता है तथा द्वैतवेदान्त, ब्रह्म और माया इन दोनों के हमेशा (नित्य) अस्तित्व को मान्यता प्रदान करता है। माया सत्त्व, रजस् तथा तमस् इन तीनों गुणों का नाम है। इसी को 'अज्ञान' भी कहते हैं।

ब्रह्म जब शुद्धसत्त्वप्रधान अज्ञान से आवृत्त होता है, तो इसी को ईश्वर कहा जाता है। यही अव्यक्त, अन्तर्यामी संसार का कारणरूप होने से कारणशरीर कहलाता है। इसमें आनन्द का प्राचुर्य रहता है। अतः इसी को 'आनन्दमयकोष' भी कहते हैं। प्रलय की अवस्था में भी इसकी स्थिति बनी रहती है। सूक्ष्म एवं स्थूलशरीरों का यह लयस्थान भी होता है। साथ ही, स्थूल एवं सूक्ष्म जगत्प्रपंच का लयस्थान होने के कारण इसी को 'सुषुप्ति' भी कहा गया है।

(ख) **सूक्ष्मशरीर–** इसका केवल अनुमानप्रमाण द्वारा ही ज्ञान होता है। हम इसे किसी भी प्रकार देख अथवा छू नहीं सकते हैं। इसी कारण इसे **सूक्ष्मशरीर** कहा गया है। इसी का दूसरा नाम **'लिंगशरीर'** भी है। स्वामी रामतीर्थ ने इसकी व्युत्पत्ति इसप्रकार की है–

'लिंग्यते ज्ञाप्यते प्रत्यगात्मसद्भाव एभिरिति लिंगानि, लिंगानि च शरीराणि चेति लिंगशरीराणि।'[1]

इसी के माध्यम से 'जीव' सुख–दुःख का अनुभव करता है। वेदान्तदर्शन के अनुसार इसमें सत्रह अवयव होते हैं– पंचज्ञानेन्द्रियाँ, पंचकर्मेन्द्रियाँ, पंचवायु तथा बुद्धि एवं मन। पंचदशीकार के अनुसार–

बुद्धिकर्मेन्द्रियप्राणप्रपंचकैर्मनसा धिया।
शरीरं सप्तदशाभिः सूक्ष्मं तल्लिंगमुच्यते।।(1/23)

'जीव' के पापपुण्यों (धर्म–अधर्म) का लेखा–जोखा इसीकारण शरीर में विद्यमान रहता है। यही जीवात्मा का एक प्रकार से घर अथवा निवास स्थान है। कठोपनिषद्कार ने इसे 'रथ' की संज्ञा भी दी है। इसका रथी आत्मा है, क्योंकि एक स्थूलशरीर से दूसरे स्थूलशरीर में प्रवेश करने के लिए वह यह सूक्ष्मशरीर आश्रय अथवा माध्यम का कार्य करता है।

इसी प्रसंग में यह तथ्य भी उल्लेखनीय है कि सांख्यदर्शन भी सूक्ष्मशरीर के अस्तित्व को स्वीकार करता है। उसने इसके अट्ठारह तत्त्वों को मान्यता प्रदान की है– महत् (बुद्धि), अहंकार, मन, पंच ज्ञानेन्द्रिय, पंचप्राण। अतः स्पष्ट है कि सांख्यदर्शन 'अहंकार' को सूक्ष्म शरीर में अधिक तत्त्व के रूप में स्वीकार करता है, जबकि वेदान्तसार के टीकाकार स्वामी रामतीर्थ अहंकार का अन्तर्भाव मन में करते हैं। उनके अनुसार अहंकार भी संकल्पात्मक ही होता है। इसी प्रसंग में इनका पृथक्–पृथक् परिचय देना उपयुक्त होगा।

(अ) **पंचज्ञानेन्द्रिय–** श्रोत्र, त्वक्, चक्षु, रसना और घ्राण इन्हें ज्ञानेन्द्रियों की श्रेणी में रखा गया है। इनकी उत्पत्ति आकाशादि अपंचीकृत सूक्ष्मभूतों के सात्त्विक अंशो से पृथक्–पृथक् रूप में मानी गयी है–

---

[1] वेदान्तसार–विद्वन्मनोरंजनी, पृष्ठ–100 ।

ज्ञानेन्द्रियाणि श्रोत्रत्वक्चक्षुर्जिह्वाघ्राणाख्यानि। एतान्याकाशादिनां सात्त्विकांऽशेभ्यो व्यस्तेभ्यः पृथक्–पृथक् क्रमेणोत्पद्यन्ते (वेदान्तसार)

अर्थात् आकाश के सात्त्विक अंश से **'श्रोत्र'** नामक ज्ञानेन्द्रिय की उत्पत्ति हुई है। इसका कार्य श्रवण करना है, क्योंकि शब्द आकाश का गुण है। अतः यह शब्द की ग्राहक है। इसीप्रकार अपंचीकृत सूक्ष्म भूत वायु के सात्त्विक अंश से **'त्वक्'** नामक ज्ञानेन्द्रिय की उत्पत्ति हुई, क्योंकि स्पर्श वायु का गुण है। अतः त्वगेन्द्रिय शीतल या उष्ण स्पर्श का ज्ञान कराती है।

इसके अतिरिक्त अपंचीकृत सूक्ष्मभूत अग्नि के सात्त्विक अंश से **'चक्षु'** नामक ज्ञानेन्द्रिय की उत्पत्ति हुई और अग्नि का गुण है, रूप। इसलिए चक्षु नामक इन्द्रिय हमें दर्शन कराती है। इसीप्रकार अपंचीकृत सूक्ष्मभूत 'जल' के सात्त्विक अंश से **'रसना'** (जिह्वा) नामक ज्ञानेन्द्रिय की उत्पत्ति हुई है, क्योंकि जल का गुण रस है। अतः रसना ज्ञानेन्द्रिय द्वारा हमें रस अर्थात् स्वाद की प्रतीति होती है।

साथ ही, अपंचीकृत सूक्ष्मभूत पृथिवी के सात्त्विक अंश से **'घ्राण'** नामक ज्ञानेन्द्रिय की उत्पत्ति हुई है, क्योंकि पृथ्वी का गुण है, गन्ध। इसीलिए घ्राणेन्द्रिय द्वारा हम गन्ध को ग्रहण करते हैं। ज्ञान को ग्रहण करने के कारण इन्हें **ज्ञानेन्द्रिय** कहते हैं।

(ब) **पंचकर्मेन्द्रिय–** कर्म को सम्पादित करने के कारण इन्हें कर्मेन्द्रिय कहा जाता है। इनकी संख्या भी पाँच है– वाक्, पाणि, पाद, पायु, उपस्थ। इनकी उत्पत्ति अपंचीकृत सूक्ष्मभूतों के **रजोगुण** के अंश से अलग–अलग मानी गई है अर्थात् रजोगुणप्रधान आकाश नामक अपंचीकृत, सूक्ष्मभूत से **वाक्** (वाणी) नामक कर्मेन्द्रिय की, रजोगुण प्रधान 'वायु' नामक सूक्ष्मभूत से **पाणि** (हाथ) नामक कर्मेन्द्रिय की, रजोगुणप्रधान 'अग्नि' नामक अपंचीकृत सूक्ष्मभूत से **पाद** अर्थात् पैर नामक कर्मेन्द्रिय की, इसीप्रकार रजोगुणप्रधान 'जल' नामक अपंचीकृत सूक्ष्मभूत से **पायु** अर्थात् गुदा नामक कर्मेन्द्रिय की तथा रजोगुणप्रधान

पृथिवी नामक अपंचीकृत सूक्ष्मभूत से **'उपस्थ'** अर्थात् जननेन्द्रिय की उत्पत्ति होती है।

रजोगुण के स्वभाव से चंचल एवं क्रियाशील होने के कारण सभी कर्मेन्द्रियों में गति एवं क्रियाशीलता देखने को मिलती है।

(स) **पंचवायु**– प्राण, अपान, व्यान, समान और उदान, ये पाँच वायु हैं। इनकी उत्पत्ति अपंचीकृत सूक्ष्मभूतों के रजोगुण अंश से स्वीकार की गई है। इनका शरीर के विभिन्न अंगों में वास माना गया है। **जैसे**– नासिका के अग्रभाग पर विराजमान वायु **'प्राण'** है। यह ऊर्ध्व गमनशील है।[1]

किन्तु ब्राह्मणग्रन्थों में इसकी स्थिति हृदय में स्वीकार की गयी है।[2] पुनरपि हृदय में स्थित होते हुए भी प्रत्यक्षरूप से नासिका के अग्रभाग पर स्थित होना ही विद्वानों को स्वीकार रहा है।[3] **अपान** नामक वायु को गुदा एवं उपस्थ (जननेन्द्रिय) में स्थित माना गया है। नाभि से नीचे की ओर जाना इसका स्वभाव है। सम्भवतः इसीकारण इसे अधोगमनशीला कहा गया है। इसीप्रकार **'व्यान'** नामक वायु का स्वभाव सभी ओर गमन करना है। इसीलिए इसकी स्थिति सम्पूर्णशरीर में स्वीकार की गई है।

प्रतिदिन खाए हुए अन्न पानादि को पचाने वाली, उदर में निवास करने वाली वायु ही **'समान'** है। इसका प्रमुख कार्य उदरस्थ अन्न से साररूप रस निकालकर उसका रुधिर आदि के रूप में परिपाक करना तथा अवशिष्ट अन्न को मलमूत्र के रूप में बाहर निकालना है। **'उदान'** वायु का निवास कण्ठ में होता है। ऊर्ध्वगमन इसका स्वभाव है। अतः मृत्यु के समय शरीर से इसका उत्क्रमण माना गया है।

---

1. प्राणो नाम प्राग्गमनवान् नासाग्रस्थानवर्ती–वेदान्तसार ।
2. प्राणो हृदये– तैत्तिरीयब्राह्मण 3/10/8/5।
3. वेदान्तसार विद्वन्मनोरंजनीकार ।

उपर्युक्त पंचवायुओं के अतिरिक्त कुछ विद्वानों ने नाग, कूर्म, कृकल, देवदत्त तथा धनंजय पाँच अन्य वायुओं के अस्तित्व को भी स्वीकार किया है। उनके अनुसार **नाग** वायु उद्‌गार एवं वमन लाने वाली, **कूर्म** वायु आँखों का उन्मीलन, निमीलन कराने वाली, **कृकल** नामक वायु भूख लगाने वाली, जबकि **देवदत्त** वायु जमुहाई लाने वाली होती है। इसीप्रकार **धनंजय** नामक वायु द्वारा शरीर का पोषण किया जाता है, किन्तु वेदान्तशास्त्र इन सभी का अन्तर्भाव पूर्ववर्णित चारों वायुओं में कर लेता है।[1] विद्वन्मनोरंजनीकार स्वामीरामतीर्थ ने भी नाग आदि पंचवायुओं का अन्तर्भाव विस्तारपूर्वक पूर्ववर्णित प्राण, अपान इत्यादि वायुओं में ही किया है।

(द) **बुद्धि और मन**– ये दोनों शरीर के अन्तःभाग में स्थित इन्द्रियाँ हैं। अतः इन्हें **अन्तरिन्द्रिय** भी कहा जाता है। वस्तुतः ये दोनों ज्ञानेन्द्रियों के माध्यम से विषयों का ग्रहण करती है। इसलिए इन्हें **अन्तःकरण** भी कहते हैं। अन्तःकरण की निश्चयात्मकवृत्ति को **'बुद्धि'** कहा गया है। इसका कार्य अध्यवसाय अर्थात् निश्चय करना है। इसके अतिरिक्त **मन** अन्तःकरण की ही दूसरी वृत्ति है। इसका कार्य संकल्प–विकल्प करना है। इनकी उत्पत्ति आकाशादिक सात्त्विक अंश के मिश्रितरूप से मानी गयी है। कुछ विद्वानों ने अन्तःकरण की **चित्त** और **अहंकार** नामक दो अन्य वृत्तियों का भी उल्लेख किया है, इनमें अनुसन्धानात्मिका अन्तःकरणवृत्ति को चित्त तथा अभिमानात्मिकावृत्ति को अहंकार कहते हैं–

मनो बुद्धिरंकारश्चित्तं करणमान्तरम्।
संशयी निश्चयो गर्वः स्मरणं विषया इमे।।[2]

किन्तु आचार्य सदानन्द ने वेदान्तसार में चित्त का बुद्धि में तथा अहंकार का मन में ही अन्तर्भाव माना है।[1] उनके अनुसार गर्वरूप

---

1 . एतेषां प्राणादिष्वन्तर्भावात् प्राणादयः पंचैवेति केचित्। (वेदान्तसार)।

2 . शारीरकोपनिषद्–12।

अहंकार, जिसमें संशयात्मकरूप में स्थित, अपने उत्कर्ष की सम्भावना का मन में अन्तर्भाव करना चाहिए। इसीप्रकार विषय का परिच्छित्ति (स्मरण) रूप में ज्ञान कराने वाले चित्त का अन्तर्भाव बुद्धि में करना संगत प्रतीत होता है, क्योंकि स्मरण की उत्पत्ति निश्चयात्मक अनुभव से ही होती है।

इसप्रकार **कारणशरीर** के निर्माण में विज्ञानमय, मनोमय तथा प्राणमय इन कोषत्रय की महत्ती भूमिका रहती है, क्योंकि **विज्ञानमय कोष में पंचज्ञानेन्द्रियाँ+बुद्धि होती हैं। मनोमयकोष** का निर्माण पंच **ज्ञानेन्द्रियाँ+मन** द्वारा होता है। इसीप्रकार **पंचप्राण सहित कर्मेन्द्रियों का समूह प्राणमयकोष** कहलाता है। इनमें विज्ञानमय कोष **व्यावहारिक कार्यों का कर्ता,** मनोमय कोष **इच्छाशक्ति से युक्त** तथा प्राणमय कोष **क्रियाशीलता की प्रधानता** वाला होने से क्रमशः कर्तृरूप, करणरूप तथा कार्यरूप होता है।

(ग) **स्थूलशरीर**– आकाश आदि सूक्ष्मभूतों के पंचीकरण के बाद आकाश आदि स्थूलभूतों की उत्पत्ति होती है, जिसका विस्तृत वर्णन आगे सृष्टि–प्रक्रिया के अन्तर्गत किया जाएगा। इन स्थूलभूतों द्वारा ब्रह्माण्ड का निर्माण होता है एवं उसमें चार प्रकार के स्थूल शरीरधारी प्राणी उत्पन्न होते हैं। यहाँ हम इन्हीं चारों स्थूल शरीरों का उल्लेख करेंगे–

जैसा कि अभी कथन किया गया कि स्थूलशरीर का निर्माण आकाश आदि पंचीकृत स्थूलभूतों से होता है। यह शरीर ही वस्तुतः जन्म–मरण की स्थिति को प्राप्त होता है। इसी शरीर द्वारा जीवात्मा कर्म करता है तथा उससे प्राप्त होने वाले फल को भोगता है। यह स्थूलशरीर माता–पिता द्वारा खाए हुए तथा जन्म के बाद स्वयं द्वारा खाए अन्न का विकार होने के कारण **अन्नमयकोश** कहलाता है तथा

---

[1]. अनयोरेव चित्ताहंकारयोरन्तर्भावः । वेदान्तसार

'जीव' की यह जाग्रत अवस्था होती है। स्थूलशरीर चार प्रकार के होते हैं– (अ) **जरायुज** (ब) **अण्डज** (स) **स्वदेज एवं** (द) **उद्भिज्ज।**

उदर में रहने वाली पतली झिल्ली–जेर से उत्पन्न होने वाले मनुष्य, पशु आदि **जरायुज** हैं। अण्डों से उत्पन्न होने वाले पक्षी, सर्प आदि **अण्डज** हैं। पसीने से उत्पन्न होने वाले जूँ, मच्छर आदि **स्वेदज** हैं तथा भूमि को उद्भेद (फाड़) कर उत्पन्न होने वाले लता, वृक्ष आदि **उद्भिज्ज** नामक स्थूलशरीर हैं। स्थूलभोग का आश्रय होने के कारण इन्हें स्थूलशरीर तथा विषयों का भोग करने के कारण **जाग्रत** कहा जाता है।

इन चारों स्थूलशरीरों में मनुष्य की योनि को उत्कृष्ट माना गया है, क्योंकि इसमें उसे चिन्तन, बोध, संकल्पशक्ति की सामर्थ्य प्राप्त होती है। इस शरीर द्वारा प्रयत्न करके वह उत्कृष्ट स्थिति (देवत्वादि) को भी प्राप्त कर सकता है। यहाँ तक कि जन्म–मरण के चक्र से मुक्त होकर 'मोक्ष' प्राप्त कर सकता है तथा निकृष्टकर्मों का सम्पादन करके निम्न से निम्न योनियों में भी जा सकता है। इनमें शेष उद्भिज्जादि दुष्कर्मों के परिणामस्वरूप प्राप्त होने वाली भोग योनियाँ हैं।

(h) **पंचकोष–** उपर्युक्त विवरण से स्पष्ट है कि आत्मा के आच्छादक तत्त्वों में प्रमुखरूप से अज्ञान की महत्त्वपूर्ण भूमिका रहती है, उसी से ईश्वर, जीव, जगत् आदि की सृष्टि होती है। तीनों प्रकार के शरीरों के निर्माण एवं विकास में कोशों की भी महत्त्वपूर्ण भूमिका रहती है। इनकी संख्या कुल मिलाकर पाँच मानी गई है। (क) आनन्दमय कोष (ख) विज्ञानमयकोष (ग) मनोमयकोष (घ) प्राणमयकोष (ङ) अन्नमयकोष।

(क) **आनन्दमयकोष–** आत्मा के आच्छादक होने के कारण अथवा समूह में स्थित होने के कारण ही इन्हें कोष की संज्ञा प्रदान की गई है। इन पंचकोषों में प्रथम आनन्दमयकोष की स्थिति सृष्टि के विकास की प्रथम कारणावस्था में विद्यमान होती है। निर्गुण ब्रह्म जब

शुद्धसत्त्वप्रधान अज्ञान से आच्छादित होता है तो वही कारणशरीर, ईश्वर तथा आनन्द की प्रचुरता के कारण **आनन्दमय कोष** कहलाता है। प्रलय की अवस्था में भी यह विद्यमान रहता है। यही सूक्ष्मशरीर का **लयस्थान** भी है। इसीलिए इस अवस्था को **सुषुप्ति** कहा गया है। ये ही सब स्थितियाँ ब्रह्म के मलिन सत्त्वप्रधान अज्ञान से आच्छादित होने पर **'जीव'** पक्ष में भी होती हैं।

(ख) **विज्ञानमयकोष–** 'जीव' की स्वप्नावस्था में स्थित 'सूक्ष्म शरीर' में तीन कोषों की स्थिति को स्वीकार किया गया है, विज्ञानमय मनोमय तथा प्राणमय। इन तीन कोषों के मिलने पर ही सूक्ष्मशरीर का निर्माण होता है। इनमें विज्ञानमयकोष के अन्तर्गत आकाशादि अपंची–कृत सूक्ष्मभूतों के सात्त्विक अंशों से उत्पन्न श्रोत्र, त्वक्, चक्षु, रसना और घ्राण इन पाँच ज्ञानेन्द्रियों के साथ बुद्धितत्त्व विद्यमान रहता है। अन्तःकरण की निश्चयात्मक वृत्ति 'बुद्धि' द्वारा ये पाँचों ज्ञानेन्द्रियाँ नियन्त्रित होती हैं। अतः इस कोष का कार्य 'निश्चय' करना है।

(ग) **मनोमयकोष–** सूक्ष्मशरीर में स्थित तीन कोषों में से इसका द्वितीय स्थान है। इसके अन्तर्गत आकाशादि अपंचीकृत सूक्ष्मभूतों के रजोगुणप्रधान अंशों से उत्पन्न वाक्, पाणि, पाद, वायु और उपस्थ इन पंचकर्मेन्द्रियों के साथ मन की स्थिति विद्यमान रहती है। मन के संकल्प–विकल्पात्मक होने के कारण मनोमयकोष का कार्य संकल्प–विकल्प माना गया है। दूसरे शब्दों में, यह कोष इच्छाशक्ति से युक्त होता है।

(घ) **प्राणमयकोष–** यह सूक्ष्मशरीर में ही स्थित तृतीयकोष है। शरीर के विभिन्न स्थानों पर रहने वाले प्राण, अपान, व्यान, समान और उदान नामक पंचवायु एवं वाक्, पाणि, पाद, पायु और उपस्थ इन पंचकर्मेन्द्रियों के साथ मिलकर इस कोष का निर्माण होता है। क्रियाशीलता प्राण का धर्म है, अतः इनके प्रभाव से ही कर्मेन्द्रियाँ अपने–अपने कार्यों को सम्पादित करती हैं। इस दृष्टि से इस कोष में

क्रियाशीलता का प्राधान्य कहा जा सकता है। वैसे भी पंचप्राणों की उत्पत्ति अपंचीकृत सूक्ष्मभूतों के रजोंऽशों से मानी गई है। चंचलता, गति, रजोगुण की विशेषता है। इसीलिए प्राणों में गतिशीलता देखी जाती है तथा प्राणों के सान्निध्य से कर्मेन्द्रियाँ गतिशील होती हैं। इसीकारण प्राणमयकोष को गतिशील अथवा क्रियाशीलकोष माना गया है। विज्ञानमय तथा मनोमयकोष की क्रियाशीलता केवल अनुभव का विषय होती है, अतः अप्रत्यक्ष होती है, जबकि इसकी क्रियाशीलता को प्रत्यक्ष देखा जा सकता है। विज्ञानमय, मनोमय, प्राणमय ये तीनों कोष 'जीव' की स्वप्नावस्था में विद्यमान होते हैं।

(ङ) **अन्नमयकोष–** पंचम एवं अन्तिम अन्नमयकोष होता है। यह 'जीव' की जाग्रत अवस्था में विद्यमान रहता है। अतः इसी को जाग्रत भी कहते हैं। अन्न के विकार का बाहुल्य होने से इसे अन्नमय कहा गया है तथा आत्मा का आच्छादक होने से इसे कोष संज्ञा प्रदान की गई है। 'जीव' इसी कोष के माध्यम से विषयों का उपभोग करता है। भोगों के उपभोग में सभी प्रकार की इन्द्रियाँ भी सहायक होती हैं। इस कोष का निर्माण पंचीकृत महाभूतों से होता है।

(12) **पंचीकरणप्रक्रिया–** स्थूलसृष्टि के निर्माण की प्रक्रिया में अद्वैतवेदान्त पंचीकरण के सिद्धान्त को महत्ता प्रदान करता है। इस सिद्धान्त के अनुसार आकाश आदि पंचभूतों की तन्मात्राओं के संयोग से स्थूलमहाभूतों की उत्पत्ति होती है। यहाँ प्रत्येक भूत में अन्य चार भूतों के मिश्रण को **पंचीकरण** कहा गया है अर्थात् जो पाँच नहीं है, उन्हें पाँच बना देने का नाम ही पंचीकरण है।

आचार्य सदानन्द ने पंचदशी में पंचीकरण के सिद्धान्त का विस्तार से उल्लेख किया है। तदनुसार सबसे पहले आकाश आदि पाँच सूक्ष्मभूतों में प्रत्येक को दो–दो समान भागों में विभाजित कर लेते हैं। इसप्रकार विभक्त पंचतन्मात्राओं के दस भागों में से पहले पाँच को, छोड़कर दूसरे पाँच भागों को फिर से बराबर चार–चार भागों में

विभाजित करते हैं। तत्पश्चात् उन चार बराबर भागों में से एक–एक भाग को अपने–अपने दूसरे आधे भाग को छोड़कर दूसरे चार भूतों के दूसरे अर्धभाग में मिलाने पर एक–एक पंचीकृत महाभूत का निर्माण होता है।[1] वेदान्तदर्शन की भाषा में इसी प्रक्रिया को **पंचीकरण की प्रक्रिया** कहते हैं। (द्रष्टव्य चित्र संख्या–6, पृष्ठ–68)

इसप्रकार पंचीकरण की प्रक्रिया से प्रत्येक सूक्ष्मभूत महाभूत होकर पिण्ड के रूप में एक इकाई बन जाता है। अतः इस प्रक्रिया के पश्चात् आकाश मात्र आकाश नहीं रहता, अपितु उसमें आकाशीयतत्त्व आधा रहता है तथा शेष चार भूतों में से प्रत्येक का भी 1/8 भाग होने से इस स्थूलभूत में उनके गुण भी विद्यमान रहते हैं। ठीक यही स्थिति शेष चार महाभूतों की भी होती है। इस प्रसंग में यह भी उल्लेखनीय है कि जिस भूत में, जिस अंश की प्रधानता रहती है, उसी के आधार पर उसका नामकरण होता है। वेदान्तदर्शन के अनुसार इन्हीं पंचीकृत महाभूतों से चौदह भुवन तथा उनमें निवास करने वाले सम्पूर्ण प्राणिवर्ग अर्थात् चार प्रकार के स्थूलशरीरों का निर्माण होता है।

पंचीकरण की इस प्रक्रिया के पश्चात् ही आकाश में **शब्दगुण की**, वायु में **शब्द एवं स्पर्श की**, अग्नि में **शब्द, स्पर्श, रूप** की और जल में **शब्द, स्पर्श, रूप, रस** की, तथा पृथिवी में **शब्द, स्पर्श, रूप, रस और गन्ध** नामक गुणों की अभिव्यक्ति होती है।

(j) **त्रिवृत्करण–** वेदान्तसार के लेखक आचार्य सदानन्द ने पंचीकरण प्रक्रिया के प्रसंग में ही त्रिवृत्करण का उल्लेख करते हुए इसे पंचीकरण का ही उपलक्षण माना है।[2] त्रिवृत्करण वस्तुतः उपनिषदों

---

1. द्विधा विधाय चैकेकं चतुर्धा प्रथमं पुनः।
स्व स्वेतरद्वितीयांशैर्योजनात् पंच पंच ते।।1/27।।

2. 'अस्याप्रामाण्यं नाशंकनीयं त्रिवृत्करणश्रुतेः पंचीकरणस्याप्युपलक्षणत्वात्।'

में प्रतिपादित सिद्धान्त है। छान्दोग्योपनिषद् की टीका करते हुए आचार्य आनन्दगिरि लिखते हैं–

प्रथममेकैकां देवतां द्विधा विभज्य, पुनरेकैकं भागं द्विधा द्विधा कृत्वा तदितरभागयोर्निक्षिप्य त्रिवृतकरणं विवक्षितम् (6/3/2–3)

इसके अनुसार अग्नि, जल, पृथिवी इन तीनों भूतों में से सर्वप्रथम एक–एक को दो–दो भागों में विभाजित करके पुनः प्रत्येक एक–एक भाग के दो–दो विभाग करके, उन्हें परस्पर इसप्रकार संयुक्त किया जाए कि अग्नि, जल और पृथिवी में प्रत्येक का आधा अपना–अपना भाग होता है तथा शेष दो भूतों का चौथाई–चौथाई भाग विद्यमान रहे। इस स्थिति में प्रत्येक भूत में अपना प्राधान्य तथा अन्य दो भूतों का गौणभाव रहेगा और इनके नामकरण का आधार भी यही गुणप्राधान्य ही होगा।

यद्यपि पंचीकरण प्रक्रिया का उल्लेख श्रुति में भी हुआ है, तथापि प्रयोग की सरलता की दृष्टि से उपनिषदग्रन्थों में त्रिवृत्करण का कथन किया गया है, क्योंकि पंचीकरण की प्रक्रिया कुछ जटिल होने के कारण सामान्यव्यक्ति के लिए सरलतापूर्वक बोधगम्य नहीं है। वस्तुतः त्रिवृत्करण की प्रक्रिया भी पंचीकरण की ओर ही संकेत करती है। अन्तर केवल इतना ही है कि यहाँ यह विभाजन केवल तीन भूतों अग्नि, जल तथा पृथिवी में मध्य किया गया है। अतः इसकी प्रामाणिकता में संदेह नहीं करना चाहिए। इसे हम इसप्रकार भी समझ सकते हैं–

(k) प्रमाण– प्रमा अर्थात् यथार्थज्ञान के कारण को दार्शनिक भाषा में प्रमाण कहते हैं। यहाँ किसी भी कथन की सत्यता का आधार

प्रमाण को माना गया है। अन्य दर्शनों के समान वेदान्तदर्शन भी प्रमाणों को मान्यता प्रदान करता है। उसकी दृष्टि में एकमात्र ब्रह्म पूर्णतया सत्य, नित्य एवं पारमार्थिक सत्तावान् है, शेष सम्पूर्णजगत् भ्रान्तिभासिक सत्तावान् होने से अनित्य एवं मिथ्या है (ब्रह्म सत्यं जगन्मिथ्या)। साथ ही, वेदान्तदर्शन व्यावहारिकदृष्टि से सभी सांसारिक वस्तुओं के अस्तित्व को स्वीकार करता है। अतः उन सभी की सिद्धि के लिए यहाँ भी अन्य दर्शनों के समान प्रमाणों को स्वीकार किया गया है। **यहाँ इनकी संख्या छः रही है–** प्रत्यक्ष, अनुमान, उपमान, शब्द, अर्थापत्ति एवं अभावप्रमाण। अब हम इनका क्रमशः वर्णन करेंगे–

(क) **प्रत्यक्ष**–यथार्थज्ञान का कारण प्रत्यक्ष प्रमाण को माना गया है। दूसरे शब्दों में, इसे प्रत्यक्षरूप से होने वाला यथार्थ–अनुभव भी कहा जा सकता है। यह अनुभव वस्तु के ज्ञानेन्द्रियों के साथ सम्पर्क के परिणामस्वरूप होता है। घट–पट आदि कोई वस्तु जब नेत्र आदि इन्द्रिय के सम्पर्क में आती है तो मन एवं बुद्धिरूप अन्तरिन्द्रिय उस वस्तु तक पहुँचते हैं तथा वे उस वस्तु के आकार से आकारित हो जाते हैं। इस स्थिति में व्यक्ति को निश्चयात्मिकाबुद्धि द्वारा उसके घट (घड़ा) अथवा पट (कपड़ा) होने का यथार्थज्ञान होता है। इस प्रत्यक्ष प्रक्रिया में वस्तु का इन्द्रिय के साथ सम्पर्क होना अत्यावश्यक है, जिसके परिणामस्वरूप 'चित्त' आभास से आभासित अन्तःकरणवृत्ति अपने वस्तु विषयक अज्ञान को विनष्ट कर देती है और हमें वस्तु का यथार्थ प्रत्यक्ष (ज्ञान) होता है।

वेदान्तदर्शन के अनुसार यह प्रत्यक्ष ठीक वैसा ही होता है, जैसा कि किसी दीपक का प्रकाश वहाँ फैले अन्धकार को अपने प्रभाव से विनष्ट भी करता है तथा वहाँ स्थित घट आदि वस्तुओं को प्रकाशित भी करता है। इस सम्पूर्ण व्यापार में चिद्वृत्ति अपनी महत्त्व पूर्ण भूमिका निर्वाह करती है, जिसे पंचदशीकार ने इसप्रकार प्रति–पादित किया है–

बुद्धितत्स्थचिदाभासो द्वावेतौ व्याप्नुतो घटम्।
तत्राज्ञानं धिया पश्येदाभासेन घटः स्फुरेत्।।

वस्तुओं का यह प्रत्यक्ष निर्विकल्पक एवं सविकल्पक भेद से दो प्रकार का होता है।[1] वस्तु के नाम, रूप, जाति आदि योजना से रहित ज्ञान **निर्विकल्पक** होता है, जो वस्तु के प्रथम ज्ञान के समय होता है। तदनन्तर उसके नाम, रूप, जाति, गुण आदि से युक्त ज्ञान को **सविकल्पक** कहा गया है।

प्रत्यक्षज्ञान विषयक यह प्रक्रिया सम्पूर्ण सांसारिक पदार्थों के सम्बन्ध में होती है। इसके विपरीत ब्रह्म–साक्षात्कार आदि के सम्बन्ध में इसमें आंशिक भिन्नता दृष्टिगोचर होती है। घटादि सांसारिक पदार्थों के अचेतन होने से इन्हें भासित करने का कार्य चिद्वृत्ति को करना पड़ता है, जबकि ब्रह्म के स्वयं चेतन तथा ज्योतिस्वरूप होने के कारण उसके साक्षात्कार में चिद्वृत्ति द्वारा ब्रह्मगत अज्ञान नष्ट कर दिए जाने पर ब्रह्मतत्त्व स्वयं ही प्रकाशित हो उठता है। इस प्रत्यक्ष में इन्द्रियों का विषय से सन्निकर्ष नहीं होता है।

इसप्रकार इन्द्रिय–सन्निकर्ष के आधार पर वेदान्तदर्शन में प्रत्यक्ष के दो भेद कहे जा सकते हैं– इन्द्रियजन तथा इन्द्रियाजन्य। सुखदुःख आदि का प्रत्यक्ष भी इन्द्रिय अजन्य ज्ञान (प्रत्यक्ष) की कोटि में आता है, क्योंकि सुख–दुःख आदि भी बाह्य सांसारिक पदार्थों के समान नहीं हैं, अपितु वे अन्तःकरण के धर्म हैं। अतः अन्तःकरण द्वारा ही उनका प्रत्यक्ष होता है। इस प्रसंग में यह भी उल्लेखनीय है कि वेदान्तदर्शन में बुद्धि एवं मन को इन्द्रिय की कोटि में नहीं रखा गया है। इसीकारण सुखदुःख का प्रत्यक्ष यहाँ **इन्द्रिय–अजन्य** कहा गया है।

(ख) **अनुमान–** वेदान्तशास्त्र की दृष्टि में दूसरा प्रमाण अनुमान है। अनेकशः अनुमिति भी प्रमा अर्थात् यथार्थ–अनुभव (ज्ञान) का कारण बनती है। अतः इसे प्रमाण की कोटि में रखा गया है। इसका मुख्यहेतु

---

[1] . तच्च प्रत्यक्षं द्विविधं, सविकल्पकनिर्विकल्पकभेदात्। वेदान्तसार

व्याप्तिज्ञान को स्वीकार किया गया है। किन्हीं दो पदार्थों को दैनिक जीवन में हमेशा एक साथ देखना तथा कभी भी विपरीत स्थिति के दर्शन न करना ही 'व्याप्ति' कहलाती है।

जिसप्रकार हम अपने दैनिक जीवन में हमेशा धूम और अग्नि के साहचर्य के दर्शन करते हैं अर्थात् जहाँ–जहाँ भी हमें धूम दिखायी देता है, वहाँ–वहाँ हमें अग्नि अवश्य दृष्टिगोचर होती है। हमें ऐसा कभी भी देखने को नहीं मिला कि धुआँ तो हो, किन्तु अग्नि वहाँ न मिली हो। इसप्रकार का व्यभिचार (नियम का वैपरीत्य) रहित दर्शन करने पर हमारे मन में यह बात दृढ़रूप से स्थापित हो जाती है कि **'यत्र–यत्र धूमः, तत्र तत्र वह्निः'**, दृढ़रूप में स्थापित यही सिद्धान्त या मान्यता, दर्शन की भाषा में **व्याप्ति** कहलाती है।

इसी व्याप्ति के सहयोग से जब हम एक या दो किलोमीटर की दूरी पर स्थित पर्वत में धुआँ उठता हुआ देखते हैं तो हम निःशंक होकर कह उठते हैं कि 'यह पर्वत अग्निवाला है।' यद्यपि उस अग्नि का हम प्रत्यक्ष नहीं कर रहे हैं अर्थात् वह हमें दिखायी नहीं दे रही है तथापि हमारे कथन में सत्यता है, क्योंकि यह प्रामाणिक है तथा इसे प्रमाणित करने वाला प्रमाण ही अनुमान प्रमाण है।

इस प्रसंग में यह भी उल्लेखनीय है कि न्यायदर्शन के समान वेदान्त अन्वय–व्यतिरेक व्याप्तियों को स्वीकार नहीं करता है। यहाँ केवल अन्वय व्याप्ति ही आवश्यक है, क्योंकि इनके मत में व्यतिरेक व्याप्ति अभाव को सिद्ध करती है, भाव को नहीं। अतः यहाँ उसकी व्यर्थता स्वतःसिद्ध है। अभाव को सिद्ध करने के लिए वेदान्तदर्शन 'अनुपलब्धि' नामक प्रमाण को अलग से मान्यता प्रदान करता है, जिसका हम आगे उल्लेख करेंगे।

इसलिए अनुमानप्रमाण में वेदान्ती न्यायदर्शन के समान पंचा–वयव वाक्यों का प्रयोग न करके केवल तीन अवयवों में ही व्याप्ति एवं पक्षधर्मता की सिद्धि स्वीकार करते हैं जैसे–

(क) यह पर्वत वह्नि वाला है (पर्वतोऽयं वह्निमान्) **प्रतिज्ञावाक्य**

(ख) क्योंकि यह धूमवान है (धूमवानोऽयम्) **हेतुवाक्य**

(ग) जहाँ जहाँ धूम होता है, वहाँ–वहाँ अग्नि होती है, जैसाकि रसोईघर (यत्र–यत्र धूमः तत्र तत्र वह्नि यथा महानसः) **उदाहरणवाक्य**।

इसप्रकार यहाँ तीन अवयव वाक्यों में ही पक्षधर्मता की सिद्धि हो जाती है। किसी व्यक्ति द्वारा स्वयं साधन–धूम एवं साध्य–अग्नि का साहचर्य देखकर व्याप्ति ग्रहण करके दूर पर्वतप्रदेश में उठते हुए अग्नि के लिंग (चिह्न) धूम को देखकर स्वयं ही वहाँ अग्नि की उपस्थिति का 'निश्चय' अनुमानप्रमाण द्वारा किया जाता है। अतः इसे **स्वार्थानुमान** की श्रेणी में रखा जाएगा।

इसके विपरीत यदि यही ज्ञान अज्ञानी व्यक्ति को किसी ज्ञानी व्यक्ति द्वारा कराया जाता है तो इसी प्रक्रिया से गुजरने पर वह **परार्थानुमान** की कोटि में माना जाएगा। परार्थानुमान में व्यक्ति स्वयं अनुमान नहीं करता, अपितु किसी अन्य को उसका ज्ञान कराने के लिए त्रि–अवयवी वाक्यों को उसीप्रकार ग्रहण करता है। इसी आधार पर अनुमान प्रमाण के दो भेद कहे गये हैं– स्वार्थानुमान एवं परार्था–नुमान। इसमे परार्थानुमान का प्रयोग वेदान्ती प्रायः ब्रह्मभिन्न सम्पूर्ण जगत् का मिथ्यात्व सिद्ध करने के लिए करते हैं।

(ग) **उपमान–** सादृश्य के आधार पर प्रमा के कारणरूप 'उपमान' को भी वेदान्तदर्शन स्वतन्त्र प्रमाण के रूप में मान्यता प्रदान करता है। उनकी उपमान विषयक यह परिकल्पना लगभग नैयायिकों के समान ही है। इस प्रक्रिया में हम पहले देखी गई किसी वस्तु की समानता के आधार पर अन्य वस्तु का प्रामाणिक ज्ञान प्राप्त करते हैं। इसप्रकार इस प्रमाण का मुख्य हेतु अथवा आधार सादृश्य है, जो हमें यथार्थज्ञान (प्रमा) कराता है।

वेदान्तदर्शन में भी न्यायदर्शन के समान ही इस प्रमाण को समझाने की दृष्टि से गो एवं गवय को उदाहरणरूप में लिया है। इस

प्रमाण को उदाहरण द्वारा इसप्रकार समझाया जा सकता है। किसी व्यक्ति का लड़का दूसरे शहर में जाने की तैयारी कर रहा है। उसके मार्ग में एक जंगल पड़ता है। व्यक्ति अपने लड़के को समझाते हुए कहता है कि–बेटा! जंगल में 'गवय' से सावधान रहना। लड़का पूछता है– बापू! गवय कैसा होता है? इस पर व्यक्ति जवाब देता है कि तुमने गाय देखी है? बस वैसा ही 'गवय' भी होता है, जो खतरनाक होता है, उससे बचकर रहना चाहिए।

पिता की बात सुनकर वह लड़का जंगल से गुजरता है और वह गाय के समान दिखायी देने वाले एक पशु को देखता है। उसे देखकर उसे अपने पिता द्वारा बतायी गई सभी बातें याद आती हैं और वह समझ जाता है कि यही 'गवय' है। इस यथार्थ ज्ञान के होने पर वह उसकी दृष्टि में बिना पड़े सावधानीपूर्वक निकल जाता है।

इसप्रकार **'गवय गाय के समान होता है'**, ऐसा ज्ञान प्राप्त किया हुआ, वह लड़का 'गवय' के दिखायी देने पर 'यह प्राणी ही गवय है', ऐसा निश्चय कर लेता है। अतः यथार्थ ज्ञान (प्रमा) कराने में यहाँ सादृश्य (उपमान) की महत्त्वपूर्ण भूमिका रही है। इसीकारण इसे उपमान प्रमाण कहा गया है। (तत्र सादृश्यप्रमाकरणमुपमानम्)

(घ) **आगम** (शब्द) – वेदान्तशास्त्र में आगम अर्थात् शब्दप्रमाण को भी मान्यता प्रदान की गई है। इतना ही नहीं, यह दर्शन निर्गुण, निराकार एवं शाश्वत सत्ता ब्रह्म का ज्ञान कराने में प्रत्यक्ष, अनुमान, उपमान आदि प्रमाणों की असमर्थता स्वीकार करते हुए एकमात्र आगम प्रमाण को ही सार्थक मानता है। वेदान्तदर्शन के अनुसार– ब्रह्म का ज्ञान कराने में एकमात्र आगम प्रमाण ही समर्थ प्रमाण है। अन्य किसी प्रमाण से इसके अस्तित्व की सिद्धि असम्भव है। तदनुसार– वेद एवं श्रुति वचनों को अपौरुषेय मानकर उन्हें शब्दप्रमाण के अन्तर्गत स्वीकार करना चाहिए।

यहाँ इन्होंने शब्द को पौरुषेय एवं अपौरुषेय दो श्रेणियों में रखा है। **पौरुषेय लौकिक** एवं **अपौरुषेय वैदिकवाक्य हैं**। वेदान्तदर्शन के आचार्यों ने अपनी बात को सिद्ध करने के लिए, इसकी पुष्टि एवं समर्थन के लिए हेतु के रूप में पद–पद पर श्रुतिवचनों को उद्धृत किया है, क्योंकि उनके मत में श्रुति (आगम) से प्रबल एवं उत्कृष्ट अन्य कोई प्रमाण नहीं है।

अतः वेदान्त की दृष्टि में वेद (श्रुति) का स्वतःप्रामाण्य सिद्ध होता है। इनके मत में सूर्य के प्रकाश के समान वेद स्वतःसिद्ध हैं, उन्हें प्रमाणित करने की आवश्यकता नहीं है। स्मृति, पुराण, इतिहास आदि भी वेदसम्मत होने से स्वतःप्रमाण की ही श्रेणी में आते हैं। वेदान्तदर्शन वेदमन्त्रों को विभिन्न ऋषियों द्वारा दर्शन किए हुए मानता है। उसके मत में, वेदमन्त्र किसी की रचना नहीं है। अतः इनके अपौरुषेय होने में संशय करना उचित नहीं है। शंकराचार्य के अनुसार वेद 'दीपक' के समान सत्य का प्रकाशन करने वाले हैं।

(ङ) **अर्थापत्ति**– यहाँ 'अंर्थापत्ति' को अलग से प्रमाणरूप में मान्यता प्रदान की गई है। वेदान्तदर्शन के अनुसार–कार्य को देखकर उसके कारण की परिकल्पना करना ही **'अर्थापत्ति'** कही गई है (अर्थस्य आपत्तिः अर्थापत्तिः) अथवा प्रत्यक्षरूप में कार्य–कारण में दिखायी देने वाले विरोध के परिहार के लिए कार्य के औचित्य की दृष्टि से अन्य कारण की परिकल्पना को ही 'अर्थापत्ति' माना गया है।

पीनो देवदत्तः दिवा न भुङ्क्ते (देवदत्त मोटा है, किन्तु दिन में भोजन नहीं करता है) इत्यादि वाक्य में देवदत्त का मोटापन भोजन के अभाव में सम्भव नहीं है। अतः प्रत्यक्षरूप से कार्य–कारण में विरोध प्रतीत होता है। इसके परिहार के लिए अर्थौचित्य की दृष्टि से अन्यकारण 'रात्रौ भुङ्क्ते' (यदि वह दिन में नहीं खाता तो रात्रि में अवश्य खाता होगा) इस अर्थ की परिकल्पना वेदान्तियों के मत में 'अर्थापत्तिप्रमाण' का विषय है।

उनके अनुसार व्यक्ति का रात्रि भोजन प्रत्यक्ष प्रमाण का विषय हो नहीं सकता, क्योंकि उसे भोजन करते हुए किसी ने प्रत्यक्षरूप से देखा ही नहीं है। साथ ही, इस व्यक्ति के अभाव में अनुमान प्रमाण का भी यह क्षेत्र नहीं होगा। इसीप्रकार शब्द (आगम) एवं उपमान. प्रमाण भी सादृश्य आदि के अभाव में सम्भव नहीं है। अतः इसके लिए अर्थापत्ति प्रमाण को मानना आवश्यक है।

अर्थापत्ति के दो भेद माने गए है– **दृष्टार्थापत्ति, श्रुतार्थापत्ति**[1] इनमें दृष्टार्थापत्ति के अन्तर्गत वस्तु या व्यक्ति को देखकर विरोध के परिहार के लिए स्वयं अन्य कारण की परिकल्पना की जाती है। **जैसे–** उक्त उदाहरण में प्रतिदिन देवदत्त के दिवाभोजन को न देखकर, उसके स्थूलत्व को देखते हुए व्यक्ति स्वयं ही उसके रात्रि भोजन रूप अर्थ की परिकल्पना कर लेता है। अतः यह दृष्टार्थापत्ति प्रमाण का विषय कहलाएगा।

इसके विपरीत इसी विषय को स्वयं न देखकर किसी अन्य व्यक्ति से देवदत्त का स्थूलत्व एवं दिवा भोजन का अभाव सुनकर उसके रात्रि भोजन की परिकल्पना **श्रुतार्थपत्ति** का विषय कहलाएगी। इसी को अन्य उदाहरण द्वारा भी इसप्रकार समझ सकते हैं। (जीवित) श्याम नामक व्यक्ति घर में नहीं है। अतः वह घर से बाहर होगा। उसका घर से बाहर होना रूप अर्थ श्रुतार्थपत्ति का विषय माना जाएगा।

(च) **अनुपलब्धि** (अभाव)– अभावरूप अर्थ की सिद्धि के लिए वेदान्तदर्शन 'अनुपलब्धि' नामक प्रमाण को मान्यता प्रदान करता है। संख्या की दृष्टि से इस दर्शन में यह छठा प्रमाण है। वेदान्तदर्शन किसी भी वस्तु अथवा व्यक्ति के अभाव को कारणजन्य न होने से प्रत्यक्ष आदि पूर्व में कहे गए पाँच प्रमाणों द्वारा ज्ञान कराने में असमर्थ

1. सा चार्थापत्तिर्द्विविधा–दृष्टार्थापत्तिः श्रुतार्थापत्तिश्चेति।

मानता है। उनके मत में घट का अभाव इन्द्रियसन्निकर्ष के अभाव में इसे अनुमान द्वारा भी ग्रहण नहीं किया जा सकता है। इसीप्रकार सादृश्यज्ञान न होने से घट के अभाव के ज्ञान को उपमान प्रमाण से भी स्वीकार नहीं कर सकते हैं। साथ ही, शब्दप्रमाण भी आप्तवाक्य के अभाव में 'वस्तु के अभाव' रूप ज्ञान को कराने में सक्षम नहीं है। अतः इसके लिए **'अनुपलब्धि'** रूप छठे प्रमाण को मान्यता प्रदान करना आवश्यक है।

इस प्रसंग में यह विशेषरूप से उल्लेखनीय है कि वेदान्त दर्शन घट आदि पदार्थों के अभाव के ज्ञान में अनुपलब्धि से अभिप्राय सामान्य अनुपलब्धि से नहीं, अपितु योग्य अनुपलब्धि से ग्रहण करता है। इनके मत में, अनुपलब्धि प्रमाण द्वारा इन्द्रिय आदि द्वारा प्रत्यक्ष करने योग्य घट–पट आदि के अभाव का ज्ञान ही सम्भव है, ऐसे पदार्थ जो इन्द्रियों की पहुँच से बाहर हैं, पाप–पुण्य, धर्म–अधर्म आदि के अभाव को इस प्रमाण द्वारा ग्रहण नहीं किया जा सकता है।

इनके मत में यह अनुपलब्धि अर्थात् अभाव चार प्रकार का होता है– (क) प्राग्–अभाव (ख) प्रध्वंस–अभाव (ग) अत्यन्त अभाव (क) (घ) अन्योन्य–अभाव। इन चारों प्रकार के अभावों को हम अनुपलब्धि प्रमाण से ही ग्रहण कर सकते हैं।

अतः स्पष्ट है कि किसी भी वस्तु की उत्पत्ति से पहले अपने कारण में स्थितिरूप अभाव का ज्ञान **'प्राग–अभाव'** है, जो अनुपलब्धि प्रमाण द्वारा ही ग्राह्य होगा। **जैसे–** घट के निर्माण से पूर्व वह अपने कारणरूप मृत्पिण्ड में विद्यमान रहता है, किन्तु दृश्यमान जगत् में उसका अभाव प्रतीत होता है। अतः इस अभाव को केवल अनुपलब्धि प्रमाण से ही ग्रहण कर सकते हैं।

इसीप्रकार किसी वस्तु के निर्माण के बाद कारणविशेष से विनष्ट होने के पश्चात् होने वाले अभाव को **'प्रध्वंस अभाव'** कहा जाएगा, जो अनुपलब्धि प्रमाण से ही ग्रहण किया जा सकता है। **जैसे–**

घट के बनने के बाद किसी व्यक्ति द्वारा उसे डण्डे से तोड़ देने के परिणाम स्वरूप होने वाला अभाव **प्रध्वंसाभाव** होगा।

इसके अतिरिक्त जो भूत–भविष्य और वर्तमान तीनों कालों में विद्यमान रहने वाला है, इसप्रकार के अभाव को **अत्यन्ताभाव** कहते हैं, जिसे हम अनुपलब्धिप्रमाण द्वारा ही ग्रहण कर सकते हैं। इस अभाव को वायु में रूप के अभावरूप उदाहरण द्वारा समझा जा सकता है, क्योंकि वायु में रूप (दिखायी देने) का गुण नहीं होता और यह अभाव तीनों कालों में रहने वाला है। अतः अत्यन्ताभाव की कोटि में आएगा।

चतुर्थ, अन्योन्याभाव एक वस्तु में दूसरी वस्तु के अभाव को कहते हैं। **जैसे–** घट में कभी भी पट विद्यमान नहीं रह सकता। अतः इसप्रकार के अभाव का ज्ञान प्राप्त करने के लिए 'अनुपलब्धि' नामक षष्ठ प्रमाण की आवश्यकता होगी, क्योंकि उक्त चारों प्रकार के अभावों के ज्ञान को हम प्रत्यक्षादि शेष पाँच प्रमाणों द्वारा ग्रहण नहीं कर सकते हैं।

(I) **कार्यकारणसिद्धान्त–** कार्यकारणसिद्धान्त भारतीयदर्शन शास्त्र का महत्त्वपूर्ण सिद्धान्त है। यही सिद्धान्त किसी भी दर्शन की सृष्टि–प्रक्रिया का मुख्य आधार है। चार्वाकदर्शन को छोड़कर प्रायः सभी दर्शनों ने इस विषय पर प्रत्यक्ष, अप्रत्यक्षरूप से विचार किया है। पुनरपि सांख्य एवं न्यायदर्शन में इस सिद्धान्त की विस्तार से चर्चा की गई है। कार्यकारण सिद्धान्त को लेकर प्रचलित मतों को मुख्य रूप से तीन श्रेणियों में विभाजित किया जा सकता है–

(क) **सत् से सत् की उत्पत्ति–** इसके अनुसार सत् पदार्थ (कारण) से ही सत् कार्य की उत्पत्ति हो सकती है। इसलिए उत्पत्ति से पहले कार्य अपने कारण में विद्यमान रहता है। इस मान्यता को सांख्य दर्शन ने विस्तारपूर्वक प्रस्थापित किया, जिसे सत्कार्यवाद के नाम से जाना जाता है।

(ख) **असत् से सत् की उत्पत्ति–** इसके अनुसार उत्पत्ति से पहले कार्य का अपने कारण में **प्राग्भाव** रहता है। अतः असत् कारण से सत् कार्य की उत्पत्ति होती है। इस मान्यता के अनुसार कारण विशेष से कार्यविशेष स्वभाववश उत्पन्न होता है। इसमें किसी अन्य हेतु की परिकल्पना उचित नहीं है। इस सिद्धान्त के मानने वालो में न्याय, वैशेषिक, जैन, बौद्ध तथा मीमांसादर्शन विशेषरूप से उल्लेखनीय हैं।

(ग) **सत् से असत् की उत्पत्ति**– इसके अनुसार सत् पदार्थ (कारण) से असत् (कार्य) की उत्पत्ति होती है। वेदान्तदर्शन ने इसी मान्यता को प्रस्थापित किया, क्योंकि यह दर्शन सत् ब्रह्म से असत् जगत् की उत्पत्ति को स्वीकार करता है। यही सिद्धान्त इसकी सृष्टि–प्रक्रिया का मुख्य आधार है। यहाँ किसी भी कार्य की उत्पत्ति के लिए मूल आधारभूत कारण उपादान है, **जैसे–** घड़े की उत्पत्ति के लिए मूल आधारभूत कारण उपादान है, मिट्टी। साथ ही, जिनके सहयोग से कार्य उत्पन्न होता है, वे निमित्तकारण कहलाते हैं, **जैसे–** कुम्हार, दण्ड, चक्र, चीवर आदि।

वेदान्तदर्शन ब्रह्म को दृश्यमान जगत् का उपादान और निमित्त दोनों कारण मानता है। ठीक उसीप्रकार **जैसे**– मकड़ी स्वयं द्वारा बनाए गए जाले के लिए उपादान और निमित्त दोनों कारण होती है, क्योंकि जाले के निर्माण में काम आने वाला मुख्य आधाररूप तरल पदार्थ मकड़ी के शरीर से निकलता है। इस दृष्टि से मकड़ी जाल की उपादान कारण हुई तथा अपने पैरों द्वारा जाले की संरचना करने के कारण यही मकड़ी निमित्त कारण भी बनी।

विद्वानों ने इसे **सत्कार्यवाद** का द्वितीयरूप **विवर्तवाद** नाम दिया, जिसकी स्थापना के लिए वेदान्तदर्शन मायावाद का आश्रय लेता है। इसका विस्तृत वर्णन हम सृष्टि–प्रक्रिया में आगे करेंगे। उनके मत में– जब वस्तु अपने स्वरूप का परित्याग किए बिना ही दूसरे रूप में

प्रतीत होने लगती है, तो यह **विवर्त** कहलाता है तथा इस सिद्धान्त को विवर्तवाद कहते हैं। इसका उदाहरण रज्जु में सर्प की भ्रान्ति के रूप में दिया जाता है, क्योंकि उस स्थिति में रस्सी अपने स्वरूप का परित्याग किए बिना ही सर्प के रूप में प्रतीत होने लगती है और यह प्रतीति वस्तुतः मिथ्या होती है।

ब्रह्म में दिखायी देने वाली 'जगत्' की प्रतीति को भी वेदान्त इसीप्रकार 'विवर्त' रूप में स्वीकार करता है। इसप्रकार निष्कर्षरूप में हम कह सकते हैं कि– 'वेदान्त यद्यपि सत्यकार्यवाद को स्वीकार करता है, क्योंकि यह सत्तत्त्व ब्रह्म से मिथ्या जगत् की उत्पत्ति को मानता है तथापि इसका सत्कार्यवाद सांख्य के सत्कार्यवाद से भिन्न है, क्योंकि सांख्य सत्कार्यवाद के परिणामवादी स्वरूप को मान्यता प्रदान करता है, **जैसे**– दूध से दही का बनना।

इस प्रसंग में यह ध्यातव्य है कि वेदान्तदर्शन ने दूध के परिवर्तितरूप दही को अयथार्थ माना है। उनके अनुसार हम इसे दही सम्बोधन तो करते हैं, किन्तु वास्तव में यह दूध ही है, मात्र अवस्था एवं कालभेद के कारण इसे नया नाम दिया गया है।

कुछ विद्वानों ने सांख्य के परिणामवाद को विवर्तवाद का पूर्व भूमि भी माना है। उनके मत में जिसप्रकार दूसरी मंजिल पर पहुँचने के लिए पूर्व मंजिल को पार करना पड़ता है। उसीप्रकार विवर्तवाद तक पहुँचने के लिए परिणामवाद की मंजिल तय करनी पड़ती है–

विवर्तभावस्य हि पूर्वभूमिः वेदान्तवादे परिणामवादः।
व्यवस्थितेऽस्मिन् परिणामवादे स्वयं समायाति विवर्तवादः।।[1]

(m) **समष्टि–व्यष्टि सिद्धान्त–** वेदान्तदर्शन एवं इसकी सृष्टि–प्रक्रिया को भलीभाँति समझने के लिए इसमें प्रतिपादित समष्टि–व्यष्टि के सिद्धान्त को भी समझना आवश्यक है, जिसका हम यहाँ संक्षेप में उल्लेख कर रहे हैं। इस दर्शन के अनुसार–एक का कथन करने की

1. सर्वज्ञात्ममुनि, संक्षेपशारीरक– 2/69।

विवक्षा में **व्यष्टि** तथा समूह का कथन करने की विवक्षा होने पर **समष्टि** अभिप्राय होता है। इसे उदाहरण द्वारा हम इसप्रकार समझ सकते हैं। जब हम किसी व्यक्ति विशेष के बारे में कुछ कहते हैं। **जैसे–** श्याम, तो यह व्यष्टि कहलाएगा, किन्तु जब हम लोगों के समूह को इंगित करते हैं। **जैसे–** लोग, तो यह समष्टि माना जाएगा। वेदान्त दर्शन में इन दोनों शब्दों का अनेकशः प्रयोग किया गया है। आचार्य सदानन्द ने वेदान्तसार में इन शब्दों की इसप्रकार व्याख्या की है–

'यथा वृक्षाणां समष्ट्यभिप्रायेण वनमित्येकत्वव्यपदेशो यथा जलानां समष्ट्यभिप्रायेण जलाशय इति तथा नानात्वेन प्रतिभासमानानां जीवगताज्ञानानां समष्ट्यभिप्रायेण तदेकत्व व्यपदेशः।'

अर्थात् जिसप्रकार वृक्षों को समुदाय की दृष्टि से 'वन' कहकर एक संख्यासूचक शब्द का व्यवहार करते हैं अथवा जिसप्रकार जल के कणों के समूह की विवक्षा में 'जलाशय' ऐसा कहते हैं। ठीक उसी प्रकार अनेक संख्या में प्रतीत होने वाले जीवों में स्थित अज्ञान के समूह को **समष्टि** कहा जाता है। यह वस्तुतः इस सब में ऐक्य का सूचक है।

अन्तर केवल इतना है कि व्यष्टि की अपेक्षा यहाँ समष्टि को उत्कृष्ट अथवा उन्नत उपाधि वाली कहा है, क्योंकि समष्टि रागादिदोष से शून्य शुद्धसत्त्वप्रधान होती है।[1] इसीलिए यहाँ व्यष्टिगत अज्ञान की अपेक्षा समष्टिगत अज्ञान को उत्कृष्ट बताया गया है, क्योंकि इसमें विशुद्धसत्त्वगुण की प्रधानता रहती है। वस्तुतः यहाँ अज्ञान में स्थित सत्त्वगुण, रजस् एवं तमस् को अभिभूत किए रहता है, स्वयं पराभूत नहीं होता है।

इसीलिए उत्कृष्ट उपाधि से युक्त चैतन्य को सर्वज्ञाता, सबका ईश्वर, सर्वनियन्ता, अव्यक्त, अन्तर्यामी तथा संसार का कारणरूप कहा गया है। सबका मूलभूत कारण होने से ईश्वर की यह समष्टि कारण

---

[1]. इयं समष्टिरुत्कृष्टोपाधितया विशुद्धसत्त्वप्रधाना। वेदान्तसार

शरीर, आनन्द की प्रचुरता होने के कारण आनन्दमयकोष तथा स्थूल एवं सूक्ष्मजगत् प्रपंच का लयस्थान होने के कारण सुषुप्ति कहलाती है।

इसीप्रकार किसी वन के वृक्षों को यदि हम अलग-अलग कहना चाहें तो **वृक्ष** कहा जाएगा। साथ ही, जलाशय में स्थित जल को अलग-अलग कहने की दृष्टि से 'अनेक जल' ऐसा प्रयोग करेंगे। ठीक उसीप्रकार अज्ञान को व्यष्टिरूप में कहने की इच्छा से 'अनेक अज्ञान' कहकर उसमें बहुत्व का व्यवहार करेंगे। अतः सिद्ध होता है कि व्यक्तिगत तथा समुदायगत व्यापकभाव के कारण ही अनेकता (व्यष्टि) तथा एकता (समष्टि) का व्यवहार किया जाता है। अज्ञान की यह व्यष्टि, समष्टि की अपेक्षा निकृष्ट उपाधि से युक्त होने के कारण मलिन सत्त्वप्रधान मानी गयी है।

साथ ही, इस निकृष्ट उपाधि से आवृत चैतन्य में अल्पज्ञता, अनीश्वरत्व आदि गुण होने के कारण तथा एक ही अज्ञान को प्रकाशित करने वाला होने से इसे **'प्राज्ञ'** कहा गया है। इस दृष्टि से ईश्वर और प्राज्ञ (जीव) में केवल समष्टि एवं व्यष्टिगत भेद है, तात्त्विक दृष्टि से दोनों एक ही हैं, क्योंकि चैतन्य दोनों में विद्यमान है।

अज्ञान की निकृष्ट उपाधि से युक्त 'जीव' की यह उपाधि, अहंकार आदि का कारण होने से 'कारणशरीर' आनन्द का प्राचुर्य तथा शुद्ध चैतन्य को कोष के समान ढक लेने से 'आनन्दमयकोष' एवं स्थूल सूक्ष्म प्रपंच का लयस्थान होने के कारण 'सुषुप्ति' कहलाती है।

वेदान्त की दृष्टि में सृष्टि-विकास की तीन दशाओं में आत्मा और जगत् के भिन्न-भिन्न रूप होते हैं, जिन्हें तीन अवस्था (सुषुप्ति, स्वप्न, जाग्रत) तीन शरीर (कारण, सूक्ष्म एवं स्थूल) तथा प्रपंच कोषों के (आनन्दमय, विज्ञानमय, मनोमय, प्राणमय, अन्नमय) नामों से व्यवहृत किया जाता है। इन सभी स्थितियों में समष्टि-व्यष्टिगत भेद से चैतन्य को अलग-अलग नामों से कहा जाता है। इसका मुख्य कारण भिन्न-

भिन्न स्थितियों में अलग–अलग शरीर के प्रति चैतन्य का अहं
रहता है।

जैसे– समष्टि में कारण शरीर के प्रति चैतन्य को अहंभाव कारण इसे **ईश्वर,** इसी स्थिति में सूक्ष्मशरीर के प्रति उसके अहंभाव कारण इसे **हिरण्यगर्भ** तथा स्थूलशरीर के प्रति विद्यमान अहंभाव कारण इसे **वैश्वानर** या विराट् इस नाम से जाना जाता है।

इसके विपरीत व्यष्टि दशा में **कारणशरीर** के प्रति चैतन्य के अहंभाव के कारण इसे 'प्राज्ञ', **सूक्ष्मशरीर** के प्रति उसके अहंभाव के कारण इसे **'तैजस्'** तथा **स्थूलशरीर** के प्रति अहंकार के कारण इसे 'विश्व' कहा जाता है। इस सम्पूर्ण भिन्नता का मूल आधार समष्टि एवं व्यष्टिगत भेद ही है, जो मात्र समुदाय एवं व्यैक्तिक दृष्टि है। तात्त्विक दृष्टि से इसमें कोई अन्तर नहीं है।

(n) **सत्ता के त्रिविधरूप–** वेदान्तदर्शन तीनप्रकार की सत्ता को मान्यता प्रदान करताहै– (क) प्रातिभासिक (ख) व्यावहारिक (ग) पारमार्थिक सत्ता। ये तीनों वेदान्त की सृष्टि–प्रक्रिया को समझने में सहायक हैं। अतः हम यहाँ इनका संक्षिप्त परिचय प्रस्तुत कर रहे हैं–

(क) **प्रातिभासिक सत्ता–** उसे कहते हैं जो प्रतीति के समय तो सत्य लगती है, किन्तु कुछ समय के बाद किसी अन्य ज्ञान द्वारा बाधित हो जाती है। **जैसे–** रस्सी में साँप की प्रतीति। अनेकबार मार्ग में पड़ी हुई रस्सी को हम अन्धकार आदि के कारण सर्प समझ लेते हैं, किन्तु अगले ही क्षण प्रकाश आदि होने से हमें रस्सी की यथार्थसत्ता का ज्ञान होता है। अतः अन्धकार आदि के कारण भ्रान्तिवश रस्सी में जो सर्पज्ञान था, वह यथार्थस्थिति (रज्जु) का ज्ञान होने पर बाधित हो जाता है। इसलिए किसी पदार्थ में अन्य पदार्थ की काल्पनिक सत्ता बाधित होने से पूर्व, जितने समय तक विद्यमान रहती है। उसे वेदान्तदर्शन ने प्रातिभासिकसत्ता कहा है। यह प्रतीति वस्तुतः अज्ञानादि के कारण कल्पित होती है, जो उत्तरकाल में यथार्थज्ञान के साथ

समाप्त हो जाती है। वेदान्त की दृष्टि में सीपी में चाँदी की प्रतीति भी वस्तुतः ऐसी ही 'प्रातिभासिक सत्ता' है, जो यथार्थज्ञान के साथ स्वतः समाप्त हो जाती है।

(ख) **व्यावहारिक सत्ता**– इसके अन्तर्गत इसप्रकार के विषय आते हैं, जो व्यवहार के समय 'सत्' प्रतीत होते हैं। प्रत्यक्षरूप से देखने पर उनकी सत्ता को नकारा नहीं जा सकता, किन्तु ब्रह्मज्ञान की स्थिति में इसका बाध हो जाता है। शंकराचार्य के अनुसार– यह जगत् एकान्ततः सत्य न होकर केवल व्यवहारकाल में सत्य होता है।[1] अतः इसे व्यावहारिक सत्ता वाला कहा जाएगा। संसार के घट–घट आदि सभी पदार्थ दूसरे शब्दों में, सम्पूर्ण जगत् इसका उदाहरण है। प्रातिभासिक सत्ता की अपेक्षा इसका अस्तित्व अधिक लम्बे समय तक बना रहता है। अतः अधिक स्थायी है, किन्तु इसे पूर्णतया सत्य नहीं कहा जा सकता। ब्रह्मज्ञान होने पर सम्पूर्ण संसार एवं उसमें स्थित सभी पदार्थों का मिथ्यात्व स्वतःसिद्ध हो जाता है।

(ग) **पारमार्थिक सत्ता**– वेदान्तदर्शन के अनुसार यह पूर्णतया सत्य और शाश्वत है। भूत, भविष्य एवं वर्तमान तीनों कालों में इसका अस्तित्व विद्यमान रहता है। यह भौतिक पदार्थों की सत्ता से विलक्षण है। संसार के घट–पट आदि पदार्थ आज हैं, कल नहीं रहेंगे, अतः अनित्य हैं। इसीलिए उनकी सत्ता व्यावहारिक कही गई है, पारमार्थिक नहीं। इसके विपरीत वेदान्त का ब्रह्म तीनों कालों में अवस्थित रहता है। उसमें किसी भी समय किसी भी प्रकार का विकार परिलक्षित नहीं होता। इसीकारण वह अविकारी है। अतः एकमात्र ब्रह्म की ही पारमार्थिक सत्ता बतायी गयी है।

(0) **'जीव' की अवस्थाएँ**– वेदान्तदर्शन के प्रसिद्ध आचार्य गौड पाद ने 'जीव' की चार अवस्थाओं को मान्यता प्रदान की है– जाग्रत, स्वप्न, सुषुप्ति, तुरीय। इनमें चतुर्थ, तुरीय अवस्था के सम्बन्ध में विद्वानों

---

1. ब्रह्मसूत्रशांकरभाष्य–2/1/14 ।

में मतभेद है। उनके मत में, इस अवस्था में तो 'जीव' शुद्धचैतन्य स्वरूप ही हो जाता है। इसलिए इसे 'जीव' की अवस्था न मानकर ब्रह्म की अवस्था कहना चाहिए। पुनरपि व्यावहारिक 'जीव' की जाग्रत, स्वप्न एवं सुषुप्ति ये तीन अवस्थाएँ तो निर्विवादरूप में स्वीकार्य हैं। अतः हम इनका यहाँ विस्तार से उल्लेख कर रहे हैं–

(क) **जाग्रत अवस्था–** इस अवस्था में 'जीव' अपने मन एवं इन्द्रियों के माध्यम से बाह्य सांसारिक पदार्थों का ज्ञान प्राप्त करता है। इसमें स्थूल शरीर, इन्द्रियाँ, मन एवं बुद्धि सभी सचेष्ट रहते हैं। इनके द्वारा 'जीव' बाह्य पदार्थों का ज्ञान प्राप्त करता है तथा उनका उपभोग भी करता है। इस अवस्था में 'जीव' अन्नमयकोष में आबद्ध रहता है। आचार्य सुरेश्वर इस अवस्था का विवरण इसप्रकार प्रस्तुत करते हैं–

बाह्यान्तः करणैरेव देवतानुग्रहान्वितैः।
स्वं स्वं च विषयज्ञानं तज्जागरितमुच्यते।।[1]

अर्थात् इस अवस्था में ज्ञानेन्द्रियाँ, कर्मेन्द्रियाँ तथा अन्तःकरण अपने–अपने अधिष्ठाता देवता से युक्त होकर अपने–अपने विषय को ग्रहण करते हैं। 'जीव' का व्यवहार मुख्यरूप से बाह्य सांसारिक पदार्थों के साथ रहता है। उनका ज्ञान प्राप्त करके उनके उपभोगादि में ही 'जीव' की रुचि रहती है।

(ख) **स्वप्नावस्था–** इस अवस्था में 'जीव' की इन्द्रियाँ एवं शरीर दोनों विश्राम करते हैं, किन्तु उसका मन क्रियाशील रहता है। जाग्रत अवस्था में मन पर पड़े हुए संस्कारों को लेकर वह काल्पनिक जगत् की संरचना करता है। इसमें 'जीव' विज्ञानमय, मनोमय एवं प्राणमय कोशों से आबद्ध होता है तथा उसका सम्बन्ध सूक्ष्मशरीर के साथ रहता है। मन की वासना के अनुरूप कार्य करने के कारण इसे **अन्तःप्रज्ञ** भी कहते हैं। सूक्ष्मविषयों का उपभोग करने से इसको **'प्रविक्तिभुक्'** भी कहा जाता है।

---

[1] पंचीकरण वार्तिक– 29 ।

आचार्य शंकर के अनुसार– जाग्रत अवस्था में इन्द्रिय, मन और बुद्धि बाह्य एवं अन्तःआलोक से आलोकित रहती हैं, जबकि स्वप्नावस्था में इन्द्रियाँ विश्राम करती हैं। सूर्य के प्रकाश का अभाव हो जाता है। उस समय एकमात्र विशुद्ध आत्मज्योतिः विद्यमान रहती है। जाग्रत अवस्था के साथ इस अवस्था का एक अन्तर यह भी है कि वहाँ बाह्य सांसारिक पदार्थ वास्तव में विद्यमान रहते हैं, जबकि इस अवस्था में वे सभी पदार्थ काल्पनिक होते हैं।

(ग) **सुषुप्ति अवस्था**– इस अवस्था में 'जीव' का सम्पर्क न तो बाह्य सांसारिक पदार्थों से होता है और न ही वह स्वप्निल संसार में विचरण करता है, अपितु इसमें वह आनन्द का भोक्ता बनकर चेतोमुख रहता है। जाग्रत एवं स्वप्नावस्था में वह सुख–दुःख दोनों का अनुभव करता है, जबकि इस अवस्था में आनन्द का ही प्राचुर्य रहता है। इस सम्बन्ध में उपनिषद्कार का कथन है–

सुषुप्तिकाले सकले विलीने तमोभिभूतः सुखरूपमेति।[1]

इस अवस्था में स्थूलशरीर (ज्ञानेन्द्रियाँ, कर्मेन्द्रियाँ, मन एवं बुद्धि आदि कुछ भी कार्य नहीं करते हैं। साथ ही, प्रमाण एवं प्रमेय का व्यवहार भी समाप्त हो जाता है। इसमें बुद्धि अविद्या में इसप्रकार स्थित रहती है। **जैसे–** वटवृक्ष के बीज में वृक्ष। आनन्दमयकोष में आबद्ध यह अवस्था वस्तुतः मोक्ष से पूर्व की अवस्था कही जा सकती है–

ज्ञानेनानुपसंहारो बुद्धेः कारणतास्थितिः।
वटबीजे वटस्यैव सुषुप्तिरभिधीयते।। (पंचीकरणवार्तिक,42)

(घ) **तुरीयावस्था–** इस अवस्था में सब प्रकार के प्रपंचों की पूर्णतया शान्ति हो जाती है। यह नित्य, शुद्ध, चैतन्य ब्रह्म की निर्लिप्त अवस्था है। इसमें वह शान्त, शिव एवं अद्वैतरूप में विद्यमान रहता है। यहाँ उसे न स्वप्न आते हैं, और न निद्रा, अपितु विपरीत ज्ञानों का क्षय होने के कारण जीवात्मा **तुरीयपद** को प्राप्त कर लेता है। इस अवस्था

---

1 कैवल्योपनिषद्–13 ।

में 'जीव' की सभी वासनाएँ विनष्ट हो जाती हैं। सभी प्रकार के कोषों से मुक्त वह **ब्रह्म** हो जाता है।

(p) **सृष्टि–प्रक्रिया–** वेदान्तदर्शन सम्पूर्ण सृष्टि का एकमात्र कारण सच्चिदानन्दस्वरूप, अवाङ्मनसगोचर अखिलाधार परमब्रह्म को स्वीकार करता है। उसके अनुसार ब्रह्म इस जगत् का उपादानकारण भी है और निमित्तकारण भी। अपने इस कथन को समझाने के लिए वह मकड़ी का उदाहरण प्रस्तुत करता है, जिसप्रकार एक मकड़ी (लूता) अपने शरीर के चेतन अंश के प्राधान्य के कारण जाले का उपादान कारण कहलाती है, ठीक उसीप्रकार वही मकड़ी अपने शरीर की प्रधानता के कारण जाले का निमित्तकारण भी बनती है।

वैसे ही अपनी अत्यन्त शक्तिसम्पन्न,स्वाभाविक एवं अनिर्वचनीय आवरण व विक्षेप शक्ति सम्पन्न माया से युक्त ब्रह्म एक से अधिक होने का संकल्प करता है। **'एकोऽहं बहुस्याम'** इत्यादि श्रुति इस तथ्य में प्रमाणरूप से प्रस्तुत की जा सकती है। ब्रह्म के इस संकल्प के साथ ही वेदान्त की सृष्टि–प्रक्रिया प्रारम्भ हो जाती है। वेदान्त के अनुसार– व्यक्ति की श्वासोच्छ्वास प्रक्रिया के समान सम्पूर्ण सृष्टि प्रक्रिया भी अत्यन्त स्वाभाविक है, जो स्वतः उसीप्रकार होती है, जिस प्रकार किसी पुरुष के शरीर से केश, लोम आदि उत्पन्न होते हैं।

इस दर्शन की मान्यता के अनुसार– सृष्टि का क्रमिकविकास होता है, जिसे **सूक्ष्मतम** (कारणावस्था), **सूक्ष्म** तथा **स्थूल** तीन श्रेणियों में विभाजित किया जा सकता है। सृष्टि के संकल्प से युक्त ब्रह्म, जब अपनी शक्ति शुद्धसत्त्वप्रधान माया (अज्ञान) से आच्छादित होता है, तो वह 'ईश्वर' संज्ञा प्राप्त करता है। यह ईश्वर ही वस्तुतः सृष्टि का मुख्य कारण होने से **'कारणशरीर'** कहलाता है। आनन्द की प्रचुरता के कारण वही **'आनन्दमय कोष'** भी है। इसके विपरीत मलिनसत्त्वप्रधान अज्ञान से आच्छन्न ब्रह्म की **'जीव'** संज्ञा वाला होता है। यहाँ 'जीव' व्यष्टिरूप तथा ईश्वरसमष्टिरूप कहा गया है। समष्टि–व्यष्टि के अतिरिक्त इन दोनों में यहाँ मूलतः कोई विशेषभेद नहीं माना गया है।

ईश्वरसंज्ञक कारणशरीर से सर्वप्रथम सूक्ष्म आकाश उत्पन्न होता है, जो अनन्त, सूक्ष्म, लघु तथा सर्वव्यापक माना गया है। इसी क्रम में आकाश से वायु, वायु से अग्नि, अग्नि से जल तथा जल से पृथ्वी की उत्पत्ति मानी गयी है। वेदान्त में माया अथवा अज्ञान को सत्त्व, रजस्, तमस् तीनों गुणों की **सम–अवस्था** माना गया है। अतः इसके प्रभाव से उत्पन्न आकाशादि सृष्टि में इन तीनों गुणों की स्थिति की विद्यमानता को स्वीकार किया गया है। आकाशादि में जड़ता उनमें तमोगुण की प्रधानता को सिद्ध करती है। वेदान्त के अनुसार– कारण शरीर से उत्पन्न आकाशादि सूक्ष्मभूत तन्मात्र या अपंचीकृत भूत कहलाते हैं।

यह दर्शन पंचीकरण प्रक्रिया द्वारा इन पाँचों सूक्ष्म तन्मात्राओं से महाभूतों की उत्पत्ति स्वीकार करता है। इसके अनुसार आकाश में शब्द, वायु में स्पर्श, अग्नि में रूप, जल में रस तथा पृथिवी में गन्ध नामक गुण विद्यमान रहते हैं, किन्तु पंचीकृतभूतों में इनकी स्थिति इसप्रकार रहती है– आकाश में शब्द, वायु में शब्द एवं स्पर्श, अग्नि में शब्द, स्पर्श एवं रूप, जल में शब्द, स्पर्श, रूप एवं रस तथा पृथिवी में शब्द, स्पर्श, रूप, रस एवं गन्ध।

वेदान्त में स्थूल सृष्टि का चरमविकास क्रमशः ब्रह्माण्ड(चौदह भुवन) भूः, भुवः, स्वः, महः, जनः, तपः, सत्यम् इत्यादि सात ऊर्ध्वलोक तथा अतल, वितल, सुतल, तलातल, रसातल, महातल और पाताल आदि सप्त अधःलोकों के रूप में होता है। साथ ही, इन्हीं पंचीकृत महाभूतों से ही समस्त सांसारिक भोग्य पदार्थों एवं चार प्रकार के स्थूल शरीरों की सृष्टि होती है। इसी को स्थूलसृष्टि का चरम विकास कहा जा सकता है।

इसके अतिरिक्त अपंचीकृत आकाशादि सूक्ष्मभूतों से यह दर्शन सत्रह अवयवों वाले सूक्ष्मशरीर को उत्पत्ति को भी स्वीकार करता है। जिनमें आकाशादि पंचतन्मात्राओं के सात्त्विक अंशों से क्रमशः श्रोत्र, त्वक्, चक्षु, रसना और घ्राण और इन पाँचों ज्ञानेन्द्रियों की उत्पत्ति

होती है। ये सभी सूक्ष्म इन्द्रियाँ क्रमशः अपने–अपने विषय शब्द, स्पर्श, रूप, रस और गन्ध को ग्रहण करती हैं।

इसीप्रकार आकाशादि सूक्ष्मभूतों के रजोंऽशों से क्रमशः वाक्, पाणि, पाद, पायु और उपस्थ ये पाँच कर्मेन्द्रियाँ उत्पन्न होती हैं, जो क्रमशः वाणी, आदान–प्रदान, गमन, मलोत्सर्जन तथा सन्तति उत्पन्न करना आदि कार्यों को सम्पादित करती हैं।

ठीक इसीप्रकार आकाशादि पंचतन्मात्राओं के सम्मिलित रजों–ऽशों से प्राण, अपान, व्यान, समान और उदान इन पंचवायुओं की उत्पत्ति होती है, जो वस्तुतः स्थूलशरीर की शक्ति हैं तथा अणुरूप में शरीर के विभिन्न अंगों में व्याप्त हैं। साथ ही, आकाशादि पंचतन्मात्राओं के सम्मिलित सात्त्विक अंशों से निश्चयात्मिका बुद्धि तथा संकल्प विकल्पात्मक मन का उद्भव माना गया है।

पंचज्ञानेन्द्रियाँ, पंचकर्मेन्द्रियाँ, पंचप्राण और मन ये सत्रह अवयव ही सूक्ष्मशरीर का निर्माण करते हैं। इस सूक्ष्मशरीर में विज्ञानमय, मनोमय तथा प्राणमय तीन कोष होते हैं। इनमें पंच ज्ञानेन्द्रियाँ और बुद्धिरूप विज्ञानमय कोष से आवृत्त हुआ चैतन्य ही समस्त व्यावहारिक कार्यों को सम्पांदित करता है। मन से युक्त पंचज्ञानेन्द्रियों से निर्मित मनोमयकोष 'जीव' की इच्छाशक्ति का प्रतीक है। पंचप्राण एवं पंच कर्मेन्द्रियों से युक्त प्राणमयकोष में क्रियाशीलता की प्रधानता रहती है। इसप्रकार ये तीनों कोष स्थूलशरीर के माध्यम से विभिन्न कार्यों को सम्पन्न करते हैं।

जैसा कि हम पूर्व में ही उल्लेख कर चुके हैं, सृष्टि–प्रक्रिया में सृष्टि का चरमविकास स्थूलशरीर है, जिसका निर्माण पंचीकृत महाभूतों आकाश, वायु, अग्नि, जल और पृथिवी द्वारा होता है। इस स्थूलशरीर के चार प्रकार होते हैं– जरायुज (मनुष्य, पशु आदि) अण्डज (पक्षी, सर्पादि) स्वदेज (जूँ, मच्छर आदि) तथा उद्भिज्ज, लता–वृक्षादि।

वेदान्त के अनुसार– सृष्टि का अभिप्राय किसी नये पदार्थ का उत्पन्न होना नहीं है, अपितु यह तो मात्र अव्यक्त की स्थिति से व्यक्त दशा को प्राप्त करना है। ब्रह्म की आवरण और विक्षेप नामक दो

शक्तियों द्वारा सम्पूर्ण सृष्टि-प्रक्रिया सम्पादित की जाती है। इनमें आवरण शक्ति ब्रह्म के यथार्थरूप को ठीक वैसे ही आच्छादित कर देती है **जैसे,** सामने पड़ी हुई रस्सी अन्धकारादि के कारण रस्सी प्रतीत नहीं होती। साथ ही, दूसरी विक्षेप शक्ति उस आच्छादित वस्तु ब्रह्म में नवीन वस्तु संसार की, ठीक उसीप्रकार उद्भावना करती है **जैसे-** रस्सी में सर्प की प्रतीति।

माया नामक शक्ति के कारण एक ही ब्रह्म में अनेक रूपात्मक जगत् की प्रतीति कैसे हो सकती है? इसके उत्तर में आचार्यों द्वारा यह दृष्टान्त दिया गया है। ठीक उसीप्रकार **जैसे,** तिमिररोग के कारण द्रष्टा को एक ही चन्द्रमा अनेकरूपों वाला दिखायी देता है, वैसे ही अविद्या माया के कारण कल्पित नामरूपादि के रूप में ब्रह्म के विभिन्न परिणाम दिखायी देते हैं।

(9) **अध्यारोप अपवाद-** ये दोनों वेदान्तदर्शन के अत्यन्त महत्त्वपूर्ण सिद्धान्त हैं, क्योंकि यहाँ परमब्रह्म एवं जगत् पर विचार करने के ये ही मुख्य आधार हैं। अतः इस प्रसंग में इनकी विवेचना परम आवश्यक है। अध्यारोप एवं अपवाद वस्तुतः ऐसे सिद्धान्त हैं, जिनके द्वारा प्रत्यक्ष से अप्रत्यक्ष का, ज्ञात से अज्ञात का, मूर्त से अमूर्त का बोध होता है।

इसमें प्रथम अध्यारोप द्वारा वस्तु में अवस्तु का आरोप किया जाता है, **जैसे-** रज्जु में सर्प का आरोप। यह आरोप वस्तुतः मिथ्याज्ञान है, जिसका बाद में **'अपवाद'** विधि द्वारा निराकरण कर दिया जाता है। ऐसा करने में वस्तु के वास्तविकरूप का ज्ञान हो जाता है। सम्पूर्ण वेदान्तदर्शन इन्हीं दो सिद्धान्तों पर टिका हुआ है। आचार्य सदानन्द ने वेदान्तसार में अध्यारोप की व्याख्या इसप्रकार की है-

'असर्पभूतायां रज्जौ सर्पारोपवद् वस्तुन्यवस्त्वारोपोऽध्यारोपः। वस्तु सच्चिदानन्दानन्तद्वयं ब्रह्म अज्ञानादिसकलजडसमूहोऽवस्तु

अर्थात् वस्तु में अवस्तु का आरोप ही अध्यारोप है तथा एक मात्र सच्चिदानन्दस्वरूप ब्रह्म ही वस्तुतः वस्तु है। इसके अतिरिक्त

अज्ञानादि सम्पूर्ण जड़समूह,जिसके कारण इस मिथ्या जगत् की प्रतीति होती है, अवस्तु है। कुछ आचार्यों ने इसी को **'अध्यास'** संज्ञा भी प्रदान की है।

वेदान्त अध्यारोप (अध्यास) का मूल कारण अज्ञान को मानता है। इसके प्रभाव से देखने वाला व्यक्ति वस्तु के वास्तविक स्वरूप को जानने में असमर्थ रहता है तथा वस्तु में अवस्तु की परिकल्पना करके भ्रमित रहता है इस विषय में आचार्य शंकर का मत है–

अतस्मिंस्तदबुद्धिः प्रभवति विमूढस्य तमसा।
विवेकाभावादवै स्फुरति भुजगे रज्जुधिषणा।।[1]

संक्षेप में अज्ञान के कारण मूढ़पुरुष किसी वस्तु में किसी अन्य वस्तु की परिकल्पना कर लेता है। **जैसे**, विवेक के अभाव में रज्जु को सर्प समझ लेना। इसी को यहाँ अध्यारोप या अध्यास कहा गया है। जिसप्रकार अनेक बार बादलों में सूर्य घिरा होने पर हमें वह दिखायी नहीं पड़ता है, ठीक वैसे ही माया अज्ञान से आवृत्त हुए ब्रह्म का हमें प्रत्यक्ष नहीं होता है, अपितु उसके स्थान पर हमें माया की विक्षेप नामक शक्ति से दृश्यमान मिथ्या जगत् की प्रतीति होती है। इसप्रकार अध्यारोप के कारण 'जीव' वस्तु के वास्तविकरूप को जानने में असमर्थ रहता है और वह सत् को असत् मान बैठता है, यही मिथ्याज्ञान उसके सांसारिक बन्धन का कारण बनता है।

बन्धन के कारण इस मिथ्याज्ञान को विनष्ट करने के लिए वेदान्तदर्शन में सद्गुरु की आवश्यकता प्रतिपादित की गई है, जो अधिकारी शिष्य को 'अपवाद' पद्धति से उपदेश प्रदान करता है, जिससे शिष्य को वास्तविकता का ज्ञान हो जाता है और वह ब्रह्म को ही एकमात्र वास्तविक सत्ता मान लेता है तथा सम्पूर्ण जगत् का मिथ्यात्व भी उसे हस्तामलकवत् प्रतीत होने लगता है।

उसकी यह कल्पना रज्जु में की गई सर्प की भ्रान्ति के पश्चात् प्रकाश से होने वाली सर्पत्व की प्रतीति की समाप्ति के समान

---

[1] विवेकचूड़ामणि–140 ।

कही जा सकती है। जहाँ उसे रज्जु, रज्जुरूप में ही प्रतीति होती है। इसीप्रकार विवेक द्वारा ब्रह्म में मिथ्याप्रपंच सम्बन्धी अध्यारोप की निवृत्ति होने पर एकमात्र ब्रह्म की सत्ता ही रह जाती है। इसी प्रक्रिया को वेदान्त **'अपवाद'** कहता है। आचार्य सदानन्द वेदान्तसार में इसका इसप्रकार उल्लेख करते हैं–

'अपवादो नाम रज्जुविवर्तस्य सर्पस्य रज्जुमात्रत्वाद् वस्तुविवर्तस्यावस्तुनोऽज्ञानादेः प्रपंचस्य वस्तुमात्रत्वम्।'

(r) **सविकल्पक एवं निर्विकल्पक समाधि–** मुक्ति की दिशा में 'जीव' के लिए समाधि की उपयोगिता एवं महत्त्व को प्रायः सभी दर्शनों ने स्वीकार किया है। वेदान्तदर्शन ने भी इसका उल्लेख किया है। तदनुसार– ध्यान की उत्कृष्ट अवस्था को समाधि कहते हैं। इसके आठ अंग होते हैं– यम, नियम, आसन, प्राणायाम, प्रत्याहार, धारणा, ध्यान और समाधि। इनमें से समाधि साधक की उत्कृष्ट अवस्था मानी गई है और इसे सविकल्पक, निर्विकल्पक मुख्यरूप से दो भागों में विभाजित किया गया है।

सविकल्पक समाधि में ज्ञाता, ज्ञान और ज्ञेय इन तीनों की स्वतन्त्र स्थिति का ज्ञान बना रहता है। इस अवस्था में साधक को अपने अस्तित्व का भान रहता है। साथ ही, उसे अद्वैतवस्तु ब्रह्म की भी प्रतीति होती रहती है तथा उस ज्ञान का भी वह दर्शन अथवा अनुभूति करता है, जिसके कारण उसे ब्रह्मतत्त्व की प्रतीति हुई है। उसकी इस स्थिति को एक उदाहरण द्वारा भलीप्रकार समझा जा सकता है–

जिसप्रकार मिट्टी का हाथी देखने वाले को हाथी की प्रतीति होने पर भी उसके मिथ्या होने का बोध रहता है, सत्यता वहाँ मिट्टी की ही होती है। ठीक उसीप्रकार सर्वव्यापक, अक्षर, मायातीत परमब्रह्म रूप चित्तवृत्ति से आकारित ज्ञाता, ज्ञान एवं ज्ञेय की प्रतीति होने पर भी वह उसे असत्य मानता है, सत्यता केवल परमब्रह्म की ही स्वीकार

करता है। इसी मनःस्थिति किंवा अनुभूति को दर्शन की भाषा में **'सविकल्पक समाधि'** कहा गया है।[1]

निरन्तर ध्यान करने के परिणामस्वरूप जब साधक को ज्ञाता, ज्ञान आदि विकल्पों का भान नहीं रहता है तथा उसकी चित्तवृत्ति एकमात्र अद्वितीय वस्तु परमब्रह्म में ही एकीभाव को प्राप्त कर लेती है, तो उसे अपना व ज्ञान दोनों में से किसी का भी बोध नहीं रहता। उसी स्थिति को यह दर्शन **निर्विकल्पक समाधि** कहता है। यही साधक की उत्कृष्टतम स्थिति है। इसे उदाहरण द्वारा हम इसप्रकार प्रदर्शित कर सकते हैं–

जिसप्रकार पानी में घुल जाने पर नमक के अस्तित्व की प्रतीति प्रत्यक्षतः नहीं होती है, जबकि उसका अस्तित्व विद्यमान रहता है। ठीक इसी प्रकार जब चित्तवृत्ति उस अद्वितीयवस्तु ब्रह्म के साथ आत्यन्तिक तादात्म्य को प्राप्त कर लेती है। उस समय चितवृत्ति का अस्तित्व होने पर भी साधक को उसकी प्रतीति नहीं होती, एकमात्र ब्रह्म का ही बोध होता है। बस यही निर्विकल्पक समाधि कहलाती है। इस विषय में विद्यारण्यस्वामी कहते हैं–

ध्यातृध्याने परित्यज्य क्रमाद् ध्येयैकगोचरम्।
निवातदीपवच्चित्तं समाधिरभिधीयते।।

अर्थात् जिस समय चित्त, ध्याता एवं ध्यान की प्रतीति का परित्याग करके एकमात्र ध्येयतत्त्व ब्रह्म की अनुभूति करता है, उसे समाधि कहते हैं। इस अवस्था में चित्त वायुरहित स्थान में रखे दीपक के समान पूर्णतया निश्चल हो जाता है। आचार्य सदानन्द इसका इस प्रकार उल्लेख करते हैं–

'निर्विकल्पकस्तु ज्ञातृज्ञानादिविकल्पलयापेक्षयाद्वितीयवस्तुनि तदाकारा कारितायाश्चित्तवृत्तिरतितरामेकाकीभावनेनावस्थानम्'

---

[1]. सविकल्पको नाम ज्ञातृज्ञानादिविकल्पलयनपेक्षयाऽद्वितीय वस्तुनि तदाकारा-कारितायाश्चित्तवृत्तेरेवस्थानम् मृण्मयमजादिभानेऽपि मृद्भानवदद्वैतभानेऽप्यद्वैतवस्तु-भासदेः। वेदान्तसार– सदानन्द।

(s) **'जीवन्मुक्त' का लक्षण–** चार्वाक को छोड़कर सभी भारतीय दर्शनों की मान्यता है कि संसार में प्रत्येक प्राणी को अपने किए हुए कर्मों का फल भोगना पड़ता है। यह फल शुभ, अशुभ अथवा शुभाशुभ किसी भी प्रकार का हो सकता है, किन्तु कोई भी साधक विवेकज्ञान द्वारा इस कर्मफल को भस्मसात् करने में समर्थ है। मुण्डकोपनिषद् का यह कथन भी इसकी पुष्टि में प्रमाण है–

भिद्यते हृदयग्रन्थिश्छिद्यन्ते सर्वसंशयाः।
क्षीयन्ते चास्य कर्माणि तस्मिन् दृष्टे परावरे।। (2/2/8)

अर्थात् परमब्रह्म के साक्षात्कार के पश्चात् साधक की अज्ञान ग्रन्थि विनष्ट हो जाती है तथा उसके सभी प्रकार के कर्मक्षीण होकर सभी संशय दूर हो जाते हैं। श्रीमद्भगवद्गीता में भी अग्नि द्वारा ईंधन को भस्मसात् करने का उदाहरण देते हुए ज्ञानरूपी अग्नि से सभी प्रकार के कर्मों को जला डालने की बात कही गयी है–

यथैधांसि समिद्धोऽग्निर्भस्मसात् कुरुतेऽर्जुन।
ज्ञानाग्निः सर्वकर्माणि भस्मसात् कुरुते तथा। (4/37)

फल की दृष्टि से कर्मों को तीन श्रेणियों में विभाजित किया जा सकता है– **संचितकर्म, क्रियमाणकर्म, प्रारब्धकर्म।**

(अ) अनादिकाल से किए गए कर्म, जिनका फल अभी प्राप्त नहीं हुआ है, संचितकर्म कहलाते हैं।

(ब) मन, वाणी, कर्म द्वारा वर्तमान जन्म में किए जा रहे कर्म क्रियमाण कर्मों की श्रेणी में आते हैं। क्रियापूर्ण होने पर ये ही संचित कर्मों की कोटि में आ जाते हैं।

(स) चिरकाल के संचितकर्म जब फलोन्मुख होकर शुभाशुभ फल प्रदान करने में तत्पर हो जाते हैं, उन्हें **प्रारब्धकर्म** कहा जाता है।

संचित, क्रियमाण तथा प्रारब्धकर्मों का चक्र व्यक्ति के जीवन में निरन्तर चलता रहता है, किन्तु इस कर्मबन्धन से छुटकारा ज्ञान के उदय या फल के भोग द्वारा ही प्राप्त किया जा सकता है। वेदान्त ज्ञान को मुक्ति का एकमात्र साधन मानता है। शंकराचार्य के अनुसार–

'जिसप्रकार आग के बिना भोजन नहीं पकाया जा सकता है, ठीक उसीप्रकार ज्ञान के बिना मोक्ष–प्राप्ति असम्भव है।' यहाँ ज्ञान से अभिप्राय ब्रह्मज्ञान से ग्रहण करना चाहिए, क्योंकि वेदान्त अज्ञान को अनर्थ का मूलकारण स्वीकार करता है। वेदान्त के अनुसार यह अज्ञान ही 'जीव' में अनेकप्रकार की भ्रान्तियाँ उत्पन्न करता है, जो उसके बन्धन का कारण बनती हैं।

अज्ञान से उत्पन्न इन सभी भ्रान्तियों का निवारण सद्‌गुरु के मार्गदर्शन एवं उपदेश द्वारा प्रदत्त ज्ञान से सम्भव है। अज्ञान के विनष्ट होने पर 'जीव' को आत्मबोध ठीक उसीप्रकार हो जाता है, **जैसे**– बादलों के हट जाने पर सूर्य का प्रकाश हो जाता है, किन्तु ज्ञान का प्रकाश होने पर साधक को तुरन्त मुक्ति नहीं मिलती, क्योंकि उसे अपने पूर्वजन्मों के संचितकर्मों के फलों को भी भोगना पड़ता है।

शंकराचार्य के मतानुसार ब्रह्मज्ञान होने के पश्चात् भी साधक को प्रारब्धकर्मों का फल भोगना पड़ता है। उनके अनुसार– जिसप्रकार कुम्हार, बर्तन बनाने वाले चक्र कुलाल में दण्ड द्वारा 'गति' उत्पन्न करता है, जो बाद में दण्ड हटाने पर भी वह स्वतः वेगपूर्वक चलता रहता है, जो उस वेग की समाप्ति पर ही रुकता है। ठीक उसीप्रकार विपाक की ओर उन्मुख प्रारब्धकर्मों का क्षय उनके भोग के बाद ही होता है, पहले नहीं।

इसी बात को उन्होंने बाण का उदाहरण देकर भी समझाया है। जिसप्रकार धनुष से छोड़ा गया बाण अपनी गति समाप्त करने पर ही रुकता है, उसीप्रकार प्रारब्धकर्मों का क्षय भी उनका उपभोग करने के बाद ही होता है। इसलिए जो गीता अथवा उपनिषद् ग्रन्थों में कर्मों के भस्मसात् होने की बात कही गयी है, वहाँ उनका अभिप्राय क्रियमाण कर्मों से ही ग्रहण करना चाहिए, प्रारब्ध या संचितकर्मों से नहीं।

इस प्रसंग में उल्लेखनीय यह भी है कि 'जीवन्मुक्त' अपने शरीर एवं इन्द्रियों द्वारा पूर्व–वासनाओं के प्रभाव से कर्म करता है तथा प्रारब्धकर्मों का भोग करता है। वह ज्ञान की दृष्टि से ही समस्त कर्म

फलों का उपभोग करता है, क्योंकि इस स्थिति में वह सम्पूर्ण सांसारिक व्यवहार को मिथ्या–प्रपंच के रूप में ही देखता है, वास्तविक रूप में नहीं। इसे इन्द्रजालिक अर्थात् जादूगर के दृष्टान्त द्वारा सरलतापूर्वक समझाया जा सकता है–

मंच के ऊपर जादूगर जो भी प्रपंच प्रदर्शित करता है, वह वस्तुतः असत्य ही होता है, किन्तु उसके मिथ्यात्व की प्रतीति केवल जादूगर को ही होती है, अन्यों को नहीं। वहाँ उपस्थित सभी दर्शक उसके द्वारा प्रदर्शित समस्त प्रपंच में परमार्थ अर्थात् सत्यतत्त्व का ही दर्शन करते हैं। ठीक इसीप्रकार 'जीवन्मुक्त' संसार के पदार्थों के मिथ्यात्व को जानने के कारण उनमें लिप्त नहीं होता है। इस कारण वह आँखों वाला होते हुए भी आँखों वाला नहीं होता तथा कानों वाला होते हुए भी कानों वाला नहीं होता है। उसकी स्थिति कमल के पत्ते पर रखी जल की बूँद के समान होती है, जो संसार में रहते हुए भी उसमें लिप्त नहीं रहता है, स्वयं को पृथक् बनाए रखता है।

'जीवन्मुक्त' की अवस्था में साधक यद्यपि अपने शरीर को धारण किए रहता है, किन्तु वास्तव में वह देह के प्रति अभिमान का ही परित्याग कर देता है। वह सभीप्रकार के विरोधों एवं द्वन्द्वों से मुक्त हो जाता है। उसका शत्रु–मित्र, मान–अपमान, लाभ–हानि, सुख–दुःख आदि भावनाएँ पूर्णतया शान्त हो जाती हैं।

सामान्य लोगों के व्यवहार की अपेक्षा जगत् के प्रति इसका व्यवहार विलक्षण होता है। 'जीवन्मुक्त' के व्यवहार के सम्बन्ध में शंकराचार्य का कथन है–

सुषुप्तवज्जाग्रति यो न पश्यति
द्वयं च पश्यन्नपि चाद्वयत्वतः।
तथा च कुर्वन्नपि निष्क्रियश्च यः
स आत्मविन्नाय इतीह निश्चयः।। उपदेशसाहस्री–5

यम–नियमों के अनुष्ठान द्वारा वह अशुभकर्मों का परित्याग कर शुभकर्मों में प्रवृत्त रहता है। अष्टांगयोग का अनुष्ठान साधक के लिए पुण्यसंचय का कार्य करता है। शुभकर्मों के प्रति प्रवृत्ति ही उसके ब्रह्म

साक्षात्कार का मार्ग प्रशस्त करती है। उसका शरीर प्रारब्ध कर्मों के फल भोगने पर्यन्त ही विद्यमान रहता है। प्रारब्धकर्मों के पूर्णक्षय के साथ ही उसका शरीरपात हो जाता है तथा वह पूर्णकाम, आप्तकाम और निष्काम बन जाता है। अन्ततः सभी प्रकार की इच्छाओं से मुक्त होने पर वह भी ब्रह्म ही बन जाता है।

'जीवन्मुक्त' की मोक्षावस्था के बारे में आचार्यों का कहना है कि जिसप्रकार वायु, पुष्प के मध्य में स्थित गन्धकोष से गन्ध लेकर बहता है, उसीप्रकार सामान्यरूप से लिंगशरीर, मनसहित इन्द्रियों को ग्रहण करके एक शरीर का परित्याग कर, दूसरे शरीर में प्रवेश करता है, किन्तु 'जीवन्मुक्त' का न केवल प्रारब्धकर्मों के उपभोग से स्थूल शरीर, अपितु अज्ञान के हेतुरूप में अविद्यमान होने के कारण सूक्ष्म शरीर, यहाँ तक कि ज्ञान के उदय से कारणशरीर भी विनष्ट हो जाता है।

इसप्रकार इन तीनों शरीरों के समाप्त होने से साधक देहमुक्त होकर परमब्रह्म में ठीक उसीप्रकार विलीन हो जाता है, **जैसे**– तप्त तवे पर गिरी जल की बूँदें उसी में समा जाती हैं या समुद्र में उठने वाली लहरें उसी में विलीन हो जाती हैं। जिसप्रकार लहरों के समुद्र में समा जाने पर, समुद्र और लहरों में किसी प्रकार का कोई भेद नहीं रहता है, ठीक उसीप्रकार 'जीवन्मुक्त' एवं परमब्रह्म में कोई भेद नहीं रहता है।

(t) **आत्मविषयक विभिन्न मत**– सदानन्द ने वेदान्तसार में बौद्ध, चार्वाक एवं मीमांसक आचार्यों के आत्मविषयक मत मतान्तरों को प्रस्तुत करते हुए वेदान्त की दृष्टि से यथार्थरूप में आत्मतत्त्व का प्रतिपादन किया है। इस क्रम में इन्होंने सर्वप्रथम अत्यन्त सामान्य लोगों की दृष्टि को प्रस्तुत करते हुए कहा कि–

(क) अत्यन्त साधारण लोग अपने समान ही अपने पुत्र के प्रति प्रेम होने तथा पुत्र के नष्ट–पुष्ट होने पर यह अनुभव करते हैं कि मैं नष्ट हो गया या मैं पुष्ट हो गया। इतना ही नहीं, अनेकशः तो वह अपने से बढ़कर पुत्र को मानता है, क्योंकि स्वयं भूखा रहकर अपने

पुत्रों को खिलाकर प्रसन्नता का अनुभव करता है। श्रुति को भी इस विषय में प्रमाणरूप में प्रस्तुत किया गया है– 'आत्मा वै जायते पुत्रः'। अतः पुत्रों के प्रति व्यक्ति का अगाध प्रेम होने के कारण **पुत्र को ही आत्मा कहना संगत है।**

(ख) इसके विपरीत मधुर लगने वाले वचनों का कथन करते हुए बृहस्पति शिष्य चार्वाकमत को स्वीकार करने वाले आचार्यों ने अन्न एवं रस से बने इस शरीर को ही आत्मा माना। उसके अनुसार– जलते हुए घर में अपने पुत्र की अपेक्षा मनुष्य का अपने शरीर के प्रति अधिक प्रेम प्रदर्शित होता है, इस कारण 'स वा एष पुरुषोऽन्नरसमयः' वह पुरुष आत्मा अन्नरस का विकार है, इत्यादि श्रुतिवचनों से, साथ ही 'मै मोटा हो गया हूँ', 'मै दुर्बल हो गया हूँ' इत्यादि अनुभवप्रमाण से **स्थूलशरीर को ही आत्मा मानना उचित है।**

(ग) पुत्रात्मवाद एवं शरीरात्मवाद का खण्डन करते हुए अन्य चार्वाक आचार्यों ने तर्क प्रस्तुत करते हुए इन्द्रियों को ही आत्मा माना है। तदनुसार– 'सुषुप्तिकाल में शरीर चेष्टाविहीन हो जाता है। अतः इस शरीर को आत्मा कहना ठीक नहीं है, क्योंकि चैतन्य से होने वाली शरीरिक चेष्टा इन्द्रियों के होने पर ही होती है। उनके अभाव में शरीर चेतना विहीन हो जाता है। इसके अतिरिक्त इन्द्रियों में विकृति आने पर मैं काना हूँ, मैं बहरा हूँ, इत्यादि अनुभव होता है। साथ ही, 'ते ह प्राणाः प्रजापतिपितरमेत्य ब्रूयूः' इत्यादि श्रुतिवचन भी इसमें प्रमाण है। अतः इन्द्रियों को ही आत्मा मानना युक्तियुक्त है।

(घ) जबकि अन्य चार्वाक आचार्यों ने **प्राणों को आत्मा माना** है। उनके मत में वस्तुतः शरीर, पुत्र, अथवा इन्द्रिय आत्मा नहीं है, अपितु प्राण ही आत्मा है, क्योंकि प्राणों के नष्ट होने पर समस्त इन्द्रियाँ निश्चल हो जाती हैं, अपने विषयों को ग्रहण करना बन्द कर देती हैं तथा प्राणों की उपस्थिति में ही अपने विषयों को ग्रहण करने में समर्थ हो पाती हैं। साथ ही, 'मैं भूखा हूँ, 'मैं प्यासा हूँ' इत्यादि अनुभव प्राणों द्वारा ही होता है 'अन्योऽन्तर आत्मा प्राणमयः' इत्यादि

श्रुति भी इसमें प्रमाण है। इन सभी कारणों से प्राणों को ही आत्मा कहना तर्कसंगत है।

(ङ) उक्त चारों मतों का खण्डन करते हुए अन्य चार्वाक आचार्य **मन को ही आत्मा कहते** हैं। उनके अनुसार– सुषुप्ति अवस्था में जब मन सो जाता है तो प्राणादि का भी अभाव देखा गया है। मन की जाग्रत अवस्था में ही प्राण, इन्द्रियाँ, शरीरादि कार्य करते हुए देखे जाते हैं। अतः मन को ही आत्मा कहना न्यायसंगत है। इसके अलावा 'मैं संकल्पवान् हूँ', 'मैं विकल्पवान् हूँ', नित्यप्रति ऐसा अनुभव होने से तथा 'अन्योऽन्तर आत्मा मनोमयः' इत्यादि श्रुतिवचनों से मन को ही आत्मा मानना चाहिए।

(च) उपर्युक्त सभी चार्वाकमतों के खण्डनपूर्वक बौद्ध दार्शनिकों ने बुद्धि में आत्मतत्त्व का प्रतिपादन करते हुए कहा कि– वस्तुतः बुद्धि ही आत्मा है, क्योंकि घटादि के निर्माण के लिए जिसप्रकार कुम्हार की उपस्थिति आवश्यक है, ठीक उसीप्रकार मन आदि इन्द्रियों में चेष्टा–सामर्थ्य के लिए उनके अधिष्ठाता स्वरूप बुद्धि का अस्तित्व अनिवार्य है। मन को तो कुम्हार के चक्र के समान करणमात्र कहा जा सकता है, यदि कुम्हाररूपी बुद्धि विद्यमान न हो तो मनरूपी चक्र घटादि का निर्माण करने में समर्थ नहीं होता है। साथ ही, 'मैं कर्ता', 'मैं भोक्ता' इत्यादि अनुभव एवं 'अन्योऽन्तर आत्मा विज्ञानमयः' इत्यादि श्रुतिवचन इसमें प्रमाण है। अतः इन सब कारणों से बुद्धि को ही आत्मा कहना तर्कसंगत सिद्ध होता है।

(छ) उक्त सभी मतों का निराकरण करते हुए प्रसिद्ध मीमांसक प्रभाकरभट्ट एवं नैयायिकों ने अज्ञान में आत्मतत्त्व का प्रतिपादन किया। उनके अनुसार बुद्धि आदि का भी अज्ञान में लीन होना देखा गया है। 'मैं अज्ञानी हूँ' इसप्रकार का अनुभव भी लोगों को होता ही है तथा सुषुप्तिकाल में बुद्धि आदि का भी अज्ञानरूप आत्मा में विलय होना देखा गया है। साथ ही 'अन्योऽन्तर आत्मा आनन्दमयः' इत्यादि श्रुति वचनों के कारण, **अज्ञान का आत्मा कहना युक्तियुक्त है।**

(ज) उपर्युक्त मतों से भिन्नमत का प्रतिपादन करते हुए प्रसिद्ध मीमांसक कुमारिलभट्ट एवं उनके अनुयायी आचार्यों ने अज्ञानरूप उपाधि से युक्त चैतन्य को आत्मा बताया। तदनुसार–अज्ञानघन और आनन्द–मय आत्मा है, क्योंकि सुषुप्तिकाल में ज्ञान एवं अज्ञान दोनों के विद्यमान होने के कारणं आत्मा में भी ज्ञान एवं अज्ञान दोनों का ही अस्तित्व रहता है। सोकर उठने के बाद व्यक्ति का यह अनुभव कि 'मैं खूब अच्छी प्रकार सोया' अथवा 'ऐसा सोया कि मुझे कुछ भी पता नहीं लगा' प्रमाणरूप में प्रस्तुत किया जा सकता है। 'प्रज्ञान घन एवा–नन्दमयः' इत्यादि श्रुति भी इसमें प्रमाण है।

(झ) इसी क्रम में बौद्ध मतावलम्बी **एक अन्य मत शून्य को आत्मा मानता है।** उनके विचार में– सुषुप्ति के समय सबका अभाव होने के कारण, अपनी सत्ता का भी भान न कराने वाली सुषुप्ति में किसी भी प्रकार की अनुभूति न होने से आत्मा का अभाव अर्थात् शून्य होना ही सिद्ध होता है। इसके अतिरिक्त 'असदेवेदमग्र आसीत्' इत्यादि श्रुति भी इस कथन में प्रमाण रूप में प्रस्तुत की गई है।

आत्मविषयक उपर्युक्त मतों का पूर्वपक्ष के रूप में उल्लेख करने के पश्चात् आचार्य सदानन्द कहते हैं कि– अत्यन्त सामान्य लोगों द्वारा उदाहरणरूप में कहे गए श्रुतिवचनों, युक्तियों और अनुभवों में पूर्व–पूर्व में कही गई बात का, उत्तरोत्तर कही गई बात द्वारा स्वतः ही आत्म विषयक कथन का बाध हो जाने से पुत्र आदि का आत्मा न होना स्पष्ट होता है।

पुनरपि श्रुतिवाक्यों में परस्पर विरोध होने से सत्यता को जानने की जिज्ञासा अवश्य होती है, क्योंकि श्रुति वेदवाक्य होने के कारण शंका का विषय नहीं है। वेदवाक्य किसी भी परिस्थिति में अप्रमाणिक नहीं हो सकता है, फिर भी इन श्रुतिवाक्यों का उद्देश्य **'अरुन्धतीन्याय'** से स्थूल से सूक्ष्म का ज्ञान कराना ही कहा जा सकता है। इस प्रसंग में अरुन्धती न्याय को समझना उचित होगा।

(u) **अरुन्धतीन्याय–** अरुन्धती एक अत्यन्त सूक्ष्म तारा है। विस्तृत आकाश में उसे सहजरूप में नहीं पहचाना जा सकता है।

इसके लिए विद्वानों ने एक युक्ति का कथन किया है। सबसे पहले उस व्यक्ति को चन्द्रमा की ओर संकेत करके कहा जाता है कि यही अरुन्धती है। ऐसा कहने पर उसका ध्यान पूरे आकाश से हटकर चन्द्रमा पर केन्द्रित हो जाता है। तत्पश्चात् उसे कहते हैं कि चन्द्रमा अरुन्धती नहीं है, अपितु उसके समीप स्थित सात तारे अरुन्धती हैं, पुनः उन सातों में से अन्तिम तीन तारों की ओर संकेत करके उनके अरुन्धती होने की बात करते हैं।

इसके बाद उन तीन तारों में से भी बीच के तारे को अरुन्धती बताकर उसके भी समीप स्थित अतिसूक्ष्म तारे की पहचान करवाते हैं। इसप्रकार इस सम्पूर्ण प्रक्रिया में पाँच वाक्यों को आधार बनाते हैं– चन्द्रमा,→ सात तारे,→ तीन तारे,→ तीनों के बीच वाला तारा,→ बीच वाले के पास वाला→ सूक्ष्मतारा।

इसप्रकार ज्ञाता को समझाने की दृष्टि से उसके बुद्धिस्तर को ध्यान में रखते हुए सीढ़ी के समान पूर्व–पूर्व का परित्याग करके सूक्ष्मतम अरुन्धती की पहचान कराना सरलकार्य हो जाता है। ठीक उसीप्रकार पुत्र आत्मा है, इत्यादि परस्परविरूद्ध अर्थों का प्रतिपादन करने वाले श्रुतिवाक्य कहे गए हैं, किन्तु इसमें जिज्ञासु की सामार्थ्य के अनुसार पूर्व–पूर्व का क्रमशः परित्याग करके उत्तरोत्तर सूक्ष्मब्रह्म का प्रतिपादन करना ही अभीष्ट है। **अतः यहाँ परस्पर विरोध की प्रतीति का लेशमात्र भी औचित्य नहीं है। इसलिए नित्य, शुद्ध, बुद्ध, मुक्त एवं सत्यस्वभाव वाला आन्तरिक चैतन्य ही आत्मा है, अन्य कोई नहीं तथा वही यथार्थ है, ऐसा वेदान्तियों का मत है।**

(v) **महावाक्य–** 'जीव' और ब्रह्म में ऐक्य प्रतिपादन वेदान्त दर्शन का मुख्य विषय है। इसके अनुसार अज्ञान से ग्रस्त 'जीव' अपने आपको ब्रह्म से अलग समझने लगता है। इसी अज्ञान के कारण उसे बार–बार संसार में जन्म लेना पड़ता है। आवागमन के इन असह्य कष्टों से मुक्ति पाने के लिए वह सद्‌गुरु की शरण में जाता है, जो उसे **तत्त्वमसि** इत्यादि वाक्यों के रूप में उपदेश प्रदान करता है। गुरु के उपदेश द्वारा 'जीव' का अज्ञानरूपी अन्धकार विनष्ट हो जाता है

और वह अपने आपको 'अहं ब्रह्मास्मि' मैं ब्रह्म हूँ, इस अनुभववाक्य के रूप में पहचान लेता है।

वेदान्तदर्शन विषयक ग्रन्थों में यद्यपि 12 महावाक्यों का उल्लेख किया गया है।[1] इन महाकाव्यों में से **प्रज्ञानं ब्रह्म, अहं ब्रह्मास्मि, तत्त्वमसि** तथा **अयमात्मा ब्रह्म** इन चार को अत्यधिक महत्त्वपूर्ण माना गया है, क्योंकि ये चारों महावाक्य चार वेदों का प्रतिनिधित्व भी करते हैं, किन्तु आचार्य सदानन्द ने अपने वेदान्तसार में केवल दो महावाक्यों का ही निरूपण किया है तत्त्वमसि, अहं ब्रह्मास्मि। अतः हम यहाँ इन्हीं दोनों महावाक्यों का ही विवेचन प्रस्तुत करेंगे।

(क) **तत्त्वमसि–** उपदेशवाक्य अर्थात् वह शुद्ध चैतन्यस्वरूप ब्रह्म तुम हो। यह उपदेशवाक्य सद्गुरु अधिकारी शिष्य से कहता है। इस वाक्य में 'जीव' और ब्रह्म का ऐक्य प्रतिपादन किया गया है, किन्तु इस सम्बन्ध में एक शंका होती है कि वेदान्त के अनुसार 'जीव' अल्पज्ञ है और ब्रह्म को 'सर्वज्ञ' बताया गया है तो फिर **तत्त्वमसि** इत्यादि वाक्य द्वारा इन दोनों में ऐक्य का प्रतिपादन कैसे किया जा सकता है?

जिसके लिए आचार्य सदानन्द ने तीन प्रकार के सम्बन्धों का विस्तारपूर्वक उल्लेख किया है समानाधिकरण्यसम्बन्ध विशेषण विशेष्य–

---

1. (क) तत्त्वमसि । छान्दोग्योपनिषद् –6/8/7 ।
(ख) अहं ब्रह्मास्मि । बृहदारण्यकोपनिषद्– 1/4/10 ।
(ग) अयमात्मा ब्रह्म । वही– 1/5/19 ।
(घ) एष ते आत्माऽन्तर्याम्यमृतः । वही– 3/7/3 ।
(ङ) स यश्चायम् । तैत्तिरीयोपनिषद्– 2/8/1 ।
(च) पुरुषे यश्चासौ । वही– 3/2/8 ।
(छ) आदित्ये स एकः । वही– 2/8/1।
(ज) प्रज्ञा प्रतिष्ठा प्रज्ञानं ब्रह्मविज्ञानमानन्दं ब्रह्म । ऐतरेयोपनिषद–5/3 ।
(झ) सत्यं ज्ञानमनन्तं ब्रह्मं । तैत्तिरीयोपनिषद – 2/1/1 ।
(ञ) स एवमेव पुरुषो ब्रह्म। ऐतरेयोपनिषद– 3/13 ।
(ट) सर्वं खल्विदं ब्रह्म । छान्दोग्योपनिषद्– 3/19/1 ।
(ठ) एकमेवाद्वितीयम् । वही– 6/2/1 ।

भावसम्बन्ध, लक्ष्यलक्षणभावसम्बन्ध। इन त्रिविध सम्बन्धों द्वारा तत्त्वमसि वाक्य 'जीव' और ब्रह्म के अखण्ड अर्थ का बोध कराता है। इस विषय में आचार्य सुरेश्वर भी कहते हैं–

सामानाधिकरण्यं च विशेषणविशेष्यता।

लक्ष्यलक्षणसम्बन्धः पदार्थप्रत्यगात्मनाम्। नैष्कर्म्यसिद्धि 3/3

(अ) **समानाधिकरण्यसम्बन्ध**– आचार्य सदानन्द इस सम्बन्ध की व्याख्या दो उदाहरण देकर प्रस्तुत करते हैं– सोऽयं देवदत्तः तथा तत्त्वमसि। इन दोनों वाक्यों का उद्देश्य एकत्व की प्रतीति करना है। 'यह वही देवदत्त है' इत्यादि प्रथम वाक्य किसी ऐसे व्यक्ति द्वारा कहा गया है जिसने कुछ समय पूर्व देवदत्त को अन्यत्र किसी स्थान पर देखा था। उसी देवदत्त को अपने सामने पाकर वह व्यक्ति पहले देखे गए देवदत्त को याद करके अनायास ही कह उठता है 'अरे! यह तो वही देवदत्त है' सोऽयं देवदत्तः।

इस वाक्य में प्रयुक्त 'सः' शब्द तत्काल एवं तद्देशविशिष्ट देवदत्त का बोध कराने वाला है, जबकि 'अयम्' शब्द से एतत्काल, एतद्देशविशिष्ट देवदत्त का बोध होता है। यद्यपि सामान्य दृष्टि से हमें इस वाक्य में उस समय एवं उस स्थान तथा इस समय और इस स्थान के कारण काल तथा देशगत विरोध की प्रतीति होती है तथापि **समानाधिकरणसम्बन्ध** से इन दोनों शब्दों का अर्थ एक ही देवदत्तरूप पिण्डविशेष से पर्यवसित हो जाता है। कहने का अभिप्राय यही है कि इस सम्बन्ध द्वारा ये दोनों पद 'सः' और 'अयम्' एक ही देवदत्त का बोध कराते हैं।

ठीक इसीप्रकार 'तत्त्वमसि' इस महावाक्य में प्रयुक्त 'तत्' शब्द परोक्षत्व एवं सर्वज्ञत्व आदि गुणों से विशिष्ट चैतन्य का कथन करता है तथा 'त्वम्' पद प्रत्यक्षत्व एवं अल्पज्ञत्व आदि गुणों से विशिष्ट चैतन्य अर्थात् 'जीव' का वाचक है। पूर्ववाक्य 'सोऽयं देवदत्तः' के अनुसार ही यद्यपि यहाँ भी 'तत्' एवं 'त्वम्' पदों के अर्थों में परोक्षत्व एवं प्रत्यक्षत्व तथा सर्वज्ञत्व और अल्पज्ञत्व के कारण प्रथम दृष्टि में विरोध की

प्रतीति होती है, किन्तु यहाँ प्रतीत होने वाला विरोध वास्तविक नहीं कहा जा सकता, क्योंकि 'तत्' पद द्वारा जिस चैतन्य की तथा त्वम् पद द्वारा जिस चैतन्य की प्रतीति यहाँ हो रही है, उन दोनों में कोई भेद नहीं है। वस्तुतः इन दोनों में भी पूर्ववत् रही है, उन दोनों में कोई भेद नही है। वस्तुतः इन दोनों में भी पूर्ववत् समानाधिकरण सम्बन्ध द्वारा एक चैतन्य में समानरूप से एक चैतन्य में तात्पर्य परिलक्षित होने से इन दोनों में अभेद का बोध कराया जा रहा है

(ब) **विशेषणविशेष्यभावसम्बन्ध–** जो शब्द अपने विशेष्य को अन्य शब्दों द्वारा विशेषरूप से अलग कर देता है, **विशेषण** तथा जो विशेषरूप से अलग होता है, वह **विशेष्य** कहलाता है। **जैसे–** नीलोत्पलम् इत्यादि वाक्य में नील पद विशेषण तथा उत्पल विशेष्य है। यहाँ विशेषण 'नील' पद विशेष्य उत्पल अर्थात् कमल को नीले रंग से भिन्न सभी लाल, पीले, श्वेत आदि रंगों से अलग कर देता है।

इसप्रकार यहाँ प्रयुक्त विशेषण, न केवल विशेष्य की विशेषता प्रदर्शित करता है, अपितु उसके विरोधीधर्मों से भी उसकी भिन्नता बताकर विरोधी धर्मों का व्यावर्तन कर देता है। ठीक इसीप्रकार 'सोऽयं देवदत्तः' इस वाक्य में 'सः अयम्' ये दोनों पद आपस में विशेषणविशेष्य बनकर विरोधी अंशों का व्यावर्तन करके देवदत्त में एकत्व की प्रतीति कराते हैं।

इसलिए इस वाक्य द्वारा विशेषणविशेष्यभावसम्बन्ध से एक देवदत्त का ही बोध होता है। इस सम्बन्ध के आधार पर 'सः' पद अयम् का विशेषण तथा 'अयम्' को 'सः' का विशेष्य मान लिया जाता है तथा तत्कालविशिष्ट एतत् कालविशिष्ट में प्रतीत होने वाले विरोध का व्यावर्तन होने से 'अयम्' पद, 'सः' का विशेषण बन जाता है। इस प्रकार दोनों पद परस्पर भेद के व्यावर्तक होने से देवदत्त पिण्ड अर्थात् व्यक्ति में एकत्व का बोध कराते हैं।

ठीक इसीप्रकार विशेषणविशेष्यभावसम्बन्ध से 'तत्त्वमसि' इस वाक्य में भी 'जीव' और 'ब्रह्म' में ऐक्य की सिद्धि की जाती है। इस स्थिति में 'तत्' पद से सामान्यतया परोक्षत्वादिविशिष्ट चैतन्य तथा त्वम् पद से अपरोक्षत्वादि विशिष्टचैतन्यरूप अर्थ के कारण भेद की प्रतीति होती है, किन्तु इनके परस्पर प्रतीत होने वाले इस भेद को विशेषणविशेष्यभाव द्वारा दूर कर दिया जाता है। इस व्यावर्तन के परिणामस्वरूप दोनों पदों से विशुद्ध चैतन्यमात्ररूप अर्थ की प्रतीति होती है।

(स) **लक्ष्यलक्षणसम्बन्ध–** सामान्यरूप से अभिधा शब्दशक्ति पदों के साक्षात् संकेतित अर्थ का बोध कराती है, किन्तु मुख्यार्थ के बाध होने पर रूढि अथवा प्रयोजनवश उससे सम्बन्धित अर्थ की प्रतीति लक्षणा शब्दशक्ति द्वारा करायी जाती है। **जैसे–** 'सोऽयं देवदत्तः' यहाँ प्रयुक्त 'सः' पद का मुख्यार्थ भूतकालविशिष्ट देवदत्त तथा 'अयम्' का वाच्यार्थ एतत्काल विशिष्ट देवदत्त होगा। तत्कालविशिष्ट और एतत्कालविशिष्ट में यहाँ प्रत्यक्षतः विरोध प्रतीत हो रहा है, किन्तु प्रतीत होने वाले इस विरोध का परित्याग करके अविरूद्ध अंश देवदत्त में अर्थग्रहण करने के लिए यहाँ लक्षणा का आश्रय लेना आवश्यक हो जाता है, जिसके द्वारा यह अर्थावबोध कराया गया है।

वस्तुतः यह लक्षणा सामान्यलक्षणा से भिन्न 'जहदजहल्लक्षणा' मानी गई है, क्योंकि उक्त वाक्य में 'सः' और 'अयम्' पदों द्वारा प्रदर्शित वाच्यार्थों के विरुद्धांशों को त्यागकर केवल अविरुद्ध तत्त्व देवदत्त में ही अभिप्राय ग्रहण किया गया है। अतः थोड़ा–सा छोड़ देने (जहत्) तथा थोड़ा सा ग्रहण कर लेने (अजहत्) के कारण इसे सामान्य लक्षणा से भिन्न **'जहदजहल्लक्षणा'** कहा गया है। इसी को **'भागलक्षणा'** भी कहते हैं।

'तत्त्वमसि' वाक्य में भी इसी भागलक्षणा द्वारा 'तत्' एवं 'त्वम्' पदों के वाच्यार्थ में स्थित विरुद्धांशों का परित्याग करके उनमें स्थित अविरुद्धांश अखण्डचैतन्य को ग्रहण करके ही वाक्यार्थ का बोध कराया जाता है। यहाँ तत् एवं त्वम् पदों का विरुद्धांशरहित वाच्यार्थ लक्षक कहा जाएगा तथा अखण्डचैतन्यरूप अर्थ लक्ष्य होगा। उस स्थिति में लक्ष्यलक्षणासम्बन्ध तथा भागलक्षणा द्वारा विरुद्ध अंश (परोक्षत्वादि विशिष्ट–अपरोक्षत्वादि विशिष्ट) का परित्याग करके अविरुद्ध अंश का ग्रहण करने पर अखण्ड चैतन्य का बोध होगा।

इसप्रकार उपर्युक्त तीनों सम्बन्धों के द्वारा अधिकारी शिष्य गुरु की अनुकम्पा से 'तत्त्वमसि' इस महावाक्य के अखण्ड, एकरसचैतन्यरूप अर्थ के साथ–साथ 'जीव' एवं 'ब्रह्म' के ऐक्य को भी जानने में समर्थ हो जाते हैं।

(ख) **अहं ब्रह्मास्मि** (अनुभववाक्य)– यहाँ तक हमने तत्त्वमसि उपदेशवाक्य तथा उसके अभिप्राय को ग्रहण करने में प्रयुक्त सम्बन्ध–त्रय का विस्तारपूर्वक उल्लेख किया। अब हम आचार्य सदानन्द द्वारा वेदान्तसार में वर्णित द्वितीय महावाक्य 'अहं ब्रह्मास्मि' का विवेचन प्रस्तुत करेंगे। वस्तुतः इन दोनों वाक्यों में परस्पर अत्यन्त घनिष्ठ सम्बन्ध है, क्योंकि परम कृपालु गुरु से उपदेशवाक्य को सुनकर ही साधक ब्रह्म का साक्षात्कार करने के लिए प्रयत्नशील हो जाता है। वैराग्य आदि साधन–चतुष्टय से सम्पन्न अधिकारी शिष्य की चित्तवृत्ति सच्चिदानन्दघन परमब्रह्म के आकार से आकारित होकर प्रकाशित हो उठती है। चित् प्रतिबिम्ब को धारण कर यह चित्तवृत्ति परमब्रह्म को विषय बनाकर ब्रह्मविषयक अज्ञान को विनष्ट कर देती है तथा अज्ञान के नष्ट होने पर वह (चित्तवृत्ति) स्वयं भी नष्ट हो जाती है।

इस सम्पूर्ण प्रक्रिया की वेदान्त के ग्रन्थों में **'कतक रजोन्याय'** के माध्यम से व्याख्या की गई है। जल को स्वच्छ करने वाला **कतक**

चूर्ण जल की मलिनता को दूर करके जिसप्रकार स्वयं भी उसी जल में विलीन हो जाता है। ठीक उसीप्रकार ब्रह्मविषयक अज्ञान को विनष्ट करके यह चित्तवृत्ति भी समाप्त हो जाती है–

अज्ञानकलुषं 'जीव' ज्ञानाभ्यासाद्धि निर्मलम्।
कृत्वा ज्ञानं स्वयं नश्येत् जलं कतकरेणुवत्।।

इस विषय में ध्यातव्य है कि चैतन्य विषयक अज्ञानरूपी आवरण के विनष्ट होने के साथ–साथ ही साधक को 'अहं ब्रह्मास्मि' की अनुभूति होने लगती है। इसप्रकार 'अहं ब्रह्मास्मि' इस अनुभव में चित्तवृत्ति का ब्रह्म के आकार से आकारित होना ,अज्ञान का विनाश तथा उसी के साथ सकल प्रपंच एवं चित्तवृत्ति भी विलीन होना प्रमुख हैं, जिस समय साधक को ब्रह्म का साक्षात्कार हो जाता है तो तत्त्व ज्ञान के परिणामस्वरूप उसका द्वैतभाव भी समाप्त हो जाता है अर्थात् इस अवस्था में अद्वैतभाव की सिद्धि हो जाती है। अतः ब्रह्म को जानने वाला वस्तुतः ब्रह्म ही हो जाता है। यही 'अहं ब्रह्मास्मि' इस अनुभव का परमफल कहा गया है।

•••

चार्वाक–दर्शन

(1) चार्वाक का उद्भव एवं विकास–

जैसा कि हम पूर्व में उल्लेख कर चुके हैं कि चार्वाक दर्शन का उदय कब हुआ, इस विषय में कोई जानकारी उपलब्ध नहीं है। केवल भारतीय दर्शनों में चार्वाक के सिद्धान्तों का खण्डन होने से इसके सिद्धान्तों का पता चलता है। आजकल सर्वाधिक प्राचीन कहे जाने वाले बौद्ध तथा जैन दर्शनों में भी लोकायत अथवा चार्वाक दर्शन को हीन दृष्टि से देखा गया है।[1]

कुछ विद्वान् बृहस्पति के शिष्य चार्वाक को इस मत का प्रवर्तक मानने के पक्षधर हैं, किन्तु आचार्य बलदेव उपाध्याय ने शंकर के शारीरक भाष्य, ब्रह्मसूत्र के भास्करभाष्य, गीता की नीलकण्ठी और मधुसूदनी टीकाओं के आधार पर बृहस्पति की ऐतिहासिकता सिद्ध करते हुए चार्वाक को केवल बृहस्पति के सिद्धान्तों का प्रचारक माना है।[2] उनके अनुसार इसीलिए इस दर्शन का एक अन्य नाम **बार्हस्पत्य दर्शन** भी रहा है।

(2) चार्वाक से अभिप्राय–

जहाँ तक 'चार्वाक' पद की व्युत्पत्ति का प्रश्न है, विद्वानों में इस सम्बन्ध में प्रमुखरूप से निम्न मत प्रचलित हैं। **प्रथम** मत, चार्वाक को 'चारुवाक्' का ही विकृतरूप मानता है, जबकि **दूसरा** मत, इसकी निर्मिति √चर्व (चर्वणे) धातु से मानते हुए 'इसे खाओ पियो' के सिद्धान्त पर आधारित मानने का पक्षधर है या इस सिद्धान्त में

---

[1] भारतीय दर्शन, आचार्य बलदेव उपाध्याय, पृष्ठ–95 ।

[2] वही– पृष्ठ, 97 ।

पाप–पुण्यादि सभी का 'चर्वण' अर्थात् अमान्य कर लिया गया है। **तीसरे** मत में, इसका नाम 'लोकायतिक' या 'लोकायत'[1] मानकर इसे लोक में सर्वाधिक विस्तार (आयत) वाला मानता है। इन तीनों ही व्युत्पत्तियों से इस मत की लोकप्रियता ही प्रमुख में प्रतीत हो रही है, क्योंकि यह सिद्धान्त ऐन्द्रिक सुखों को ही येन–केन प्रकारेण प्राप्त करना चाहता है। वस्तुस्थिति तो यह है कि 'यह सिद्धान्त शुद्ध बुद्धिवाद पर आधारित है, क्योंकि वैदिक मतानुयायियों के पक्ष का खण्डन वह भी कोरे तर्क के आधार पर करना ही इनका मुख्य उद्देश्य रहा है।'

इस आधार पर कहा जा सकता है कि चार्वाक दर्शन वस्तुतः प्राकृत पुरुष का दर्शन तथा स्थूलदृष्टि का ही प्रतिफल है, इसके लिए किसी भी प्रकार के चिन्तन–मनन की आवश्यकता नहीं है। इसलिए इसकी उत्पत्ति यदि सृष्टि के आरम्भ से भी मान लें तो कोई तिप्रतिपत्ति नहीं होगी, क्योंकि सामान्य व्यक्ति तो अपने शरीर को किसी भी प्रकार का कष्ट दिए बिना असीम सुखों को प्राप्त करने का पक्षधर प्राचीनकाल से स्वभाव से ही रहा है। इसका **'लोकायत'** नाम भी इसी अभिप्राय को अभिव्यक्त करता है।

(3) चार्वाक मत के प्रमुख सूत्र–

चार्वाक दर्शन का कोई ग्रन्थ उपलब्ध नहीं है, किन्तु ब्रह्मसूत्र, शांकरभाष्य, गीता की नीलकण्ठी, मधुसूदनी और श्रीधरी टीका आदि आकर ग्रन्थों से विद्वानों ने इस मत के कुल आठ सूत्रों का संग्रह किया है, जो इसप्रकार हैं–

a) **पृथिव्यप्तेजो वायुरिति तत्त्वानि।**

पृथ्वी, जल, तेज और वायु ये चार ही मुख्य तत्त्व हैं।

b) **तेभ्यश्चैतन्यम्।**

---

[1]. अत एव तस्य चार्वाकमतस्य 'लोकायतम्' इत्यन्वर्थम् अपरं नामधेयम्। सायण–माधवीयसर्वदर्शन संग्रह, नामकरणम्–1

उन्हीं से चैतन्य की उत्पत्ति हुई है।

c) **किण्वादिभ्यो मदशक्तिवद् विज्ञानम्**

जैसे किण्वादि (बीज या घास विशेष) पदार्थों से मादक शक्ति की उत्पत्ति होती है, उसीप्रकार यह चैतन्य भी उत्पन्न होता है।

d) **मदशक्तिवद् विज्ञानम्।**

उसी मदशक्ति के समान यह चेतन भी है।

e) **तत्समुदाये शरीरेन्द्रियविषयसंज्ञा।**

उस समुदाय अर्थात् समूह को शरीर, इन्द्रिय एवं विषय नाम दिया गया है।

f) **चैतन्यविशिष्टः कायः पुरुषः।**

चेतना से युक्त शरीर ही वस्तुतः आत्मा या चेतन है।

g) **काम एवैकः पुरुषार्थः।**

काम (सैक्स)ही एकमात्र पुरुषार्थ है।

h) **मरणमेवापवर्गः ।**

मरण ही मोक्ष है।

वस्तुतः बृहस्पति के नाम से प्रसिद्ध उक्त आठ सूत्रों में ही चार्वाक सिद्धान्त का सार निहित है। सम्भव है कि ये सूत्र किसी भाष्यकार के भी हों, जिसका कोई ग्रन्थ वर्तमान में उपलब्ध नहीं है, किन्तु आचार्य बलदेव उपाध्याय ने इन्हीं सूत्रों के आधार पर बृहस्पति की ऐतिहासिक सत्ता को सिद्ध किया है।[1] इसी प्रसंग में उन्होंने चार्वाक के दूसरे ग्रन्थों के होने की सम्भावना भी व्यक्त की है, उनके मत में, इस सिद्धान्त के प्रति वैदिक, बौद्ध, जैन आदि दर्शनों की अवहेलना के कारण ये लुप्त हो गए।[2] अपने कथ्य की पुष्टि में उन्होंने कुछ उदाहरण भी प्रस्तुत किए है, जिनका हम यहाँ संक्षेप में उल्लेख कर रहे हैं। तदनुसार–

---

[1]. भारतीय दर्शन, आचार्य बलदेव उपाध्याय, पृष्ठ–79 ।

[2]. वही।

(4) विभिन्न ग्रन्थों में उपलब्ध चार्वाक सिद्धान्त—

जिनमें विक्रमपूर्व द्वितीय शतक में स्थित महर्षि पतंजलि के समय में 'भागुरी' नामक टीका ग्रन्थ की स्थिति का उल्लेख किया जा सकता है।[1] इसके अलावा दसवीं शती के लगभग स्थित **'भट्ट जयराशि'** द्वारा विरचित तर्कों पर आधारित **'तत्त्वोपप्लवसिंह'** नामक ग्रन्थ[2] में भी चार्वाक के ही सिद्धान्तों का प्रतिपादन किया गया है।

इसीप्रकार न्याय—वैशेषिक, वेदान्त आदि दर्शनों के ग्रन्थों, ब्रह्मसूत्रों के भाष्य, न्यायमंजरी, विवरणप्रमेय संग्रह, सर्वसिद्धान्त संग्रह, सर्वमत संग्रह, षड्दर्शन समुच्चय और इसकी गुणरत्न टीका, कमल शील की तत्त्वसंग्रह पंजिका, नैषधचरितम् का 17वाँ सर्ग, कृष्णायति मिश्र का प्रबोधचन्द्रोदय नाटक (द्वितीय अंक) का अध्ययन करने पर भी इस मत का उल्लेख प्रायः पूर्वपक्ष के रूप में सहज ही उपलब्ध हो जाता है।

इसके अतिरिक्त सर्वदर्शनसंग्रह के प्रथम अध्याय में सायण—माधवाचार्य ने इस दर्शन का उल्लेख अपेक्षाकृत अधिक विस्तार से किया है, जिसमें प्रतिपादित सिद्धान्तों की व्याख्या संस्कृत के प्रसिद्ध विद्वान् डॉ.उमाशंकर 'ऋषि' ने अपने उत्कृष्ट एवं विशाल ग्रन्थ सर्व—दर्शनसंग्रह में की है।[3] हमने यहाँ प्रायः इसी ग्रन्थ से उद्धरण प्रस्तुत किए हैं।

(5) चार्वाक की श्रेणियाँ—

विद्वानों ने चार्वाकों को दो श्रेणियों में विभाजित किया है। **प्रथम,** अशिक्षित (धूर्त) **द्वितीय,** शिक्षित। इसकी प्रथम श्रेणी में इस सिद्धान्त का समर्थन प्राकृत लोग अज्ञान के कारण केवल सुख प्राप्ति

---

[1]. महाभाष्य (7/3/54) वर्णिका भागुरी लोकायतस्य। वर्णिका व्याख्यात्री भागुरी टीकाविशेषः। कैयट। काशिकाकार ने भी इसी उदाहरण को मान्यता प्रदान की है।

[2]. गायकवाड़ ओरियण्टल सीरीज बड़ौदा से प्रकाशित।

[3]. सर्वदर्शनसंग्रहः, प्रो. उमाशंकर ऋषि, प्रकाशक— चौखम्बा विद्याभवन, वाराणसी, 2019, पृष्ठ, 3—22।

के लिए करते थे, उसी को कुछ शिक्षित लोगों ने दर्शन का रूप दे दिया तो वे ही सुशिक्षित चार्वाक कहलाए। इस आधार पर इन दोनों में किंचित् अन्तर भी आ गया, क्योंकि अज्ञानी द्वारा अपने स्वभाव से ही किसी बात का समर्थन किया जाए तो शिक्षा की दृष्टि से किए गए समर्थन में निश्चय ही तर्क होने से स्वाभाविक रूप में अन्तर हो जाएगा। यही कारण है कि इन दोनों में अभेद होते हुए भी विवरणों में किंचिद् भेद हो गया है।[1]

(6) **चार्वाक के प्रमुख सिद्धान्त–**

उपर्युक्त संक्षिप्त विवेचन के आधार पर हम चार्वाक दर्शन के निम्न प्रमुख सिद्धान्तों का उल्लेख कर रहे हैं–

(i) **घोर नास्तिकता**–चार्वाक दर्शन वस्तुतः पूर्णरूप से नास्तिक है, क्योंकि यह वेद, ईश्वर, आत्मा, परमात्मा के अस्तित्व को स्वीकार नहीं करता है और न ही वेद आदि किसी भी ग्रन्थ को पवित्र ही मानता है।

(ii) **प्रत्यक्षमात्र को स्वीकृति**– इसीप्रकार प्रत्यक्ष के अतिरिक्त इसके लिए कोई प्रमाण भी नहीं है। इसीलिए प्रत्यक्ष दिखायी देने वाला यह शरीर ही इसके लिए सब कुछ है। इसकी मान्यता के अनुसार पुनर्जन्म, पाप–पुण्य, स्वर्ग–नरक ये सब कोरी कल्पनाएँ हैं। इसलिए भूत तथा भविष्य की चिन्ता व्यर्थ है। अतः संसार में रहते हुए किसी भी प्रकार के व्रत आदि का पालन करके इस शरीर को कष्ट नहीं देना चाहिए, अपितु जैसा करने से आनन्द की अनुभूति हो, अच्छा लगे, वही काम करना चाहिए।

(iii) **शरीर में चैतन्य की उत्पत्ति का कारण**– उल्लेखनीय है कि यह सिद्धान्त शरीर एवं इसमें स्थित 'चैतन्य' की उत्पत्ति के विषय में अत्यन्त दो रोचक उदाहरण प्रस्तुत करता है। **प्रथम**, पृथिवी आदि

---

[1] भारतीय दर्शन का इतिहास, डॉ.हरिदत्त शास्त्री, साहित्यभण्डार, मेरठ, पृ.–60।

चारों तत्त्व आपस में मिलकर ठीक उसीप्रकार चैतन्य के साथ शरीर को उत्पन्न करते हैं, **जैसे–**

गोबर और दही इन दो अचेतन पदार्थों को मिलाने से बिच्छुओं की सृष्टि होती है।[1] **द्वितीय,** जिसप्रकार पान, चूना, कत्था आदि को मिलाने पर मुख में इन सबसे हटकर आस्वादनीय एवं आनन्द प्रदान करने वाले रस और लाल रंग की उत्पत्ति होती है। उसीप्रकार पृथ्वी, जल, वायु, अग्नि इन चार भौतिक एवं जड़ तत्त्वों के विशिष्ट संयोग से चैतन्ययुक्त मानव शरीर उत्पन्न होता है।[2]

(iv) **पाप–पुण्य को अस्वीकृति–** इस दर्शन के अनुसार पाप–पुण्य का विचार व्यक्ति को 'कायर' बनाने वाला है। इसलिए कामिनी आदि से प्राप्त होने वाले सांसारिक सुखों का भरपूर उपभोग ही इस जीवन का सर्वोत्कृष्ट लक्ष्य है।[3] इसीलिए इसका मानना है कि–

यावज्जीवेत् सुखं जीवेत् ऋणं कृत्वा घृतं पिबेत्।
भस्मीभूतस्य देहस्य पुनरागमनं कुतः।

अर्थात् जब तक जियो, सुख से जियो। ऋण करके भी घी पियो, इतना ही नहीं लिए हुए उस ऋण को देने की भी चिन्ता न करो, क्योंकि एक बार शरीर के जलने के बाद, पाप–पुण्यों को भोगने के लिए इसका आगमन इस संसार में फिर से भला कैसे प्राप्त हो सकता है?

(v) **आत्मा का निषेध–** यह दर्शन शरीर के अलावा 'आत्मा' जैसी किसी भी वस्तु का निषेध करते हुए केवल **प्रत्यक्ष प्रमाण** को ही

---

[1]. यह व्यावहारिक सत्य है कि यदि गोबर में दही को मिलाकर कुछ दिनों के लिए किसी पात्र में रख दिया जाए तो उसमें बिच्छू पैदा हो जाते हैं।

[2]. जडभूतविकारेषु चैतन्यं यत्तु दृश्यते।
ताम्बूलपूगचूर्णानां योगाद् राग इवोत्थितम्। सर्वसिद्धान्त संग्रह–2/7।

[3]. अंगनालिंगनाज्जन्यसुखमेव पुमर्थता।
कण्टकादिव्यथाजन्यं दुःखं निरय उच्यते। सायण–माधवीयसर्वदर्शन संग्रह, श्लोक संख्या, 4।

मानता है, क्योंकि आत्मा तो किसी को दिखायी ही नहीं देती है, जिस शरीर का अस्तित्व है, वह हमें दिखायी देता ही है, जबकि सुशिक्षित चार्वाक इस आत्मा की सत्ता को तो मानते हैं, किन्तु शरीर के नाश के साथ ही इसके विनाश को भी मानने के पक्षधर हैं। यही शिक्षित और अशिक्षित चार्वाकों में मुख्य भेद भी है।

वैसे भी, जो दूसरे दर्शन आत्मतत्त्व के लिए 'मैं' शब्द को मानते हैं, चार्वाक यही शब्द स्थूल शरीर के लिए प्रयुक्त हुआ मान्य करता है, क्योंकि 'मैं काला हूँ', 'मैं गोरा हूँ', 'मैं मोटा हूँ', 'मैं पतला हूँ', इसप्रकार के सभी प्रयोग शरीर के लिए ही देखे जाते हैं। इसलिए यह 'अहम्' वस्तुतः शरीर ही है, अन्य कुछ नहीं।

(vi) **अनुमान प्रमाण को संशयग्रस्त मानना**– उल्लेखनीय है कि यह दर्शन अनुमान प्रमाण को निश्चयात्मक ज्ञान मानने का पक्षधर नहीं है। इसके मत में, हेतु अनुमान का साधन है, जिसमें साध्य एवं साधन का व्याप्ति सम्बन्ध बताया गया है। यह साहचर्य नियम तो आकस्मिक भी सम्भव है। वैसे भी 'यत्र धूमस्तत्र वह्निः' में सूक्ष्मदृष्टि से देखने पर सार्वकालीनता तथा सार्वत्रिकता का अभाव ही है, क्योंकि परीक्षण करने वाले ने सभी देशों तथा कालों में तो धूम तथा वह्नि के साहचर्य को नहीं देखा है, जो वस्तुतः किसी के लिए भी सम्भव नहीं है।

इसलिए इसप्रकार के साहचर्य–नियम का सहारा लेकर अनुमान प्रमाण को सिद्ध करना उचित नहीं है। प्रमाण तो केवल प्रत्यक्ष ही है, जिसे हम अपनी स्थूल इन्द्रियों नेत्रादि के माध्यम से करते हैं। अतएव अनुमान से व्यक्ति को निश्चयात्मक ज्ञान की प्राप्ति कभी भी सम्भव नहीं है। इसलिए यह संशयग्रस्त होने से त्याज्य है।

(vii) **शब्द–प्रमाण का निषेध**– इसीप्रकार शब्द–प्रमाण भी इस दर्शन को संशययुक्त अनुमान पर ही आधारित होने के कारण अमान्य है। इस सम्बन्ध में चार्वाक अत्यन्त सुन्दर उदाहरण प्रस्तुत करता है,

के क्योंकि जो व्यक्ति स्वयं लंगड़ा है, वह भला किसी दूसरे को सहारा कैसे दे सकता है? इसके अलावा जो लोग शब्द प्रमाण के रूप में जिस 'वेद' को प्रस्तुत करते हैं, वे सभी वस्तुतः स्वार्थी हैं तथा जहाँ तक वेद की बात है, वे तो वस्तुतः धूर्तों की रचनाएँ हैं। इसलिए अनुमान तथा शब्द ये दोनों ही प्रमाण नहीं मानने चाहिएँ।

(viii) **सृष्टि के कारण चार भूत–** ध्यातव्य है कि प्रत्यक्षरूप से दिखायी न देने वाले आकाश की सत्ता को भी चार्वाक स्वीकार नहीं करता है। इसीलिए अलग–अलग इन्द्रियों द्वारा प्रत्यक्ष दिखायी देने वाले पृथ्वी, जल, तेज तथा वायु को ही सत्य के रूप में मानता है।[1] इसके मत में, सृष्टि का कोई प्रयोजन नहीं है, यह तो केवल पृथ्वी, जल, तेज तथा वायु इन चार भूतों के आणविक संघात का ही परिणाम है। इसीप्रकार यह दर्शन कार्य–कारणभाव को भी मान्यता प्रदान नहीं करता है। इसके स्थान पर इन्होंने **स्वभाववाद** को स्वीकार किया,[2] क्योंकि सम्पूर्ण सृष्टि की रचना या विनाश इसके स्वभाव के कारण ही होता है।

(ix) **ईश्वर के अस्तित्व का निषेध –** चार्वाक दर्शन में ईश्वर या परमात्मा को भी स्वीकृति प्रदान नहीं की गयी है। इनके मत में, तो प्रत्यक्षरूप से दिखायी देने वाला यह शरीर ही सब कुछ है। चार्वाकों का कहना है कि शरीर में दिखायी देने वाला 'चैतन्य' भी ईश्वर जैसे किसी तत्त्व की देन नहीं है, अपितु पान में चूने, कत्थे आदि के समान, वस्तुतः चार भौतिक पदार्थों पृथ्वी, जल, तेज तथा वायु का ही परिणाम है, जो स्वभाववश ही होता है, इसके लिए किसी प्रेरक ईश्वर जैसे तत्त्व को मानने की आवश्यकता नहीं है।

---

1. अत्र चत्वारि भूतानि भूमिवार्यनलानिलाः।
चतुर्भ्यः खलु भूतेभ्यश्चैतन्यमुपजायते।।
सायणमाधवीयसर्वदर्शन संग्रह, मतसंग्रह–श्लोक संख्या, 6।
2. भारतीय दर्शन, आचार्य बलदेव उपाध्याय, पृष्ठ–81।

(x) **पुनर्जन्म, स्वर्ग–नरक का निषेध–** ध्यातव्य है कि शरीर के नष्ट होने पर सब कुछ विनष्ट होने के कारण यह सिद्धान्त दूसरे दर्शनों द्वारा स्वीकृत पुनर्जन्म के सिद्धान्त का भी निषेध करता है। इसका मानना है, स्वर्ग–नरक जैसी कल्पना वस्तुतः लोगों को मूर्ख बनाने का ब्राह्मणों का ढकोसला है, क्योंकि जब हमारा शरीर ही जला कर राख कर दिया गया, उसके बाद यह स्वर्ग या नरक जैसी अच्छी या बुरी स्थिति को भला कैसे प्राप्त कर सकता है? इसलिए जो ब्राह्मणों द्वारा इसका भय दिखाकर लोगों को डराया जाता है, वह वस्तुतः उनके अपनी कमायी के धन्धे हैं, जो लोगों को मूर्ख बनाकर वे लोग हमेशा से करते आए हैं। अतः लोगों को इनकी बातों में नहीं फँसना चाहिए।

(7) **समीक्षा**– एकमात्र सुख प्राप्त करने का पक्षधर होने से चार्वाक दर्शन का प्रचार आदिकाल से न केवल भारत में, अपितु पश्चिम देशों में भी हुआ, क्योंकि ईसा पूर्व 460 में ग्रीक में स्थित **डिमोक्रिट्स,** 349 ईसा पूर्व के **एपिक्यूरियस** और ईसा से 95 वर्ष पहले विद्यमान **लुक्रेशियस** जैसे विद्वानों ने भी इसी भौतिकवाद का समर्थन किया, किन्तु इन्होंने इसका किंचित् परिष्कृतरूप इसप्रकार प्रस्तुत किया–

इनका मानना है कि शरीर के दूसरे अवयवों के समान ही आत्मा भी शरीर का अवयव ही है और हमारा यह शरीर भी चार प्रकार के अणुओं का समूह है। इसलिए शरीर के साथ ही आत्मतत्त्व का नष्ट होना सुनिश्चित है। इस अनन्त अणुओं के संघात की सृष्टिरूप संसार की रचना का भी कोई उद्देश्य नहीं है, इसलिए ईश्वर जैसी किसी वस्तु को मानने की कोई आवश्यकता नहीं है। इसीप्रकार दूसरे देवों की परिकल्पनाएँ भी व्यर्थ हैं।

इसी प्रसंग में यह भी विशेषरूप से उल्लेखनीय है कि ग्रीक विद्वान् एपिक्यूरियस ने धर्म–कर्म पर विश्वास न करते हुए भी ऐन्द्रि–

यिक भोग–विलासों को भी मानसिक होने से आनन्द नहीं बताया है। उनके विचारों में इस स्थिति के पीछे विद्वानों ने चार्वाक दर्शन के आरम्भ में आचार–विचार विषयक 'संयम' के पक्षपाती होने तथा आगे चलकर इसके 'विकृत' होने की सम्भावना व्यक्त की है।[1]

इसी प्रसंग में यह भी विशेषरूप से ध्यातव्य है कि– 'कुछ विद्वान् चार्वाक दर्शन में विश्वास करने वालों को प्राचीन भारतीय वैज्ञानिक भी मानते हैं, क्योंकि ये तर्क की कसौटी पर कसने के बाद ही सत्य को स्वीकार करते हैं।' आधुनिक वैज्ञानिकों की अपेक्षा वे संयमी है, इसीलिए संयत जीवन जीने के भी पक्षपाती हैं। यही कारण है कि ये लोग ऋण लेकर घी पीने की बात का समर्थन नहीं करते हैं। ये ही वस्तुतः सुशिक्षित चार्वाक कहे जा सकते हैं।[2]

(8) चार्वाक दर्शन का सारसंक्षेप–

चार्वाक दर्शन विषयक उपर्युक्त सम्पूर्ण अभिप्राय को हम **संक्षेप में** इसप्रकार समझ सकते हैं–

(चित्र–1)

•••

---
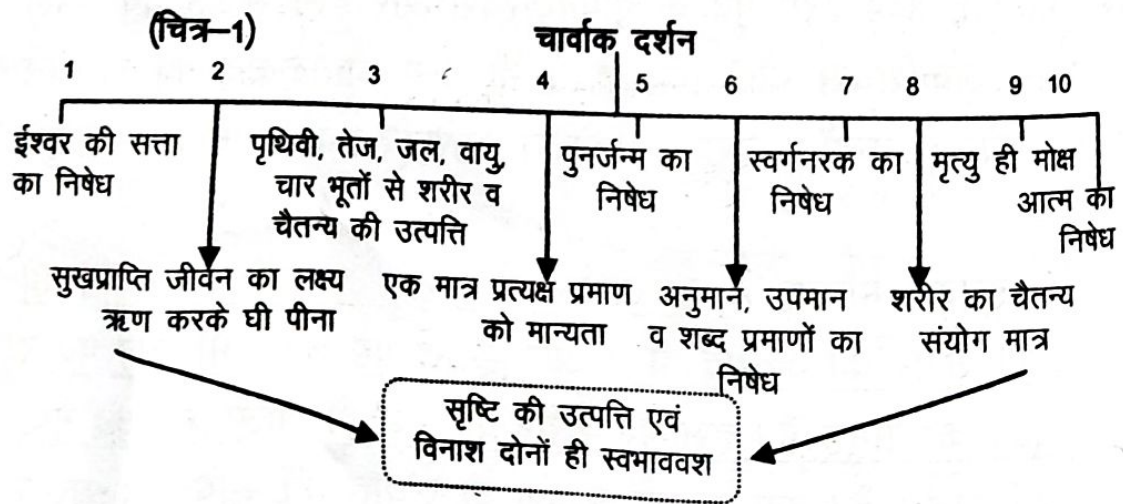
1 . भारतीय दर्शन का इतिहास, डॉ. हरिदत्त शास्त्री, प्रकाशक–साहित्य भण्डार, मेरठ, पृष्ठ– 60।

2 . भारतीय दर्शन, आचार्य बलदेव उपाध्याय, प्रकाशक–शारदा मन्दिर, वाराणसी, 1971। पृष्ठ–88।

जैन–दर्शन

1. **जैनमत का उद्भव एवं विकास**– जैनधर्म को मानने वालों की मान्यता है कि यह धर्म शाश्वत है, क्योंकि इसकी अभिव्यक्ति समय समय पर अवतरित होने वाले तीर्थंकरों द्वारा निरन्तर की जाती रही है। **श्रीमहावीर स्वामी** इस धर्म के अन्तिम तीर्थंकर के माने जाते हैं, जो आदिकाल से लेकर **चौबीसवें तीर्थंकर** हैं। इससे पहले तेईस तीर्थंकरों में से **तेईसवें 'तीर्थंकर' पार्श्वनाथ** को छोड़कर अन्य का इतिवृत्त उपलब्ध नहीं है।

जैनों के चौबीस पुराणों में चौबीस तीर्थंकरों का अतिरंजित विवरण मिलता है। इनमें **प्रथम 'तीर्थंकर' ऋषभदेव** हैं, जिनका वर्णन इनके आदिपुराण में किया गया है। कुछ जैन विद्वानों का मानना है कि– 'इनके नाम का उल्लेख ऋग्वेद में भी किया गया है', किन्तु इसकी प्रामाणिकता के विषय में कुछ नहीं कहा जा सकता है, हाँ इतना अवश्य माना जा सकता है कि बौद्धधर्म की अपेक्षा जैनधर्म, अधिक प्राचीन है, क्योंकि बौद्धधर्म का आरम्भ बुद्ध के जन्म से हुआ, जबकि जैनधर्म तो श्रीमहावीर से पर्याप्त पहले भी विद्यमान था। तेईसवें तीर्थंकर पार्श्वनाथ का व्यक्तित्व पर्याप्त स्पष्टरूप में मिलता है। श्रीमहावीर स्वामी इन्हीं के भक्त माने गए हैं। तदनुसार–

तीर्थंकर पार्श्वनाथ ने ईसा से लगभग 800 वर्ष पूर्व वाराणसी के राजा **अश्वपति** तथा रानी **वामा** के घर में जन्म ग्रहण किया और कठोर तपस्या का संकल्प लेकर इन्होंने तीस वर्ष की अवस्था में ही

घर का परित्याग कर दिया और घोर तप करके **'जिन'** की उपाधि प्राप्त की तथा सत्तर वर्ष की आयु तक जैन धर्म का प्रचार किया।

इसके अतिरिक्त तीर्थंकर श्रीमहावीर के पिता **सिद्धार्थ** और माता **त्रिशला** थीं, इनका जन्म नाथ–गोत्रीय क्षत्रिय जाति में लगभग छठी शती में चैत्र शुक्ला त्रयोदशी को हुआ था। इनकी राजधानी पटना से सत्तर मील उत्तर में स्थित वैशाली थी। पिता ने इनका नाम **'वर्धमान'** रखा और इनका विवाह **यशोधरा** नामक कन्या के साथ कराया, जिससे इन्हें एक कन्या की प्राप्ति हुई। तीस वर्ष की आयु में इनके माता–पिता का स्वर्गवास हो गया।

लगभग इसी अवसर पर वैराग्यभाव की उत्पत्ति से ये अपने बड़े भाई नन्दिवर्धन से अनुमति प्राप्त करके, घर–बार छोड़कर वीतरागी हो गए एवं बारह वर्षों की कठोर तपस्या तथा समाधि के बाद **केवली** (सर्वज्ञ) हो गए। तत्पश्चात् इन्होंने बयालीस वर्षों तक जैनधर्म का उपदेश लोगों को प्रदान करते हुए बहत्तर वर्ष की आयु में मोक्ष की प्राप्ति की। जैनमत इन्हें अन्तिम तीर्थंकर के रूप में स्मरण करता है। इन्हीं के प्रवचनों से जैनमत तथा दर्शन की परम्पराओं का उद्भव हुआ, क्योंकि जैनों के दोनों सम्प्रदाय श्वेताम्बर तथा दिगम्बर अपनी गुरु परम्परा को इन्हीं से ही आरम्भ करते हैं।

वस्तुतः जैन मत में अपने जीवन में संयम, नियम एवं तप के आचरण से महामानव राग–द्वेषों पर विजय प्राप्त करके 'केवली' संज्ञा को प्राप्त कर लेते थे, जिन्हें लोग 'जिन' या 'तीर्थंकर' नाम से सम्बाधित करते थे। यहाँ 'जिन' का अर्थ है, 'जिसने सभी राग–द्वेषादि पर विजय प्राप्त कर ली हो।' इन्हीं जैन महात्माओं के मत का अनुकरण करने वाले 'जैन' धर्मावलम्बी कहलाए।

इसीप्रकार इनके तीर्थंकर नाम के पीछे भी एक अभिप्राय निहित है, क्योंकि तीर्थ का अभिप्राय है– 'नदी का घाट'। इसी तीर्थ को करने या बनाने वालों को 'तीर्थंकर' संज्ञा प्रदान की गयी।

उल्लेखनीय है कि जैनमत में तीर्थंकरों को ईश्वर के समान स्थान प्रदान किया गया तथा पूज्य मानने के कारण इन्हें **'अर्हत्'** नाम भी दिया गया। इसी आधार पर जैनधर्म के अनुयायियों को 'आर्हत' भी कहा जाता है।

2. **जैनधर्म के सम्प्रदाय**– जैनमत मानने वालों में यों तो अनेक मतों को मानने वाले हैं, किन्तु प्रमुखरूप से दो सम्प्रदाय **श्वेताम्बर** एवं **दिगम्बर** आज भी विद्यमान हैं। 'दिगम्बर' जैसा कि नाम से ही स्पष्ट है, **'दिक् अम्बरम् यस्य सः'** अर्थात् दिशाओं को ही वस्त्र मानने वाले दिगम्बर कहलाए। ये लोग वीतराग के लिए निर्वस्त्र रहना ही उचित मानते हैं, श्रीमहावीर स्वामी स्वयं नग्न रहते थे।

जैनधर्म की मान्यता के अनुसार– लगभग द्वितीय शती ई.पू. में स्वामी जी के शिष्य **भद्रबाहु** धर्मप्रचार के लिए दक्षिण दिशा में चले गए, तब जैन संघ के नेता **संघभद्र** ने मानवीय दुर्बलताओं को दृष्टिगत रखते हुए जैन साधुओं को श्वेतवस्त्र धारण करने की अनुमति प्रदान कर दी। यद्यपि भद्रबाहु को लौटने पर इसे देखकर अत्यन्त दुःख हुआ। सम्भवतः तभी से इन दो भेदों का प्रादुर्भाव हुआ, जो आज भी अपने पुरातन रूप में ही विद्यमान हैं।

अन्य कुछ विद्वानों का मानना है कि दिगम्बर जैन संघ में कुछ विवाद उत्पन्न होने से **शिवभूति** ने 83 ई. में **श्वेताम्बर सम्प्रदाय** की नींव डाली। यद्यपि इन दोनों में ही कुछ छोटे–मोटे मतभेदों को छोड़कर मूल सिद्धान्तों में कोई अन्तर नहीं है, जिसे हम निम्न बिन्दुओं में समझ सकते हैं–

(i) दिगम्बरों के मतानुसार, पूर्ण सिद्ध तीर्थंकर भोजन का त्याग कर देते हैं। उनका मानना है कि जो जैन सन्त वस्त्र धारण करते हैं, उन्हें मोक्ष की प्राप्ति नहीं होती है, ये स्त्रियों को मोक्ष की अधिकारिणी मानने के पक्षधर भी नहीं हैं। इसके लिए तो उसे पहले अपने पुण्यों के आधार पर पुरुषरूप में जन्म लेने की आवश्यकता है।

दिगम्बरों की इन विशेष मान्यताओं का उल्लेख सायणमाध्वीय 'सर्वदर्शनसंग्रह' में किया गया है।[1]

(ii) इसके ठीक विपरीत श्वेताम्बर धर्मावलम्बी श्वेतवस्त्रों को धारण करने के साथ–साथ, स्त्री को भी मोक्ष की अधिकारिणी मानने के पक्षधर हैं। इनके अनुसार तो 'केवली' भी भोजन कर सकता है, इससे उसे मोक्ष प्राप्त करने में कोई बाधा नहीं आती है। इसके अतिरिक्त श्वेताम्बरों का यह भी मानना है कि– महावीर तीर्थंकर पहले एक ब्राह्मणी देवनन्दा के गर्भ में अवतरित हुए, किन्तु बाद में यह गर्भ हटकर रानी त्रिशला के उदर में आ गया, किन्तु इस मान्यता के विषय में कोई ठोस आधार नहीं है और इसे सहजरूप से स्वीकार भी नहीं किया जा सकता है।

3. **जैनधर्म में आचार–विचार**– इस धर्म में पहले यती, व्रती एवं भिक्षुक थे। इसलिए उन्होंने अपने अनुयायियों को अपनी दिनचर्या को अत्यन्त संयत रखने का उपदेश दिया। इसमें दिगम्बर साधु तो पूरी तरह नग्न ही रहते हैं, किन्तु बाद में स्त्री साधुओं को पुरुषों की अपेक्षा कुछ अधिक वस्त्र धारण करने की अनुमति यहाँ प्रदान की गयी है। इनका मानना है कि जैन साधु को भिक्षा द्वारा ही अपनी आवश्यकताओं की पूर्ति करनी चाहिए, जिनमें वस्त्र, कम्बल, भिक्षा–पात्र, दण्ड तथा भोजन आदि सम्मिलित हैं।

इनकी मान्यता के अनुसार दिगम्बर साधु को झाडू के स्थान पर भिक्षा के माध्यम से ही न कि खरीद कर, **मयूरपिच्छ चमर** के रूप में रखना चाहिए। सिर एवं मूँछ के बालों को वह अपने हाथ से नोचकर साफ करे। इसी को यहाँ **'केशलोचन'** की प्रथा के रूप में आज भी देखा जा सकता है। जैन साधुओं के लिए मात्र तीन घण्टे ही शयन का विधान है। शेष समय वह अपने पापों के लिए पश्चात्ताप,

---

[1]. भुङ्क्ते न केवली, न स्त्री मोक्षमेति दिगम्बरः।
प्रादुरेषामयं भेदो महान् श्वेताम्बरैः सह।।

प्रायश्चित्त, स्वाध्याय, ध्यान तथा भिक्षाचर्या में व्यतीत कर सकता है। उसे अपने जीवन में 'कृमि' (कीट) जैसे तुच्छ जीव की भी हिंसा से जाने-अंजाने पूरी तरह बचना चाहिए। इसीलिए आज भी जैन लोग अपने मुख को वस्त्र से ढ़कते हैं तथा पानी को भी कपड़े से छान कर ही पीते हैं।

वस्तुतः 'अहिंसा' का सूक्ष्मातिसूक्ष्म रूप हमें जैन-दर्शन में ही देखने को मिलता है, क्योंकि श्रीमहावीर ने अपने उपदेशों में अहिंसा पर अत्यधिक बल दिया है। वस्तुतः तात्कालिक कर्मकाण्डीय हिंसा के विरोध में ही यहाँ इसका कठोरतापूर्वक निषेध प्रतीत होता है। यहाँ तक कि श्रीमहावीर ने तो हिंसा के भय से अपने अनुयायियों को कृषि कर्म करने के लिए भी पूर्णरूप से मना किया है। यही कारण है कि आज भी हमारे देश में अधिकाँश जैनमतावलम्बी 'वाणिज्य' आदि क्रियाओं में ही जुड़े हुए हैं, कृषिकर्म से नहीं। इसके अतिरिक्त यहाँ पर साधुओं को अपने 'उपाश्रय' में लोगों को 'आगम' अर्थात् शास्त्र या दर्शन का उपदेश प्रदान करने का भी निर्देश दिया गया है।

4. **जैनदर्शन के विद्वान्–** जैनदर्शन का साहित्य विशाल है, क्योंकि इसके मूलग्रन्थों पर भी परवर्ती जैन साधुओं द्वारा अनेक टीकाओं का प्रणयन किया गया, जिनमें सर्वाधिक प्राचीन **उमास्वाति** विरचित **'तत्त्वार्थाधिगमसूत्र'** है। इसकी संरचना विक्रम संवत् की प्रथम शताब्दी में होने की सम्भावना की गयी है।[1] विद्वन्मान्यता आचार्य स्वाति का स्थान जैनदर्शन के इतिहास में बौद्धदर्शन में वसुबन्धु के समान मानने की पक्षधर रही है, क्योंकि वसुबन्धु ने भी जिसप्रकार पालि-त्रिपिटकों में बौद्धदर्शन से सम्बन्धित बिखरी हुई सामग्री को व्यवस्थित रूप देकर 'अभिधर्मकोश' में निबद्ध किया और स्वयं ही उस पर भाष्य की रचना भी की थी, वैसे ही आचार्य उमास्वाति ने जैन आगम ग्रन्थों में यत्र-तत्र बिखरी हुई इस दर्शन से सम्बन्धित सामग्री को वैज्ञानिक

1. भारतीय दर्शन का इतिहास, डॉ. हरिदत्त शास्त्री, पृष्ठ-69 ।

पद्धति से अपने 'तत्त्वार्थाधिगमसूत्र' में संकलित करके स्वयं ही उसके ऊपर भाष्य का प्रणयन किया।

इसके बाद के विद्वानों में प्रमुखरूप से **सिद्धसेन दिवाकर** का पंचम शती में आविर्भाव माना गया, जिन्होंने न्यायावतार, सम्मतितर्क, तत्त्वार्थ टीका नाम जैनदर्शन के ग्रन्थों की रचना की। इसके बाद अष्टमशती में **हरिभद्र** ने **'षड्दर्शनसमुच्चय'** और **'अनेकान्तजयपताका'** का निर्माण किया। इसके अलावा इसी शती में **भट्ट अकलंक** ने भी अनेक दार्शनिक ग्रन्थों का प्रणयन किया, जिनमें **'राजवार्तिक'** उमा-स्वाति के 'तत्त्वार्थाधिगमसूत्र' पर **वार्तिकरूप** में लिखा हुआ प्रसिद्ध ग्रन्थ माना जाता है।

तत्पश्चात् 1039 ई. अर्थात् बारहवीं शती में अनन्ताचार्य ने 'परीक्षामुखसूत्रलघुवृत्ति' नामक प्रसिद्ध ग्रन्थ लिखा तथा (1150 ई.) **नेमिचन्द** ने द्रव्य-संग्रह, **हेमचन्द्र** (1088-1172 ई.) ने 'अन्ययोगव्यवच्छेदत्रिंशिका' एवं 'प्रमाण मीमांसा' नाम जैनदर्शन विषयक ग्रन्थों की संरचना की। पुनः **मल्लिषेण** नामक आचार्य ने 1292 ई. में हेमचन्द्र के 'अन्ययोगव्यवच्छेदत्रिंशिका' पर **'स्याद्वादमंजरी'** नामक टीका लिखी, जिसे जैनदर्शन के महत्त्वपूर्ण ग्रन्थ के रूप में मान्यता प्राप्त है। इसी प्रकार **प्रभाचन्द्र** के 'प्रमेयकमलमार्तण्ड' एवं **देवसूरि** 1086-1167 ई. के 'प्रामाण्यतत्त्वालोकालंकार' भी जैन दर्शन के प्रसिद्ध ग्रन्थों में परिगणित हैं। प्रौढ़ तर्क, अटूट युक्तियाँ इन ग्रन्थों की महत्त्वपूर्ण विशेषता मानी गयी है। सूक्ष्मदृष्टि से विचार करने पर हमें संस्कृत तथा प्राकृत भाषा में जैन साहित्य के ऐसे अकूत भण्डार के दर्शन होते हैं, जिस पर आज तक कोई काम भी नहीं हुआ है। दूसरे शब्दों में, हम तो वस्तुतः इनके नाम से भी परिचित नहीं हैं।

5. **जैनदर्शन का मूलाधार**- गहनरूप से विचार करने पर हम देखते हैं कि जैनदर्शन के विवेच्य तत्त्वों का आधार व्यक्ति का दैनन्दिन अनुभव रहा है। इसीलिए विद्वानों ने इसे प्रत्यक्षवादी श्रेणी में रखा है।

अनुभव की विभिन्नता के आधार पर यहाँ सभीप्रकार के मतों की दार्शनिक सत्यता को स्वीकार किया गया है, जिस कारण इसे 'उदार दृष्टि वाला दर्शन' भी माना गया है। दूसरे शब्दों में, जैन चिन्तन का मूलाधार यही है कि– 'सभी दर्शन आंशिकरूप से सत्य तथा आंशिक दृष्टि से असत्य हैं।'

6. **जैनदर्शन में 'सत्' की स्थिति**– संसार के विविध दर्शनों में यहाँ दिखायी देने वाली वस्तुएँ 'सत्' हैं या 'असत्', इस सम्बन्ध में अवश्य विचार किया गया है। **जैसे–** वेदान्तियों का मानना है कि दृश्यमान जगत् माया है। इसीप्रकार सांख्यदर्शन में केवल पुरुष को 'सत्' माना गया है और दूसरे तत्त्व प्रकृति को नित्य होते हुए भी **परिणामी** कहते हैं, जबकि बौद्धों ने इन्हें 'क्षणभंगुर' कहा है, क्योंकि उनमें प्रत्येक क्षण उत्पन्न होने तथा विनाश का क्रम जारी रहता है।

जबकि जैनदर्शन में 'सत्' की परिभाषा एक नए तथा मौलिक रूप में प्रस्तुत की गयी है। तदनुसार– प्रत्येक पदार्थ में सत् और असत् दोनों ही अंशतः विद्यमान रहते हैं। उदाहरण के लिए जब कुम्हार मिट्टी से घड़ा बनाता है, तो यहाँ पूर्व में स्थित मिट्टी में घड़े की उत्पत्ति होने से मिट्टी तो अप्रत्यक्षरूप से नष्ट हो गयी और उसके स्थान पर घड़ा उत्पन्न हो गया।

इसी आधार पर पदार्थों में सदसद् अंशों की विद्यमानता का सिद्धान्त स्पष्ट हो जाता है, क्योंकि यहाँ मिट्टी के नाश से घड़े का निर्माण हो गया है, जिसके साथ मिट्टी का प्रत्यक्ष भी हमें इसमें हो रहा है, वह पूरी तरह नष्ट नहीं हुई है। इसी अनुभवगम्य ज्ञान के आधार पर जैनदर्शन में सत् की परिभाषा की गयी है, जिसमें उत्पन्न होना, नाश तथा नित्यता तीनों ही विद्यमान होते हैं, वही सत् है।

इसलिए जिसे हम नित्य कहते हैं, आत्मादि उनके सम्बन्ध में जैनदर्शन का यही मानना है, जिसे हम शंकर तथा बौद्धों के समन्वय रूप में देख सकते हैं, क्योंकि यहाँ पर बुद्ध तथा उपनिषदों के

दृष्टान्तों को आधार बनाकर ही अपने सिद्धान्त की व्याख्या की गयी है।[1] इसीलिए उन्होंने कहा कि–

'उत्पादव्ययध्रोव्ययुक्तम् सत्।'

7. **जैनदर्शन में द्रव्य–** जैनदर्शन में द्रव्य ही धर्मीरूप में प्रसिद्ध है। दर्शन की भाषा में 'धर्म' पद गुण का पर्यायवाची रहा है, क्योंकि प्रत्येक द्रव्य सदसत् धर्मों का आधार होता है, उनके इसप्रकार के कुछ आवश्यक गुण या धर्म होते हैं, जो उसकी सत्ता के लिए अत्यन्त अनिवार्य हैं। इन्हीं के आधार पर इन्हें उस–उस रूप में पहचाना जाता है।

इन आवश्यक धर्मों के अलावा उनमें ऐसे कालविशेष में उत्पन्न होने वाले परिवर्तनशील धर्म भी होते हैं। इनमें से आवश्यक तथा शाश्वतधर्मों को बौद्धदर्शन में 'गुण' नाम से कहा गया है और परि–वर्तनशील धर्मों का नाम वहाँ 'पर्याय' है। जैनदर्शन के अनुसार द्रव्य वही है, जिसमें दोनों प्रकार के धर्म गुण और पर्याय विद्यमान हों। यही कारण है कि 'तत्त्वार्थाधिगमसूत्रकार' ने द्रव्य की परिभाषा **'गुण–पर्यायवद्द्रव्यम्'** की।

इसीप्रकार आस्तिक दर्शनों में न्यायदर्शन के अनुसार– 'गुणाश्रयो द्रव्यम्' परिभाषा की गयी, जो जैनदर्शन की परिभाषा से पर्याप्त मिलती जुलती है। यहाँ द्रव्य के दो वर्ग किए गए हैं। (क) **अस्तिकाय** (ख) **अनस्तिकाय**। इनमें भी अस्तिकाय से अभिप्राय बहु देशव्यापी तथा अनस्तिकाय का अर्थ एकदेशव्यापी से है। यहाँ तो केवल **काल** को ही अनस्तिकाय अथवा एकदेशव्यापी माना गया है और इसके जैनदर्शन दो भेद करता है (अ) **जीव** (ब) **अजीव**।

फिर से जीव के भी दो भेद किए गए हैं। (1) **मुक्तजीव** (2) **बद्धजीव**। इसके बाद बद्धजीव के भी दो भेद किए हैं, एक **त्रस** दूसरा **स्थावर**। तत्पश्चात् त्रस या जंगम जीव के इन्द्रिय–संख्या के आधार

---

[1]. दासगुप्त, पृष्ठ–174।

पर चार भेद किए हैं। पंचेन्द्रिय, चतुरिन्द्रिय, त्रीन्द्रिय तथा एकेन्द्रिय। जिसे हम इसप्रकार संक्षेप में समझ सकते हैं—
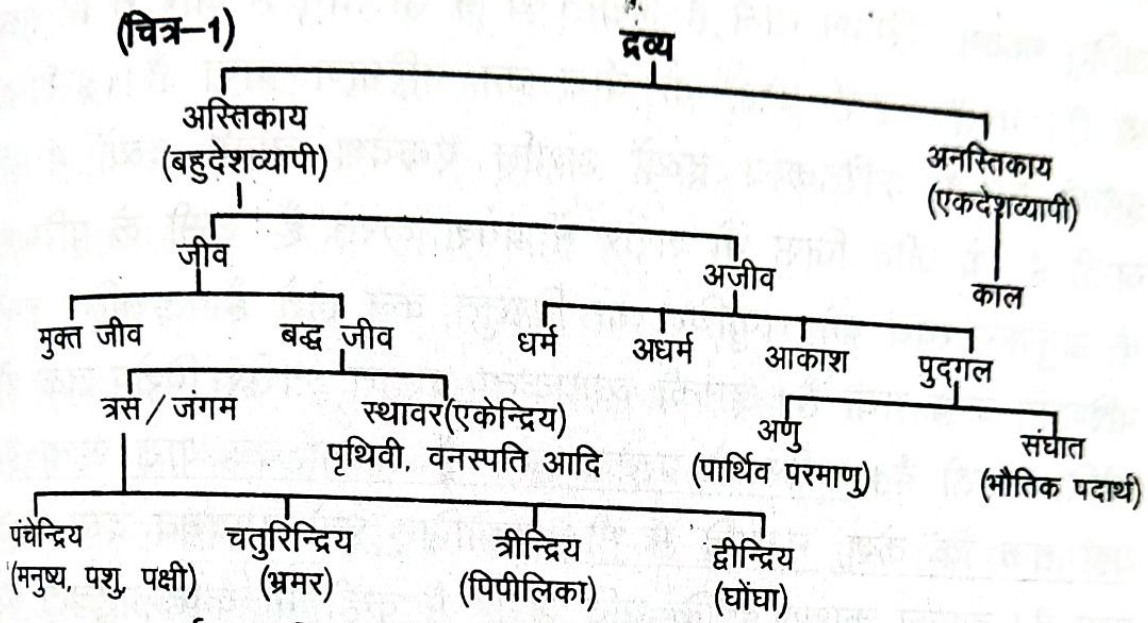
उपर्युक्त चित्र से स्पष्ट है कि अनस्तिकाय के रूप में यहाँ केवल काल को ही माना गया है, जबकि अजीव के धर्म, अधर्म, आकाश एवं पुद्गल के रूप में चार भेद किए गए हैं तथा पुद्गल भी यहाँ अणु और संघात रूप में दो प्रकार का प्रस्तुत किया गया है। अब हम इनकी व्याख्या करने का प्रयास करेंगे—

8. **जैनदर्शन में जीव का स्वरूप**— जैनदर्शन में 'जीव' का प्रमुख गुण इसकी 'चेतना' है, जो जीव में हमेशा ही विद्यमान रहती है। **प्रत्यभिज्ञा** के आधार पर हम जीव की सत्ता की प्रत्यक्ष अनुभूति प्रतिदिन करते हैं। जीव या आत्मा का शुद्ध स्वरूप अनन्तदर्शन, अनन्त ज्ञान, अनन्त सुख और अनन्त वीर्यसम्पन्न होना है, किन्तु सांसारिक स्थिति में उसका यह रूप कर्म के सूक्ष्म आवरण से ढ़का रहता है, जो अनादिकाल से निर्मित होकर अपेक्षाकृत प्रगाढ़ होता रहता है। इसी–लिए इसका ज्ञान सीमित हो जाता है और इसे **अल्पज्ञ** कहा जाता है। इसी कर्म के बन्धन को नष्ट करके वह सर्वथा **मुक्त** हो जाता है। दूसरे शब्दों में, अपने मूल स्वरूप में आ जाता है। यही कारण है कि इस दर्शन में केवली साधक सर्वज्ञ एवं सर्वशक्तिमान माने गए हैं।

जैनदर्शन में जीव एक शाश्वत द्रव्य है, जो भौतिक सृष्टि में अनन्त देशों में व्यापक होने से बहुसंख्यक है। ये सभी अपरिमाण नहीं, अपितु मध्यम परिमाण वाले हैं अर्थात् ये न तो विभु हैं और न ही सूक्ष्म ही हैं। वस्तुतः इन्हें दोनों के बीच का परिमाण प्राप्त है। इसीलिए इनकी गिनती **अस्तिकाय द्रव्यों** अर्थात् एकदेश व्यापी द्रव्यों में की जाती है। ये जीव जिस भी शरीर में प्रवेश करते हैं, उसी के परिमाण के अनुसार स्वयं को संकुचित या विस्तृत कर लेते हैं। इसलिए इन्हें परिणामी कहा गया है। इनकी व्यापकता वस्तुतः शरीर विशेष तक ही सीमित रहती है। शरीर के प्रत्येक अंग में आत्मा का वास रहता है, यहाँ तक कि केश, नखादि में भी। इसीलिए इसे **सावयव द्रव्य** कहा गया है। इसका कारण है कि यदि शरीर में कहीं भी कष्ट पहुँचता है, तो उसे हम प्रतिदिन अनुभव करते हैं।

ध्यातव्य है कि जैन आचार्यों ने शरीर में जीव की सत्ता को आलोक अर्थात् प्रकाश के रूप में माना है अर्थात् आत्मा की शरीर में स्थिति दूसरे जड़ पदार्थों के समान नहीं है। परेशानी जब आती है, तब लोग आत्मतत्त्व को भी दूसरे सांसारिक जड़ पदार्थों के रूप में देखते हैं, जबकि इसकी व्याप्ति तो प्रकाश के समान होती है, इसीलिए जिसप्रकार एक दीप का प्रकाश, दूसरे दीप के प्रकाश में प्रविष्ट हो सकता है। वैसे ही, एक शरीर में दो जीवात्माओं का प्रवेश सम्भव है। इसका प्रमुख कारण आत्मा का आलोक के समान होना ही है।

9. **जैनदर्शन में जीव की सत्ता में प्रमाण**– जैनदर्शन स्मरण तथा प्रत्यभिज्ञान के अलावा सुख–दुःख की अनुभूति द्वारा आत्मा को प्रत्यक्ष ही मानता है, जिसे यहाँ **स्वसंवेदन प्रत्यक्ष** कहा गया है, क्योंकि धर्मों के अनुभव से ही धर्मी का प्रत्यक्ष होता है। व्यावहारिक दृष्टि से भी प्रतिदिन किसी भी धर्मी के धर्मों को देखना या अनुभव करना ही 'प्रत्यक्ष' कहा गया है। इसी आधार पर आत्मा के धर्म सुख–दुःख, स्मृति, संकल्प आदि का प्रत्यक्ष धर्मी आत्मा का ही प्रत्यक्ष है।

जैनदर्शन में प्रत्यक्ष प्रमाण के अलावा अनुमान प्रमाण को भी मान्यता प्रदान की गयी है। दैनिक व्यवहार में हम शारीरिक क्रियाओं को देखकर उसके नियन्त्रक या परिचालक का सहज ही अनुमान लगा लेते हैं, क्योंकि उसके प्रेरक के अभाव में शरीर का कोई भी अंग स्वयं कार्य का सम्पादन नहीं कर सकता है। इसलिए **ज्ञाता चैतन्य** है, इसका प्रत्याख्यान करना उचित नहीं है।

इसीप्रकार यहाँ पर निमित्त कारण के आधार पर भी जीवात्मा की सिद्धि की गयी है, क्योंकि जिसप्रकार संसार के सभी कार्यों की उत्पत्ति में निमित्त कारण की उपस्थिति होना आवश्यक है, वैसे ही शरीर की उत्पत्ति भी भौतिक उपादानों के अलावा एक निमित्त कारण की आवश्यकता पड़ती है, जो वस्तुतः आत्मा ही है।

10. **जैनदर्शन में चैतन्य**– उल्लेखनीय है कि जैनदर्शन में चैतन्य की उत्पत्ति चार्वाक के समान भौतिक द्रव्यों के विलक्षण संयोग से नहीं होती है, क्योंकि यदि ऐसा होता तो उसकी अनुभूति हमेशा रहनी चाहिए थी, किन्तु दैनिक व्यवहार में हम देखते हैं कि सुषुप्ति, मूर्च्छा तथा मृत्यु की दशा में चैतन्य की अनुभूति नहीं होती है। उपादान कारणों को हमेशा ही कार्य सम्पादन के लिए निमित्त कारण की अपेक्षा रहती है और वह निमित्त कारण चेतन आत्मा के अतिरिक्त अन्य कोई नहीं है।

11. **कर्म सिद्धान्त**– इस दर्शन में जीवात्मा से सम्बद्ध कर्म का सिद्धान्त है। कर्म ही संसाररूपी रंगमंच पर जीव की विविध भूमिकाओं का मूल कारण है। इन्हीं कर्मों के बुरे या भले होने पर उसे अच्छी या बुरी योनियों में जन्म लेना पड़ता है। कर्म की व्याख्या वस्तुतः यहाँ पर दूसरे दर्शनों की अपेक्षा अधिक विस्तृत तथा गम्भीर रही है, जो अन्यत्र दुर्लभ है।

यहाँ तो जन्म तथा मरण को भी कर्म के आधार पर ही माना गया है। जैनदर्शन के अनुसार– स्वभाव से जीव अनन्तज्ञान, अनन्त

दर्शन, अनन्त सुख और अनन्त वीर्य का आगार है, किन्तु यही कर्म उसके वास्तविक रूप पर पर्दा डालकर इसे तिरोहित कर देता है। ये कर्म अनेक प्रकार के हैं।

जैसे– अनन्त ज्ञान को ढ़कने वाले ज्ञानावरणीय, अनन्त दर्शन को आच्छादित करने वाले, दर्शनावरणीय। इसीप्रकार जीवात्मा के अनन्त सुखरूप को तिरोहित करने वाले **मोहनीय कर्म** कहे जाते हैं, जिन्हें हम संक्षेप में इसप्रकार समझ सकते हैं–
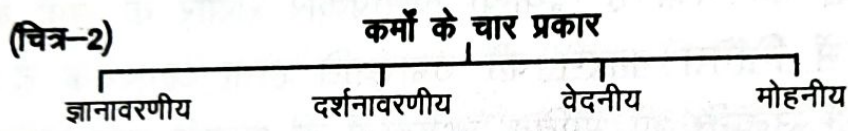
उल्लेखनीय है कि जैनदर्शन कर्म की एक अन्य शृंखला को स्वीकार करता है, जिसे यहाँ **'प्रारब्ध संज्ञा'** प्रदान की गयी है, जिसके आधार पर जीवात्मा को आयु, शारीरिक सम्पत्ति तथा जाति विशेष में उत्पत्ति की उपलब्धि होती है। इन्हीं में शुभकर्मों से व्यक्ति अच्छा होते हुए भी एक कर्म को नहीं कर पाता है, जबकि इसकी दूसरी शृंखला के चार प्रकार हैं– आयुष्कर्म, नामकर्म, गोत्रकर्म तथा अन्तराय कर्म, जिन्हें हम इसप्रकार प्रदर्शित कर सकते हैं–
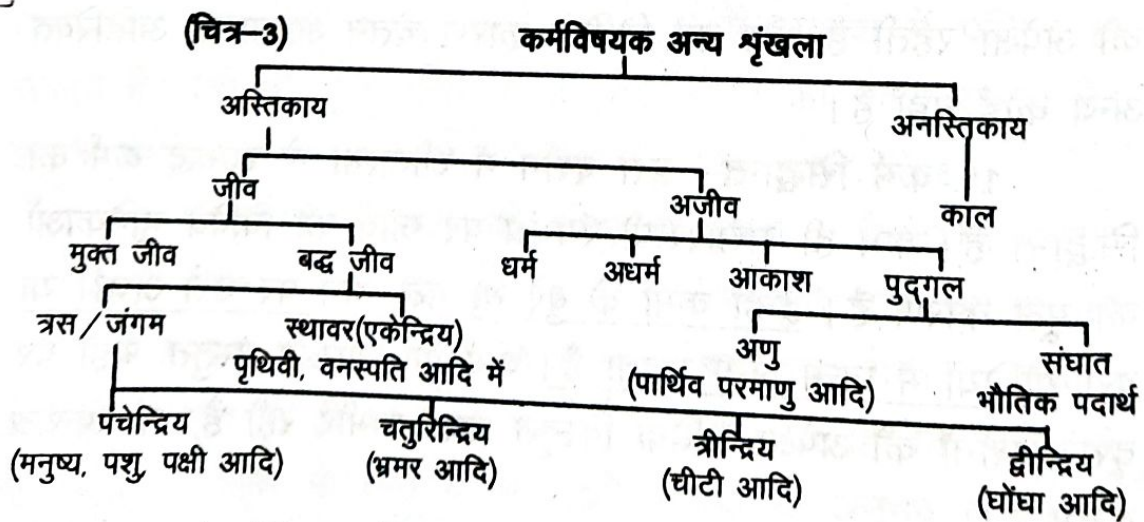
अपने दैनिक जीवन में हम कर्मों के सम्पादन के विषय में दो रूपों का सामान्यरूप से अनुभव करते हैं। **प्रथम,** संकल्प तथा **द्वितीय,**

उसकी कार्यरूप में परिणिति। इसी आधार पर जैनदर्शन में कर्म के दो भाग किए गए हैं–(1) भावकर्म (2) द्रव्य कर्म।

इनमें भी **भावकर्म** वह संकल्परूप है, जो कार्य की अवतारणा के लिए मस्तिष्क में उठता है। इसी भाव को यहाँ सूक्ष्मकर्म कहा गया है, क्योंकि जिसप्रकार किसी द्रव्य की उत्पत्ति में सूक्ष्म अणु कारणरूप है, उसीप्रकार से हमारा कर्म भी हमारे संकल्प का स्थूलरूप होता है। संकल्परूप ये सूक्ष्म भावनाएँ ही उसकी उत्पादक होती हैं, इसीलिए संकल्परूप में उसे अणु तथा सम्पन्न होने पर उसी को कार्य–द्रव्य की संज्ञा प्रदान की जाती है।

ये ही कार्य–द्रव्य आत्मा में पहुँचकर उसके साथ जुड़ जाते हैं तथा जीवात्मा में जो रागद्वेष की भावना होती है, उसी को यहाँ **'कषाय'** कहा गया है। यह कषाय ही इन द्रव्य–कार्यों के अंशों को आत्मा से संयुक्त करने में गोंद का काम करता है। जैनदर्शन में आत्मा पर चिपके हुए कार्य–द्रव्यों के अणुओं को **'लेश्य'** कहा गया है, जिसके कारण इन कर्मों के फलों का जीवात्मा भोग करता है। ये कर्मलेश्य आत्मा से तभी अलग होते हैं, जब जीवात्मा इनका भोग कर लेता है। उसके बाद ही वह अपने स्वाभाविकरूप को प्राप्त कर सकता है।

12. **कर्म, आस्रव एवं निर्जरा**– उपर्युक्त आधार पर जैनदर्शन के आस्रव तथा निर्जरा दो प्रकार के कर्मों को सरलता से समझ सकते हैं। भाव या संकल्प जो व्यक्ति के क्रियात्मक कर्मों के कारण होते हैं, उन्हें यहाँ उसप्रकार की प्रणालिका के रूप में माना गया है, जिसप्रकार किसी नाली द्वारा पानी खेत में जाता है। इसप्रकार भावात्मक तथा क्रियात्मक दोनों प्रकार की कर्म प्रणालिकाओं द्वारा आत्मा में कर्मों का संचय होता रहता है। **ये प्रणालिकाएँ ही जैनदर्शन में आस्रव नाम से कही गयी हैं।**

भाव एवं क्रियात्मक रूप कर्मों के आधार पर ही यह आस्रव दो प्रकार का होता है। **प्रथम**, भावास्रव, **द्वितीय**, कर्मास्रव। इसमें भी **प्रथम**

भावास्रव फिर से पाँच प्रकार का हो जाता है–(1) मिथ्यात्व (2) अविरति (3) प्रमाद (4) योग (5) कषाय। ध्यातव्य है कि यहाँ पर मिथ्यात्व से अभिप्राय **भ्रान्ति,** अविरति का अर्थ **असंयम**, प्रमाद का नाम असावधानता, वाणी, कर्म तथा शारीरिक कर्मों का अभिप्राय **योग** एवं कषाय का अर्थ **राग** है, जो समभाव की मर्यादा तोड़ने का कारण बनता है।

कर्मास्रव या द्रव्यास्रव, जो वस्तुतः कर्म के स्थूलरूप का संचय आत्मा में करते हैं, आत्मा को अनेक प्रकार से प्रभावित करते हैं। कर्मास्रव को ही द्रव्यास्रव भी कहा जाता है। इनके द्वारा आत्मा में इसप्रकार की विकृतियाँ उत्पन्न होती हैं, जिनसे वह अपने लिए उपर्युक्त ज्ञानावरणीय, दर्शनावरणीय, वेदनीय, मोहनीय, आयु, नाम, गोत्र तथा दूसरे अन्तरायों का जाल बुनता रहता है।

इसी प्रसंग में उल्लेखनीय यह भी है कि उक्त कर्मास्रव या भावास्रव से आत्मा के लिए भावबन्ध और द्रव्यबन्ध तैयार होता रहता है, जो प्राणी के जरा–मरण का कारण बनता है। इनका उच्छेद वस्तुतः अहिंसा, सत्य तथा संयम का पालन करने से होता है।

उक्त सांसारिक बन्धमूलक कर्मों के अलावा एक वे कर्म भी होते हैं, जिनसे इसकी निवृत्ति होती है, जिन्हें यहाँ **निर्जरा** नाम दिया गया है। इसलिए बन्धमूल कर्मों की निवृत्ति के लिए जो कर्म किए जाते हैं, उन्हें ही निर्जरा कहते हैं, किन्तु इसी प्रसंग में यह अवश्य समझना चाहिए कि कर्म भले ही कैसा भी क्यों न हो, वह भाव या संकल्प पर ही अवलम्बित होता है।

इस आधार पर निर्जरा कर्म भी दो प्रकार के हो जाते हैं–(1) भाव निर्जरा (2) द्रव्य निर्जरा। इनमें भावनिर्जरा कर्म, आत्मा के परिवर्तन की प्रवृत्तियों के लिए सूक्ष्म अणुओं का निर्माण करते हैं और इन्हीं अणुओं द्वारा द्रव्य निर्जरा कर्मों की सृष्टि होती है, जो वास्तव में बन्धमूल कर्मों का नाश करने वाला है। इसप्रकार कर्मों का क्षय होने

तथा संचित कर्मों के उपभोग किए जाने के बाद ही जीवात्मा 'मोक्ष' का अधिकारी होता है।

सामान्यरूप से कर्मों का क्षय उनके उपभोग से ही होता है, किन्तु तप एवं चारित्र्य से या उसके बिना भी उन्हें छूट मिल जाती है। इसप्रकार ये निर्जरा सविपाक तथा अविपाक भेद से दो प्रकार के हो जाते हैं। इसप्रकार निर्जर कर्मों की साधन–प्रक्रिया का नाम ही **'संवर'** है। उपर्युक्त विवेचन के आधार पर जैनदर्शन में आस्रव को बन्धन का तथा संवर को मोक्ष का कारण माना गया है।

13. **जैनदर्शन में पुद्गल**– उल्लेखनीय है कि बुद्धदर्शन में पुद्गल पद का प्रयोग व्यक्ति के अर्थ में हुआ है, किन्तु यही पद जैनदर्शन में वस्तु या पदार्थ अर्थ में प्रयुक्त हुआ है अर्थात् यहाँ पर यही पुद्गल अजीव अस्तिकायों में प्रमुख है। इसके अलावा धर्म, अधर्म, आकाश, काल तथा पुण्य, पाप आदि भी अजीव अस्तिकायों में ही गिने गए हैं।

जो जड़ तत्त्व, पदार्थों के निष्पादन में कारण होता है, उसी को यहाँ 'पुद्गल' संज्ञा प्रदान की गयी है। इसी को सांख्य में प्रधान या प्रकृति तथा न्यायदर्शन में परमाणु से निष्पन्न माना गया है। दूसरे शब्दों में, जिन तत्त्वों के **प्रचय** से शरीरादि का निष्पादन तथा उच्छेद से विनाश होता है, वही पुद्गल है। ध्यातव्य है कि सांसारिक पदार्थों का निर्माण अणुओं से होता है और इन अणुओं का कोई परिमाण नहीं होता है, ये तो अनादि तथा अनन्त होने के कारण नित्य होते हैं।

दो परमाणुओं के संयोग से एक **स्कन्ध** की सृष्टि होती है। इसीप्रकार के अनेक स्कन्धों के संयोग से स्थूल–सृष्टि बनती है। सभी परमाणुओं में स्पर्श, गन्ध, रस और रंग विद्यमान हैं, क्योंकि पृथ्वी, जल, तेज तथा वायु इन सभी के परमाणु एक जैसे ही हैं। ये सभी परिणामी होने से इनमें भी गुणगत ध्वंस विद्यमान रहता है।

इसी क्रम में **एक बात** विशेषरूप से उल्लेखनीय है कि बौद्धदर्शन पदार्थों की सृष्टि में परमाणुओं के वास्तविक संयोग को स्वीकार नहीं करते हैं, किन्तु जैनदर्शन इनमें इस संयोग को मान्यता प्रदान करता है। **दूसरी महत्त्वपूर्ण बात**, न्याय और **वैशेषिक** दर्शनों में प्रत्येक भूत अर्थात् पृथ्वी आदि के परमाणु भी अलग–अलग माने गए हैं, **जैसे**– पृथ्वी का परमाणु, जल का परमाणु आदि, किन्तु जैनदर्शन में इन सभी में समरूपता को स्वीकृति प्रदान की गयी है।

यद्यपि परिणामी गुणों के आधार पर परमाणुओं को **नश्वर** कहा जा सकता है, किन्तु द्रव्य की अपेक्षा से इन्हें 'नित्य' ही कहा जाएगा। इसलिए स्पष्ट है कि नैयायिकों के समान जैनदर्शन इन्हें सर्वथा नित्य मानने का पक्षधर नहीं है।

14. जैनदर्शन में धर्म, अधर्म और आकाशास्तिकाय– इसी प्रसंग में उल्लेखनीय यह भी है कि– जैनदर्शन धर्म, अधर्म को सामान्यरूप से समझे जाने वाले पुण्य तथा पाप के रूप में मान्यता प्रदान नहीं करता है। उसके मत में तो 'धर्म' वे तत्त्व हैं, जिनसे संसार के सभी जड़ तथा चेतन पदार्थ अपनी गति को हमेशा बनाए रखने में समर्थ होते हैं, क्योंकि गति या संचरण के अभाव में तो संसार की सत्ता की कल्पना भी नहीं की जा सकती है। इसी गति का सहयोगी तत्त्व 'धर्म' कहलाता है, जिसप्रकार जल का प्रवाह मछली की गति में कारण बनता है, वैसे ही संसार के सभी पदार्थों में गति का कारण भी यह **धर्म** ही है। यह वस्तुतः उनके संचरण में सहयोगी की भूमिका निर्वहण करता है। यही धर्मतत्त्व सम्पूर्ण लोकाकाश में व्याप्त है। इसीलिए इसे यहाँ अस्तिकायों के अन्तर्गत स्वीकार किया गया है।

धर्म के समान ही अधर्म के विषय में भी समझना चाहिए, क्योंकि यहाँ पर अधर्म, पाप अर्थ में प्रयुक्त न होकर धर्म के विरोधी तत्त्वरूप में माना गया है, क्योंकि धर्म यदि संचार का कारण है तो अधर्म विश्रान्ति में सहयोगी होता है। इसप्रकार सांसारिक जड़ एवं

चेतनों के विश्राम में सहायक तत्त्व को ही यहाँ **'अधर्म'** संज्ञा प्रदान की गयी है। इस आधार पर कहा जा सकता है कि जैनदर्शन में संचार में सहयोगी कारण **धर्म** तो विश्रान्ति में सहयोग करने वाला तत्त्व ही **अधर्म** है।

आकाश को यहाँ दो प्रकार का माना गया है। **प्रथम**, लोक–आकाश, **द्वितीय,** अलोक–आकाश। सांसारिक सभी पदार्थों में एवं उनके मध्य में स्थित अन्तराल में व्याप्त ही लोकाकाश होता है, जबकि अलोकाकाश की स्थिति उससे परे मानी गयी है। आकाश के अभाव में संसार के जीव, अजीव पदार्थों की स्थिति का होना सम्भव नहीं है, क्योंकि इन सभी में आकाश की व्याप्ति है तथा ये सभी आकाश में व्याप्त हैं। वस्तुतः प्रत्येक पदार्थ में दूसरे पदार्थों के लिए जो अवकाश होता है, वह आकाश ही वस्तुओं की सत्ता में महत्त्वपूर्ण कारण होता है।

इसप्रकार यहाँ आकाश की सत्ता को **वास्तविक संज्ञा** प्रदान की गयी है, क्योंकि जैनदर्शन के मत में इसे हम अनावरण, अनवरोध या शून्य कहकर केवल अभावात्मक नहीं कह सकते हैं, किन्तु हमें तो इसे यथार्थरूप में मान्यता देनी होगी, क्योंकि इसके अभावात्मक होने पर भला दूसरे पदार्थों को अवकाश कैसे सम्भव था? इसके व्यापक होने के कारण ही इसकी गणना अस्तिकायों में की जाती है।

15. **जैनदर्शन में काल एवं समय–** ध्यातव्य है कि यहाँ पर काल तथा समय में भी सूक्ष्म भिन्नता प्रतिपादित की गयी है। तदनुसार काल असंख्य परमाणुओं का समूह है, किन्तु इसके निर्माण हेतु परमाणुओं का मिलन नहीं होता है, ये अणुसमूह तो पदार्थों के गुणों में परिवर्तन करने में कारणमात्र होते हैं, जिससे द्रव्य के गुणों का उपचय–अपचय होता है। इसप्रकार पुराने गुणों का ध्वंस तथा नए गुणों की प्राप्ति इन्हीं काल के परमाणुओं पर निर्भर रहती है।

किन्तु यहाँ यह भी समझना आवश्यक है कि काल को यहाँ किसी भी प्रकार के परिवर्तन का प्रेरक कारण नहीं माना गया है, किन्तु यहाँ तो वह सहायक कारण मात्र है। ठीक उसीप्रकार जैसे धर्म वस्तुओं के संचरण तथा अधर्म में उनमें विश्रान्ति के कारण माने गए हैं।

समय को यहाँ पर पर्यायवाची न मानकर काल का ही एक अंश माना गया है, जो परिवर्तनशील होकर क्षण, मुहूर्त, घटी, दिन आदि के रूप में हमें प्रत्यक्ष होता है। इसप्रकार कहा जा सकता है कि जैनदर्शन में काल दूसरे पदार्थों में परिणाम उपस्थित करने में ही सहयोगी नहीं है, अपितु अपने आपको भी परिणाम को सौंपकर मुहूर्तादि रूप में हमेशा ही परिवर्तनशील रहता है। इसीलिए इसे द्रव्य की कोटि में रखा गया है। अतः काल द्रव्य है और मुहूर्तादि इसके पर्याय कहे जाते हैं।

दूसरे शब्दों में, काल पारमार्थिकरूप में **निरवयव** तथा व्यावहारिक रूप में **समय** कहलाता है। घटी आदि अवयवों के आधार पर इसे **सावयव** भी कहा जाता है, इसलिए यही समय सादि तथा सान्त है, जबकि पारमार्थिक काल अनवच्छिन्नरूप से स्थित होकर शाश्वत है।

16. **जैनदर्शन के सप्त पदार्थ**– जिसप्रकार वैशेषिकदर्शन ने द्रव्य, गुण, कर्म, सामान्य, विशेष, समवाय तथा अभाव नामक सप्त पदार्थों को मान्यता प्रदान की। ठीक वैसे ही जैनदर्शन ने भी सात पदार्थों को स्वीकार किया है, किन्तु ये सप्त पदार्थ वैशेषिक के पदार्थों से सर्वथा भिन्न हैं। जो इसप्रकार हैं–

(क) आस्रव (ख) बन्ध (ग) संवर (घ) निर्जरा (ङ) मोक्ष (ज) जीव (झ) अजीव।

यद्यपि इनमें से अधिकांश का विवेचन कर्म–प्रकरण में पूर्व में किया जा चुका है, किन्तु फिर भी प्रसंगवश किंचित् संकेत किया जा रहा है–

(क) **आस्रव**– जीव के सांसारिक बन्धन का कारण कर्म ही है। इसलिए मानसिक, वाचिक एवं कायिक तीनों प्रकार के कर्मों के अणुओं का जीव के साथ संयुक्त होना ही 'आस्रव' है। इसीकारण इसे जीव के जन्म–मरण के बन्धन का कारण कहा गया है, जो भावास्रव तथा द्रव्यास्रव रूप से दो प्रकार का होता है, जिसका उल्लेख पूर्व में किया जा चुका है।

(ख) **बन्ध**– जीव की सांसारिक दशा का नाम ही 'बन्ध' है। जैनदर्शन में जब जीव कषाययुक्त होकर कर्म के अनुरूप पुद्गलों को ग्रहण करता है, तब इसे 'बन्ध' संज्ञा दी जाती है, जिसके मिथ्यात्व, अविरति, प्रमाद, कषाय एवं योग ये कुल पाँच कारण माने गए हैं। इनका भी विवेचन पूर्व में किया गया है।

(ग) **संवर**– आस्रव के विपरीत ही 'संवर' होता है, क्योंकि यही किए गए कर्मों को निःशेष करके भविष्य में होने वाले कर्मों के मार्ग को सर्वथा अवरुद्ध करता है। इसीलिए इसे **संवर संज्ञा** प्रदान की गयी है। आस्रव के समान ही यह भी भावसंवर तथा द्रव्य संवररूप से दो प्रकार का होता है। आस्रव को यहाँ बन्धन का तथा संवर को मोक्ष का कारण कहा गया है।

(घ) **निर्जरा**– उल्लेखनीय है कि भविष्य में कर्म की सन्तति का निरोध करने वाली प्रक्रिया को यहाँ **संवर** माना गया है, तो भूतकाल में किए गए कर्मों को निःशेष बनाने वाली प्रक्रिया 'निर्जरा' कही गयी है। उन कर्मों को **निष्प्रभ** बनाने से उनमें फल प्रदान करने की शक्ति नष्ट हो जाती है, क्योंकि सभी प्रकार के कर्मों के विनष्ट होने पर ही साधक को मोक्ष की प्राप्ति होती है।

(ङ) **मोक्ष**– सांसारिक आवागमन से मुक्ति होना ही मोक्ष है। जीव एवं अजीव प्रकरण में इसका विस्तार से उल्लेख किया जा चुका है। यदि संक्षेप में कहा जाए तो जीव के बन्धन का कारण आस्रव है तो संवर उसके मोक्ष का निमित्त बनता है। यही जैनदर्शन का सार है,[1]

(ज) **जीव**– यहाँ चेतन प्राणियों को कहा गया है।

(झ) **अजीव**– तो अजीव के अन्तर्गत जंगम सृष्टि आती है।

17. **जैनदर्शन में मोक्ष**–यह दर्शन आत्मा को मूलरूप में अनन्त आनन्द, अनन्त ज्ञान तथा अनन्त दर्शन मानने का पक्षपाती रहा है। सांसारिक बन्धन के कारण इसका यह वास्तविकरूप छिप जाता है। बन्ध के आच्छादन से उत्पन्न होने वाले दुःखों से व्याकुल हुआ यह अनन्तानन्द स्वरूप वाले मोक्ष की ओर जाने का संकल्प करता है, जिसके प्राप्त होने पर इसका स्वाभाविक स्वरूप एवं शक्ति इसे हमेशा के लिए प्राप्त हो जाती है।

अनन्त ज्ञान सम्पन्न मुक्ति की अवस्था को यहाँ **'केवली'** संज्ञा प्रदान की गयी है अर्थात् वह स्वरूप से सामान्य लोगों के मति, श्रुति, अवधि, मनःपर्याय के ज्ञान से ऊपर उठकर, केवल ज्ञानमय हो जाता है। इसीलिए उसे यहाँ 'केवली' कहा गया है। इसी प्रसंग में ध्यातव्य यह भी है कि इस अवस्था में भी परिणाम तो होता ही है, नहीं तो वह द्रव्य की कोटि से बाहर हो जाएगा, किन्तु यह परिणाम आत्मा के ही स्वाभाविक गुणों की आवृत्तिमात्र होता है। दूसरे शब्दों में, इस स्थिति में उनका ध्वंस तथा उनके स्थान पर नए गुणों का आधान मुक्तावस्था में नहीं होता है, जो सांसारिक आत्मा में निरन्तर होता रहता है।

उस मुक्त आत्मा को अनादि तथा अनन्त कर्मचक्र, अपने में फिर से फाँस नहीं पाता है, क्योंकि वह अनन्तवीर्य होने से उसे दबाकर उन्हीं कार्यों की ओर उन्मुख रहता है, जिनसे उसकी

---

1. आस्रवो बन्धहेतुः स्यात् संवरो मोक्षकारणम्।
इतीमार्यहती मुष्टिः अन्यद अस्याः प्रपंचनम्।।

वास्तविक दशा उच्छिन्न नहीं होती है। अपने अनन्तवीर्य के अभ्यास से कर्मों का दलन करके केवली मुक्तदशा को प्राप्त करता है, क्योंकि अनन्तवीर्य के अभाव में तो आत्मा कभी भी मुक्त ही नहीं होता और कर्मबन्धनों में ही उलझा रहता है और मोक्ष का अधिकारी भी नहीं होता है।

यह कर्म उसके मार्ग में केवल तभी तक बाधाओं को उत्पन्न करता है, जब तक वह अपने अनन्तवीर्यरूप को विस्मृत किए रहता है। उसका ज्ञान होते ही वह उसे मुक्ति की प्राप्ति होने से विचलित नहीं कर पाता है और उसके मुक्त होने पर उसके समक्ष कोई बाधा भी उपस्थित नहीं करता है। इसी को यहाँ 'मोक्ष' संज्ञा प्रदान की गयी है।

18. **जैनदर्शन में ज्ञान, प्रमाण एवं भेद**– जैसा कि पूर्व में कहा जा चुका है कि आत्मा स्वभाव से ही **अनन्त ज्ञानरूप** है, जो सांसारिक स्थिति में प्रकट नहीं होता है। इसके अलावा यह आवरणीय आदि कर्मों के कारण बाधाओं के आने से परिमित भी रहता है, किन्तु यह ज्ञान सूर्य के समान 'स्वपरभासी' होता है अर्थात् जिसप्रकार सूर्य स्वयं को भासित करते हुए दूसरे पदार्थों को भी दीपित करता है, वैसे ही यह ज्ञान भी लौकिक स्थिति में स्वयं को तथा दूसरी वस्तुओं को भी प्रकाशित करता है।

जब कोई व्यक्ति अपने विषय में वर्णन करते हुए कहता है कि– 'मैं इस सम्बन्ध में थोड़ा जानता हूँ' तो वहाँ पर 'मैं' से आत्मा का और थोड़ा आदि से 'विषयी' का आभास स्पष्ट ही देखने को मिलता है। इसीलिए इस दर्शन में आत्मा को **स्वपरभासी** कहा गया है।

इसके अलावा जैनदर्शन में ज्ञान के दो भेद किए गए हैं। **प्रथम**, परोक्ष एवं **द्वितीय** अपरोक्ष। इनमें भी परोक्षज्ञान किसी दूसरे के माध्यम से किया जाता है, जबकि अपरोक्षज्ञान आत्मा में साक्षात्‌रूप से आविर्भूत होता है। इस परिभाषा के अनुसार सभी लौकिक ज्ञान भले ही वे प्रत्यक्ष ही क्यों न हों, परोक्ष की कोटि में ही माने जाएँगे, क्योंकि

प्रत्यक्ष ज्ञान भी लौकिक आत्मा को इन्द्रिय तथा मनादि के माध्यम से ही होता है, किन्तु ऐसा ज्ञान जिसे हम प्रत्यक्षरूप में जानते हैं, यथार्थ में परोक्ष होते हुए भी व्यावहारिक दृष्टि से अपरोक्ष इसलिए मान लिया जाता है, क्योंकि अनुमानादि की अपेक्षा उसमें अपरोक्षत्व विद्यमान होता है।

पारमार्थिक दृष्टि से तो अपरोक्षज्ञान केवली लोगों को ही होता है, क्योंकि उन्हें किसी भी पदार्थ के ज्ञान के लिए इन्द्रिय, मन आदि की अपेक्षा ही नहीं होती है। लोकव्यवहार की दृष्टि से प्रत्यक्ष को अपरोक्ष, अनुमान, स्मृति तथा प्रत्यभिज्ञान को परोक्ष नाम से ही जाना जाता है। शब्द प्रमाण के रूप में यहाँ श्रीमहावीरादि जैन महात्माओं के वचनों को स्वीकार किया गया है, जिसे यहाँ 'श्रुत प्रत्यक्ष' की संज्ञा दी गयी है, जिसे आगे स्पष्ट करेंगे।

उपर्युक्त विवरण से स्पष्ट है कि जैनदर्शन में सांख्य एवं योगादि दर्शनों के समान ही प्रत्यक्ष, अनुमान तथा शब्द तीन ही प्रमाणों को मान्यता प्रदान की गयी है, किन्तु यहाँ प्रत्यक्ष का स्वरूप थोड़ा भिन्न रहा है, जिसे हम संक्षेप में इसप्रकार समझ सकते हैं–

(चित्र–4)
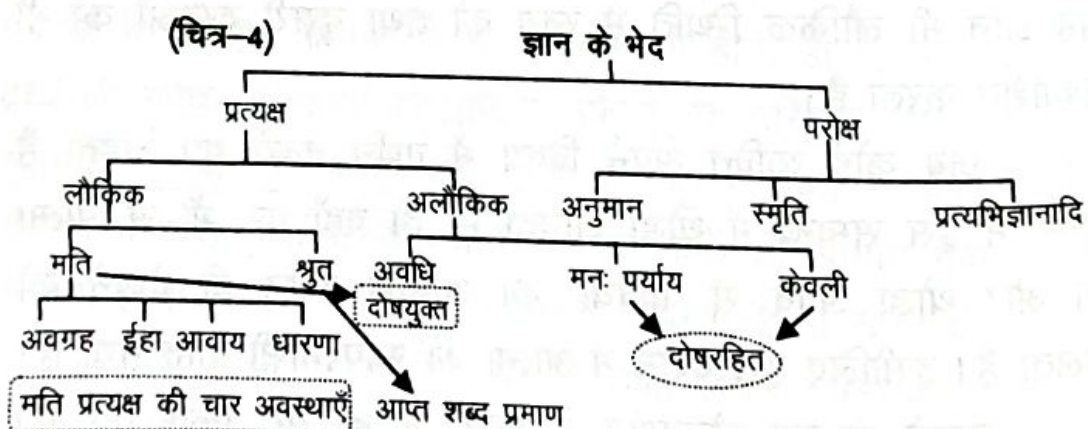
इसी प्रसंग में यह भी ध्यातव्य है कि यहाँ अपरोक्ष के दो भेदों में से सही अर्थों में तो पारमार्थिक अपरोक्ष को ही अपरोक्ष की श्रेणी में रख सकते हैं, क्योंकि इसका आविर्भाव कर्मबन्धन क्षीण होने पर केवली की दशा प्राप्त करने के बाद ही होता है। इसी आधार पर यहाँ व्यावहारिक अपरोक्ष तथा पारमार्थिक अपरोक्ष दो भेद किए गए हैं।

इसके अलावा लौकिक प्रत्यक्ष या अपरोक्ष के भी दो भेद होते हैं। **प्रथम**, मति और **द्वितीय,** श्रुत। सामान्य लोगों में जिस ज्ञान की उत्पत्ति मन तथा पंच इन्द्रियों में से कोई एक, इन दो इन्द्रियों के माध्यम से होती है, उसे यहाँ **'मति प्रत्यक्ष'** संज्ञा दी गयी है। इसी प्रकार यदि यही ज्ञान किसी के बताने से होता है, उसे **'श्रुत प्रत्यक्ष'** कहा गया है।

किसी भी प्रकार के प्रत्यक्ष में जैनदर्शन चार अवस्थाओं को मान्यता प्रदान करता है। **प्रथम अवस्था** में, जब हमारी इन्द्रियाँ तत्तत् विषय को ग्रहण करने के लिए तत्पर होती हैं अर्थात् उनमें इसप्रकार की उत्कण्ठा होती है। इन्द्रिय के इस संवेदन को **'अवग्रह'** कहते हैं। **जैसे–** किसी प्रकार की ध्वनि को सुनकर श्रोत्र उस ओर उत्कण्ठित होता है, तो यह उसकी 'अवग्रह अवस्था' कहलाएगी।

द्वितीय अवस्था में, उस ध्वनि को जानने के लिए 'यह क्या है? हम आगे बढ़ते हैं, यही वस्तुतः 'मति' नामक प्रत्यक्ष की **'ईहा'** नामक अवस्था है। **तृतीय अवस्था** में, हम इस निर्णय पर पहुँच जाते हैं कि यह ध्वनि अमुक की है, इसे यहाँ **'आवाय'** कहा गया है, जबकि अन्तिम **चतुर्थ अवस्था** 'धारणा' है, जिसमें वह ध्वनि हमारे मन में दृढ़ होकर बैठ जाती है कि यह अमुक की आवाज़ है और फिर से ऐसे अवसरों पर हम सुनते ही जान लेते हैं कि यह तो अमुक की ध्वनि है।

यह तो बात हुई 'मति प्रत्यक्ष' की, अब हम **'श्रुत प्रत्यक्ष'** के विषय में कहते हैं। इसी का अन्य नाम **आप्तोपदेश** भी है। सामान्यरूप से हम लौकिक अर्थ को स्वयं देखकर जानते हैं, किन्तु यदि उसी को किसी सम्भ्रान्त व्यक्ति के सहयोग से जाना जाता है, तो वही श्रुत प्रत्यक्ष की श्रेणी में आता है।

जैसे– आपके मन में जल पीने की इच्छा हुई और आपने इसके लिए किसी से तालाब का मार्ग पूछा और उसने जो भी बताया उसका अनुकरण करते हुए चलने पर वह आपको वहाँ मिल गया, तो

यह प्रत्यक्ष 'श्रुत अर्थ' माना जाएगा। जैनदर्शन में तीर्थंकरों के उपदेश उत्कृष्ट श्रुत प्रत्यक्ष के उदाहरण कहे जा सकते हैं, किन्तु इस श्रुतज्ञान से पहले मतिज्ञान का होना आवश्यक है।

इसी प्रसंग में हम **पारमार्थिक अपरोक्ष** की भी बात कर लेते हैं, जो वस्तुतः वास्तविक अपरोक्ष न होकर सापेक्ष अपरोक्ष कहा जा सकता है, क्योंकि पारमार्थिक अपरोक्ष तो बाह्य इन्द्रिय तथा मन के सहयोग से उत्पन्न होने वाले ज्ञान–कर्म रूप बाधा के हटने पर ही उत्पन्न होता है, जिसके **अवधि, मनःपर्याय** तथा **केवलरूप** से तीन भेद होते हैं।

(1) **अवधि ज्ञान–** यह तो साधक को ही होता है, सामान्य व्यक्ति को नहीं, क्योंकि इसमें जीवात्मा के कर्म आंशिकरूप से क्षीण हो जाते हैं, 'अविद्या' का आवरण किंचित् हट जाता है और चैतन्यांश अपने रूप में दृष्टिगोचर होने लगता है और उसमें दूरस्थ या व्यवधान युक्त सूक्ष्म वस्तुओं को भी प्रत्यक्षवत् देखने की सामर्थ्य आ जाती है। इसप्रकार की सिद्धि की यह अवस्था ही यहाँ पारमार्थिक प्रत्यक्ष का **अवधि ज्ञान** नामक प्रथम भेद होता है, जिसे कुछ अर्थों में सिद्धि की प्रथम अवस्था भी कह सकते हैं, क्योंकि सर्वज्ञता तो सिद्ध बनने के बाद ही होती है।

(2) **मनःपर्याय–** इसके दूसरे भेद 'मनःपर्याय' में साधक राग द्वेषादि दोषों से सर्वथा मुक्त हो जाता है और उसमें दूसरे प्राणियों के चिन्तन तथा उनके भूत–भविष्य के कर्मों को जानने की सामर्थ्य भी आ जाती है, जो वस्तुतः साधनों के निरन्तर अभ्यास से ही सम्भव हो पाती है। यही मनःपर्याय नामक पारमार्थिक प्रत्यक्ष की दूसरी अवस्था है।

(3) **केवलज्ञान–** अन्तिम **केवल ज्ञान** को साधक साधनों के बल से ही सिद्ध होकर 'अर्हत्' के स्थान को प्राप्त कर लेता है, किन्तु इसके लिए उसके अब तक के सभी कर्मों का विनष्ट होना आवश्यक है। इसलिए वह नितान्त शुद्ध होकर अनन्त ज्ञान को पा लेता है तथा सर्वज्ञ हो जाता है। पारमार्थिक प्रत्यक्ष के ये तीनों भेद लौकिक प्रत्यक्ष

से सर्वथा भिन्न हैं। उल्लेखनीय है कि उक्त प्रत्यक्षों में से **मति, श्रुत** तथा **अवधि** इन तीनों में दोषों की सम्भावना रहती है, किन्तु अलौकिक मनःपर्याय और केवल, सर्वथा दोषमुक्त होते हैं।

19. **जैनदर्शन में स्याद्वाद**– 'स्यादवाद' वस्तुतः जैनदर्शन का महत्त्वपूर्ण सिद्धान्त है। इसका अभिप्राय यही है कि प्रत्यक्ष या परोक्ष प्रमाणों द्वारा प्राप्त पदार्थ **अनन्त धर्मों** वाले हैं। ऐसी स्थिति में किसी भी वस्तु का ऐकान्तिक वर्णन सत्य नहीं कहा जा सकता है, क्योंकि किसी भी वस्तु का वर्णन पूर्णरूप से नहीं किया जा सकता है। हम सभी वस्तुतः उसके अंशतः वर्णन से ही सन्तुष्ट हो जाते हैं।

इस बात को हम हाथी के उदाहरण से समझ सकते हैं, जिसे तीन अन्धे छूकर देखने से पूँछ के समान, खम्बे के जैसा या सूँड के समान व्याख्या करते हैं। यों भी प्रायः सभी दर्शन परस्पर विरोधी विचार धारा वाले होने से इस कथ्य को पुष्ट ही करते हैं। इसलिए किसी भी वस्तु के विषय में **'इदम् इत्थम्'** कहना असम्भव ही है, क्योंकि व्यक्ति का निर्णय तो केवल वस्तु की आंशिकता को ही स्पर्श कर पाता है, किन्तु इसी को पूर्णता के रूप में प्रस्तुत करने का प्रयास जैनदर्शन अपने **'स्यादवाद'** के सिद्धान्त के माध्यम से करता है।

जिसका अभिप्राय यही है कि– किसी भी निर्णय के समय यदि उसमें 'स्यात्' पद का प्रयोग कर दिया जाए, तो निर्णय में सत्यता का संचार हो सकता है। यहाँ 'स्यात्' का अर्थ किसी सम्बन्ध में, किसी रूप में या अन्य आपेक्षिक रूप में समझना चाहिए। इस सिद्धान्त में यहाँ सात वाक्यों को प्रस्तुत किया गया है, जिससे इसे **'सप्तभंगी नय'** संज्ञा भी प्रदान की गयी है। इन वाक्यों में किसी भी वस्तु के अस्ति, नास्ति आदि देशकाल की परिस्थितियों के आधार पर उसके अनन्त गुण या अभिव्यक्ति की क्षमता आदि को मन में रखते हुए हम किसी वस्तु के विषय में अपनी विचाराभिव्यक्ति करते हैं। **जैसे**– यह घट है, इसे कहने के लिए 'स्यात् घट है' ऐसा कहेंगे। ऐसा कहने से उस घट

की सीमित सत्ता की ही अभिव्यक्ति होगी और उसकी वस्त्रादि में अतिव्याप्ति होने से भी बचा जा सकेगा।

इसीप्रकार जब हम नास्ति–वाचक वर्णन करते हैं, **जैसे–** 'यह घड़ा नहीं है' तो हम इसे 'स्यात् घड़ा नहीं है' ऐसा कहेंगे, जिससे हमारा निर्णय दूसरी अनेक प्रकार की शंकाओं से बच सकेगा, क्योंकि एक ही प्रक्रिया के आधार पर हम उसे वर्णनीय न कहकर अनिर्वचनीय ही कह सकते हैं। वस्तुस्थिति तो यह है कि सभी सांसारिक पदार्थ सत्तात्मक एवं असत्तात्मक अनेकरूपता के कारण इतने अधिक हैं कि वे सभी हमारे निर्णय में किसी भी प्रकार समा ही नहीं सकते हैं। इसलिए हमें अपने निर्णय में **'स्यात् अनिवर्चनीय है'** ऐसा कहना होगा, तभी हम उनकी महत्ता को प्रदर्शित करके अपनी निर्णयात्मक अक्षमता का समावेश करते हुए सत्य की अभिव्यक्ति में समर्थ हो सकते हैं।

उक्त सात प्रकार के वाक्यों की स्थिति इसप्रकार है–

(क) **स्यादस्ति–** यह किसी रूप में है या इसमें सापेक्ष अर्थात् अंशतः सत्ता है।

(ख) **स्याद् नास्ति–** इसमें आपेक्षिक असत्ता का कथन किया गया है।

(ग) **स्यादस्ति नास्ति च–** यहाँ अंशतः होने तथा अंशतः न होने की बात कही गयी है।

(घ) **स्याद् अवक्तव्यम्–** इसके द्वारा उसके अनिवर्चनीयत्व का कथन हुआ है।

(ङ) **स्यादस्ति च अवक्तव्यं च–** यहाँ उसकी सत्ता के साथ ही अनिवर्चनीयत्व को कहा गया है।

(च) **स्यान्नास्ति च अवक्तव्यं च–** इस वाक्य में उसके असत्तात्मक स्वरूप को कहते हुए अनिवर्चनीयत्व भी बताया है।

(छ) **स्यादस्ति च नास्ति च अवक्तव्यं च**– इस वाक्य में वस्तु के होने न होने के साथ–साथ उसके अनिवर्चनीयत्व का उल्लेख किया गया है।

इसप्रकार जैनदर्शन में प्रत्येक वस्तु के अनन्त गुणों के अभिव्यक्त करने के लिए उक्त सात नयों को ही पर्याप्त माना गया है, जिसे हम संक्षेप में इसप्रकार समझ सकते हैं–

(चित्र–5) **सप्तभंगी नय**

स्यादस्ति | स्याद् अस्ति नास्ति च | स्यादस्ति च अवक्तव्यम् च | स्यादस्ति च नास्ति च अवक्तव्यम् च

स्याद् नास्ति | स्याद् अवक्तव्यम् | स्यान्नास्ति च अवक्तव्यम् च
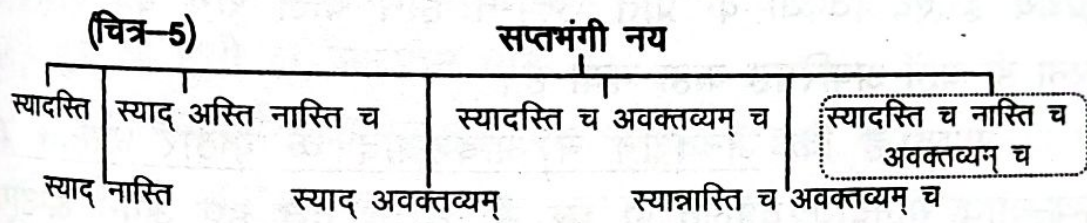
इसी प्रसंग में यह भी उल्लेखनीय है कि कुछ विद्वानों ने जैन दर्शन के उक्त सप्तभंगी न्याय को **सापेक्षवाद** की संज्ञा प्रदान करते हुए इसकी तुलना पाश्चात्य वस्तुवादी सापेक्षवाद से की है, क्योंकि यह सापेक्ष होते हुए भी यह ज्ञान मात्र मन पर निर्भर न होकर वस्तुओं के धर्म पर भी निर्भर माना गया है। साथ ही, इसे ग्रीक दार्शनिक **'पिरो'** के संशयवाद से सर्वथा अलग कहा है,[1] क्योंकि यहाँ प्रयुक्त 'स्यात्' पद संशयार्थ जैसा प्रतीत होते हुए भी वस्तुतः 'सापेक्षता' का ही परिचायक है तथा परिस्थिति एवं प्रसंग के अनुसार इसप्रकार का परामर्श सत्य ही होता है।

20. **जैनदर्शन का व्यावहारिक पक्ष अष्टांग योग**– उल्लेखनीय है कि दूसरे दर्शनों के समान ही जैनदर्शन में भी आचार संहिता का विशेषरूप से ध्यान रखा गया है, जिसके आधार पर योग को मोक्ष का साधन मानते हुए उसके आठ अंगों का विस्तार से उल्लेख किया गया है। योग के वे आठ अंग योगदर्शन से किंचित् भिन्न इसप्रकार हैं–

(1) **ज्ञान** (2) **श्रद्धा** (3) **अहिंसा** (4) **चारित्र** (5) **सूनृत** (6) **अस्तेय** (7) **ब्रह्मचर्य** और (8) **अपरिग्रह**।

1. भारतीय दर्शन का इतिहास, डॉ. हरिदत्त शास्त्री, पृष्ठ–90।

जैन अनुशासन के अनुसार अचल विश्वास का नाम ही **'श्रद्धा'** है। दोषयुक्त कर्मों का पूर्णरूप से परित्याग करना ही **चारित्र** है। सत्य एवं मधुर भाषण को ही **सूनृत** समझना चाहिए। किसी भी स्थिति में किसी भी प्राणी की हत्या से बचना ही **अहिंसा** मानी गयी है। दूसरे की वस्तु को उसकी अनुमति के बिना न लेना **अस्तेय** है। इसीप्रकार मन, वचन तथा शरीर से किसी भी विषय की कामना न करना ही **ब्रह्मचर्य** है एवं विषयों के प्रति उत्पन्न होने वाले राग का परित्याग करना ही यहाँ **अपरिग्रह** कहा गया है।

स्पष्ट है कि जैनदर्शन ने आदर्शवाद के कठोर धरातल के साथ-साथ मानवीय दुर्बलताओं पर भी ध्यान देते हुए अपने **अष्टांग सिद्धान्त** का निर्माण किया और इसी आदर्श में विद्यमान गुणों को भी जीवन में आचरण करने का निर्देश प्रत्येक साधक और सामान्य व्यक्ति को प्रदान किया, जिसे इसके व्यावहारिक पक्ष के रूप में देखा जा सकता है। इसी पक्ष को ध्यान में रखते हुए जैन आचार्यों ने आचार को **महाव्रत** और **अणुव्रत** पालन का निर्देश किया है। इनमें भी महाव्रत का अनुष्ठान उन महामानवों के लिए है, जो केवलीरूप प्राप्त करने के लिए प्रयासरत हैं, जबकि **अणुव्रत** का पालन सामान्य जन के लिए अनिवार्य बताया है।

इस विषय में आचार्य हेमचन्द्र का कथन विशेषरूप से कथनीय है, क्योंकि उन्होंने गृहस्थियों के लिए ईमानदारी के साथ धनार्जन करने, महाजनों के मार्ग का अनुसरण करने, कुलीन कन्या के साथ पुत्रों की प्राप्ति उद्वाह (विवाह) पूर्वक करने एवं देश की परम्पराओं का पालन करने के लिए कहा है, किसी भी देश एवं काल के लिए सामान्य लोगों से यही अपेक्षा की जा सकती है। यही जैनदर्शन का व्यावहारिक पक्ष भी है। इसके अतिरिक्त इस दर्शन का यह भी मानना है कि पात्र की शक्ति के अनुसार ही उसके लिए धर्मोपदेश उचित है।

इसी क्रम में इस दर्शन का **अहिंसा का सिद्धान्त** भी चिन्तनीय है, जिसे आचार संहिता के ही अंगरूप में स्वीकार कर सकते हैं। सूक्ष्म दृष्टि से विचार करने पर सूनृत, अस्तेय, ब्रह्मचर्य तथा अपरिग्रह इन सभी का मूलाधार प्रत्यक्ष–अप्रत्यक्षरूप से अहिंसा को ही माना जा सकता है, क्योंकि इन सबकी प्रतिष्ठा अहिंसा के आधार पर ही हुई है। दूसरे शब्दों में, **'अहिंसा परमो धर्मः'** ही जैनदर्शन का मूल मन्त्र है, दूसरे गुण तो इसी के **पल्लवन मात्र** हैं।

21. **जैनदर्शन के महाव्रत एवं अणुव्रत**– इसी प्रसंग में यह भी ध्यातव्य है कि अहिंसा का उपदेश गृहस्थियों की अपेक्षा महाव्रतियों के लिए अधिक कठोररूप में कहा गया है, जो अपेक्षाकृत सरल तथा व्यावहारिक भी है। यहाँ महाव्रतियों के लिए आवश्यक है कि वे कठोरतम यातनाओं में भी अहिंसा का **मनसा, वाचा, कर्मणा** पालन करें। साथ ही, इस बात का भी विशेषरूप से ध्यान रखा गया है कि कीट–पतंग की हिंसा भी जाने–अन्जाने में कभी साधक द्वारा नहीं की जानी चाहिए। यहाँ तक कि अप्रत्यक्ष रूप से भी हिंसा में कारण बनने का यहाँ निषेध किया गया है।

22. **जैनदर्शन में अहिंसा**– अहिंसा पर आधारित कुछ दूसरे छोटे–छोटे आचरणों का उल्लेख भी जैन ग्रन्थों में आचार्यों द्वारा किया गया है, जो इसप्रकार हैं– (1) दिग्विरति (2) भोगोपभोगमान (3) अनर्थ दण्ड एवं (4) शिक्षाप्रद व्रत। इनमें भी अन्तिम दोनों को फिर से चार–चार प्रकार का बताया है, जिनका हम यहाँ संक्षेप में उल्लेख कर रहे हैं–

(1) **दिग्विरति**– इसके अनुसार व्यक्ति को अपने कार्यक्षेत्र को अत्यन्त सीमित रखना चाहिए, इससे वह हिंसा करने की सम्भावना से बहुत कुछ अर्थों में मुक्त रहेगा।

(2) **भोगोपभोगमान**– इसमें भक्ष्य एवं अभक्ष्य वस्तुओं के विषय में निर्देश दिए गए हैं, जिसके अन्तर्गत मद्यपान, मांस, मक्खन, शहद,

गूलरादि फलों तथा वनस्पतियों के भक्षण का निषेध किया गया है, क्योंकि इनके खाने से हिंसा की प्रबल सम्भावना रहती है। इसी बिन्दु में भोजन के योग्य स्थान तथा समय का भी कथन किया गया है।

(3) **अनर्थदण्ड**– इसमें अपध्यान, पापोपदेश, हिंसोपकारिदान तथा प्रमादाचरण आदि चार उपविभागों का उल्लेख हुआ है, जो इसप्रकार हैं–

(क) **अपध्यान**– इसमें किसी को कोई हानि न पहुँचाने का निषेधमात्र किया गया है तथा इसी प्रसंग में अपने शत्रु को भी हानि न पहुँचाने की बात कही गयी है।

(ख) **पापोपदेश**– इस बिन्दु में किसी भी व्यक्ति को कृषिकर्म करने के लिए प्रेरणा या परामर्श देने के लिए मना किया गया है, क्योंकि कृषि में अनेक जीवों की हत्या की सम्भावना रहती है।

(ग) **हिंसोपकारिदान**– इसके अन्तर्गत कृषि के साधक यन्त्रों तथा दूसरे साधनों को उपलब्ध कराने का निषेध किया गया है। ध्यातव्य है कि ऐसा करना यद्यपि प्रत्यक्षरूप से किसी की हिंसा करना न होने पर भी इसे हिंसा में कारण मानकर **वर्जना** की गयी है।

(घ) **प्रमादाचरण**– इसके अनुसार व्यक्ति को वाद्य एवं संगीत की गोष्ठियों, नाट्यादि प्रदर्शनों से भी दूर रहने तथा मैथुनादि की चर्चा तक भी, न करने और अश्लील साहित्य को न पढ़ने, द्यूतादि न खेलने की बात का कथन किया गया है।

(4) **शिक्षाप्रद व्रत**– इसके अन्तर्गत चार उपविभागों की चर्चा की गयी है, जो इसप्रकार हैं– (क) सामयिक व्रत (ख) देशावकाशिक व्रत (ग) पोषध व्रत (घ) अतिथि संविभाग व्रत।

(क) **सामयिक व्रत**– जैन दर्शन के अनुसार सभी को समान समझकर सभी के साथ एक जैसा व्यवहार करना अर्थात् पक्षपात न करना ही 'सामयिक व्रत' की श्रेणी में आता है।

(ख) **देशावकाशिक व्रत**– इसका अभिप्राय है कि– व्यक्ति हमेशा ही अपने व्यवहार तथा व्यापार दोनों को ही संकुचित करने का निरन्तर अभ्यास करता रहे।

(ग) **पोषध व्रत**– इसके अन्तर्गत व्यक्ति के लिए यम, नियम और संयम के साथ स्वयं को नियन्त्रित करने की बात का उल्लेख किया गया है।

(घ) **अतिथिसंविभाग व्रत**– इस व्रत में घर पर आए हुए अतिथि का सत्कार करने तथा उसे यथाशक्ति दान देना आता है।

दूसरे शब्दों में, यही वस्तुतः जैनदर्शन की आदर्श आचारसंहिता है, जिनका यहाँ **अणुव्रत** के रूप में उल्लेख किया गया है और इसके उल्लंघन को यहाँ **अतिचार संज्ञा** दी गयी है। उपर्युक्त विवरण को हम संक्षेप में इसप्रकार भी समझ सकते हैं–

(चित्र–6)
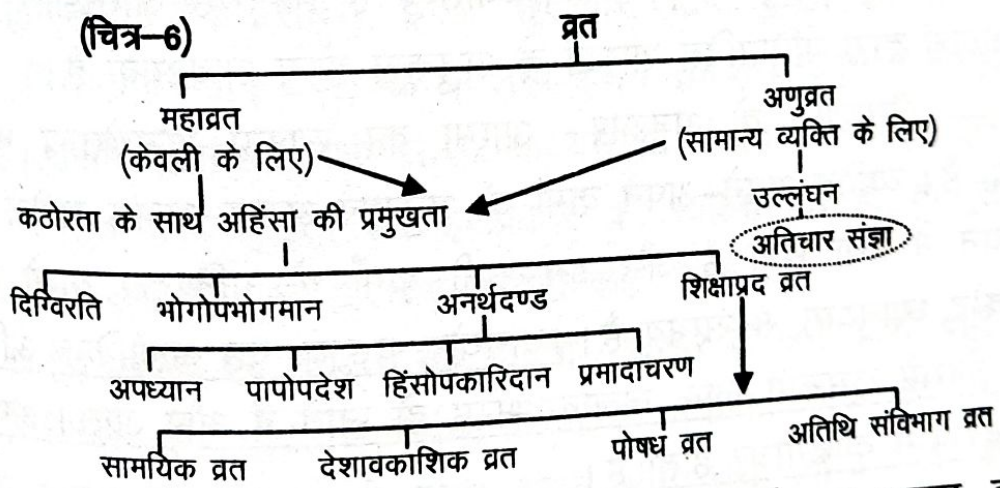
इसके अलावा महाव्रती के लिए ब्रह्मचर्य का पालन कहीं अधिक कठोर कहा गया है, क्योंकि मुमुक्षु के लिए मनसा, वाचा, कर्मणा मैथुन का निषेध किया गया है, जबकि अणुव्रत में अपनी विवाहिता स्त्री को छोड़कर अन्यत्र मैथुन का सख्ती से निषेध हुआ है।

23. **जैनदर्शन के त्रिरत्न**– सम्यक् दर्शन, सम्यक् ज्ञान, सम्यक् चारित्र्य, ये तीनों जैनदर्शन के **रत्नत्रय** कहे गए हैं। इनमें भी **प्रथम, सम्यक् दर्शन** से अभिप्राय जैन तीर्थंकरों के वचनों में अटल श्रद्धा से है, जिसे मुमुक्षु के लिए प्रथम साधन माना गया है। **द्वितीय,** सम्यक्

ज्ञान का अर्थ यहाँ जैन शास्त्रों में प्रतिपादित आत्मज्ञान या तत्त्वज्ञान से लिया गया है। श्रद्धा के समान ही मुमुक्षु के लिए इसकी भी अत्यधिक उपयोगिता बतायी गयी है। **तृतीय** रत्न **सम्यक् चारित्र्य** कहा गया है, जिसमें सम्यक्ज्ञान तथा सम्यक्दर्शन दोनों को ही अपने जीवन में उतारने की बात का उल्लेख हुआ है, क्योंकि यदि इन दोनों को ही व्यवहार में अपने जीवन में न उतारा जाए, तो केवल शाब्दिक ज्ञान से ये दोनों ही निरर्थक हैं।

24. **जैनदर्शन में ध्यानयोग**– जैनदर्शन में प्रत्यक्ष अनुभव, ज्ञान, ध्यान तथा आचरण इन सबका सम्बन्ध आत्मा से ही है, क्योंकि अनात्म ज्ञानमूलक सभी दुःखों का अन्त आत्मज्ञान द्वारा हो जाता है। दूसरे शब्दों में, आत्मज्ञान को दुःखों का विनाश करने वाला तथा मोक्ष का साधन माना गया है, जबकि अनात्मज्ञान को दुःखों का मूल मानना ही **तत्त्वज्ञान** की श्रेणी में आता है। ध्यातव्य है कि यह आत्मज्ञान जैन तीर्थंकरों द्वारा प्रतिपादित शास्त्रों के अनुकूल होना आवश्यक है।

जैनदर्शन के अनुसार– आत्मा का स्वरूप **शुद्धचैतन्य** माना गया है। व्यक्ति अपने–अपने कर्मों के अनुसार अलग–अलग शरीरों के बन्धन में बँधा हुआ है और इन सभी कर्मों के ग्रन्थिरूप पाशों का उच्छेद ध्यानयोग से सम्भव है। ध्यानयोग वस्तुतः वह अलौकिक अग्नि है, जिसमें कर्मरूपी जाल जलकर भस्म हो जाते हैं और आत्मा अपने शुद्धरूप में दृष्टिगोचर होता है।

ध्यानयोग के अन्तर्गत यहाँ पाँच प्रकार की भावनाओं को स्वीकृति प्रदान की गयी है। (1) अनित्यता की भावना (2) अशरण की भावना (3) एकत्व एवं अन्यत्व की भावना (4) अशुचि भावना (5) आस्रव भावना। 'भावना' से अभिप्राय यहाँ उन मुख्य बिन्दुओं से है, जिनपर साधक अपने ध्यान को सभीप्रकार से केन्द्रित करके गहनता से अभ्यास करता है, जिनका विवरण हम यहाँ संक्षेप में प्रस्तुत कर रहे हैं–

(1) **अनित्यता की भावना**– सांसारिक वस्तुओं की नश्वरता एवं परिवर्तनशीलता और उनके उत्पादध्वंसों का प्रतिक्षण पर्यवेक्षण करके साधक इस ध्रुवसत्य को अपने अन्तःकरण में जमाता है कि संसार एवं उसके सभी विषय वस्तुंतः असत्य हैं। अपनी अनुभूतियों से भी वह इस विषय को प्रतिदिन देखता ही है कि जो एक क्षण पहले था, अगले ही क्षण बदल जाता है। इसलिए हमारा शरीर, विषयों के उपभोग, धन–दौलत, ऐश्वर्य, यौवन ये सभी परिणामी हैं और वायु के समान प्रतिक्षण नष्ट होते चलते हैं। इसलिए सम्पूर्ण संसार भी क्षणभंगुर अर्थात् अनित्य है।

(2) **अशरण की भावना**– इस स्थिति में साधक सभी सांसारिक वस्तुओं में शरण को असम्भव मानता है। यह संसार दुःखों से भरा हुआ **कारागार** है, जिसकी यातनाओं से आज तक कोई भी अपने को बचा नहीं सका है। इसलिए इससे छुटकारा प्राप्त करने की आशा, वस्तुतः निराशामात्र है। कोई भी अवलम्ब इसमें सहयोग करने में समर्थ नहीं है। इसलिए संसार तथा सांसारिक वस्तुओं में स्वयं के लिए सुख खोजना बहुत बड़ी मूर्खता है। इसप्रकार की भावना को ही दृढ़मूल करने की धारणा को यहाँ **अशरण–भावना** कहा गया है।

(3) **एकत्व एवं अन्यत्व की भावना**– संसार के सभी प्राणी बहुत कुछ समानता होते हुए भी सर्वथा भिन्न हैं, क्योंकि उनके कर्म भी अलग–अलग हैं, जो उनके भिन्न–भिन्न भोग तथा भोगायतनों के कारण हैं। इसी अभिप्राय को अपने ध्यांन का केन्द्र बिन्दु बनाने का प्रयास ही यहाँ एकत्व एवं अन्यत्व की भावना के रूप में माना गया है।

(4) **अशुचि भावना**– इस भावना में साधक अपने शरीर के मलवाही स्वरूप का चिन्तन करता है, क्योंकि इसी आधार पर वह अपने तथा दूसरे शरीरों के प्रति घृणा की भावना को दृढ़ करता है। वस्तुतः यह बात उसकी दृष्टि से क्षणभर के लिए भी दूर नहीं होती है कि यह शरीर रुधिर, मांस और अस्थि का संचयमात्र एवं मलमूत्र का

पात्र है। इसीलिए ग्लानि का अधिष्ठान है। न्यायदर्शन में इसी को **अवयव भावना** संज्ञा प्रदान की गयी है।

(5) **आस्रव भावना**– यहाँ तक कही गयी चार भावनाएँ वस्तुतः स्थूल संसार तथा उसमें स्थित विषयों के उपभोग तथा स्व–पर शरीर से जुड़ी हुई हैं, किन्तु यह भावना कर्मबन्धन से सम्बन्धित होने से अपेक्षाकृत अधिक सूक्ष्म चिन्तन से सम्बन्धित है। इसमें साधक अपने मन को शुद्ध तथा शुभ परिणामों पर जमाने का भरसक प्रयास करता है।

इस भावना में व्यक्ति सोचता है कि इसप्रकार इस आस्था द्वारा मेरे मन की शुद्धि हो जाने पर मेरे हृदय में निश्चय ही सर्वभूत मैत्री की भावना का उदय होगा तथा मेरे सभी प्रकार के रागद्वेष विनष्ट होंगे। मेरे अन्तःकरण में सर्वभूत हित तथा अहिंसा की भावना सुदृढ़ होगी और ऐसा होने पर ही मेरा कल्याण हो सकेगा।

यदि मैंने इन सबके विरुद्ध पापों का आचरण एवं धर्म का उल्लंघन किया तो अशुभ ही अशुभ होगा। यही आस्रव अर्थात् कर्म–अकर्म विषयक आस्था का सिद्धान्त ही यहाँ आस्रव भावना है। इससे सभी प्रकार के पापों का मूलतः उच्छेद होता है। कर्मों के अन्तर्मुखी प्रवाह का संयम ही वस्तुतः संवर का मूल है और यह आस्रव उसी का निरोधक है, जिससे कर्म–सन्तति क्षीण हो जाती है। यही दशा यहाँ **निर्जरा** मानी गयी है, क्योंकि कर्मों के विनष्ट होने पर ही मोक्ष की सिद्धि होती है।

25. **जैनदर्शन में चार कषाय एवं पुनर्जन्म**– चार प्रकार के कषायों क्रोध, मान, माया तथा लोभ एवं इन्द्रियों से पराभूत आत्मा जन्म–मरण के चक्र में पड़कर विविध प्रकार की भूमिकाओं का निर्वहन करता रहता है। ये कषाय आदि ही वस्तुतः उसके पुनर्जन्म के चक्र में पड़ने के कारण हैं, जो मानसिक वृत्ति से उत्पन्न होते हैं। केवल तपश्चरण से इन्हें दूर नहीं किया जा सकता है। इन्हें तो साधक निरन्तर संयम के अभ्यास से मन को शुद्ध करके ही हटाने में समर्थ

हो पाता है, क्योंकि कषायों के मूल में विद्यमान आसक्ति एवं राग–द्वेष मन की शुद्धि से ही मिट पाते हैं।

इसलिए यहाँ पर साधक के लिए मन की शुद्धि के प्रयास का निर्देश दिया गया है, जिससे वह **कषायमुक्त** होकर सच्चे रूप में मुक्ति का अधिकारी हो पाता है। इसके अलावा समत्वभावना अर्थात् सभी के लिए समान दृष्टि का होना भी अत्यधिक आवश्यक है, जिसके बल से उन राग–द्वेषादि कषायों का जो मूल से उच्छेद होता है, वह अनेकानेक वर्षों के तपश्चरण से भी प्राप्त नहीं हो सकता है।

26. **जैनदर्शन में दस धर्म**– जैनदर्शन में दस प्रकार के धर्मों का कथन किया गया है, जिनके माध्यम से साधक मुक्त होने की दिशा में अग्रसर होता है, जो इसप्रकार हैं–

संयम, सूनृत, शौच, ब्रह्म, अकिंचनता, तप, क्षान्ति, मार्दव, ऋजुता एवं मुक्ति, इन सभी में अन्तिम **मुक्ति** वस्तुतः **साध्य** है, जबकि शेष **नौ साधनरूप** हैं, किन्तु दुःखों से त्रस्त व्यक्ति के लिए एकमात्र शरण्य होने से इसे भी धर्मों में ही स्थान दिया गया है। इन्हीं दस धर्मों का अवलम्ब लेकर हम सांसारिक दुःखों से छुटकारा प्राप्त कर सकते हैं। इसीलिए इन्हें धर्मस्याख्याततता रूप में भी वर्णित किया गया है।

इसके अलावा सृष्टि की रचना को हमेशा ही ध्यान में रखने को यहाँ **लोकभावना** और कर्मों के प्रभाव को कभी भी न भूलने की भावना को **'बोधि–भावना'** के रूप में मान्यता प्रदान की गयी है। इस प्रकार छोटी बड़ी सभी को मिलाकर यहाँ कुल आठ भावनाओं का निर्देश दिया गया है।

उपर्युक्त ध्यान–प्रक्रिया के अभ्यास से साधक जब सभी विषयों में अनासक्तिभाव प्राप्त कर लेता है, तो उसके लिए सभी वस्तुएँ समान हो जाती हैं एवं उसे सांसारिक विषयोपभोगों से सर्वथा अनासक्ति एवं विरति हो जाती है, तो वह सभी प्रकार के राग–द्वेषों से मुक्त होकर नितान्त शान्तभाव से योग में प्रवेश करता है।

इसप्रकार हम देखते हैं कि जैनदर्शन में ध्यान एवं योग में कार्यकारण सम्बन्ध स्थापित किया गया है। इन्हीं को हम चित्तनिरोध

के विकास की पूर्वापर अवस्थाएँ भी कह सकते हैं। इसीकारण समत्व सिद्धि को ही योग संज्ञा प्रदान की गयी है, क्योंकि समत्व के अभाव में ध्यान असम्भव है तथा ध्यान के अभाव में समत्व की स्थिति भी नहीं बन सकती है। इसीलिए इन दोनों में अन्योन्याश्रय सम्बन्ध माना गया है।

ध्यान के माध्यम से चित्त के एकाग्र होने पर साधक में **विश्व–मैत्री भावना** का उदय होता है, जिसके कारण उसमें प्रमोद अर्थात् सभी में गुणमात्र ही दृष्टिगोचर होते हैं, जिससे उसमें करुणा का उदय होता है और वह दोषी के दोष को नहीं देखता है। इसीप्रकार की वृत्ति को यहाँ **'माध्यस्थ'** संज्ञा प्रदान की गयी है। जैनदर्शन में ध्यान को योग का कारण तथा मोक्ष को कर्मों के नाश का फल कहा गया है।

27. **जैनदर्शन में सृष्टि**– जैनदर्शन के अनुसार यह दृश्यमान जगत् अनादि, अनन्त एवं शाश्वत है। इसी में सभी जीव अपने–अपने शुभाशुभ कर्मों के फलों के परिणामस्वरूप सुख–दुःखों का भोग करते हैं। यह सम्पूर्ण सृष्टि ऊर्ध्व, मध्य तथा अधः, इन तीन भागों में विभाजित है। इसके ऊर्ध्वभाग में देवों का निवास है, जबकि अधोभाग में राक्षसादि रहते हैं। मध्यभाग मनुष्यादि सभी प्राणियों के लिए है। धर्म से व्याप्त लोकाकाश ही सभी लोगों के संसरण का कारण है। इस लोकाकाश से बाहर धर्म की स्थिति भी नहीं है। इसीलिए वहाँ संसरण भी नहीं है, अपितु वहाँ तो केवल आकाश ही है।

इस लोकाकाश के चारों ओर यहाँ तीन वायु मण्डलों की तहों की कल्पना भी की गयी है। जैनदर्शन की मान्यता है कि केवली लोग ऊर्ध्वलोक से भी लोकाकाश के उस किनारे तक पहुँच जाते हैं तथा उस स्थान पर धर्म का अभाव होने से वे हमेशा के लिए संसरण से मुक्त हो जाते हैं।

•••

बौद्ध–दर्शन

(i) **बौद्धदर्शन के मूलस्रोत–** बुद्ध के जीवन में योग के वर्णन के कारण भारतीय मान्यता सांख्य–योग दर्शनों के बाद ही बौद्धदर्शन के प्रादुर्भाव को स्वीकार करने की पक्षधर रही है, क्योंकि इस दर्शन से पूर्व ही सांख्य–योग विषयक विचार यत्र–तत्र उपलब्ध होते रहे हैं, किन्तु यह भी सत्य है कि उनका ग्रन्थरूप में संकलन और वैज्ञानिक दृष्टि से प्रतिपादन बुद्ध के बाद ही हुआ था।[1] वस्तुस्थिति तो यह है कि बुद्ध से पूर्व भारतवर्ष में तीन ही दार्शनिक पद्धतियाँ प्रचलित थीं।

प्रथम, कामना के अनुसार विविध प्रकार के योगों का प्रतिपादन करने वाली **कर्मकाण्ड पद्धति**। **द्वितीय,** एक मात्र ब्रह्म को ही सत्य स्वीकार करने वाली **उपनिषदों की ब्रह्म–विद्या**। **तृतीय,** चार्वाकों का **लोकायत सिद्धान्त**। लगभग इसी अवसर पर बुद्ध का आविर्भाव हुआ। बुद्ध का जन्म ईसा से 448 वर्ष पूर्व हुआ, जबकि जैनधर्म के प्रवर्तक वर्धमान का जन्म 656 विक्रम वर्ष पूर्व हुआ था। इस आधार पर जैनधर्म को बौद्धधर्म से प्राचीन कहा जा सकता है। इसीप्रकार जैनधर्म के अंगों में बौद्धधर्म विषयक उल्लेखों के प्राप्त न होने से इसे बौद्धधर्म से पूर्ववर्ती मानना समीचीन प्रतीत होता है।

(ii) **गौतम बुद्ध का जीवन–** गौतम बुद्ध का जन्म ईसा से छठी शती पूर्व वैशाखी पूर्णिमा को नेपाल में स्थित कपिलवस्तु नामक प्राचीन नगरी के निकट 'लुम्बिनी' नामक उद्यान में हुआ। इनके पिता

---

[1] भारतीय दर्शन की रूपरेखा, लेखक–एस. एन. दासगुप्त, पृष्ठ–78, 79।

शाक्य राजा **शुद्धोदन** तथा माता **मायादेवी** थीं। लोकश्रुति के अनुसार इनके जन्म के समय विद्वान् ज्योतिषियों ने यह भविष्यवाणी की कि इस बालक को निर्बल, रोगी, शव तथा भिक्षु को देखकर वैराग्य हो जाएगा, इसलिए राजा ने इनके दर्शनों से बचाने का भरसक प्रयास किया और इनका विवाह करके सांसारिक भोगविलासों के उपकरणों से घेरने का सतत् प्रयत्न भी किया, किन्तु नियति को यह मंजूर नहीं था।

राजकुमार ने एक–एक करके उक्त सभी को देख लिया। परिणामस्वरूप मात्र उन्नीस वर्ष की अवस्था में संसार की क्षणभंगुरता का निश्चय करके घर–बार त्यागकर अमरता का उपाय ढूँढने के लिए निकल गए, जिसे बौद्धदर्शन में **'महानिष्क्रमण'** के रूप में जाना जाता है। पैदल चलते हुए ये उर्वेला पहुँचे, जहाँ पर दूसरे पाँच भिक्षुओं के साथ कठोर नियम, संयम का पालन करते हुए घोर तप का आचरण किया और अत्यधिक दुर्बल होकर मृत्प्राय हो गए।

इसके भी छः वर्ष बाद इन्होंने कठोर तप का मार्ग त्यागकर सत्य के मार्ग को खोजना आरम्भ किया और निरन्तर प्रयास के बाद पच्चीस वर्ष की अवस्था में 'उरुवेल' नामक स्थान पर चार आर्य सत्यों की प्रत्यक्ष अनुभूति करते हुए 471 विक्रम पूर्व की वैशाखी पूर्णिमा के दिन **शुद्धबोध की प्राप्ति** की। यद्यपि पिता ने इनका नाम **सिद्धार्थ** रखा था, किन्तु बोध–प्राप्ति से इनका नाम **'बुद्ध'** पड़ा और सारनाथ (मुगदाव) में कौडिन्य आदि पाँच भिक्षुओं को अपना पहला उपदेश देकर इन्होंने **'धर्मचक्र'** का प्रवर्तन किया। बुद्धत्व प्राप्ति के बाद लगभग पैतालीस वर्ष पर्यन्त घूम–घूमकर इन्होंने लोगों को अपने द्वारा खोजे गए सत्य का उपदेश प्रदान किया।

गणराज्य के आदर्श पर भिक्षुओं के संघ की स्थापना की और अस्सी वर्ष की अवस्था में इन्हें अपने अन्तिम समय का आभास हुआ, जिससे ध्यान लगाकर इन्होंने 426 विक्रम पूर्व वैशाख पूर्णिमा को मल्ल गणतन्त्र की राजधानी कुशीनगर (जिला गोरखपुर) में अपने नश्वर

शरीर का त्याग करके निर्वाण प्राप्त किया। इसप्रकार बुद्ध के जन्म, बुद्धत्व प्राप्ति एवं निर्वाण ये तीनों एक ही तिथि **वैशाख पूर्णिमा** को होने के कारण यह तिथि बौद्धधर्म में अत्यधिक पवित्र मानी जाती है। आगे चलकर बुद्ध के उपदेशों को ही **बौद्धदर्शन** की संज्ञा प्रदान की गयी। सभी भारतीय दर्शनों में इस दर्शन का उत्कृष्ट एवं महत्त्वपूर्ण स्थान है।

(iii) **बौद्धदर्शन के प्रमुख ग्रन्थ**– उल्लेखनीय है कि बुद्ध के समय में **जनभाषा पाली** (मागधी) होने के कारण इस दर्शन के सभी ग्रन्थ इसी भाषा में उपलब्ध होते हैं, जो आरम्भ में मौखिकरूप में ही रहे और बाद में शिष्यों द्वारा इनका संग्रह किया गया। ये मूल ग्रन्थ ही क्रमशः **सुत्त, विनय तथा अभिधम्म पिटक** के रूप में जाने जाते हैं। इन्हीं को दार्शनिक जगत् में **त्रिपिटक** भी कहते हैं। इनमें भी **सुत्तपिटक** में बौद्ध सिद्धान्तों को सूत्ररूप में इनके **पट्टशिष्य आनन्द** के सहयोग से निबद्ध किया गया, जबकि **विनयपिटक** में बौद्ध भिक्षुओं के संयम तथा नियमों का उल्लेख हुआ है, जिसका संकलन 'नापित' (नाई) कुल में उत्पन्न **'उपालि'** के सहयोग से किया गया और सुत्त–पिटक में विद्यमान दार्शनिक अंश (मातिका–मात्रिका) का पर्याप्त विस्तार करते हुए **अभिधम्म पिटक** का निर्माण किया गया। इसप्रकार इस पिटक ग्रन्थों में उक्त विषयों का ही वैदुष्यपूर्ण पारिभाषिकरूप में विवरण उपलब्ध होता है, ये तीनों पिटक ही बौद्धधर्म के सर्वस्व हैं।

इन त्रिपिटकों के काल के विषय में आज तक भी कोई मत स्थिर नहीं हो सका है। विद्वानों का इतना अनुमान अवश्य है कि सुत्त पिटक की रचना शेष दोनों पिटकों से पहले हुई होगी, क्योंकि शेष दोनों पिटकों में इन्हीं विषयों का विस्तृत तथा विद्वत्तापूर्ण विवरण प्रस्तुत किया गया है। मान्यता है कि ईसा से 241 वर्ष पूर्व सम्राट् अशोक के समय में बौद्धसंघ की बैठक होने तक सभी बौद्धशास्त्रीय रचनाएँ पूर्ण हो चुकी थीं।

(क) **सुत्तपिटक**– उक्त तीनों पिटकों में सुत्तपिटक अत्यधिक महत्त्वपूर्ण हैं, क्योंकि बुद्ध तो लोककल्याण के लिए केवल उपदेशमात्र

करते हुए दुःखों की मुक्ति का साधन बताते थे। इसमें कुल पाँच निकाय हैं–

(i) **दीर्घ निकाय** (34 सुत्त) (ii) **मज्झिम निकाय** (152 सुत्त) (iii) **संयुत्त निकाय** (56 सुत्त) (iv) **अंगुत्तर निकाय** (11 निपात) (v) **खुद्दक निकाय** (15 छोटे–ग्रन्थ)। इनके अलावा बुद्ध की 423 उपदेशात्मक गाथाओं का संग्रह **'धम्मपद'** भी है। साथ ही, बुद्ध के पूर्व जन्म से सम्बद्ध 550 कथाओं का संग्रह **'जातक'** के रूप में प्रसिद्ध है।

इनमें **'दीर्घ'** तथा **'मज्झिम'** (मध्यम) नाम वस्तुतः लम्बे तथा मध्यम सूत्रों के विवरण के आधार पर रखे गए हैं। इसीप्रकार **'संयुक्त निकाय'** नाम इनके संघ की बैठकों में संकलित होने के कारण पड़ा, जबकि **अंगुत्तर निकाय** में एक के बाद दूसरे, उसके बाद तीसरे इसी क्रम से विचार–विमर्श को आगे बढ़ाया गया है। **खुद्दक निकाय** में छोटे–छोटे कुल पन्द्रह[1] प्रकरणों को निबद्ध किया गया है।

(ख) **विनय पिटक**– इसमें कुल तीन अंग हैं– (1) सुत्तविभंग या पातिमोक्ख, भिक्खु पातिमोक्ख और भिक्खुनी पातिमोक्ख। (2) खन्धक महावग्ग एवं चूलवग्ग तथा (3) परिवार।

(ग) **अभिधम्म पिटक**– इसमें प्रश्नोत्तरों के माध्यम से विरोधी पक्ष के सिद्धान्तों का सरल शैली द्वारा सात सग्रहों में खण्डन किया गया है, इसमें कुल सात ग्रन्थ हैं– 1. पट्ठान पकरण, 2. धम्मसंगणि, 3. धातु कथा, 4. पुग्गलपंञत्ति, 5. विभंग, 6. यमक एवं 7. कथावत्थु। इन्हीं संग्रहों के अधिकांश भागों पर **'अत्थ कथा'** नामक प्रसिद्ध टीका भी लिखी गयी। इसके अलावा नागसेन के **'मिलिन्दपंहो'** को भी विद्वानों ने त्रिपिटक के समान ही महत्त्वपूर्ण माना है।[2]

---

[1]. खुद्दक पाठ, उदान, इतिवुत्तक, सुत्तनिपात, विमानवत्थु, पेतवत्थु, थेरगथा, थेरीगाथा, जातक, निद्देस, पटिसंम्भिदामग्ग, अपदान, बुद्धवंस एवं चरियापिटक।

[2]. भारतीय दर्शन, आचार्य बलदेव उपाध्याय, पृष्ठ–120 ।

(घ) **मिलिन्द पण्ह**–उक्त पिटकों के अलावा **'मिलिन्द प्रश्न'** के अन्तर्गत मिलिन्द नामक राजा के प्रश्नों को संकलित किया गया है, किन्तु इस ग्रन्थ के आविर्भाव का समय अज्ञात ही है। बौद्धदर्शन से सम्बन्धित अधिकाँश सामग्री इन्हीं ग्रन्थों में उपलब्ध होती है।

(ङ) **थेरवाद**– इसी प्रसंग में यह भी उल्लेखनीय तथ्य है कि इन सभी ग्रन्थों में संग्रह किए गए आचार–विचार विषयक सिद्धान्त ही 'थेरवाद' के नाम से जाने जाते हैं। यह पद वस्तुतः संस्कृत के **'स्थविरवाद'** का रूपान्तर है, जिसका अभिप्राय वृद्ध लोगों के सिद्धान्त है। ये सभी विचार वस्तुतः बौद्धों के संघ की प्रथम बैठक में ही संगृहीत हो चुके थे। यही 'थेरवाद' आगे चलकर **हीनयान** के नाम से प्रसिद्ध हुआ। ऊपर हमने थेरवाद के आकर ग्रन्थों का ही मुख्यरूप से परिचय प्रस्तुत किया, अब हम बौद्धदर्शन के संस्कृत भाषा में निबद्ध ग्रन्थों का उल्लेख करेंगे।

(च) **संस्कृत–ग्रन्थ**– ध्यातव्य है कि आगे चलकर कुछ बौद्ध आचार्यों ने संस्कृत भाषा में भी अनेक ग्रन्थों का लेखन किया, ये सभी ग्रन्थ अत्यधिक पाण्डित्यपूर्ण हैं। भारतीयदर्शन के विद्वान् आचार्यों ने इन्हीं अर्वाचीन ग्रन्थों से बौद्ध सिद्धान्तों को उद्धृत किया है। संस्कृत ग्रन्थों के प्रणयन तथा विस्तार से ही बौद्धों की **'महायान'** शाखा का आविर्भाव हुआ, जिसने बौद्ध दार्शनिकों को योगाचार, सौत्रान्तिक, वैभासिक एवं माध्यमिक शाखाओं में विभाजित कर दिया, जिनका विस्तार से विवरण आगे प्रस्तुत किया जाएगा।

(iv) **बौद्धदर्शन के सम्प्रदाय**– उल्लेखनीय है कि महात्मा बुद्ध ने अपनी बात को उपदेशरूप में ही कहा, उनके शिष्यों ने ही इन्हें लिपिबद्ध किया, जो उनके निर्वाण के भी अनेक वर्षों बाद सम्पादित किए गए। इस कार्य की सम्पन्नता के समय ही उनके शिष्यों, प्रशिष्यों में मतभेद हो गया। विद्वन्मान्यता है कि वैशाली में आयोजित बौद्धसंघ की बैठक में ही बुद्ध के शिष्यों में मतभेद उभर आए थे, जिसका

परिणाम हुआ संघ से निष्कासित **'वज्जीपुत्तकों'** ने अपना अलग से संघ बना लिया तथा विरोधी **'वृजिन भिक्षुओं'** ने इससे अलग होकर अपने को **महासंघिक** घोषित कर दिया, किन्तु यह वर्ग ईसा के 400 वर्ष पूर्व ही कालकवलित हो गया।

इसके भी लगभग सौ वर्ष बाद महासंघिक की विचारधारा से ही तीन दूसरे वर्गों **व्यवहारवादी, लोकोत्तरवादी** तथा **कुक्कुलिक** की उत्पत्ति हुई, जबकि दूसरी शती के व्यतीत होने पर इन वर्गों में भी **प्रज्ञप्तिवादी**[1], **चैत्तिक**[2], **अपरशैल**[3] और **उत्तरशैल**[4] आदि प्रसिद्ध वर्गों का प्रादुर्भाव हुआ। इन सभी का आदिमूल वस्तुतः बुद्ध का स्थविरवाद ही था, जिसके तत्त्वावधान में ईसा से पूर्व प्रथम एवं द्वितीय शती में वैशाली में सम्पन्न संघ में इसकी दूसरी भी अनेक शाखाएँ हैमवत[1], धर्मगुप्तिक[2], महीशासक[3], काश्यपीय[4], संक्रान्तिक[5] तथा वात्सीपुत्रीय[6] उत्पन्न हुई। इनमें भी **धर्मोत्तरीय**[1], **भद्रयानीय**[2], **सम्मतीय**[3] **तथा छत्रांगरिक**[4] चार शाखाएँ प्रमुख हैं। इनके अलावा कुछ अन्य बौद्धों को **विभज्जवादी** भी कहा गया, यद्यपि महाबोधिवंश के अनुसार विभज्जवादी वस्तुतः स्थविरवाद का ही अन्य नाम है।[1]

अन्त में दार्शनिक सिद्धान्तों में मतभेद के आधार पर इनके केवल चार वर्ग ही देखने को मिलते हैं–

(A) **वैभाषिक–** सर्वास्तिवाद का ही अन्य नाम वैभाषिक है। इसमें भी सर्वास्तिवादी नाम उनके 'सर्वास्तित्ववादी' सिद्धान्त पर आधारित रहा है, जबकि वैभाषिक नाम एक ग्रन्थ विशेष के नाम पर रखा गया है, क्योंकि कात्यायनी के पुत्र ने एक ग्रन्थ **'ज्ञानप्रस्थान–शास्त्र'** का प्रणयन किया, जिसे बाद में महाविभाषा के नाम से भी

1. श्रीमती राइज डेविड्स के अनुसार– ईसा की पंचमशती के टीकाकार ने ***कथावत्थु*** नामक अपनी टीका में बौद्धों के दूसरे वर्गों का भी उल्लेख किया है, जो बाद मे लुप्तप्राय हो गए।

जाना गया। इसी महाविभाषा के आधार पर सर्वास्तिवादियों का अन्य नाम **वैभाषिक** पड़ा।

(क) **वैभाषिक साहित्य–** कात्यायनी–पुत्र के ज्ञानप्रस्थान शास्त्र को साहित्यिक रूप प्रदान करने का श्रेय प्रख्यात बौद्ध दार्शनिक अश्व घोष को जाता है। इसी समय के आसपास लिखे हुए ग्रन्थों में (1) **शारिपुत्र** का धर्मस्कन्ध एवं संगीति पर्याय (2) **पूर्ण** का धातुकाय (3) **मौद्गलायन** का प्रज्ञप्तिशास्त्र, (4) **दिवक्षेण** का विज्ञानकाय और (5) **वसुमित्र** का प्रकरणवाद विशेषरूप से उल्लेखनीय है।

इसके पश्चात् पंचमशती ई. में **वसुबन्धु** नामक महान् दार्शनिक ने **अभिधर्मकोश** नामक ग्रन्थ कारिकाओं में लिखकर इसपर अभिधर्म–कोष–भाष्य का प्रणयन भी किया, जिसमें उन्होंने सौत्रान्तिकों की दृष्टि से वैभाषिकों की त्रुटियों की विवेचना की है। इसे विद्वत्समाज में पर्याप्त सम्मान मिला। यही कारण है कि इसके ऊपर विद्वानों द्वारा अनेक टीकाएँ लिखी गयीं, जिनमें **वसुमित्र** तथा **गुणमती** विशेषरूप से प्रसिद्ध हैं। इसीप्रकार यशोमित्र ने सौत्रान्तिक होते हुए भी वसुबन्धु के अभिधर्मकोश पर टीका का प्रणयन **अभिधर्मकोश व्याख्या** के नाम से किया।

इसके अतिरिक्त वसुबन्धु के ही समकालीन **संघभद्र** ने 'समय–प्रदीप' एवं 'न्यायानुसार' नामक वैभाषिक दर्शन के ग्रन्थों का निर्माण किया, जिसका चीनी भाषा में ही अनुवाद उपलब्ध है। इसीप्रकार **धर्मत्रात, घोषक, वसुमित्र** एवं **भदन्त** आदि अनेक विद्वान् हुए, जिनका कालनिर्णय नहीं किया जा सकता है, किन्तु इनमें वसुमित्र एवं भदन्त ने **संयुक्ताभिधर्मशास्त्र** तथा **महाविभाषा** का प्रणयन किया।

इसके पश्चात् 480 ई. में वसुबन्धु के शिष्य दिङ्नाग ने **प्रमाण समुच्चय** नामक ग्रन्थ को लिखकर न्यायसूत्र के वात्स्यायन भाष्य का खण्डन करके **बौद्धन्याय** के सिद्धान्तों की पुनः स्थापना की, किन्तु

इनमें प्रायः सभी वर्तमान में अनुपलब्ध हैं, केवल कुछ का ही चीनी भाषा में अनुवाद मात्र मिलता है।

इसी प्रसंग में ध्यातव्य यह भी है कि उपर्युक्त विद्वानों में से केवल वसुमित्र, यशोमित्र तथा दिङ्नाग आदि ने मात्र वैभाषिक ग्रन्थों का ही प्रणयन नहीं किया, अपितु इन्होंने सौत्रान्तिक साहित्य पर भी अपनी लेखनी चलायी और इसका कारण यही है कि आरम्भ में ये दोनों सम्प्रदाय परस्पर मिलते-जुलते ही थे, किन्तु आगे चलकर इनमें मतभेद गहरा गए।

जैसे– वसुबन्धु स्वयं आरम्भ में वैभाषिक थे, जबकि आगे चलकर ये विज्ञानवादी बन गए। इसीप्रकार संघभद्र ने भी आरम्भ में वैभाषिक ग्रन्थों का प्रणयन किया, किन्तु इन्होंने भी वसुबन्धु के **अभिधर्मकोशकरका** नामक सौत्रान्तिक मत का ग्रन्थ लिखा। यहाँ तक कि अनेक स्थलों पर तो ये बुद्ध के सिद्धान्तों से ही विमुख हो गए। दूसरे शब्दों में, ये प्राचीन बौद्धदर्शन के सिद्धान्तों से विलग हो गए। यही कारण है कि **कमलशील** ने अपने **तत्त्वसंग्रहपच्चिका** में वैभाषिकों को बौद्ध मानने में भी संदेह व्यक्त किया है।

उक्त कथ्य की पुष्टि में हम यहाँ कुछ ही तथ्य प्रस्तुत कर रहे हैं, जिसे जापानी विद्वान् **यमाकमी सोजर**[1] ने संग्रह किया है। **जैसे–**

(ख) **वैभाषिकों के सिद्धान्त–** पंचस्कन्ध, द्वादश आयतन, अष्टादश धातु, प्रतिसंख्या निरोध, अप्रतिसंख्या विरोध एवं आकाश के तीन असंस्कृत धर्म, संस्कृत धर्म, चित्त, चित्तविप्रयुक्ता, ये आठ तत्त्व वैभाषिकों के मत में आठ धर्मरूप हैं। इनकी मान्यता है कि– 'सभी कार्य अनेक कारणों के संघात से उत्पन्न होते हैं। इसीलिए पंचस्कन्ध, रूप, चित्त आदि सभी **संस्कृत धर्म** कहे गए हैं। इसीप्रकार अभौतिक पदार्थ, चित्त, अन्तःसूक्ष्म अतीन्द्रिय तत्त्वों के संघात से निष्पन्न होने से ये भी इसी नाम से कहे गए हैं।

---

[1]. हिस्ट्री ऑफ इन्डियन फिलासफी, भाग-1, पृष्ठ-121।

इनमें भी ग्यारह रूपधर्म, एक चित्त धर्म, छियालीस चैत्त धर्म, चौदह चित्त, विप्रयुक्त, संस्कार धर्म, ये सभी मिलाकर बहत्तर हो जाते हैं। इनमें भी यदि तीन असंस्कृत धर्म आकाश, प्रतिसंख्या निरोध तथा अप्रतिसंख्या निरोध को भी जोड़ दिया जाए, तो यह संख्या कुल मिलाकर पिछहत्तर हो जाती है। इसप्रकार ये पिछहत्तर तत्त्व ही वैभाषिकों को मान्य हैं।

इनमें भी जहाँ तक **रूप** आदि का प्रश्न है, इनमें रूप हमारी इन्द्रियों का भूततत्त्व है। प्रत्येक भौतिक पदार्थ संघातमय है, जिनमें चार प्रकार के गुण–रूप, रस, गन्ध एवं स्पर्श रहते हैं। अणुओं का सूक्ष्मतम रूप परमाणु है, जिसका रूपादि अत्यधिक सूक्ष्म है, यह परमाणु वास्तव में अभेद्य, अविक्षेप्य और अग्रहणीय होता है, क्योंकि इसका न तो विभाजन किया जा सकता है और न ही विश्लेषण। अत्यन्त सूक्ष्म होने से परमाणु किसी भी इन्द्रिय से ग्रहण भी नहीं किया जा सकता है। ध्यातव्य है कि बौद्धदर्शन परमाणु को भी नित्य न मानकर इसकी क्षणिक सत्ता का आभासमात्र कहता है। इनमें भी साधारण परमाणुओं को द्रव्य परमाणु और समूहरूप में स्थित होने पर ये ही संघात परमाणु कहे जाते हैं। इसी प्रसंग में उल्लेखनीय तत्त्व यह भी है कि यहाँ पर इन्द्रियों के आयतन को भी भौतिक परमाणुओं का संघात ही माना गया है।

(ग) **अणुओं का स्वरूप–** सात परमाणुओं के संयोग(संघात) से एक अणु की उत्पत्ति होती है और इस संघात रूप में ही ये प्रत्यक्ष का विषय बनते हैं। इस संयोग को यहाँ छत्ते के उदाहरण द्वारा समझाने का प्रयास किया गया है। एक अणु के केन्द्र में एक परमाणु होता है, जबकि शेष छः परमाणु इसी के चारों ओर संगृहीत होते हैं। ध्यातव्य है कि प्रत्येक भौतिक परमाणु में अपने कारण भूत के गुण उस अवस्था में भी विद्यमान रहते हैं। यही कारण है कि पार्थिव परमाणु कठोरता युक्त होता है, तो जलीय परमाणु स्नेहक, जबकि वायवीय परमाणु में

चलनात्मक गुण की प्रधानता रहती है और तेजस् परमाणु उष्णता से युक्त होता है। इसप्रकार ये चारों परमाणु अपने–अपने मूल तत्त्व के गुणों से सम्पन्न होते हैं। वस्तुस्थिति तो यह है कि इन परमाणुओं में अपने–अपने गुण ही व्यापकरूप से विद्यमान होने के साथ–साथ क्रियाशील भी रहते हैं।

उल्लेखनीय है कि इन्हीं परमाणुओं के अलग–अलग गुणों के कारण ही भूत–पदार्थों अवरोध क्षमता एवं आकर्षण आदि गुण दृष्टि–गोचर होते हैं और परमाणुरूप इन पदार्थों में से प्रत्येक में चार भूतों का साक्षात्कार करने की तीन विधाएँ बतायीं गयी हैं। **प्रथम,** वस्तु, **द्वितीय,** उसमें विद्यमान प्रकृति, **तृतीय,** व्यापार। इनमें भी व्यापार के अन्तर्गत आकर्षण (धृति), रासायनिक उष्णता (पक्ति संग्रह) तथा रचना विशेष (व्यूहन) इन सभी क्रियाओं का समावेश होता है। इसके अलावा इनके संयोग का कारण दूसरे बाह्य कारण–विशेष तथा परिस्थितियाँ भी होती हैं।

सौत्रान्तिकों से इसका अन्य महत्त्वपूर्ण भेद यह भी है कि इस सिद्धान्त के अन्तर्गत **प्रतीतत्यसमुत्पाद** की शृंखला में विद्यमान **अविद्या** की कड़ी को मान्यता प्रदान नहीं की गयी है, क्योंकि इन्होंने अविद्या की स्थिति न तो प्रतीतत्यसमुत्पाद में मानी है और न ही इसे व्यक्तिगत अज्ञान के रूप में स्वीकार किया है। ये तो इसे कुछ माया जैसी अभौतिक धर्मों की परिणामावस्था के रूप में मानते हैं। इनकी अविद्या तो संस्कार द्वारा जीव के नामरूप का कारण अवश्य बनती है। यह वस्तुतः इस जन्म की अविद्या से सम्बद्ध न होकर अतीत की अविद्या से जुड़ा होता है, यही कारण है कि इस अतीत अविद्या का फल वर्तमान जन्म में भोगने पड़ता है।

(घ) **सत्कार्यवाद का सिद्धान्त–** उल्लेखनीय है कि वैभाषिकों ने कार्यकारण के विषय में सत्कार्यवाद को मान्यता प्रदान की है, क्योंकि इनका मानना है कि कारण कभी भी नष्ट नहीं होता है, कार्यरूप में

यह केवल नामरूप में छिपा रहता है। **जैसे–** मिट्टी से बनाया गया घट, मिट्टी न कहलाकर घट कहलाने लगता है, किन्तु मिट्टी तथा घट में तात्त्विक दृष्टि से कोई अन्तर नहीं होता है, किन्तु महत्त्वपूर्ण एवं उल्लेखनीय तथ्य यह भी है कि यहाँ कार्यकारण को पूर्वापरभाव के रूप में न मानकर, दोनों को समकालीन माना है। यही कारण है कि यहाँ भिन्नता नामभेद मात्र की ही है एवं इस नियम की स्थिति सावयव पदार्थों एवं मानसिक तथा भौतिक पदार्थों के विषय में समान रूप से रहती है।

(ङ) **विज्ञान–** इसी का अन्य नाम **'चेतना'** भी है, वैभाषिकों ने इसे शाश्वत एवं नित्य कहा है। उनके अनुसार– पंच ज्ञानेन्द्रियों का समूह ही **दृष्ट** है, इसप्रकार इन्द्रियाँ तो भौतिक हैं, किन्तु इनका आधार नित्य है। नेत्रेन्द्रिय आदि अपने–अपने विषय के आकार छोटा, बड़ा, गोल, चौकोर आदि तथा परिणाम एवं नीले, पीले सफेद रंगादि को भी ग्रहण करने वाली मानी गयी है। इन्हीं प्रतीतियों को यहाँ **'संस्थान'** कहा गया है। इसीप्रकार त्वक् इन्द्रिय से वस्तु का भौतिक गुण चिकनाहट, हलकापन, भारीपन आदि का ज्ञान होता है। शरीर में विद्यमान वात, पित्त, कफादि के रूप में वायु और तेज तथा भूख आदि की अनुभूति भी इसी के माध्यम से होती है।

ये इन्द्रियाँ बाह्य पदार्थों को ग्रहण करने के बाद, एक प्रकार की चेतना को उत्पन्न करती हैं, यही चेतना यहाँ 'विज्ञान' कही गयी है। इस मत में, पाँचों इन्द्रियों को कर्ता माना गया है, क्योंकि इनके अभाव में किसी भी रूप, रसादि का ज्ञान होना असम्भव होता है। इसके अतिरिक्त प्रत्येक इन्द्रिय ज्ञान के मुख्य एवं गौण दो भाग होते हैं। इनमें भी मुख्य का आधार परमाणुओं का संघात होता है, जो वस्तुतः अत्यन्त सूक्ष्म तथा शुद्ध है, जबकि गौण ज्ञान का आधार **आणविक संघात** है, जो आकार–प्रकार की दृष्टि से अलग–अलग है। इन्द्रिय ज्ञान के बाद ही चेतना का जन्म होता है। यह चेतना ही

विज्ञप्ति एवं **अविज्ञप्ति** इन दो कर्मों को जन्म देने वाली होती है। इनमें विज्ञप्ति, कर्म का फल विलम्ब से जबकि अविज्ञप्ति कर्म का फल अविलम्ब प्राप्त हो जाता है।

ध्यातव्य है कि इस सिद्धान्त में कर्म के भी दो प्रमुख भाग कहे गए हैं। **प्रथम,** चेतना कर्म, **द्वितीय,** चैतसिक कर्म। इनमें से भी चैतसिक कर्म के भी **कायिक** और **वाचिक** रूप में दो भेद हो जाते हैं, जो सामान्य विभागों के साथ मिलकर अविज्ञप्ति कायिक कर्म, विज्ञप्ति कायिक कर्म, अविज्ञप्ति वाचिक कर्म तथा विज्ञप्ति वाचिक कर्म के रूप चार प्रकार के हो जाते हैं। जिसे हम इसप्रकार प्रस्तुत कर सकते हैं–
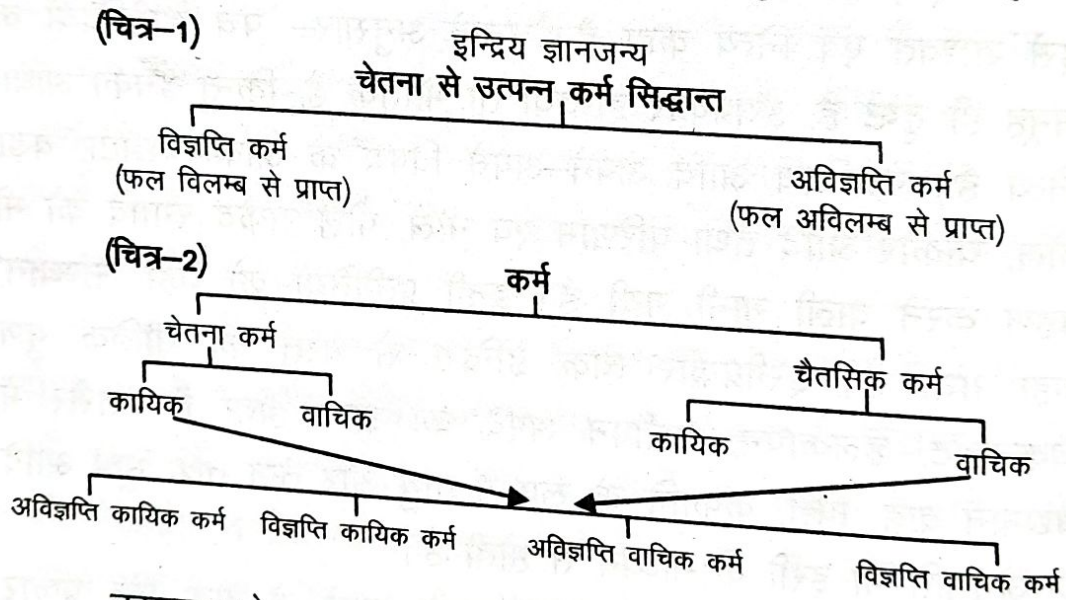
वसुबन्धु के अनुसार– चित्त में ध्यही चेतना का अधिष्ठान होता है, जो 'चेतति' से निष्पन्न होने के कारण **'चित्त'** संज्ञक है। मनन करने के कारण (मनुते, इति) इसे **'मनस्'** भी कहते हैं। इसी का तीसरा **विज्ञान** नाम इसके विवेक करने के कारण (विजानाति, इति) रखा गया है। यह विवेक तीन प्रकार का होता है–

(1) **स्वभाव निर्देश–** इसका अभिप्राय वस्तु के स्वभाव अर्थात् रूपादि के विशिष्ट ज्ञान से है।

(2) **प्रयोग निर्देश–** जबकि यह भूत, भविष्यत् तथा वर्तमानकाल विशेषों से सम्बद्ध होता है।

(3) **अनुस्मृति निर्देश**– इसका सम्बन्ध केवल भूतकाल के ज्ञान की स्मृति आदि से सम्बद्ध होता है।

उक्त तीनों में स्वभाव निर्देश में इन्द्रियों की महत्त्वपूर्ण भूमिका होती है, जबकि शेष दोनों प्रयोग निर्देश तथा अनुस्मृति निर्देश में मनोविज्ञान का विशेष महत्त्व है।

इसके अतिरिक्त चित्त से सम्बन्धित (चैत्त) धर्मों की संख्या छियालीस है, ये सभी चैत्तधर्म अणु संघातरूप होने से संस्कृत कोटि में परिगणित हैं। इसके अलावा वैभाषिकों ने बौद्ध–चिन्तन के विरुद्ध तीन असंस्कृत धर्मों का भी उल्लेख किया, जो अणुसंघात रूप न होकर निरवयव हैं। इनमें से **प्रथम,** अनवरोधरूप आकाश है, जो सर्वव्यापक, नित्य तथा अभौतिक निराकार है और **द्वितीय,** परिस्थिति के अभाव में किसी पदार्थ का प्रत्यक्ष न हो पाना रूप, जो अप्रतिसंख्या निरोध नामक असंस्कृतधर्म है।

जैसे– हमारा ध्यान जब किसी वस्तुविशेष पर केन्द्रित रहता है, तो हम उस स्थिति में दूसरी वस्तुओं के विषय में नहीं जान पाते हैं, किन्तु उस समय हमारा अज्ञान उन वस्तुओं की सत्ता के अभाव में कारण नहीं बन सकता है अर्थात् संसार की जिन वस्तुओं को हम जान नहीं पाए हैं, वे नहीं हैं, यह नहीं कहा जा सकता है। इसी को प्रतिसंख्या निरोध कहते हैं। इस निरोध से **'आस्रवक्ष ज्ञान'** प्राप्ति तो होती है, किन्तु भविष्य में इसकी सम्भावना बनी रहती है।

इसके विपरीत **अप्रतिसंख्या निरोध** केवल निर्वाण के प्राणों के अन्त होने पर ही उदय होता है, जिसे यहाँ नित्य माना गया है। ये तीनों असंस्कृत धर्म इसलिए माने गए हैं, क्योंकि असंघातमय होने से ये वस्तुतः अभावात्मक ही हैं। अतः इनकी उत्पत्ति और लय का प्रश्न ही कैसे हो सकता है?

इसके अतिरिक्त **अष्टांगिक मार्ग** से साधक को जो निर्वाण प्राप्ति होती है, वह यही असंघातरूप दशा है। इस दशा में जाकर ही

जीवन्मुक्त को सत्य दर्शन, सत्य कामना, सत्यवाक्, सत्याचरण, सत्य आजीव, सत्य व्यायाम, सत्य चिन्तन एवं सत्यानन्द की प्राप्ति होती है।

(ग) **वैभाषिक मान्यताएँ एवं मूल सिद्धान्त–** उपर्युक्त संक्षिप्त विवेचन से बुद्ध के मूल सिद्धान्तों से वैभाषिक मत का अन्तर स्पष्ट हो जाता है, क्योंकि बुद्ध ने जिस **नैरात्म्यवाद** की आधारशिला को रखा था, उनके बाद लिखे गए ग्रन्थों में हमें वह उपलब्ध नहीं होता है। यहाँ पर तो वस्तुतः आत्मवाद की लगभग स्थापना ही हो गयी है।

भगवान् बुद्ध ने अपने उपदेशों में परोक्षतत्त्व आत्मा में जिज्ञासा की निरर्थकता का प्रतिपादन करते हुए पंचस्कन्ध के तत्त्वों की प्रतिष्ठा की थी, जिसके दर्शन हमें मिलिन्द प्रश्न के अन्तर्गत यवन राजा मैलेण्डर (जिसका बाद में नाम मिलिन्द रखा गया) तथा भदन्त नागसेन के संवाद में स्पष्टरूप से होते हैं। वहाँ पर जब वह नागसेन के पास पहुँचकर रथ से उतरा तो उसने आत्मा के स्वरूप के विषय में जानने की जिज्ञासा रखने वाले मिलिन्द से पूछा कि–

क्या तुम इस रथ के बारे में 'इदमित्थम्' कह सकते हो? अर्थात् क्या रथ इसके घोड़े हैं, या वह इसकी धुरि है, या इसकी लगाम रथ है, आदि–आदि? उस राजा का उत्तर नकारात्मक रूप में पाकर वे बोले– जिसप्रकार इन वस्तुओं में से अलग–अलग कोई चीज़ रथ नहीं है, ये सब मिलकर ही रथ कहे जाते हैं। ठीक वैसे ही अवयवी भी अवयवों के संघात के अलावा दूसरी कोई वस्तु नहीं है। यह तो केवल व्यवहार के लिए आरोपमात्र है।

आत्मा की भी स्थिति कुछ ऐसी ही है, वह भी पाँच स्कन्धों के अतिरिक्त यथार्थरूप में नहीं है, मात्र व्यवहार के लिए उसका आरोप किया गया है। इसलिए निष्कर्षरूप में बुद्ध के मत में आत्मा केवल कल्पनामात्र है, जो तर्क एवं युक्तियों के सहयोग से मनन करने पर स्थिर नहीं रह सकती है।

इसके ठीक विपरीत वैभाषिकों ने बाद में स्पष्टरूप से पंच **स्कन्धों से ऊपर चित्त की सत्ता को नित्यरूप में स्वीकृति प्रदान की, जो वस्तुतः जीवात्मा ही है।** इसके अलावा वसुबन्धु भी अभिधर्मकोश में अपने भाई बन्धवात्सी पुत्रीय बौद्धों को स्पष्टरूप से आत्मा की स्वीकृति का संदेश देते हैं।

इसीप्रकार सभी संघातमय वस्तुओं के विरुद्ध असंघातमय आकाश, प्रतिसंख्या निरोध तथा अप्रतिसंख्या निरोध इन तीन असंस्कृत धर्मों की प्रतिष्ठा भी वैभाषिकों के अपने चिन्तन की देन ही है। यही इस मत का अपने मूल बुद्धमत से भेद है।

(2) **सौत्रान्तिक–** सर्वास्तिवादियों की अपेक्षा सौत्रान्तिकों की श्रद्धा बुद्ध के उपदेशों के प्रति अधिक रही है, क्योंकि इन्होंने अभिधर्म कोष की अपेक्षा बुद्ध के सुत्तपिटक को अधिक प्रामाणिक माना है। सुत्त अर्थात् सूत्रों को मानने के कारण इनका नाम **सौत्रान्तिक** पड़ा। यद्यपि आरम्भ में सौत्रान्तिक तथा वैभाषिक दोनों लगभग एक ही थे, क्योंकि उन बौद्ध विद्वानों के नामों का उल्लेख हम पूर्व में कर चुके हैं, जिन्होंने इन दोनों ही सम्प्रदायों के सिद्धान्तों पर ग्रन्थों का निर्माण किया।

(a) **सौत्रान्तिक मत के प्रवर्तक–** चीन यात्री ह्वेनसांग के अनुसार सौत्रान्तिक मत के संस्थापक **श्रीकुमारलात** थे, जिनका आविर्भाव द्वितीय या तृतीय शतक में हुआ। इनका एकमात्र ग्रन्थ **कल्पना–मण्डितिका** मिलता है। कुमारलात के शिष्यों के नाम **श्रीलात** या **श्रीबन्ध** थे। इनके द्वारा लिखे गए **विभाषाशास्त्र** को विद्वन्मान्यता स्वीकृति प्रदान करती है, जो सम्प्रति अनुपलब्ध है।

इसके अलावा **धर्मलात, बुद्धदेव** तथा **यशोमित्र** आदि भी इस सम्प्रदाय के विद्वानों में परिगणित हैं, जिनके ग्रन्थों का संकेत हम पूर्व में कर चुके हैं। इनमें भी वसुमित्र ने इस विषय पर अट्ठारह निकायों के वर्णन के लिए **'समभेद उपरचनचक्र'** नामक ग्रन्थ का प्रणयन

किया। इसीप्रकार अभिधर्मकोश पर यशोमित्र की **'स्फुटार्थावृत्ति'** की रचना भी की गयी, जिसके बारे में पूर्व में कहा जा चुका है।

(b) **सैद्धान्तिक अन्तर–** इस प्रसंग में यह भी ध्यातव्य है कि सौत्रान्तिक एवं वैभाषिक इन दोनों सम्प्रदायों के सिद्धान्तों में आरम्भ में अन्तर नगण्य रहा, किन्तु बाद में यह निरन्तर बढ़ता गया, जिसके सम्बन्ध में सर्वप्रथम माधवाचार्य ने अपने 'सर्वदर्शनसंग्रह' में उल्लेख किया। तदनुसार–

(क) वैभाषिक प्रत्येक बाह्य पदार्थ की सत्ता प्रत्यक्ष प्रमाण के आधार पर मानते हैं, जबकि सौत्रान्तिक इसे अनुमान के आधार पर सिद्ध करते हैं। इसका मुख्य कारण यही है कि बौद्धदर्शन क्षणिकवाद के सिद्धान्त के आधार पर सभी सांसारिक वस्तुओं को क्षणिक मानता है। इसलिए प्रत्यक्ष की प्रक्रिया समाप्त होते ही कोई भी पदार्थ उस रूप में नहीं रहता है, जिसे हमने इसके आरम्भ में देखा था। इसलिए हमारे चित्त पर उस वस्तु के रूप, रंग आदि जो गुण रह जाते हैं, उनके आधार पर हम उन बाह्य पदार्थों की सत्ता का अनुमान करते हैं, जिन्हें कुछ क्षण पहले ही हमने प्रत्यक्ष किया था।

(ख) 14 वीं शती के **गुणरत्न** की षड्दर्शन समुच्चय पर लिखी **'तर्करहस्य दीपिका'** टीका के अनुसार– वैभाषिकों की विशेषता है कि वे पदार्थ की सत्ता को चार क्षणों– उत्पादक्षण, सत्ताक्षण, ह्रासक्षण एवं ध्वंसक्षण तक स्थायी मानते हैं, जबकि सौत्रान्तिक इससे सहमत नहीं हैं। वसुबन्धु के अनुसार– ये चार क्षण न होकर चार शक्तियाँ हैं, जो नित्यतत्त्व के साथ संगृहीत होकर, अपनी क्षणिकताओं की अभिव्यक्ति करती हैं। यहाँ तक कि 'पुद्गल' नामक आत्मा में भी ये क्षणिक शक्तियाँ अपने गुणों को प्रदर्शित करती हैं।

(ग) सौत्रान्तिकों के गुणरत्न ने आत्मा का सर्वथा निषेध किया है। तदनुसार– केवल पाँच स्कन्धों का ही जन्म और मरण होता है, किन्तु वैभाषिक आत्मा के अस्तित्व को स्वीकार करते हैं।

(घ) सौत्रान्तिकों के अनुसार– आत्मा का निषेध इसी केन्द्र बिन्दु पर आधारित है कि 'समाधि' द्वारा ज्ञानपरम्परा की प्रक्रिया के लय होने पर 'मोक्ष' प्राप्त किया जा सकता है। यह अनवरत समाधि वस्तुतः आत्मा नहीं है।

(ङ) अभिधर्मकोशकार ने भी एक स्थल पर (5/24) इस अन्तर को स्पष्ट किया है। तदनुसार– वैभाषिक (सर्वास्तिवादी) तो प्रत्येक काल में सभी की सत्ता को मानते हैं, किन्तु सौत्रान्तिकों एवं विभज्ज–वादियों का मानना है कि वर्तमान एवं भूतकाल के तत्त्व, जो अभी प्रतिफलित नहीं हुए हैं, वे तो 'सत्' कहे जा सकते हैं, किन्तु भविष्य को हम 'सत्' नहीं मान सकते हैं और न ही भूतकाल के उन तत्त्वों को 'सत्' स्वीकार किया जा सकता है, जो अपने फलों को उत्पन्न करके विनष्ट हो चुके हैं।

आगे चलकर उक्त विचारधाराओं से चार प्रकार की विभिन्न शाखाओं की उत्पत्ति हुई, जिनके प्रतिनिधि विद्वान् धर्मत्रात, घोष, वसुमित्र तथा बुद्धदेव थे। धर्मत्रात के अनुसार– दूध के दहीरूप में परिवर्तन के समान जब कोई तत्त्व 'काल' के प्रवाह में प्रवेश करता है, तभी से उसकी सत्ता में परिवर्तन आरम्भ हो जाता है, किन्तु काल के प्रवाह में सत्ता ही परिणत होती है, वास्तविक तत्त्व नहीं। इसप्रकार यहाँ उन्होंने अवयवों में परिवर्तन को स्वीकार करके अवयवी को अपरिवर्तित माना है।

जबकि इसी विषय में घोष का मानना था कि जब कोई तत्त्व समय के अनुसार परिणत प्रतीत होता है, तो भूतकालिक दशा पूर्णरूप से विलुप्त नहीं होती है, अपितु वह वर्तमान एवं भविष्यरूप में भी किसी न किसी अंश में विद्यमान रहती है। इसीप्रकार वर्तमान का भी भूत तथा भविष्य के साथ सम्बन्ध रहता है। ठीक वैसे ही, जैसे किसी स्त्री का प्रेमी, दूसरी स्त्री का प्रेमी भी हो सकता है, भले ही उसे इसका

आभास न हो। इसीलिए प्रतीत न होते हुए भी वर्तमान के साथ भूत तथा भविष्य की विद्यमानता को स्वीकार किया जा सकता है।

उल्लेखनीय है कि वसुमित्र ने तो भूत, भविष्य एवं वर्तमान के रूप में ही वस्तु के व्यक्तित्व को मान्यता प्रदान की, क्योंकि विकार ही वस्तुतः कार्यों को उत्पन्न करने वाला है। इसलिए विकार को उत्पन्न करने की क्षमता वाला होना ही **वर्तमान** है, यही क्षमता जब तक छिपी रहती है और आगे इसके उत्पन्न होने की सम्भावना बनी रहती है, तो यही वस्तु का **भविष्य** है, जबकि इसी क्षमता के ध्वस्त होने पर यही **भूत** हो जाती है।

इसी कथ्य को बुद्धदेव ने इसप्रकार कहा कि– जैसे कोई स्त्री सम्बन्ध विशेषों के आधार पर माता, पुत्री तथा पत्नी कहलाती है, वैसे ही वर्तमान, भूत एवं भविष्य भी किसी एक व्यक्तित्व के सम्बन्ध विशेष के आधार पर सम्भव हैं।

इसके अलावा कथनीय यह भी है कि वैभाषिक केवल वसुमित्र के सिद्धान्तों का ही अनुमोदन करते हैं। तदनुसार– किसी व्यक्ति के कार्यकाल भेद का आधार 'रूप' हैं, किन्तु सौत्रान्तिकों ने बुद्ध के उपदेशों के विरुद्ध मानने से इसे स्वीकृति प्रदान नहीं की है, क्योंकि इस सिद्धान्त को मानने से तो तत्त्वों की क्षणिकता का सिद्धान्त ही ध्वस्त हो जाता है। इस सम्बन्ध में सौत्रान्तिकों का तो यही मानना है कि वस्तु के व्यक्तित्व तथा उसकी अर्थक्रियाकारिता में कोई भेद नहीं है, क्योंकि ये दोनों ही अर्थक्रियाकारित्व में योगदान प्रदान करते हैं।

इसके अतिरिक्त किसी वस्तु के आकार के विषय में भी सौत्रान्तिकों में परस्पर पर्याप्त भेद है, क्योंकि इनमें से कुछ का मानना है कि पदार्थ स्वयं आकार रखते हैं, जबकि दूसरे कहते हैं कि पदार्थ का यह आकार चित्त से निर्मित होता है। विज्ञानवादी के समान ये लोग बाह्यवस्तु को 'असत्' स्वीकार नहीं करते हैं, क्योंकि ज्ञानमात्र की

सत्ता मानने पर पदार्थ की प्रतीति की युक्तियुक्त व्याख्या ही सम्भव नहीं हो सकेगी।

विज्ञानवादी वस्तुतः ज्ञानमात्र को 'सत्य' और बाह्य पदार्थ को 'असत्' मानते हुए कहते हैं कि बाह्य पदार्थों की प्रतीति चित्त में स्थित ज्ञान के सादृश्य से ही सम्भव है, जो परस्पर विरुद्ध प्रतीत होता है, क्योंकि यहाँ पर एक ही वस्तु में समानता तथा असमानता का व्यवहार उचित प्रतीत नहीं होता है। साथ ही, बाह्यपदार्थ के अभाव में समानता का आधार भला किसे बनाया जा सकता है?

उपर्युक्त विवेचन के आधार पर स्पष्ट है कि सौत्रान्तिक बाह्य वस्तुओं के अस्तित्व को आवश्यक मानता है। यही कारण है कि इस मत को **'बाह्यातुथेयवाद'** संज्ञा भी प्रदान की गयी। वस्तुतः वैभाषिक इसी बाह्य सत्ता को **चित्त निरपेक्ष** स्वीकार करते हैं, किन्तु सौत्रान्तिक इसी को **चित्त सापेक्ष** कहते हैं। दूसरे शब्दों में, वैभाषिक संसार और निर्वाण दोनों को ही 'सत्य' मानते हैं, जबकि सौत्रान्तिक संसार को सत्य मानते हुए निर्वाण का 'असत्य' स्वीकार करते हैं।

(v) **बौद्धों की शाखाएँ–** मान्यताओं के आधार पर बौद्धदर्शन की दो शाखाएँ प्राचीनकाल से चली आ रही हैं, क्योंकि 400 ई.पू. जब महा– संघिकों ने थेरवादियों को अलग घोषित किया, सम्भवतः तभी से महायान शाखा का जन्म भी हो गया था।

(क) **हीनयान शाखा–** यहाँ हम इन दोनों के विषय में क्रमशः संक्षेप में उल्लेख कर रहे हैं। हीनयान का सामान्य अर्थ है– छोटी गाड़ी। किन्तु यहाँ यह अभिप्राय ग्रहण करना उचित नहीं है। प्रथम शती ई. के लगभग इस शाखा के अनेक ग्रन्थों का प्रणयन किया गया, जिन्हें **'महायानसूत्र'** या 'वैपुल्यसूत्र' संज्ञा भी प्रदान की गयी। ये सभी सूत्र वस्तुतः बुद्ध के उपदेशों के आधार पर लिखे गए। संस्कृत में लिखे गए इन सूत्रों के प्रणेताओं तथा संकलन कर्ताओं के सम्बन्ध में कुछ भी ज्ञात नहीं है। इन सूत्रों का समय विद्वानों ने ई.पू. प्रथम शती

से लेकर 400 ई. पर्यन्त स्वीकार किया है।[1] विद्वन्मान्यता इन्हें उन्हीं लोगों द्वारा लिखा गया मानती है, जिन्होंने 400 ई.पू. में अपने को 'थेरवाद' से अलग किया था। बुद्धधर्म की हीनयान शाखा में ही थेरवाद, वैभाषिकों और सौत्रान्तिकों का समावेश माना गया है।

(ख) **महायान शाखा**– महायान का अर्थ है, बड़ी गाड़ी, किन्तु यहाँ भी यह अभिप्राय ग्रहण करना उचित नहीं है। **महायान सूत्रालंकार** के लेखक **असंग** ने इस शब्द को स्पष्ट करने का प्रथम प्रयास किया। तदनुसार– 'धर्म के चरमलक्ष्य, उपदेश, स्वाध्याय, साधना, सिद्धि आदि के आधार पर हीनयान की अपेक्षा महायान उत्कृष्टतर है, इसीलिए इसे महायान तथा उसे हीनयान संज्ञा प्रदान की गयी है।

इन दोनों के अन्तर को हम इसप्रकार भी समझ सकते हैं–

(i) हीनयान के साधक का लक्ष्य केवल अपने लिए निर्वाण प्राप्त करना होता है, जबकि महायान में तो यही उद्देश्य वह प्राणिमात्र के उद्धार को लेकर चलता है। इस दृष्टि से इन दोनों में निर्वाण की उपलब्धि में समय का अन्तर होना भी स्वाभाविक है, क्योंकि प्राणिमात्र के निर्वाण में व्यक्तिगत की अपेक्षा अधिक समय लगने की सम्भावना है।

(ii) यदि इसी अन्तर को दार्शनिक दृष्टि से कहा जाए तो महायान की चिन्तनधारा अधिक सुगठित एवं प्रत्ययवादी है, किन्तु हीनयान में ऐसा नहीं है। महायानीय सभी पदार्थों को **निस्तत्त्व** एवं **अपरिमाषित** मानते हैं, जबकि हीनयानीय पदार्थों को क्षणिक कहने मात्र से विरत हो जाते हैं।

(vi) **बौद्धदर्शन के प्रमुख सिद्धान्त**– पिटक ग्रन्थों के आधार पर बौद्धदर्शन के मूल सिद्धान्त इसप्रकार हैं, जिनमें किसी प्रकार का तर्कवितर्क न होकर केवल अनुभवसिद्ध विचारों का ही प्राधान्य रहा है–

---

[1]. भारतीय दर्शनशास्त्र का इतिहास, डॉ. हरिदत्त शास्त्री, पृष्ठ–135।

(a) **चार आर्य सत्य**– ये चारों वस्तुतः बुद्ध के अपने चिन्तन के परिणाम स्वरूप प्राप्त अनुभव ही हैं, जो इसप्रकार हैं– दुःख है(दुःख), सभी पदार्थ दुःखरूप हैं(दुःख समुदय), दुःख का कारण है(दुःख निरोध), दुःख का नाश सम्भव है (दुःखनिरोधमार्ग)।

(अ) **दुःख है**– यद्यपि सभी भारतीय दर्शनों ने संसार को दुःख रूप माना है, किन्तु बुद्ध ने स्वयं संसार के प्राणियों को दुःखों के सागर में डूबते हुए देखकर निश्चय किया कि यहाँ दुःख का अस्तित्व है, इसमें लेशमात्र भी संदेह नहीं है। इसीलिए उन्होंने इस सिद्धान्त पर अत्यधिक बल दिया। बुद्ध के चिन्तन में यहाँ इतना ही अन्तर है, क्योंकि सामान्य लोग संसार के दुःखों के साथ सुखों की भी अनुभूति करते हैं, जबकि बुद्ध ने इस ओर लेशमात्र भी ध्यान नहीं दिया है।

उनका मानना है कि यह सांसारिक सुख क्षणिक है अर्थात् दाल में नमक के समान है, जबकि दुःख की मात्रा सुख की अपेक्षा कहीं अधिक है, क्योंकि यहाँ तो व्यक्ति का जीवन जरा, मृत्यु, आशा, निराशाओं में प्रतिपल डूबता–उतराता रहता है। इसीलिए भारतीय दर्शन के आचार्यों ने इसे विष से सम्बद्ध अन्न के समान बताया है, जिसे व्यक्ति को भोग करना ही पड़ता है।

(आ) **सभी पदार्थ दुःखरूप हैं**– इसका अभिप्राय है कि संसार में जिन पदार्थों को हम सुखरूप में देखते हैं, यह सब हमारी भ्रान्ति है, क्योंकि वस्तुस्थिति तो यह है कि सभी सांसारिक पदार्थ दुःखरूप ही हैं, उनसे होने वाली सुख की अनुभूति वस्तुतः क्षणिक है, क्योंकि वह सुख भी अन्ततः दुःख में ही परिवर्तित होने वाला है, जिसे इसप्रकार समझा जा सकता है, यदि कामिनी के स्पर्श से सुख की अनुभूति होती है, तो उसके अलग होने पर यही सुख, दुःख में परिवर्तित हो जाता है, सभी सांसारिक भोग वस्तुतः इन्द्रियों का क्षरण करने वाले हैं।

(इ) **दुःख का कारण है**– संसार के दुःखरूप होने से लोगों में निराशा का संचार न हो, इसलिए बुद्ध ने कहा कि यह सत्य है कि

दुःख है, किन्तु इस कारण निराश होने की आवश्यकता नहीं है। अतः दुःख के कारण के विनष्ट होने पर इसकी स्वतः समाप्ति हो जाएगी। इसप्रकार दुःख को सकारण बताते हुए उन्होंने निराशा में डूबे व्यक्तियों में आशा का संचार किया।

इस सिद्धान्त के माध्यम से बुद्ध ने **कारणकार्य के सिद्धान्त का भी आविष्कार किया,** क्योंकि कोई भी कार्य, कारण के अभाव में उत्पन्न हो ही नहीं सकता, यह शाश्वत सिद्धान्त है। इसीलिए दुःखों के प्रमुख जरामरण को प्रस्थानबिन्दु स्वीकार करते हुए चिन्तन परम्परा से उन्होंने कार्यकारण शृंखला का निर्माण किया, क्योंकि उन्होंने इस जरामरण का कारण जन्म को ही माना। उनकी इसी विचार परम्परा को यहाँ **'प्रतीत्य समुत्पाद'** नाम दिया गया, जिसमें उन्होंने जन्म, जरा, मरणरूप दुःखों का मूलकारण **अविद्या** को बताया।

(e) **प्रतीत्यसमुत्पाद का सिद्धान्त**– बारह निकायों के चक्र को **'भवचक्र'** अर्थात् संसार का चक्र कहते हैं, जिसका सम्बन्ध हमारे भूत, वर्तमान एवं भविष्य तीनों से है। इसे हम संक्षेप में इसप्रकार समझ सकते हैं–

(चित्र–3)

प्रतीत्यसमुत्पाद

भूतकाल से सम्बन्धित निदान — अविद्या, संस्कार

वर्तमान से सम्बन्धित निदान — विज्ञान, नामरूप, षडायतन, स्पर्श, वेदना, तृष्णा, उपादान, भव

भविष्य से सम्बन्धित निदान — जाति, जरामरण
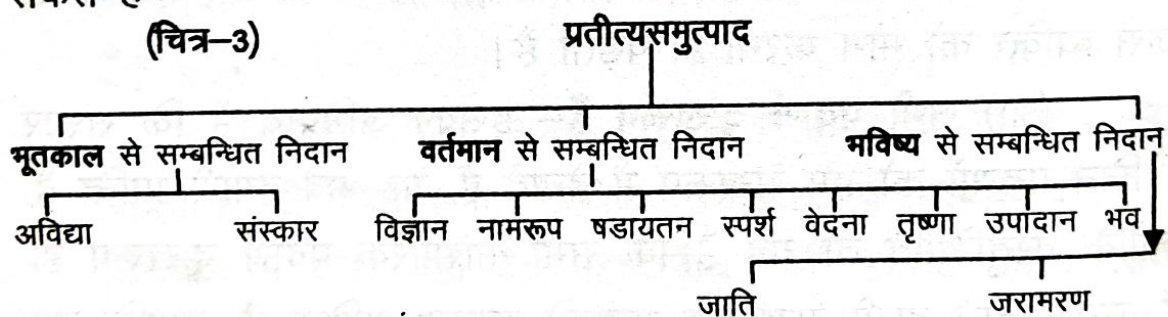
इनमें पूर्व के प्रति बाद वाला कारण होता है। **जैसे**– जरामरण का कारण **अविद्या** है, जाति का कारण **'भव'** है। वसुबन्धु ने 'भव' का यही अर्थ किया है,[1] जबकि 'भव' होता है, उपादान अर्थात् आसक्ति के कारण। ये उपादान अनेक प्रकार के माने गए हैं। **जैसे– कामोपादान** अर्थात् स्त्री में आसक्ति का होना, **शीलोपादान** अर्थात् व्रतों में आसक्ति

[1]. यद् भविष्यद्भवफलं कुरुते कर्म तद्भावः। अभिधर्मकोश–3/24।

तथा इनमें सर्वोपरि है— **आत्मोपादान** अर्थात् आत्मा को नित्य मानने में आसक्ति का होना।

यह 'आसक्ति' वस्तुतः तृष्णा अर्थात् इच्छा के कारण उत्पन्न होती है, क्योंकि सांसारिक विषयों के अनुभव के अभाव में उनके प्रति आसक्ति का होना सम्भव ही नहीं है। इसलिए वेदना वस्तुतः तृष्णा को उत्पन्न करने वाली (जननी) है। इसीप्रकार वेदना का उद्‌गम स्थल स्पर्श को समझना चाहिए, जिसे दूसरे शब्दों में, विषयों का इन्द्रियों के साथ सम्पर्क भी कह सकते हैं।

इसके अतिरिक्त नामरूप की सत्ता विज्ञान अर्थात् चैतन्य पर निर्भर होती है तथा इस विज्ञान की उत्पत्ति संस्कारों से होती है, जो स्वयं भी अविद्या अर्थात् अज्ञान का कार्य है। इसप्रकार निश्चयपूर्वक कहा जा सकता है कि संसार के सभी दुःखों का कारण 'अविद्या' ही है। इसी द्वादश निकायों के समूह को यहाँ 'भवचक्र' संज्ञा प्रदान की गयी है।

इसप्रकार बुद्ध ने अविद्या की अद्भुत सामर्थ्य से कार्यकारण–परम्परा की निर्मिति अपने अनुभव के आधार पर की। अपने चिन्तन से उन्होंने निष्कर्ष निकाला कि सभी प्राणियों के अनुभव में आने वाले दुःख वस्तुतः जरा, मरण से सम्बन्धित ही हैं, जिनका मुख्य कारण 'भव' अर्थात् उत्पन्न होना या जन्म ग्रहण करना ही है और यदि 'भव' रूप कार्य है तो फिर उसका कारण भी अवश्य होगा[1], इसलिए यदि जन्म ही नहीं होगा तो फिर जरामरण भी नहीं हो सकेगा।

अब चिन्तनीय है कि इस 'भव' का भी कोई कारण अवश्य होना चाहिए, जिसे उन्होंने वस्तुतः 'आसक्ति' की अधिकता के रूप में

---

[1] बुद्ध की यह मान्यता सांख्य के सत्कार्यवाद के सिद्धान्त पर आधारित है, क्योंकि सांख्यदर्शन के बीज हमें वेदमन्त्रों में भी उपलब्ध होते हैं, इसलिए बौद्धदर्शन को सांख्य का पूर्ववर्ती मानकर वेदों के सिद्धान्तों से प्रभावित स्वीकार किया जा सकता है।

स्वीकार किया, क्योंकि मानव की विषयों के उपभोगों में अत्यधिक आसक्ति या तृष्णा का कारण **अतृप्त वासना** होती है, उसी को तृप्त करने की इच्छा से व्यक्ति में जन्म की प्रवृत्तियाँ उत्पन्न होती हैं, ये ही जन्म की 'उपादान' भी हैं।

इस तृष्णा का कारण उन्होंने **वेदना** अर्थात् विषयों के उपभोग से उत्पन्न अनुभूति को स्वीकार किया, क्योंकि इसी राग से कषायित मन सांसारिक विषयों में नित्य नए–नए **आस्रवाद** की अनुभूति करता है। ठीक उसीप्रकार **जैसे–** कोई व्यक्ति आँवला खाकर यदि पानी पीता है, तो उसे वह मीठा प्रतीत होता है, जबकि पानी में मिठास नहीं होती है, वह तो निःस्वाद होता है। यही विषयानुभूति या स्वाद ही 'वेदना' है और इसी से तृष्णा या तण्हा का जन्म होता है, जिसके उत्पन्न होने का कारण स्पर्श है। यह स्पर्श इन्द्रिय तथा विषयों के सम्पर्क से उत्पन्न होता है, जो वस्तुतः गीता में कहा गया 'मात्रा–स्पर्श'[1] ही है।

विद्वानों ने इसके उत्पत्ति तथा विकास की तीन श्रेणियों का उल्लेख किया है, जिसमें **प्रथम,** इन्द्रिय और विषय का संयोग, **द्वितीय,** उस विषय का ज्ञान, **तृतीय,** वेदना की उत्पत्ति। यहाँ इस स्पर्श का कारण 'षडायतन' को स्वीकार किया गया है और यह **'षडायतन'** वस्तुतः त्वक्, चक्षुः, श्रोत्र, नासिका तथा रसना आदि पाँच ज्ञानेन्द्रियाँ **और छठा मन है।**

यही 'षडायतन' मानव शरीर में रहने के कारण 'नामरूप' भी कहा जाता है और इस 'नामरूप' का कारण भी विज्ञान (विंजान) अर्थात् शरीर में स्थित **चेतन सत्ता** है, क्योंकि इसी चेतना सत्ता के साथ संयोग के अभाव में माता के गर्भ में 'नामरूप' की उत्पत्ति भी सम्भव नहीं होती। बौद्धग्रन्थ 'मिलिन्दपण्ह' में इस चेतन सत्ता को

---

[1]. मात्रास्पर्शास्तु कौन्तेय शीतोष्णसुखदुःखदाः।
आगमापायिनोऽनित्यास्तांतितिक्षस्व भारत।। श्रीमद्भगवद्गीता–2/14।

चौराहे पर विद्यमान चौकीदार के समान कहा है, जो सब ओर से आने वालों का साक्षात् करता है।[1] **अत्थशालिनी** के अनुसार– 'विषयों का चिन्तन करने वाले को ही चेतनतत्त्व कहा गया है।[2] इसप्रकार स्पष्ट है कि यह चेतन विज्ञान ही हमारी 'नामरूपात्मक' सत्ता का मुख्य आधार है।

इस प्रसंग में प्रश्न उठता है कि दूसरों को मार्ग बताने वाला यह 'चेतन' स्वयं इस नामरूप शरीर में भला कैसे फँस जाता है? जिसका कारण यहाँ **'संस्कार'** को माना गया है। 'संस्कार' से अभिप्राय पूर्वजन्म के उत्पन्न होने से मरणकाल तक के कर्म हैं। यद्यपि कुछ विद्वानों ने इसका अभिप्राय पूर्वजन्म में मरणकाल के समय व्यक्ति के विचारों को ही 'संस्कार' नाम दिया है। बौद्धों के अनुसार ये विचार ही व्यक्ति के आगे आने वाले जन्म में कारण बनते हैं, जिनकी पुष्टि गीता से भी होती है।[3] ब्रह्मसूत्र के शांकरभाष्य पर रत्नप्रभा टीका के विद्वान् लेखक गोविन्दानन्द ने भी भ्रूण में स्थित चेतना के उद्भव को पूर्वजन्म के संस्कार के रूप में ही स्वीकार किया है।[4]

(b) **निर्वाण का अर्थ–** निर्वाण पद निर् उपसर्गपूर्वक √वा (गतिगन्धनयोः) धातु से ल्युट् प्रत्यय करने पर बना है, जिसका सामान्य अभिप्राय है, बुझना। कहा भी गया है कि जिन लोगों की आयु पूरी हो चुकती है, वे दीपक के बुझने की गन्ध को सूँघने तथा सुहृद्वाक्यों को सुनने एवं अरुन्धती तारे को देखने की शक्ति को खो देते हैं।[5] यहाँ प्रयुक्त 'निर्वाण' पद का अर्थ स्पष्टरूप से बुझना है। दूसरे शब्दों में,

---

1. मिलिन्दपण्ह–62/8।
2. अत्थशालिनी– पृष्ठ, 112।
3. यं यं वापिस्मरन्भावं त्यजन्ते कलेवरम्।
   तं तमेवैति कौन्तेय सदा तद्भावभावितः।।
4. रत्नप्रभा टीका–2/2/19।
5. दीपनिर्वाणगन्धं च सुहृद्वाक्यमरुन्धतीम्।
   न जिघ्रन्ति, न शृण्वन्ति, न पश्यन्ति गतायुषः।।

इसे शरीर की चेतना आदि का विनाश भी कहा जा सकता है, किन्तु बौद्धदर्शन के पक्ष में इसका अर्थ हमें दुःखों का पूर्णरूप से विनाश करना होगा।

इस दर्शन में 'निर्वाण' विषय वस्तुतः अत्यन्त महत्त्वपूर्ण है। इस सम्बन्ध में बौद्धधर्म के प्रत्येक सम्प्रदाय का विशिष्ट मत है। यहाँ चर्चा का प्रमुख आधार निर्वाण का **भावरूप** या अभावरूप होना रहा है। साथ ही, निर्वाण के स्वरूप के सम्बन्ध में हीनयान एवं महायान की कल्पनाओं में भी पर्याप्त भिन्नता है, क्योंकि हीनयान मत को मानने वाले स्वयं को तीन प्रकार के दुःखों से पीड़ित मानते हैं–

(अ) भौतिक एवं मानसिक कारणों से उत्पन्न होने वाला कष्ट, जिसे यहाँ **दुःख–दुःखता** नाम दिया गया है।

(आ) संसार की वस्तुओं के उत्पन्न तथा विनष्ट होने से होने वाला क्लेश, इसे यहाँ **संस्कार–दुःखता** नाम दिया गया।

(इ) इसीप्रकार सुख के भी दुःखरूप में परिवर्तित होने के कारण उत्पन्न होने वाला कष्ट अर्थात् **विपरिणाम–दुःखता।**

वस्तुस्थिति तो यह है कि संसार में आने के बाद व्यक्ति को इन दुःखों से किसी भी प्रकार छुटकारा प्राप्त नहीं हो सकता है, किन्तु भगवान् बुद्ध ने इनसे छुटकारा प्राप्त करने के उपाय का निर्देश दिया। तदनुसार– 'आर्यसत्य का अनुशीलन करना, अष्टांगिक मार्ग का पालन तथा संसार के पदार्थों में आत्मा को स्वीकार न करना ही मुक्ति का मार्ग है।'

(c) **निर्वाण एवं जीवन्मुक्ति–** निर्वाण अथवा जीवन्मुक्ति के प्रसंग में ही यह विचार भी चिन्तनीय है कि क्या व्यक्ति को निर्वाण उसकी जीवित अवस्था में भी मिल सकता है? या फिर इसके लिए उसे मरना आवश्यक है। ध्यातव्य है कि जो विद्वान् ज्ञान से मुक्ति को स्वीकार करते हैं, वे जीवित रहते हुए भी मुक्ति की स्थिति को मानते हैं, किन्तु उपनिषदों में यह मुक्ति व्यक्ति को मरण के बाद ही प्राप्त

होती है। दूसरे शब्दों में, इस अस्थिपंजर रूप शरीर से भी वह मुक्त हो जाता है, जबकि बुद्धदर्शन में दुःख तथा दुःखसमुदय को जान लेने के बाद दुःख का निरोध अवश्यंभावी होने से यही स्थिति उसके निर्वाण की होती है अर्थात् जीवित अवस्था में भी निर्वाण सम्भव है।

इसी प्रसंग में यह भी उल्लेखनीय है कि दूसरे आर्यसत्य में स्थित बारह निदानों में स्पष्टरूप से कहा गया है कि– हमारा जीवन एवं उनके मध्य में विद्यमान पदार्थ ये सभी अविद्या से युक्त होकर दुःख का कारण बनते हैं, क्योंकि संसार के पदार्थों में व्यक्ति की रागद्वेषमयी प्रवृत्ति ही उपादान अर्थात् आसक्ति का कारण बन जाती है, किन्तु जब निश्चयपूर्वक इसकी मूल आधार अविद्या ज्ञान में परिवर्तित हो जाती है, तब उसका 'भव' अर्थात् जन्म रागद्वेषादि से प्रेरित नहीं होता है। इसप्रकार रागद्वेष के पूर्णरूप से मिट जाने पर जन्म के कारणभूत कर्म भुने हुए बीजों के समान भविष्य के जन्म को उत्पन्न करने में पूरी तरह असमर्थ हो जाते हैं। यही पुरुष का निर्वाण होता है। इसप्रकार रागद्वेषादि का अभाव ही निर्वाण का आधार है।

इसी प्रसंग में जीवन्मुक्त के दैनिक आचरण के विषय में भी इन्हीं द्वादश निदानों में चिन्तन किया गया है। तदनुसार– वह व्यक्ति इच्छा, अनिच्छा या परेच्छा से प्राप्त भोग्य पदार्थों का उपभोग करते हुए भी उनके प्रति अनासक्ति के कारण उन सभी से ऊपर ही रहता है, किन्तु **'जीवन्मुक्त'** को सार्वजनिक कार्यों में सहभागिता करनी चाहिए या नहीं, इस विषय में यहाँ पर कोई कथन नहीं किया गया है।

निर्वाण प्राप्त करने के बाद साधक को **'अर्हत्'** नाम से पुकारने की परम्परा के भी यहाँ दर्शन होते हैं, जो निष्क्रिय न रहकर 'भूत–मैत्री एवं करुणा' से प्रेरित होकर 'सर्वजनहिताय' अपने ज्ञान का सदुपयोग करते हैं, बुद्ध का स्वयं का जीवन भी इसमें प्रमाण है।

(d) **दुःख निरोध का अष्टांग मार्ग**– दुःखनिरोध मात्र को सुनने से सांसारिकों का कोई भला नहीं होता, इसलिए बुद्ध ने दुःखनिरोध के

मार्ग का भी उपदेश प्रदान करते हुए अष्टांग मार्ग का उल्लेख किया। इसके आठ अंग होने के कारण इसे **'अष्टांगमार्ग'** कहा गया, जो इसप्रकार है–

(i) **सम्यक् दृष्टि** (सम्मादिट्ठि)– सभी सांसारिक वस्तुओं का यथार्थरूप दुःख है, इसलिए उन्हें दुःखरूप में समझना ही सम्यक् दृष्टि है, क्योंकि हमारे बन्धन का कारण तो अविद्या ही है, जिसका नाश विद्या से सम्भव है।

(ii) **सम्यक् संकल्प** (सम्मा संकप्प)– इसीप्रकार जरामरण से ग्रस्त व्यक्ति के लिए संसार की वस्तुएँ तथा दूसरे भोगपदार्थों को मात्र दुःखरूप में समझने मात्र से दुःखों का निदान सम्भव नहीं है। इसके लिए तो हमें उन्हें दुःखरूप मानते हुए, उनसे दूर रहने का प्रयास भी करना होगा। अतः दुःखरूप सांसारिक भोग पदार्थों से दूर रहने का दृढ़निश्चय करना ही 'सम्यक् संकल्प' नामक दूसरा मार्ग है।

(iii) **सम्यक् वाक्** (सम्मावाचा)– संकल्प वस्तुतः व्यक्ति का मानसिक व्यापार है, यदि दुःखों से दूर रहने का संकल्प तो किया जाए, किन्तु उसपर व्यावहारिक रूप से अमल न करें, तो ऐसा संकल्प व्यर्थ है। उसके लिए संकल्प के अनुसार अपनी वाणी पर संयमन करना भी आवश्यक है, जिसमें मिथ्याभाषण, दूसरे की निन्दा तथा अप्रिय वचनों का प्रयोग आदि आते हैं।

(iv) **सम्यक् कर्मान्त** (सम्माकम्मान्त)– मन और वाणी को नियन्त्रित करने के बाद आवश्यक है कि व्यक्ति अपने कर्मों द्वारा भी वैसी ही अभिव्यक्ति करे, जिसका उसने मन में चिन्तन् किया है। इसलिए बुद्ध ने इस चतुर्थ सूत्र में अच्छे कर्मों का उपदेश प्रदान किया है, जिनमें हिंसा, चोरी एवं इन्द्रियलोलुपता इन दोषों से दूर रहने की बात कही है। यही वस्तुतः साधक का 'सम्यक् कर्म' है।

(v) **सम्यक् आजीव** (सम्मा आजीव)– मनसा, वाचा, कर्मणा सम्यक् होने के बाद साधक के लिए आवश्यक है कि– वह अपने

व्यवसाय आदि को भी हिंसादि पापों से सुरक्षित रखे अर्थात् अपनी आजीविका के लिए वह ऐसे कार्य करे, जिससे उसके कर्म तथा संकल्प दोनों ही शिथिल होकर कलंकित न हों। बौद्धों का यही सम्यक् आजीव' नामक पंचम मार्ग है।

(vi) **सम्यक् व्यायाम** (सम्मा वायाम)– इसका अभिप्राय यहाँ व्यायाम करने से न होकर ठीक एवं दृढ़ प्रयत्न करने से ग्रहण करना चाहिए अर्थात् जिन बुरे कर्मों को हमने छोड़ दिया है, वे फिर से हमारे मन के माध्यम से शरीर में प्रवेश न कर जाएँ, इसके लिए हमें प्रयत्न–शील रहना होगा। साथ ही, शुभकर्मों के लिए भी अपने हृदय के कपाटों को दृढ़रूप में खोलकर रखना होगा, इन दोनों के लिए प्रयत्नशील होना ही यहाँ दुःख–निरोध का षष्ठ मार्ग 'सम्यक्संकल्प' है।

(vii) **सम्यक् स्मृति** (सम्मासति)– उपर्युक्त सभी मार्गों की सफलता तभी सम्भव है, जब व्यक्ति संसार की वस्तुओं को अपने शरीर, मन तथा अनुभूति (वेदना) तक में अनित्य मानते हुए इनके मिथ्या होने की बात को सदा स्मरण रखे, क्योंकि इसप्रकार की स्मृति के विनष्ट होते ही उसके फिर से दुःखसागर में डूबने अर्थात् जरामरण के बन्धन में पड़ने की पूरी–पूरी सम्भावना है। इसलिए इस मानव शरीर को मांस, रुधिर, अस्थि आदि से निर्मित पुरीष का पात्र मानते हुए ही व्यवहार करने की स्मृति को हमेशा ही अपने साथ रखना है, इसप्रकार की अनासक्ति होने पर ही व्यक्ति सांसारिक दुःखों से छुटकारा प्राप्त कर सकता है।

(viii) **सम्यक् समाधि**– उल्लेखनीय है कि साधक उपर्युक्त सभी सात सोपानों को पार करने पर जब अपनी चित्तवृत्ति को शुद्ध कर लेता है, तभी वह निर्वाण की अन्तिम सीढ़ी पर आरूढ़ होने में समर्थ हो पाता है। बुद्ध ने अष्टम मार्ग समाधि या ध्यान की चार स्थितियों या अवस्थाओं को बताया, जो इसप्रकार हैं–

(1) **समाधि की प्रथम अवस्था**– इस अवस्था में साधक ध्यान मग्न होने का उपक्रम करते हुए, शान्त चित्त से तत्त्वज्ञान की भावना को दृढ़ करने के लिए मन में आर्यसत्यों के विषय में गहन चिन्तन करता है। साथ ही, उन्हीं में अपनी आस्था तथा श्रद्धा को स्थिर करके, सभी सांसारिक पदार्थों के प्रति विरक्ति के भाव को पुष्ट भी करता है। इसी विरक्ति के कारण वह अपने अन्तःकरण में एक विचित्र प्रकार की शान्ति और आनन्द की अनुभूति करने लगता है, यही **'समाधि'** नामक अष्टम मार्ग की प्रथम अवस्था है।

(2) **द्वितीय अवस्था**– समाधि की इस अवस्था में साधक संयमी होकर आर्यसत्यों के प्रति दृढ़रूप से श्रद्धालु होता है, इस स्थिति में उनके प्रति तर्क–वितर्क का पूर्णरूप से अभाव हो जाता है, जिससे उसका ध्यान अपेक्षाकृत अधिक प्रगाढ़ता को प्राप्त होता है, चित्त की वृत्तियाँ शान्त सागर की लहरों के समान पूर्णतया स्थिर हो जाती हैं, जिससे वह अपेक्षाकृत अधिक आनन्द एवं शान्ति की अनुभूति करता है, किन्तु इस अवस्था में कुछ सबल अनुभूतियों का तिरोधान न होने से, इसे निर्वाण की पूर्णता नहीं कहा जा सकता है।

(3) **तृतीय अवस्था**– इस अवस्था में साधक उन प्रबल अनुभूतियों से भी विमुख हो जाता है, क्योंकि यहाँ पर चित्त का ऐकान्तिक निरोध होने से इसे समाधि की चरमावस्था कहा गया है। वस्तुतः यहाँ पर साधक को प्रबल अनुभूतियों की उपेक्षा करने के लिए भी दृढ़ इच्छाशक्ति के साथ प्रयत्नवान् होना पड़ता है।

(4) **चतुर्थ अवस्था**– समाधि की इस अन्तिम अवस्था में पहुँच कर साधक को किसी प्रकार की कोई अनुभूति क्षुब्ध नहीं करती है अर्थात् चित्त की सभी वृत्तियाँ पूर्णरूप से निरुद्ध हो जाती हैं और उसे शान्तिपूर्ण विराग एवं पूर्ण वृत्तिनिरोध की अनुभूति होती है। इसप्रकार दुःखों से पूर्णतया मुक्त होकर वह **'अर्हत्'** हो जाता है। इसी को यहाँ **निर्वाण संज्ञा** भी दी गयी है, इसमें साधक पूर्णशील, पूर्णसमाधि तथा

पूर्ण प्रज्ञावान् हो जाता है। बौद्धदर्शन में ये ही **तीन रत्न** के नाम से जाने जाते हैं।

(क) **प्रतीत्यसमुत्पाद का महत्त्व–** वस्तुतः बुद्ध के समय में समाज में दो प्रकार के लोग थे। **प्रथम,** वे जो प्रवृत्तिमार्ग से हटकर घोर तप करके शरीर को जर्जर करने में ही आत्मकल्याण मानते थे। **द्वितीय,** श्रेणी में चार्वाक सिद्धान्त को मानने वाले वे लोग थे, सांसारिक सुखों में आकण्ठ डूबकर जीवन की इतिकर्तव्यता समझते थे, किन्तु बुद्ध ने इन दोनों से अलग हटकर **मध्यम मार्ग** का अनुसरण करते हुए **अष्टांगिक मार्ग** का आविष्कार किया।

तदनुसार सम्यक् दृष्टि आदि का पालन करते हुए घोर तप से दूर रहकर कल्याण पथ को निर्दिष्ट किया। यह साधना चिन्तन प्रधान होने से अत्यधिक कठिन भी नहीं थी, किन्तु संयम का उपदेश देने के कारण यह बहुत मधुर भी नहीं कही जा सकती थी। इसीलिए उक्त अष्टांग मार्ग लोगों में **'मध्यम प्रतिपदा'** के नाम से प्रसिद्ध हो गया। 'प्रतीत्यसमुत्पाद' में वस्तुतः एक दूसरे की अपेक्षा, एक दूसरे की उत्पत्ति का होना कहा गया है, इसलिए दर्शन की भाषा में इसे **सापेक्ष कारणतावाद** भी कहते हैं।

बुद्ध ने सांसारिक दुःखों के निरोध की महत्त्वपूर्ण ओषधि प्रतीत्यसमुत्पाद को ही बताया, क्योंकि इसमें आत्मा, परमात्मा जैसी किसी भी नित्य वस्तु को स्वीकृति प्रदान नहीं की गयी थी, क्योंकि वे तो अनादि और अनन्त जैसी वस्तुओं की चर्चा करके अपने समय की बर्बादी मानते थे। उनके मत में, सभी पदार्थों की सत्ता परिवर्तनशील और क्षणिक है। एक सत्ता अपनी उत्पत्ति के लिए दूसरी पर आधारित है। इसी आधार पर बौद्धदर्शन में हेतु और पच्चय अर्थात् प्रत्यय का आविष्कार भी हुआ, जो एक दूसरे के हेतु और प्रत्यय होते हुए भी कोई किसी से ऊपर नहीं है। साथ ही, सभीप्रकार की सत्ताएँ क्षणभर के लिए दिखायी देने वाली तथा अन्ततः विनष्ट होने वाली हैं। आरम्भ

में लोगों को यह मार्ग दूसरे सिद्धान्तों से हटकर किंचित् नवीन प्रतीत होने से अच्छा भी लगा, किन्तु बाद में इसमें कमी आती चली गयी, यही कारण है कि बौद्धदर्शन अपनी जन्मभूमि से ही लुप्त हो गया।

(f) **पंचस्कन्ध और आत्मा–** बौद्धदर्शन संसार की प्रत्येक वस्तु को संघातमय मानता है, इसलिए यहाँ **'अवयवी'** पद को मान्यता प्रदान नहीं की गयी है, क्योंकि अवयवी माने जाने वाला पदार्थ भी वस्तुतः संघात मात्र ही है। उदाहरण के लिए व्यक्ति का शरीर हाथ, पैर, सिर आदि बाह्य अंग–प्रत्यंगों का तथा मन, बुद्धि और इन्द्रिय आदि आन्तरिक अवयवों का संघातमात्र है। यदि इसका कोई अंगी है, तो वह प्रत्यक्ष क्यों नहीं होता है?

इस सिद्धान्त में इच्छा, द्वेष, प्रयत्न, सुख, दुःखादि का आधार एक अंगी, जिसे दूसरे दर्शनों में 'आत्मा' कहा गया है, मान्यता प्रदान नहीं की गयी है। यहाँ तो अवयवों के संघात के विनष्ट होने पर वस्तु का विनष्ट होना कहा गया है। बुद्ध ने लोगों द्वारा कहे गए आत्मतत्त्व के विषय में पर्याप्त चिन्तन करते हुए विभिन्न प्रकार के ज्ञान तथा अनुभवों का वर्गीकरण करके पाँच स्कन्धों की प्रस्थापना की, जिसे बुद्ध की मौलिक देन माना गया। तदनुसार–

(i) **रूप स्कन्ध–** वस्तुतः आत्मा की कल्पना में अनुभूति अथवा ज्ञान को आवश्यक माना गया है। इनमें भी कुछ तो बाह्य होते हैं, तो कुछ आभ्यन्तरीय हैं। इनमें एक साधना अवयव भौतिक भी है, यही हमारे लौकिक प्रत्यक्ष में सहयोगी होता है। बुद्ध ने इसी आधार को **रूपस्कन्ध** का नाम दिया। **दीर्घसंगनी** में रूप को चार भूत और उनमें निष्पन्न को 'रूपस्कन्ध' संज्ञा प्रदान की गयी है। इसप्रकार 'रूपस्कन्ध' में महाभूत एवं भौतिक कार्य के साथ–साथ हमारी छः इन्द्रियों का भी समावेश हो जाता है। इसीप्रकार **अत्थशालिनी** में बुद्धघोष ने इसे मायावी की रचनाओं के समान ही महाभूत बताया है, क्योंकि मायावी व्यक्ति अवस्तु में भी वस्तु की भ्रान्ति करा देता है। इसीलिए हमें ये

भूततत्त्व नील, पीत, श्वेतादि रूप न होते हुए भी तद्रूपों में प्रतिभासित होते हैं। इसप्रकार इन्द्रियों के विषय रूप, रंगादि अथवा उनकी प्रतीति होना सभी कुछ **रूप–स्कन्ध** में ही समाविष्ट है।

(ii) **संज्ञा स्कन्ध**– यहाँ पर इन्द्रिय एवं पदार्थों के संयोग से संज्ञा–स्कन्ध का उदय होना बताया गया है। केवल संज्ञा ही क्यों? यहाँ तो वेदना और संस्कार स्कन्धों के उदय को भी इन्द्रिय तथा पदार्थों के संयोग से ही माना है। ध्यातव्य है कि संज्ञा से अभिप्राय यहाँ उस ज्ञान विशेष से है, जो हमारे ज्ञान का आधार होता है। दूसरे शब्दों में, यह वस्तु नीली है, या पीली आदि विशेषताओं के ज्ञान को ही 'संज्ञा' कहा जाता है।

(iii) **वेदना–स्कन्ध**– रूप तथा संज्ञा–स्कन्ध के बाद वेदना–स्कन्ध आता है, यही ज्ञान के बाद होने वाली अनुभूति का आधार बनता है। इसलिए इन्द्रिय और विषय का संयोग जो ज्ञान का कारण है, वही परम्परा से अनुभूति का कारण भी बन जाता है, क्योंकि यह अनुभूति तो ज्ञान के अनन्तर ही होती है। इसलिए यह वस्तुतः संज्ञा–स्कन्ध द्वारा उत्पन्न ज्ञान ही है, किन्तु इसके अनन्तर जो हमारी उस वस्तु या व्यक्ति के विषय में प्रतिक्रिया होती है, उसकी पृष्ठभूमि में हमारे मस्तिष्क में संचित–ज्ञान तथा हृदय में संचित अनुभूतियों की समष्टि, स्मृतिरूप में अभिव्यक्त होती है।

इसलिए हम कह सकते हैं कि मस्तिष्क की ज्ञान–समष्टि तथा हृदय की अनुभूति–समष्टि ये दोनों अलग–अलग वस्तुएँ हैं। इसी प्रसंग में यह भी ध्यातव्य है कि वेदना और संज्ञा इन दो स्कन्धों से ही हमारी चेतना की समष्टि पूरी नहीं हो पाती है, इसीलिए एक अन्य स्कन्ध को स्वीकृति प्रदान की गयी है।

(iv) **संस्कार स्कन्ध**– पदार्थों की हेयोपादेयता में सहायक जो वेदना और ज्ञान के बाद हमारे मस्तिष्क और हृदय में उनके अवशेषों का **अतीन्द्रिय संचय** होता है, वही वस्तुतः संस्कार–स्कन्ध कहा गया

है। इसे 'संस्कार' संज्ञा इसीलिए प्रदान की गयी है, क्योंकि यहाँ पर रूप, संज्ञारूप, ज्ञान तथा वेदना अर्थात् अनुभूति ये तीनों ही एकत्र होते हैं।[1] संक्षेप में, संस्कार वस्तुतः दोनों प्रकार के ज्ञान और तीसरी वेदना के एकत्र होने के परिणामस्वरूप कार्यव्यापारों का उद्गमन ही है।

(v) **विज्ञान स्कन्ध**– बौद्धदर्शन में 'चेतना' का अन्य नाम ही विज्ञान है, क्योंकि यही किसी भी पदार्थ के ज्ञान के आरम्भ से लेकर अन्त तक विद्यमान रहती है। इसी चेतना को यहाँ **चित्त–संज्ञा** भी प्रदान की गयी है। यही चित्त वस्तुतः पदार्थों के प्रत्यक्षीकरण में सर्वप्रथम वस्तु के सम्पर्क में आता है तथा इसके बाद ही अनुभूति एवं ज्ञान की उत्पत्ति होती है। ज्ञान की प्रक्रिया पूरी होने के बाद उसके फल की प्राप्ति के लिए चेतना का फिर से आगमन होता है।

इसप्रकार उक्त पाँच स्कन्ध ही यहाँ चैतन्य के आधार पर कहे गए हैं। इस सबकी अनुभूति होने के पश्चात् ही लोग आत्मा के अस्तित्व की घोषणा करते हैं, किन्तु यह सब वस्तुतः उनका भ्रम ही है। त्रिपिटकों के अनुसार– सम्पूर्ण जगत् एवं आत्मा वस्तुतः क्षण भर रहने से अनित्य हैं। इसीलिए यह पंचस्कन्ध भी प्रतिक्षण परिवर्तनशील होने से क्षणिक ही है। प्रसिद्ध बौद्ध विद्वान् **नागसेन** ने दूध के विकारों का उदाहरण प्रस्तुत करके संसार की प्रत्येक वस्तु में ऐक्य का निषेध किया और हमें प्रतीत होने वाली वस्तुगत एकता को समान आकार की वस्तुपरम्परा मात्र कहा।

इनका मानना है कि जैसे दूध दुहे जाने से लेकर अपने रूप को क्षण–क्षण में दूध से दही, दही से मक्खन, मक्खन से घी आदि के रूप में बदलता है, वैसे ही संसार में परिवर्तन या परिणाम ही सत्य है, कोई भी सांसारिक पदार्थ सत्य नहीं है। यहाँ तो आत्मा को भी **संघात** रूप ही माना गया है, क्योंकि जब कोई व्यक्ति 'मैं' कहता है तो उस समय यह 'मैं' पद इन्हीं पंच स्कन्धों में से किसी एक का वाचक होता

---

[1]. संचातम् अभिसंखरोति। संयुत्तनिकाय–3/87।

है। इस आधार पर किसी को 'आत्मा' मानना मिथ्या ही है। ठीक उसी प्रकार जैसे कमल के पुष्प में सुगन्ध को उसकी पंखुडियों की, रंग की या पराग की नहीं कहा जा सकता है, क्योंकि वह इस सम्पूर्ण संघात की ही होती है।

(g) **अविद्या का कारण आस्रव**– बुद्ध ने **अविद्या** को ही जाति, जरा, मरण आदि दुःखों का मूल आधार बताते हुए इसे **अनादि संज्ञा** प्रदान की। इसी अविद्या का प्रभाव हमारे जीवन–चक्र और उससे उत्पन्न होने वाली परम्परा में दृष्टिगोचर होता है, क्योंकि इसकी अभिव्यक्ति इन सबके साथ ही सम्भव है। इसीलिए उनके विनाश से यह भी नष्ट हो जाती है। बौद्धदर्शन के अनुसार– भूतों का कारण भी अविद्या के समान ही अनादिकाल से है, इनकी उत्पत्ति कब हुई इस विषय में 'इदमित्थम्' नहीं कहा जा सकता है।

मानव के जन्म एवं दुःखों का कारण ये भूत ही हैं तथा अविद्या के प्रादुर्भाव का कारण या आधार यहाँ **'आस्रव'** नामक तत्त्व को कहा हैं। इन्हीं आस्रवों के साक्षात्कार से अविद्या का साक्षात्कार तथा उनके अन्तर्धान से उसका भी अन्तर्धान हो जाता है। **धम्मसंगनी** में इन आस्रवों की संख्या चार बतायी गयी है–

(क) **कामास्रव**– ऐन्द्रियिक विषयों की कामना, आसक्ति और उनसे प्राप्त होने वाली सुखों की चाह को संचय करना ही 'कामासव' होता है। यही वस्तुतः व्यक्ति के निर्वाण पथ में सबसे बड़ा बाधक है।

(ख) **भवास्रव**– इसीप्रकार जन्म ग्रहण करने की इच्छा तथा 'संकल्प' भी यहाँ पर 'भवास्रव' के रूप में परिभाषित किया गया है। **बुद्धघोष** ने कामासव एवं भवासव इन दोनों को आसक्ति मूलक होने से एक ही माना है।

(ग) **दिट्ठास्रव**– अर्थात् दृष्टि आस्रव, इससे अभिप्राय उन विचारों से है, जिनके कारण लोग रूढ़िगत विचारों में फँस जाते हैं। **जैसे**– संसार नित्य है, अनित्य है, इसप्रकार के झमेलों या विवेचन में

पड़ना ही वस्तुतः दिठ्ठासव है। इसी के प्रभाव से व्यक्ति का मस्तिष्क व्यर्थ के वादों में उलझा रहता है, जिससे वह बौद्ध सिद्धान्तों को समझने में असमर्थ रहता है।

(घ) **अविज्जास–** इसीप्रकार 'अविद्यासव' से तात्पर्य संसार के दुःखों, उसके कारणों एवं दुःख निरोध के ज्ञान से पराङ्मुख होने से है। बौद्धदर्शन के अनुसार– भवास्रव एवं अविद्यास्रव ये दोनों कभी भी साधक को अर्हत्व की प्राप्ति नहीं होने देते हैं। **मध्यम निकाय** में आस्रव को अविद्या का कारण मानकर उसे आस्रवों से अलग बताया है तथा इसी अविद्या को दुःख के सत्य–ज्ञान का आवरण भी कहा है।

इसी प्रसंग में यह भी ध्यातव्य है कि उक्त आस्रवों द्वारा साक्षात्रूप से उत्पन्न होने वाले **लोभ, दोष, मोह, मान, दृष्टि, आलस्य, विचिकित्सा, विकत्थना, निर्लज्जता, अनुताप आदि दस तत्त्वों को यहाँ क्लेशों की संज्ञा प्रदान की गयी है** तथा इन्हीं से वाचिक, कायिक, और मानसिक कर्मों का उदय मानते हुए, इनका सम्बन्ध वेदना, संज्ञा, संस्कार एवं विज्ञान स्कन्धों से बताया है।

(h) **रत्नत्रय–** इसी प्रसंग में यह भी उल्लेखनीय है कि बुद्ध ने ज्ञान तथा आचार में समन्वय करने के लिए शील, समाधि तथा प्रज्ञा रूप में रत्नत्रय की परिकल्पना भी की है, क्योंकि चार आर्य सत्यों के ज्ञानमात्र से साधक को निर्वाण की प्राप्ति होना सम्भव नहीं है, इसके लिए उसे कर्म करना आवश्यक है, जिनका विवरण इसप्रकार है–

(i) **शील रत्न–** सभीप्रकार के पापपूर्ण कार्यों से बचना ही शील रत्न है।[1] इस संसार में व्यक्ति अपने बाह्य तथा आभ्यन्तर रूप में तृष्णा के घने जंजालों (तण्हाजटा) में ही परेशान रहता है, शील, समाधि और प्रज्ञा ये तीनों ही इसमें शिथिलता का आधान करते हैं, क्योंकि शील का पालन करते हुए साधक कामना के आकर्षण को त्यागकर उनकी जटिलताओं को अप्रभावी करने में समर्थ होता है।

---

1. सब्ब पापस्स अकरणम्, इति।

यहाँ इसे अर्हत्त्व प्राप्ति में 'प्रस्थान स्तम्भ' कहा गया है, क्योंकि शील के अभ्यास से ही साधक के क्लेश दूर होते हैं और वह **श्रोतापन्न भाव** (सोतापन्नभाव) तथा **सकृदागामी** भावरूप दशाओं को प्राप्त कर पाता है। इनमें भी श्रोतापन्न वस्तुतः यहाँ पर आध्यात्मिक यात्रा का प्रथम पड़ाव माना गया है, इसी से साधक के सही मार्ग पर चलने की प्रतीति होती है, जबकि सकृदागामी भाव इससे आगे की अवस्था है अर्थात् इस अवस्था में साधक निर्वाण से केवल एक जन्म दूर ही रह जाता है, जिससे उसमें निर्वाण–प्राप्ति की आशा जाग्रत हो जाती है।

(ii) **समाधि रत्न**– इसका उल्लेख यहाँ बुद्धत्व प्राप्ति के लिए किया गया है। शील से भी उत्कृष्ट मानते हुए इसे पूर्व में संचय किए गए क्लेशों की जड़ों में शिथिलता लाने वाला कहा है। यही कारण है कि इस अवस्था में साधक की तृष्णा और कामना भस्म हो जाती हैं और वह अपने प्रधान लक्ष्य निर्वाण के समीप आ जाता है, क्योंकि इस समाधि से ही यथार्थप्रज्ञा का उदय होता है।

(iii) **प्रज्ञा रत्न**– समाधि के परिणामस्वरूप ही प्रज्ञा का अधिगम होता है, जिससे साधक **अर्हत्व प्राप्ति** का अधिकारी हो जाता है। इसी के माध्यम से वह दुःख, दुःख का कारण, दुःख निरोध तथा दुःख निरोध के मार्ग की यथार्थता को समझने में समर्थ होता है। ये तीनों रत्न परस्पर अत्यन्त घनिष्ठरूप में सम्बद्ध हैं, क्योंकि शील के अभाव में समाधि सम्भव नहीं है और समाधि की भी चारों अवस्थाओं को पार करने के बाद ही साधक में **सत्यप्रज्ञा** की उत्पत्ति होती है, जिससे वह अर्हत्व को प्राप्त करता है।

(i) **कर्मविषयक सिद्धान्त**– कर्म के विषय में बुद्ध के विचार उपनिषदों से पर्याप्तरूप में मिलते हैं, क्योंकि **मिलिन्दपण्ह** का मानना है कि– इस संसार के सभी लोग समान नहीं हैं, इनमें कुछ सुन्दर है, तो कुछ दूसरे कुरूप भी हैं। इसीप्रकार कोई धनवान् है तो कोई निर्धन भी है, ये सभी भेद उसके कर्म–भेदों पर आधारित हैं। बुद्ध ने कर्म के

सम्बन्ध में यह कहा कि– कर्म, आसक्ति एवं रागद्वेष से युक्त होकर ही इसलोक या परलोक का फलदायी होता है, जबकि अनासक्ति से किया गया कर्म तो निर्वार्य है, वह किसी भी प्रकार का फल प्रदान नहीं करता है। इसप्रकार स्पष्ट है कि आसक्तिपूर्ण कर्म ही फल देने वाला होता है। इसप्रकार आसक्ति ही हमारे सुख एवं दुःखों का कारण बनती है।

व्यक्ति की कामनाएँ कभी भी समाप्त नहीं होती हैं, विषयों के उपभोग से इन्द्रियों की प्यास कभी भी शान्त नहीं होती है। दूसरे शब्दों में इसे गीता के इस उपदेश के रूप में भी देख सकते हैं–

न जातु कामः कामानामुपभोगेन शाम्यति।
हविषा कृष्णवर्त्मेव भूय एवाभिवर्द्धते।।

इसलिए साधक को कर्म करते समय उनके प्रति आसक्ति का त्याग करना चाहिए, तभी दुःखों से इसकी मुक्ति सम्भव है। निर्वाण की अवस्था में अनासक्ति भाव से किए हुए कर्म, साधक के जन्म–मरण रूप दुःखों का कारण नहीं बनते हैं। इसीलिए **अर्हत्** के निर्वाण में किसी प्रकार की कोई बाधा नहीं होती है। कर्मों को यहाँ कायिक, वाचिक एवं मानसिक रूप से तीन प्रकार का बताया गया है और इन सभी का मूल आधार चेतना है। शील तथा समाधि से कर्मजन्य आस्रव क्षीण हो जाता है और साधक अर्हत् की ओर अग्रसर होता है।

(vii) **शून्यवाद एवं विज्ञानवाद**– बौद्धदर्शन की महायान शाखा में दो चिन्तन धाराओं का सूत्रपात हुआ– शून्यवाद एवं विज्ञानवाद। यद्यपि सूक्ष्म दृष्टि से देखने से प्रतीत होता है कि शून्यवाद वस्तुतः विज्ञानवाद का पूरक मात्र है। **शून्यवाद,** जिसमें वस्तु की सत्ता को शून्य बताकर वस्तुमात्र को **अपरिभाष्य** कहा है।

(अ) **विज्ञानवाद** ने इसी सिद्धान्त को स्वीकार करके उसकी प्रतीति के लिए चेतना की व्याख्या को प्रस्तुत किया। ध्यातव्य है कि ये दोनों ही चिन्तनधाराएँ इस विषय में एक मत हैं कि संसार की कोई

भी वस्तु यथार्थ अथवा सत् नहीं है। इनके मत में, प्रत्येक वस्तु चलती फिरती झाँकी मात्र है, जिसे दूसरे शब्दों में, इन्द्रजाल की प्रतीति के समान भी कह सकते हैं।

(क) **शून्यवाद के कृतिकार व कृतियाँ–** यद्यपि शून्यवाद का प्रवर्तन प्रथम शती ई. के **नागार्जुन** द्वारा किया गया, किन्तु इसके दर्शन हमें बहुत पहले महायान सूत्रों में भी उपलब्ध होते हैं। फिर भी यह सत्य है कि नागार्जुन ने इस सिद्धान्त को आधार बनाकर 'प्रथम माध्यमिक कारिका' नामक प्रक्रियाबद्ध ग्रन्थ की रचना की, जिसमें इस सिद्धान्त को सुन्दर शैली में प्रतिपादित किया। इस ग्रन्थ की लोक प्रियता का ही परिणाम है कि इसपर अनेक वृत्ति तथा टीकाओं का प्रणयन किया गया, जिनमें **आचार्य भव्य** की **प्रज्ञा–प्रदीपवृत्ति** एवं चन्द्रकीर्ति की **'प्रसन्नपदा'** का प्रमुख स्थान है।

नागार्जुन की दूसरी कृतियों में **'प्रज्ञा पारमिता शास्त्र'** एवं **'दश भूमिविभाषाशास्त्र'** भी महत्त्वपूर्ण हैं, जिन्हें विषय प्रतिपादन की दृष्टि से महायान शाखा का विश्वकोश ही माना जाता है। दार्शनिक जगत् में पर्याप्तरूप से प्रसिद्ध नागार्जुन वस्तुतः दाक्षिणात्य ब्राह्मण थे, जो बाद में बौद्धधर्म में दीक्षित होकर श्रीपर्वत पर निवास करने लगे।

(अ) **आर्यदेव–** तृतीय शतक ई. (200–224 ई.) में स्थित नागार्जुन के ही शिष्य आर्यदेव ने नागार्जुन की 'माध्यमिक कारिकाओं' पर टीका का प्रणयन किया तथा चतुःशतक, हस्त–बाल–प्रकरण वृत्ति एवं चित्त–शुद्धि प्रकरण कुल तीन ग्रन्थों की रचना भी की। इनमें से चित्तशुद्धि प्रकरण के कुछ अंशों का प्रकाशन महामहोपाध्याय हरप्रसाद शास्त्री ने बंगाल की एसियाटिक सोसायटी के जनरल में 1898 ई. में कराया, जबकि चतुःशतक के उत्तरार्द्ध का अग्रेजी में अनुवाद विधुशेखर शास्त्री ने विश्वभारती सीरीज न. 2 में प्रकाशित कराया। इन दोनों का समय विद्वानों ने 550 ई. स्वीकार किया है।[1]

---

[1]. डॉ. एस. एन. दासगुप्त, पृष्ठ–128।

(ब) **कुमारजीव** (383 ई.)– इन्होंने नागार्जुन की कारिकाओं पर लिखी गयी आर्यदेव की टीका पर अन्य महत्त्वपूर्ण टीका का प्रणयन किया, जो केवल चीनी भाषा में ही उपलब्ध है।

(स) **बुद्धपालित** (550 ई.)– इन्होंने भी नागार्जुन की माध्यमिक कारिकाओं पर वृत्ति की संरचना की, जिसका तिब्बती भाषा में अनुवाद मिलता है। इसके अलावा इन्होंने 'मध्यम हृदय कारिका', 'मध्यमार्थ संग्रह' एवं 'हस्त–रत्न' नामक तीन ग्रन्थों का भी प्रणयन किया।

(द) **चन्द्रकीर्ति** (550 ई.)– बुद्धपालित के ही समकालीन इन्होंने शून्यवाद के प्रसिद्ध ग्रन्थ 'माध्यमिकावतार' की संरचना की तथा माध्यमिक कारिकाओं पर इनकी 'प्रसन्नपदा' टीका भी सरल एवं प्रामाणिक मानी जाती है, जिसका मूल आज भी संस्कृत भाषा में बिब्लियोथिका बुद्धिका न. 4 में उपलब्ध है। इसके अतिरिक्त आर्यदेव के चतुःशतक पर लिखी गयी, इनकी **'चतुःशतक वृत्ति'** संस्कृत में अधूरी, किन्तु तिब्बती भाषा में पूर्णरूप से प्राप्त है। उल्लेखनीय है कि इसके पश्चात् शून्यवाद पर कोई महत्त्वपूर्ण ग्रन्थ उपलब्ध नहीं है। यद्यपि अष्टमशती पर्यन्त अनेक भारतीय विद्वानों की सूचना हमें कुमारिलभट्ट की रचनाओं से हो जाती है।

(ख) **शून्यवाद का उद्भव एवं विकास**– आठवीं शती तक इस सिद्धान्त का पर्याप्त प्रभाव दार्शनिक जगत् में देखने को मिलता है। यद्यपि शून्यवाद की स्थापना का श्रेय नागार्जुन को जाता है तथापि महायान शाखा के सूत्रों में इसके बीज हमें अवश्य मिल जाते हैं। इसके लिए हम सुभूति एवं बुद्ध के संवाद का अवलोकन कर सकते हैं। हाँ नागार्जुन ने अपने अकाट्य तर्कों से इसकी प्रस्थापना अवश्य की।

(अ) **शून्य से अभिप्राय**– इस प्रसंग में यह भी विशेषरूप से ध्यातव्य है कि शून्य से अभिप्राय यहाँ अंग्रेजी के 'जीरो'(0) से ग्रहण नहीं करना चाहिए, अपितु यह यहाँ पर अभावात्मक सत्ता न होकर

अनिर्वचनीय तत्त्व का द्योतकमात्र है, जो न तो सत् है और न ही असत् है तथा सदसत् भी नहीं है, अपितु इन सबसे अलग असदसत् भी नहीं है। इसीलिए इसे यहाँ सर्वथा **अनिर्वचनीय** और **शून्य** कहा गया है। इसके अनुसार– कोई भी वस्तु न तो सद्रूप है और न ही असद्रूप है, किन्तु उसका स्वरूप तो इन दोनों से विलक्षण शून्यरूप है।

वस्तुतः यह शून्य अभावात्मक नहीं है, क्योंकि 'अभाव' पद भी सापेक्ष है। इसका कारण है कि यदि किसी वस्तु का भाव ही नहीं है तो फिर उसका अभाव भला कैसे सम्भव है? जबकि शून्य एक निरपेक्ष परमतत्त्व को ही इंगित करता है। इसप्रकार शून्यवाद ने इस आध्या–त्मिक मध्यममार्ग की उद्भावना करके 'माध्यमिक' संज्ञा को प्राप्त किया। इसीलिए आचार्य चन्द्रकीर्ति ने इसे यही नाम प्रदान किया।

(ब) **शून्यवाद की माध्यमिकता**– उल्लेखनीय है कि जिसप्रकार अष्टांगिक मार्ग के आविष्करण को मध्यममार्ग संज्ञा प्रदान की गयी, ठीक उसीप्रकार यहाँ महायान शाखा में शून्यवाद को मध्यम मार्ग बताया गया है।

(स) **शून्यवाद में सत्य की स्थिति**– शून्यवाद के व्याख्याकार नागार्जुन ने वस्तुतः सत्य के दो रूपों को स्वीकार किया। **प्रथम**, संवृत्ति सत्य एवं **दूसरा** पारमार्थिक सत्य। इनमें भी लौकिक सत्य ही संवृत्ति सत्य है, क्योंकि यह सत्य एवं असत्य दोनों रूपों में व्यवहार में प्रयुक्त होती है। जब हम प्रत्यक्ष के अनुकूल परिस्थितियों में वस्तु का प्रत्यक्ष करते हैं, वह सांसारिक दृष्टि से **'सत्य संवृत्ति'** कहा जाता है, किन्तु यदि यही प्रत्यक्ष हम विरुद्ध परिस्थितियों में इन्द्रिय तथा पदार्थ के संयोग से मिथ्यारूप में करते हैं, तो इसके बारे में मिथ्या अर्थात् आभासमात्र कहा जाता है, जबकि ये दोनों की व्यावहारिक दृष्टि से सत्य–असत्यरूप हैं। यह संवृत्ति सत्य, वस्तुतः पारमार्थिक सत्य तक पहुँचाने वाला सोपानमात्र है।

इसके अलावा दूसरा सत्य पारमार्थिक है, त्रिकाल–अबाधित होने से शून्य तथा निर्वाण ही परमार्थरूप में माना गया है, क्योंकि निर्वाण की अवस्था सामान्य व्यावहारिक अवस्था से सर्वथा अलग होती है। यहाँ तो साधक वस्तुतः व्यावहारिक तथा लौकिक नामरूप से सर्वथा ऊपर उठ जाता है, जिसे कल्पनातीत भी कह सकते हैं, क्योंकि उसका तो नकारात्मक वर्णन ही किया जा सकता है, बस यही यहाँ पर शून्यवाद के रूप में माना गया है।

नागार्जुन ने इसका नकारात्मक वर्णन ही किया है। उनके अनुसार निर्वाण के तथाभूत रूप को जानने वाला ही **'तथागत'** है। यहाँ तो निर्वाण एवं तथागत दोनों का स्वरूप ही वर्णनातीत माना गया है। दूसरे शब्दों में, बौद्धों के चार आर्य सत्यों में प्रथम तीन– दुःख, दुःखसमुदय और दुःख मार्ग, ये तीन संवृत्ति सत्य के विषय हैं, किन्तु चौथा दुःखनिरोध ही परमार्थ सत्य है, जिसे नागार्जुन ने अपनी कारिका में इसप्रकार अभिव्यक्त किया है–

ये सत्ये समुपाश्रित्य बुद्धानां धर्मदेशना।
लोकसंवृत्ति सत्यं च सत्यं च परमार्थतः।।
येऽनयोर्न विजानन्ति भेदं परं तात्त्विकम्।
ते कदापि न जानन्ति गम्भीरं बुद्धशासनम्।।

(द) **शून्यवाद में निर्वाण प्राप्ति**– नागार्जुन के अनुसार– जो सदातन है, वही तथागत या निर्वाण है, किन्तु फिर भी लौकिक दृष्टि से उसकी प्राप्ति का वर्णन किया जाता है। शून्यावस्था में तथागत अविद्या, क्लेश–आवरण एवं ज्ञेय–आवरण इन तीनों से ही सर्वथा अस्पृष्ट रहता है। इसकी प्राप्ति का माध्यम एकमात्र सम्यक् संबोधि ही है, जो **षट् पारमिताओं** अर्थात् ज्ञान, शील, क्षान्ति, वीर्य, समाधि एवं प्रज्ञा से ही प्राप्त करने योग्य है।

इनमें भी प्रथम तीन ज्ञान, शील एवं क्षान्ति के अभ्यास से पुण्य संसार की प्राप्ति होती है और वीर्य व समाधि इन दोनों के द्वारा धीरे–

धीरे प्रज्ञा निर्मल होने से ज्ञान–संसार की उत्पत्ति होती है। यह प्रज्ञा भी यहाँ दो प्रकार की कही गयी है। **प्रथम**, साधनरूपा **द्वितीय**, फल रूपा। इनमें भी साधनरूपा के पूर्ण होने पर व्यक्ति को **'अधिमुक्त चरित'** कहा जाता है और दूसरी फलरूपा के उदय होने पर साधक सिद्ध हो जाता है। इस स्थिति में तो उसे अपरोक्ष विषयों का भी ज्ञान होने लगता है। योगी लोग इसी को निर्विकल्प एवं सर्वधर्मशून्यता के रूप में कहते हैं। बुद्धत्व ही प्रज्ञा का चरम उत्कर्ष माना गया है।

(य) **शून्यवाद एवं शंकराचार्य**– ज्ञातव्य है कि बुद्ध ने आत्मा एवं परमात्मा या ब्रह्मादि तत्त्वों का निषेध किया, किन्तु उनके अनुयायी विद्वानों ने जब इस विषय में चिन्तन किया तो उन्होंने अद्वैत चेतन तत्त्व के दर्शन किए और चेतना का पूरा भार 'चित्त' पर डाल दिया। साथ ही, इसी अद्वैत तत्त्व को 'शून्य' संज्ञा प्रदान की, जबकि जगद्गुरु शंकराचार्य ने इसी शून्य में परमसत् आत्मा या ब्रह्म के दर्शन किए तथा इसे सदसत् दोनों से भिन्न **अनिर्वचनीय** कहा।

कहने का अभिप्राय यही है कि शून्यवादियों ने संसार को माया से उत्पन्न न मानते हुए भी उसकी पृष्ठभूमि में विद्यमान तत्त्व को ही सदसत् अर्थात् अनिर्वचनीय संज्ञा प्रदान की, जबकि शंकर ने इसी को माया के रूप में चिन्तन करते हुए इसका यथास्थान प्रयोग किया, क्योंकि उपनिषदों में आए हुए आत्मा के वर्णन तथा बौद्धों के शून्य तत्त्व में पर्याप्त समानता देखी जा सकती है।

उदाहरण के लिए कठोपनिषद् में इसे मन तथा इन्द्रियों से परे बताया गया है, किन्तु साक्षात्कार तो आस्तिक बुद्धि वाले को ही होता है।[1] इसके अतिरिक्त जो दो सत्य शून्यवादियों ने माने हैं, उन्हें देखकर शंकर के तीन सत्य, व्यावहारिक, प्रातिभासिक एवं पारमार्थिक

---

[1]. नैव वाचा न मनसा प्राप्तुं शक्यो न चक्षुषा।
अस्तीति ब्रुवतोऽन्यत्र कथं तदुपलभ्यते।। 6/12
अस्तीत्येवोपलब्धव्यस्तत्त्वभावेन चोभयोः।
अस्तीत्येवोपलब्धस्य तत्त्वभावः प्रसीदति।।6/13

सहसा स्मरण हो आते हैं। इसलिए ये विचार भी दोनों में समान ही हैं।

जहाँ तक नागार्जुन का 'निर्वाण प्राप्ति' विषयक प्रश्न है, वह भी शंकर के मोक्ष से पर्याप्त मिलता-जुलता ही है, क्योंकि वे मोक्ष को कोई प्राप्त होने वाली वस्तु नहीं मानते हैं, वह तो सनातन आत्मा का स्वरूप ही है। इसीलिए यहाँ आत्मा, ब्रह्म एवं मोक्ष ये तीनों पद पर्यायवाची ही हैं तथा महायान सूत्रों में शून्यवाद को भी जीव, बन्धन, साधक, मोक्षादि के विचार से भिन्न ही माना गया है। अतः शांकर वेदान्तियों के विचारों में इस दृष्टि से भी समानता देखी जा सकती है।

इन्हीं समानताओं के आधार पर कुछ विद्वानों ने शंकराचार्य को **'प्रच्छन्नबौद्ध'** तक कह दिया, किन्तु फिर भी यह तो कहना ही होगा कि शंकर का अद्वैत सचेतन परब्रह्म में अधिष्ठित है, जबकि शून्याद्वैत ही अचेतन है, यही दोनों में अन्तर है।

(viii) **विज्ञानवाद के प्रवर्तक एवं लेखक**– विज्ञानवाद के प्रवर्तक के सम्बन्ध में विद्वानों मे पर्याप्त मतभेद है। कुछ लोगों ने इसका प्रवर्तक **मैत्रेयनाथ** को बताया,[1] तो अन्यों ने इसके प्रतिष्ठापक के रूप में **अश्वघोष** को मान्यता प्रदान की, जबकि चीनी भाषा में प्राप्त **'श्रद्धोत्पाद शास्त्र'** का अंग्रेजी अनुवादक सुजुकी ने अश्वघोष के 'श्रद्धोत्पाद शास्त्र' में ही एक लंकावतार सूत्र नामक ग्रन्थ का अन्वेषण करते हुए कहा कि– निश्चय ही विज्ञानवाद का कोई उत्कृष्ट ग्रन्थ पूर्व में ही विद्यमान था, जो सम्प्रति उपलब्ध नहीं है। अब हम यहाँ विज्ञान वाद के विद्वानों का संक्षेप में परिचय प्रस्तुत कर रहे हैं–

(क) **मैत्रेयनाथ–** ईसा के तृतीय शतक में विद्यमान इनके पाँच ग्रन्थों का उल्लेख आचार्य बलदेव उपाध्याय ने इसप्रकार किया है–

---

[1]. (क) भारतीय दर्शन, बलदेव उपाध्याय, पृष्ठ–186।
(ख) भारतीय दर्शन, डॉ. उमेश मिश्र, पृष्ठ–164 ।

(अ) तिब्बत भाषा में अनूदित यह **'मध्यान्त विभाग या मध्यान्त विभंग सूत्र'** मैत्रेय या मैत्रेयनाथ का लिखा हुआ है, इसमें कारिका भाग ही उनके द्वारा विरचित है, जबकि गद्यभाग **'असंग'** नामक प्रसिद्ध विज्ञानवादी की रचना है। इसमें पाँच प्रकरण बताए गए हैं। संस्कृत भाषा में इसका एक ही प्रकरण और वह भी अधूरा ही उपलब्ध है।

1. **प्रज्ञापारमिता** पर लिखित अद्भुत दूसरे ग्रन्थ का नाम **'अभि-समयालंकार'** है। इसका पूरा नाम अभिसमयालंकार प्रज्ञापारमितोपदेश शास्त्र माना जाता है। इसके ऊपर छठी तथा नवम शती के विद्वान् आर्य विमुक्तिसेन भदन्त और हरिभद्र ने टीकाओं का प्रणयन किया।

2. इनकी तीसरी रचना **सूत्रालंकार** मानी गयी है।

3. इसी प्रकार चतुर्थ रचना के रूप में **महायान उत्तर तन्त्र** कहा जाता है।

4. इनका पाँचवाँ ग्रन्थ **धर्माधर्मताविभंग** है।

डॉ. उमेश मिश्र ने एक अन्य ग्रन्थ **'योगाचार भूमिशास्त्र'** को भी इन्हीं की रचना स्वीकार किया है, जिसके विषय में सभी विद्वान् सहमत नहीं हैं।

(ख) **अश्वघोष–** ईसा की प्रथम शती (80–100 ई.) में स्थित सम्राट् कनिष्क के समकालीन, बुद्धचरित तथा शारिपुत्रप्रकरण के लेखक, उच्चकोटि के कवि तथा दार्शनिक अश्वघोष को भी विज्ञानवाद का समर्थक माना गया है, इनके पिता का नाम **सिंह गुह्य** था। जाति से ब्राह्मण इन्होंने देशभर में पर्यटन के बाद तृतीय बौद्धसंघ के महत्त्वपूर्ण व्यक्ति पार्श्व से बौद्धधर्म की दीक्षा ले ली थी, जबकि कुछ विद्वानों का मानना है कि इन्होंने यह दीक्षा शून्यवाद के प्रवर्तक नागार्जुन के शिष्य आर्यदेव से ली थी।

इन्होंने 'श्रद्धोत्पाद शास्त्र' एवं 'महालंकार शास्त्र' नामक दो बौद्ध ग्रन्थों का प्रणयन किया, जो संस्कृत में अनुपलब्ध हैं, किन्तु प्रथम

ग्रन्थ चीनी भाषा में अनुवाद रूप में प्राप्त है। सुजुकी ने इसी का अंग्रेजी अनुवाद किया था।

(ग) **असंग–** समुद्रगुप्त के समय (400 ई.) पंचमशती में विज्ञानवादी धारा के प्रमुख लेखकों में इनका नाम भी परिगणित है। पेशावर के ब्राह्मण परिवार में उत्पन्न ये बाद में अयोध्या में आकर बस गए थे। वसुबन्धु इन्हीं के छोटे भाई थे, जिन्होंने अभिधर्मकोश की रचना की। विद्वन्मान्यता के अनुसार– असंग के उपदेश के परिणाम स्वरूप वसुबन्धु भी बाद में सर्वास्तिवाद का त्याग करके, विज्ञानवाद में सम्मिलित हो गए थे।

इनके छः ग्रन्थ प्रसिद्ध हैं। (1) सपृदश भूमिसूत्र (2) महायान सूत्र (3) उपदेश (4) महायान संपरिग्रह शास्त्र (5) योगाचार भूमिशास्त्र और (6) महायान सूत्रालंकार। वर्तमान में ये सभी संस्कृतरूप में उपलब्ध नहीं है। केवल चीनी या तिब्बती भाषाओं में इनकी हस्त–लिखित प्रतियाँ प्राप्त हैं। इनमें भी महान् सूत्रालंकार को डॉ. लेबी ने मूल संस्कृत एवं फ्रेंच भाषा में अनुवाद के साथ प्रकाशित किया है।

(ग) **वसुबन्धु–** जैसा कि हम पूर्व में उल्लेख कर चुके हैं कि अत्यन्त प्रतिभाशाली तथा प्रकाण्ड विद्वान् ये असंग के छोटे भाई थे, इन्होंने **सर्वास्तिवाद के अभिधर्मकोश** की संरचना की। साथ ही, विज्ञानवाद में दीक्षित होने के बाद अपने ही भाई के 'महायान संपरिग्रह' ग्रन्थ पर वैदुष्यपूर्ण टीका का प्रणयन भी किया। इसके अलावा इन्होंने महायान सूत्रों पर भी अवन्तसक निर्वाण, सद्धर्म पुण्डरीक, प्रज्ञापारमिता, विमलकीर्ति, श्रीमालसिंह नाद आदि कई टीकाएँ भी लिखीं तथा विज्ञानमात्रता सिद्धि एवं रत्नत्रय आदि ग्रन्थों के रूप में क्रमशः बीस एवं तीस महायान सूत्रों का संग्रह भी किया, इन्हें **विंशिदा** तथा **त्रिंशिदा** नाम से डॉ. लेबी ने फ्रेंच भाषा में अनुवाद के साथ प्रकाशित किया।

(घ) **स्थिरमति–** वसुबन्धु के शिष्य इन्होंने अनेक बौद्ध ग्रन्थों पर भाष्य एवं वृत्तियों का प्रणयन किया। विज्ञानवाद के साथ–साथ इन्होंने शून्यवाद पर भी **'मूल माध्यमिक कारिका वृत्ति'** की संरचना की। इसलिए इन्हें विज्ञानवाद के लेखकों में नहीं गिना जा सकता है। इनके समान ही दिङ्नाग, धर्मकीर्ति तथा धर्मपाल भी एकान्ततः विज्ञानवादी नहीं थे, क्योंकि दिङ्नाग तथा धर्मकीर्ति ने न्याय तथा प्रमाणादिकों पर आकर ग्रन्थों का प्रणयन किया, हाँ शुद्ध विज्ञानवादी न कहकर इन्हें विज्ञानवाद का पोषक कहा जा सकता है।

(ङ) **विज्ञानवाद एवं योगाचार–** विज्ञानवाद का अन्य नाम योगाचार भी है, जिसके पीछे कुछ विद्वानों ने योग के प्रति झुकाव को इसका कारण माना है, जबकि अन्य विद्वान् इसके नामकरण के पीछे योग विषयक जिज्ञासा तथा सदाचार दोनों के समानरूप से समावेश को कारण कहते हैं,[1] किन्तु डॉ. दासगुप्त[2] एवं डॉ. हरिदत्त शास्त्री[3] ने इसके लिए असंग के योगाचार भूमिशास्त्र को मुख्य कारण स्वीकार किया है।

(क) **विज्ञानवाद के सिद्धान्त–** शून्यवाद ने बाह्य संसार एवं आन्तरिक चित्त दोनों की विद्यमानता को स्वीकार नहीं किया था, जबकि विज्ञानवाद ने वस्तु की बाह्य सत्ता को मान्यता न देकर केवल आन्तरिक चित्त को अपनी स्वीकृति प्रदान की। उनके अनुसार– यदि हम चित्त की सत्ता को भी नकार देंगे, तब तो किसी भी तथ्य पर विचार करना असम्भव हो जाएगा।

ध्यातव्य है कि विज्ञानवादी इस चित्त को **'आलय विज्ञान'** के नाम से कहते हैं, जो हमेशा ही परिवर्तनशील रहता है, क्योंकि विज्ञान में निरन्तर सन्तान (सतत्) परम्पराओं की उद्भूति होती रहती है, कि

---

[1]. भारतीय दर्शन, आचार्य बलदेव उपाध्याय, पृष्ठ– 193।

[2]. ए हिस्ट्री ऑफ इण्डियन फिलोसफी, डॉ. दास गुप्त, पृष्ठ–128।

[3]. भारतीय दर्शन का इतिहास, डॉ. हरिदत्त शास्त्री, पृष्ठ–145।

यदि सूक्ष्मदृष्टि से विचार करें तो आन्तरिक चित्त तथा बाह्य संसार, विज्ञान के अलावा कुछ भी नहीं है, जिसके लिए उन्होंने क्रमशः **आलय–विज्ञान** तथा **प्रवृत्ति–विज्ञान** नाम प्रदान किया।

उल्लेखनीय है कि यहाँ पर पदार्थों में विद्यमान रूप, रस, गन्ध, शब्द तथा स्पर्श को भी इन्होंने क्रमशः चक्षुर्विज्ञान, रसना विज्ञान, घ्राण विज्ञान, श्रोत्र विज्ञान तथा काय विज्ञान की संज्ञा प्रदान की। साथ ही, मनोविज्ञान तथा क्लिष्ट मनोविज्ञान दो अन्य विज्ञानों को भी मान्य किया है। इसप्रकार संसार के सभी विषयों के साक्षात्कार को यहाँ पर कुल सात विज्ञानों में विभाजित किया गया है। ये सातों ही वस्तुतः प्रवृत्ति विज्ञान की श्रेणी में आते हैं, क्योंकि इनमें से सभी कार्य व्यापार सदा ही प्रवृत्त रहते हैं, जो आलय–विज्ञान पर ही आश्रित हैं।

(अ) **चित्त का स्थान**– इस सिद्धान्त में सम्पूर्ण सृष्टि तथा इसके अन्तर्गत सभी विषय वस्तुतः चित्त की ही लीलामात्र हैं। इसीलिए यहाँ इसे आलय–विज्ञान भी कहा गया है, जिसमें शुभ एवं अशुभ प्रकार की सभी वासनाएँ सातों विज्ञानों के साथ निवास करती हैं। यह भी वस्तुतः क्षणिक विज्ञानों की सन्ततिमात्र है। व्यक्ति इसी आलय–विज्ञान में सृष्टि के विविध रंगों की परिकल्पना करता रहता है, जो वस्तुतः भिन्न प्रतीत होते हुए भी एक ही होते हैं। **यही आलय–विज्ञान जन्म–मरण के चक्कर में पड़ता है।** सभी पदार्थों का संकलन भी इसी में संगृहीत रहता है, जो समय–समय पर अनुरूप परिस्थितियों के आभास को प्राप्त करता है।

अश्वघोष ने भी बाह्यसृष्टि को आन्तरिक चित्त में उद्भूत पदार्थों का प्रतिबिम्ब मात्र कहा है, जिसकी बाह्यसत्ता लेशमात्र भी नहीं है। इसलिए बाह्य सृष्टि हमारे आलय–विज्ञान की कल्पनामात्र ही है, जिसे समझाने के लिए विज्ञानवादी समुद्र का उदाहरण प्रस्तुत करते हैं–

जिसप्रकार सागर में वायु के आघात से उत्ताल तरंगें उठती हैं, उसीप्रकार चित्तरूप आलय–विज्ञान में अविद्या के प्रभाव से मन में, जो स्वभाव से शुद्ध तथा पवित्र है, विविध प्रकार के विज्ञान की सृष्टि होती

है। जैसे समुद्र की लहरें जल से भिन्न प्रतीत होते हुए भी अभिन्न ही हैं, वैसे ही ये सभी विज्ञान आलय–विज्ञान के विज्ञान से अलग प्रतीत होते हुए भी वस्तुतः उनसे भिन्न नहीं हैं।

इसी बात को हम स्वप्न के माध्यम से भी समझ सकते हैं। जिसप्रकार स्वप्न में देखे गए विषय अविद्या की सृष्टि होने से सत्ताहीन होते हैं। उसीप्रकार इस बाह्यसृष्टि को भी क्षणिक ही समझना चाहिए।

(ब) **सांसारिक विषयों की सत्यता का उपचार से कथन–** उपर्युक्त संक्षिप्त विवरण से स्पष्ट है कि– बौद्धदर्शन के विज्ञानवाद में बाह्यसृष्टि भ्रान्तिमात्र है, जो उपचार के आधार पर ही अपनी सत्ता का आभास हमें व्यावहारिक रूप से कराती है। ये उपचार भी दो प्रकार के होते हैं–

प्रथम, आत्मोपचार– इसी को चेतन विज्ञान भी कहा जाता है, जिसमें जीव, जन्तु एवं मनुष्य आदि सभी चेतन प्राणी आते हैं।

द्वितीय, धर्मोपचार– इसके अलावा स्कन्द, धातु, आयतन, रूप, वेदना, संज्ञा, संस्कार तथा विज्ञान को ही धर्मोपचार माना गया है। इन दोनों की सत्ता विज्ञान से बाहर नहीं होती है।

इन्द्रिय, संस्पर्श से उत्पन्न चक्षुर्विज्ञान आदि छः ज्ञान विषयों को जानने के लिए **द्वारमात्र** माने गए हैं। ये सभी अपने ज्ञान को मनोविज्ञान को समर्पित कर देते हैं। प्रत्यक्ष की यह प्रक्रिया वस्तुतः बौद्ध, सांख्य आदि दर्शनों का अनुकरण करती प्रतीत होती है। अन्तर केवल नामों का ही रहा है, क्योंकि यदि हम मनोविज्ञान के स्थान पर 'बुद्धि' (महत्) तथा आलय–विज्ञान की जगह 'पुरुष' को रख दें, तो यही ज्ञानप्रक्रिया सांख्य की हो जाती है।

इसप्रकार कहा जा सकता है कि विज्ञानवादियों का 'आलय विज्ञान' वस्तुतः सांख्यों का 'आत्मा' ही है। अन्तर केवल यही है कि यहाँ इसे प्रतिक्षण परिवर्तनशील माना गया है, जबकि सांख्य में इस आत्मा को अपरिवर्तनीय अर्थात् नित्य कहा है।

(स) **विज्ञानवाद में विज्ञान एवं विज्ञेय**– वसुबन्धु ने **त्रिशिंका** में विज्ञान के तीन परिणामों **विपाक, मनन** और **विषय विज्ञप्ति** का कथन किया है। इनमें शुभाशुभ वासनाओं का परिणाम ही विपाक है, इसी को 'आलय विज्ञान' भी कहते हैं। स्पर्श, मनस्कार, चित्, संज्ञा तथा चेतना ये पाँच इसके धर्म माने गए हैं। इसीप्रकार स्वभाव से ही सदा मनन करने के कारण विज्ञान के दूसरे परिणाम की संज्ञा मनन या क्लिष्ट मन की गयी है, जबकि छः प्रकार के रूप, रस, गन्धादि की उपलब्धि होना ही विषय–विज्ञप्ति है, जो शुभ–अशुभ या कुशल–अकुशल अथवा इन दोनों से भिन्न कुल तीन प्रकार की मानी गयी है।

जिसे हम इसप्रकार प्रस्तुत कर सकते हैं–

(चित्र–4)

विज्ञान के तीन परिणाम

- विपाक (शुभाशुभ वासनाओं का परिणाम)
- मनन (स्वभावतः मनन करने में संलग्न)
- विषय विज्ञप्ति (छः प्रकार के रूप, रस, गन्धादि की उपलब्धि)
  - शुभ–अशुभ
  - कुशल–अकुशल
  - इन दोनों से भिन्न
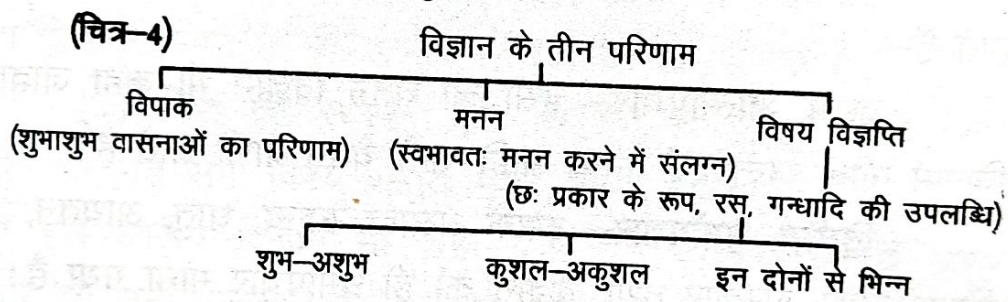
(द) **विज्ञान एवं विज्ञेय का ऐक्य**– उल्लेखनीय है कि यह जितनी प्रकार की भी विषय–विज्ञप्ति होती है, वह वस्तुतः विज्ञान का ही परिणाम है, यों भी कोई पदार्थ उसमें स्थित ज्ञान अर्थात् विज्ञान से भिन्न नहीं माना जा सकता है, क्योंकि घट एवं घटज्ञान में कोई अन्तर नहीं होता है। इसीप्रकार नीला रंग तथा उसका ज्ञान दोनों एक ही हैं। इसप्रकार सम्पूर्ण दृश्यमान संसार और उसके विषय सभी विज्ञान के अन्तर्गत ही आते हैं।

(ix) **बौद्धदर्शन में निर्वाण की प्रक्रिया**– जैसा कि पूर्व में कहा जा चुका है कि चित्त स्वभाव से ही नितान्त शुद्ध तत्त्व है, किन्तु अविद्या के सम्पर्क के कारण उसमें मलिनता आ जाती है और तब वह संसार तथा उसके विषयों की उद्भावना में लग जाता है, जिससे वह आलय–विज्ञान की मिथ्या सृष्टि में फँसता रहता है, जिसप्रकार अविद्या का सम्पर्क आलय–विज्ञान को मलयुक्त बनाता है, वैसे ही

आलय–विज्ञान या चित्त की स्वच्छता भी अविद्या को प्रभावित करती है। ऐसी स्थिति में वह इस मिथ्या सृष्टि को सच्चे रूप में न देखकर मिथ्या ही समझने लगता है तथा उसी के द्वारा खड़े किए गए सांसारिक क्लेशों से मुक्ति पाने का विचार करने लगता है।

अविद्या तथा चित्त में इसप्रकार का द्वन्द्व चलता रहता है, जब अविद्या का प्राबल्य रहता है तो चित्त, स्मृति तथा अहंकार का सहारा लेकर सांसारिक क्लेशों का भोग करता है, किन्तु चित्त में शुद्धता की अधिकता होने पर वह निर्वाण के लिए प्रयासरत होता है। चित्त में जैसे जैसे इसके लिए स्पृहा बढ़ती है, वैसे–वैसे उसे अपनी स्वाभाविक स्वच्छता का ज्ञान होने लगता है। उस अवस्था में साधक को ये दो बातें प्रत्यक्षरूप से आभासित होने लगती हैं। **प्रथम,** यह संसार मिथ्या है। **द्वितीय,** चित्त शुद्ध तथा स्वच्छ तत्त्व है। बस इसी की चरम सीमा **बुद्धत्व** की दशा है।

बुद्धत्व के मार्ग में आते ही साधक का जीवन संयम नियम की ओर अग्रसर हो जाता है और उसी समय उसके हृदय में महाकरुणा का उदय होता है, जिसके कारण वह 'स्व' तथा 'पर' की भावनाओं से ऊपर उठकर प्राणिमात्र के प्रति स्नेह और दया करने लगता है। इसके बाद ही पारमिताओं के अभ्यास से वह सभी को अपने जैसा मानकर उनका उपकार करना चाहता है और न केवल अपने, अपितु सभी के निर्वाण के लिए सतत् प्रयत्नशील रहता है। दूसरे शब्दों में, चित्त के शुद्धत्व के प्रभाव से वह वैयक्तिक सत्ता से ऊपर उठ जाता है।

इसप्रकार अपनी शुद्धता से अविद्या को पराजित करके, साधक सन्मार्ग या निर्वाण की ओर प्रस्थान करता है और इसके बाद इसका **भास्वर आलोक** उद्भासित होता है और उसका चित्त निर्वाण को प्राप्त करता है। इसप्रकार हम देखते हैं कि– 'विज्ञानवाद में निर्वाण का स्वरूप वस्तुतः शून्य न होकर चित्त का शुद्धरूप ही है, जो विघ्नबाधाएँ चित्त की अशुद्धि की अवस्था में अनेक प्रकार के प्रपंच की सृष्टि करती

थीं, उन सभी से इस शुद्धि की अवस्था में वह पूर्णतया मुक्त रहता है।

इस स्थिति को प्राप्त करने के लिए जब चित्त शुद्धता की समाधि में प्रवेश करता है, उसके समक्ष सभीप्रकार की विघ्नबाधाएँ विलुप्त हो जाती हैं और उसे दिव्यदृष्टि की प्राप्ति होती है, जिसके द्वारा वह सभी प्राणियों में अभेद का साक्षात्कार करता है और यहाँ आकर उसे असंख्य बोधिसत्त्वों के दर्शन होते हैं।

(x) **बोधिसत्त्वों के चतुर्विध ज्ञान**– बोधिसत्त्वों को इन चार प्रकार के ज्ञानों[1] से उत्कृष्ट स्थान की प्राप्ति होती है, जिनमें **प्रथम** में संसार की सभी वस्तुएँ चित्त की कल्पना से उत्पन्न होती हैं। **द्वितीय** में सभी वस्तुएँ तत्त्वरहित हैं, उनकी उत्पत्ति, सत्ता तथा विनाश सभी अतात्त्विक है, **तृतीय** ज्ञान में यह अवास्तविक मिथ्या सृष्टि हमारी ही अनादि वासना की सृष्टि है तथा **चतुर्थ** में अपने ही अनुभूत ज्ञान से सभी वस्तुओं के स्वभाव के वास्तविक ज्ञान को प्राप्त कर लेना इत्यादि अनुभूति होती है। ये चारों प्रकार के ज्ञान ही वस्तुतः निर्वाण की प्रक्रिया में सहायक होते हैं।

(xi) **बोधिसत्त्वों के चतुर्विध ध्यान**– इसके अलावा **थेरवाद** में चार ध्यानों की कल्पना की गयी है, जिसका उल्लेख लंकावतार सूत्र में किया गया है, तदनुसार– बालोपचारिक, अर्थप्रविच्य, तथतालम्बन और तथागत कुल चार प्रकार के ध्यानों का कथन किया गया है।

इनमें भी **बालोपचार** वस्तुतः **ध्यान का पहला सोपान** है, जो वस्तुतः ध्यान की प्रथम अवस्था में होता है। इसका केन्द्र किसी भी प्रकार के आत्मा का निषेध होता है, पदार्थों की क्षणभंगुरता, दुःखरूपता और अशुद्धता के विषय में ही यहाँ चिन्तन किया जाता है। इस ध्यान से साधक का मस्तिष्क इन सभी कल्पनाओं से रहित होकर शुद्ध हो जाता है।

---

[1]. (1) स्वचित्त दृश्य भावना, (2) उत्पाद स्थिति भंग विवर्जना (3) बाह्य भावा– भावो लक्षणता (4) स्व प्रत्यार्थ ज्ञानाधिगमाभिन्न लक्षणता।

दूसरी ध्यानावस्था में, ज्ञानी किंचित् आगे बढ़कर आत्मा के अनस्तित्व में आस्था का दृढ़ीकरण करता है तथा इस समय उसके अपने तथा दूसरे सिद्धान्तों का अस्तित्व भी समाप्त हो जाता है और जो धर्म पहले बड़े विशाल प्रतीत होते थे, वे सभी सत्ता–शून्य हो जाते हैं। इस स्थिति में साधक को वस्तुओं के विशेष शोध (प्रविचय) की अनुभूति होती है, जिसके द्वारा वह ध्यान के तृतीय सोपान के योग्य हो जाता है।

इसके बाद **तृतीय ध्यान** में वह आत्मा के अनस्तित्व का साक्षात्कार करके कल्पना के बल से उद्भासित होने वाली सभी प्रतीतियों को मिथ्या मानकर, एकमात्र 'तथता' में निरत हो जाता है। इसीकारण इस अवस्था को **'तथावलम्बन'** भी कहा गया है।

चतुर्थ ध्यान में मस्तिष्क की सभी चेतना तथता में सिमटकर इसप्रकार स्थिर हो जाती है कि सम्पूर्ण प्रकृति का मिथ्यात्व स्वतः ही सामने आने लगता है। यहीं से निर्वाण की दशा का आरम्भ होता है, यहाँ पहुँचकर सभीप्रकार के ज्ञानों की वासनाएँ विनष्ट हो जाती हैं तथा चित्त एवं उसकी प्रतीतियाँ भी अपना काम करना बन्द कर देती हैं, किन्तु निर्वाण की इस दशा को मृत्यु के रूप में नहीं देखा जा सकता है, क्योंकि इसके बाद साधक का पुनर्जन्म नहीं होता है। निर्वाण वस्तुतः मृत्यु तथा ध्वंस दोनों से ही परे होता है।

इसी प्रसंग में उल्लेखनीय यह भी है कि यह निर्वाण श्रावकों तथा बुद्धों के निर्वाण से सर्वथा भिन्न है, क्योंकि उनका निर्वाण वस्तु मात्र के साधारण धर्म के क्षणिकता तथा दुःखरूपता के ज्ञान से प्राप्त होता है और इसी दुःखरूपता के कारण वे उनमें आसक्त नहीं होते हैं एवं उनका विवेक कभी भी पराभूत नहीं होता है। इसलिए कहा जा सकता है कि विज्ञानवादियों के ये चार प्रकार के ध्यान पूर्व में कही गयी समाधियों की चार अवस्थाओं से सर्वथा भिन्न होते हैं।

(क) **विज्ञानवाद में क्लेश एवं ज्ञेय आवरण**– रागद्वेष की सृष्टि ही वस्तुतः क्लेश का आवरण होती है। अविद्या से पराभूत चित्त जब विविध प्रकार के प्रपंचों की सृष्टि करता है तो यही अविद्या तात्त्विक समानता में 'विशेष' का बीज होती है, जिससे व्यक्ति सभी को समान न मानते हुए कुछ स्थलों पर विशेषता की प्रतिष्ठा करके, रागद्वेषपूर्वक अपना जीवन व्यतीत करता है। बस, यही उसका क्लेशावरण है। इस आवरण के रहते हुए व्यक्ति कभी भी निर्वाण प्राप्त नहीं कर सकता है।

जब साधक पुद्गल नैरात्म्य में अपनी आस्था को दृढ़ कर लेता है, तभी क्लेशावरण के क्षीण होने से वह मुक्त हो जाता है, किन्तु इस स्थिति में उसे सर्वज्ञता की प्राप्ति तब तक नहीं होती है, जब तक उसकी ज्ञेयावरण से निवृत्ति नहीं होती है, जो वस्तुतः धर्म नैरात्म्य पर दृढ़ आस्था से ही मिलती है, जिसमें कुछ भी ज्ञेय नहीं रहता है और चित्त **सर्वज्ञ** हो जाता है। इसप्रकार स्पष्ट है कि क्लेशावरण तथा ज्ञेयावरण दोनों के हट जाने पर ही परमपद की प्राप्ति ही विज्ञान–वादियों को अभीष्ट रही है।

(xii) **बौद्धों में तर्कशास्त्र का उद्भव**– बुद्ध के उपदेशों में विद्यमान दार्शनिक सामग्री का आधार, वस्तुतः उपनिषदों में ऋषियों द्वारा कही गयी बातें तथा उनके स्वयं के अनुभव दोनों ही रहे हैं। यहाँ पर तर्कवितर्क का कोई स्थान नहीं है, किन्तु बुद्ध के बाद उनके अनुयायियों ने इसे सिद्धान्त रूप देते हुए खण्डन–मण्डन की प्रक्रिया को स्वीकार कर लिया। इसी से बौद्धदर्शन में तर्कशास्त्र की सृष्टि हुई होगी, ऐसी सम्भावना की जा सकती है।

(xiii) **बौद्धदर्शन में प्रमाण**– धर्मोत्तर[1] के अनुसार– प्रमाण वह है, जो लोगों के प्रयोजन को पूरा करने के लिए 'सम्यक्' अर्थात् युक्तियुक्त और यथार्थज्ञान प्रदान करता है, क्योंकि जब हम किसी विषय को अपनी प्रतीति के अनुसार पाते हैं और वह उस प्रयोजन को

---

[1]. धर्मोत्तर ने धर्मकीर्ति के न्यायबिन्दु पर टीका का प्रणयन 847 ई. में किया।

सिद्ध करने में पूर्णरूप से समर्थ होता है, तभी वह प्रमाण की श्रेणी में आता है। इसप्रकार ज्ञान की यह प्रक्रिया अर्थ की प्रतीति से आरम्भ होकर अर्थाधिगम पर समाप्त होती है।[1]

(क) **प्रत्यक्ष**– सौत्रान्तिकों के अनुसार प्रत्यक्ष ज्ञान के लिए तीन क्षण आवश्यक होते हैं। **प्रथम** में, इन्द्रिय के सान्निध्य से विषय की प्रतीति का होना, **द्वितीय** में, उसके द्रष्टा में हेयोपादेयता की सामर्थ्य का होना तथा **तृतीय** में, उसका साक्षात्कार होना, क्योंकि विषयगत प्रत्यक्ष के आधार पर ही द्रष्टा की हेयोपादेयता होती है, इसीलिए यह प्रत्यक्ष प्रमाण कहा जाता है, जो ज्ञान हमारे लक्ष्य की पूर्ति में सक्षम नहीं होता, **जैसे**–स्वप्न आदि अयथार्थ पदार्थों का ज्ञान भ्रान्तिमात्र होने से प्रत्यक्ष की श्रेणी में नहीं रखा जा सकता है।

(ख) **अनुमान**– प्रत्यक्ष प्रमाण में वस्तु की उपस्थिति साक्षात् होती है, जबकि अनुमान प्रमाण में वह समक्ष न होकर छिपी रहती है, किन्तु फिर भी उसके लिंग (चिह्न) को देखकर हम उसकी उपलब्धि की कल्पना करते हुए उसके हेयोपादेयता के विषय में निर्णय करते हैं।

(ग) **सौत्रान्तिक में अनुमान की प्राचीनता**– लगभग 200 ई.पू. में विरचित **कथावत्थु** के अध्ययन से पता चलता है कि बौद्ध तर्कशास्त्र किसी न किसी रूप में ईसा से बहुत पहले भी विद्यमान था, किन्तु इसका परिष्कृतरूप धर्मकीर्ति तथा धर्मोत्तर के ग्रन्थों में ही उपलब्ध होता है। सम्भवतः इससे पूर्व तर्कशास्त्र पर किसी पूर्णग्रन्थ की रचना नहीं की गयी होगी या फिर वह उपलब्ध नहीं है।

ओण ने यमक के साक्ष्य के आधार पर निष्कर्ष प्रदर्शित किया[2] कि अशोक के समय में बौद्धदर्शन अनुमान के मात्र तीन अवयवों– उदाहरण, उपनय तथा निगमन, से ही परिचित रहा, जिसका प्रयोग वहाँ पर इसप्रकार किया गया है–

---

1. अर्थाधिगमात् समाप्तः प्रमाणव्यापारः।
2. भारतीय दर्शनशास्त्र का इतिहास, डॉ. हरिदत्त शास्त्री, पृष्ठ– 153 ।

(i) **यो यो अग्गिमा सो सो धूमवा** (उदाहरण)

(ii) **अयं पब्बतो धूमवा** (उपनय)

(iii) **तस्मादयम् अग्गिमा** (निगमन)

किन्तु धर्मकीर्ति ने अपने न्यायबिन्दु में इस अनुमान के सम्पूर्ण शास्त्रीय चित्र को प्रस्तुत किया। तदनुसार– अनुमान दो प्रकार का होता है, स्वार्थानुमान एवं परार्थानुमान। इनमें **प्रथम** में अनुमान करने वाला स्वयं ही चिन्तन करते हुए निर्णय पर पहुँचता है, जबकि **द्वितीय** में, इसका प्रयोग व्यक्ति दूसरे को बताने के लिए करता है। इन दोनों में ही अनुमान के सभी अवयवों की स्थिति होती है।

अनुमान के अन्तर्गत ज्ञान का साधक वस्तुतः **लिंग** (चिह्न) होता है, जो साध्य में व्यापकरूप से रहता है, जिससे उस वस्तु की प्रतीति होती है। इसलिए लिंग की अनुपस्थिति में अनुमान सम्भव नहीं होता है। बौद्धदर्शन लिंग की वास्तविकता की कसौटी **प्रतिबन्ध** को मानता है, क्योंकि यही प्रतिबन्ध, लिंग और अनुमीयमान विषय के नियत सम्बन्ध का कथन करता है। वस्तुतः अनुमीयमान वस्तु के साथ लिंग का नियत साहचर्य सम्बन्ध होता है। इसलिए इस स्वभावरूप प्रतिबन्ध के अभाव में कोई भी लिंग अनुमान की सिद्धि करने में सक्षम नहीं होता है। संक्षेप में, किसी भी वस्तु का अनिवार्य चिह्न ही उस वस्तु के अनुमान का कारण बनता है।

यह स्वाभाविक प्रतिबन्ध दो प्रकार का होता है। **प्रथम,** जहाँ लिंग वस्तु के साथ तादात्म्य सम्बन्ध से रहता है। **जैसे–** बड़े आम के पत्तों को देखकर छोटे पौधें में आम के पत्ते का होने का अनुमान लगाना। **द्वितीय,** कार्य–कारण सम्बन्ध से। **जैसे–** अग्नि का लिंग धूम है, इसलिए धूमरूप कारण को देखकर अग्नि का अनुमान लगाना, क्योंकि अग्नि के अभाव मे धुएँ की उपस्थिति सर्वथा असम्भव है।

यह **स्वभाव प्रतिबन्ध** ही वस्तुतः लिंग की साधनता को निश्चित कर देता है, क्योंकि स्वाभाविक प्रतिबन्ध के अभाव में हम साधन एवं

साध्य के 'अविनाभाव' साहचर्य नियम को नहीं समझ सकते हैं और यदि यही साहचर्य नियमतः न होकर आकस्मिक या आनुषंगिक होगा, तो वह वस्तु का ज्ञान कराने में पूर्णतया असमर्थ रहेगा।

(घ) **सद्हेतु परीक्षण**– न्यायदर्शन में साधन की क्षमता के लिए तीन प्रकार के हेतुओं का उल्लेख किया गया है– (1) अन्वय–व्यतिरेकी (2) केवलान्वयी तथा (3) केवलव्यतिरेकी। इनमें क्रमशः पाँच अवयवों से युक्त तथा चार रूपों वाले वाक्य द्वारा अनुमान लगाया जाता है, किन्तु बौद्धदर्शन में इस हेतु की श्रेष्ठता के लिए तीन रूपों का ही उल्लेख किया गया है। **जैसे**– पक्षसत्त्व, सपक्षसत्त्व और विपक्ष असत्त्व।

इनमें भी **पक्षसत्त्व** से अभिप्राय है हेतु का उन वस्तुओं में उपस्थिति का अनिवार्य होना, जिनमें हम तदनुरूप वस्तु का अनुमान करना चाह रहे हैं, **जैसे**– धूम की पर्वत में विद्यमानता। इसीप्रकार **सपक्षसत्त्व** का अर्थ साध्य और साधन के साहचर्य के प्रत्यक्ष करने के स्थान में हेतु की विद्यमानता, जबकि साध्य के विपरीत स्थानों में हेतु की अनिवार्यरूप से अविद्यमानता ही **विपक्ष–असत्त्व** होता है।

जैसे– यदि हम पर्वत में अग्नि को सिद्ध करना चाहते हैं तो दूर स्थित पर्वतरूप पक्ष में अग्नि के चिह्न 'धूम' का उपस्थित होना आवश्यक है, क्योंकि इसके अभाव में पर्वतरूप पक्ष में अग्नि की सत्ता सिद्ध होना असम्भव है। यही इसका पक्षसत्त्व है।

इसके अतिरिक्त जहाँ पर धूम और अग्नि का साहचर्य अनिवार्य देखा गया है, क्योंकि जब–जब भी हमने रसोईघर में धुएँ को उठता हुआ देखा तो वहाँ हमें अग्नि अवश्य दिखायी दी। यहाँ रसोई सपक्ष होगा, जहाँ धूम तथा अग्नि के साहचर्य को हमने अनिवार्यरूप से अनेकशः देखा है।

जबकि विपक्षव्यावृतत्व या असत्त्व से अभिप्राय यहाँ ऐसे स्थान से है, जहाँ पर धूम और अग्नि दोनों का ही अभाव अनिवार्य रूप से

देखा गया है, ऐसा स्थल ही यहाँ विपक्ष की श्रेणी में माना जाएगा। **जैसे–** तालाब, जहाँ पर न तो अग्नि होती है और फिर धूम तो भला कैसे हो सकता है? इसे यहाँ साध्य के विपरीत स्थानों में हेतु की अविद्यमानता के निश्चय रूप में कहा गया है।

उक्त तीनों परीक्षाओं की कसौटी पर कसने के अभाव में कोई भी हेतु साध्य की सिद्धि में समर्थ नहीं हो सकता है।

(ङ) **अनुमान की प्रामाणिकता–** जिसप्रकार दैनिक व्यवहार में प्रत्यक्ष प्रमाण द्वारा हमें बाह्य पदार्थों की प्रतीति होती है। ठीक उसी प्रकार अनुमान प्रमाण भी पदार्थों को ज्यों का त्यों उपस्थापित करके प्रामाण्य प्राप्त करता है अर्थात् प्रत्यक्ष और अनुमान दोनों का ही प्रामाण्य समान माना गया है, जिसे न्यायबिन्दु में इसप्रकार कहा गया है– 'सारूप्यवशाद्धि तन्नीलप्रतीतिरूपं सिद्ध्यति।'

कहने का तात्पर्य यही है कि चार्वाक को छोड़कर दूसरे दर्शनों के समान ही बौद्धदर्शन में भी प्रत्यक्ष तथा अनुमान प्रमाणों के प्रामाण्य को स्वीकार किया गया है। बुद्ध के वचनों को प्रमाण मानने के कारण शब्द प्रमाण की स्वीकृति तो स्वतः ही हो जाती है। **उपमान प्रमाण के विषय मे यहाँ उल्लेख नहीं किया गया है।**

(xiv) **बौद्धों का अर्थक्रियाकारिता का सिद्धान्त–** सौत्रान्तिकों ने प्रामाणिक ज्ञान की व्याख्या करते हुए इस शब्द का प्रयोग किया है। यह सिद्धान्त वस्तुतः प्रत्यक्ष के प्रामाण्य की सिद्धि के लिए कसौटी के पत्थर के समान है, क्योंकि यदि प्रत्यक्ष की गयी वस्तु सही है, तो वह व्यक्ति के प्रयोजन को सिद्ध करेगी और यदि ऐसा नहीं है तो उससे व्यक्ति का प्रयोजन सिद्ध नहीं होगा। **जैसे–**

हमें दूर से देखने पर जलाशय की प्रतीति हुई तो यदि यह सही होगी तो हमारे लिए पास में जाने पर इसके जल से प्यास का बुझाना, स्नानादि का करना सम्भव हो सकेगा, किन्तु मृगमरीचिका के समान यह प्रतीति यदि झूठी निकली तो हम यहाँ स्नानादि नहीं कर

सकेंगे, इसे तो दृष्टि का धोखा या भ्रान्तिमात्र ही कहा जाएगा। इसलिए सौत्रान्तिकों ने 'अर्थक्रियाकारिता' से अभिप्राय अभिमत प्रयोजन की सिद्धि से ग्रहण किया है और यही वस्तुतः प्रत्यक्ष के प्रामाण्य या अप्रामाण्य के परीक्षण की कसौटी स्वरूप होती है।

सौत्रान्तिकों की यह 'अर्थक्रियाकारिता' वस्तुतः सप्तम शती के विद्वान् **विनीतदेव** की अर्थक्रियासिद्धि से पर्याप्त मेल खाती है। वहाँ पर उन्होंने इसका अर्थ आवश्यकता की पूर्ति लिखकर, उदाहरणरूप में आग से चावल पकाने का उल्लेख किया है[1] अर्थात् 'अर्थ' पद का अभिप्राय यहाँ 'प्रयोजन' से ग्रहण किया गया है, क्योंकि किसी के द्वारा ईंधन देखने से उसकी प्रामाणिकता की सिद्धि तो उससे चावल पकाने रूप प्रयोजन के पूरा होने पर ही मानी जाएगी, इसके अभाव में नहीं। ऐसा अर्थ करने से उसमें हेयता तथा उपादेयता का समावेश भी स्वतः ही हो जाएगा।

(क) **क्षणिकत्व सिद्धि में इसकी उपयोगिता**— जिसप्रकार सौत्रान्तिकों ने प्रत्यक्ष ज्ञान के प्रामाण्य की सिद्धि के 'अर्थक्रियाकारिता' रूप हेतु को प्रस्तुत किया। ठीक इसीप्रकार दशम शती (950 ई.) में स्थित रत्नकीर्ति नामक बौद्ध विद्वान् ने क्षणिकत्व की सिद्धि के लिए इसी 'अर्थक्रियाकारिता' को हेतुरूप में स्वीकृति प्रदान की है, किन्तु इन दोनों 'अर्थक्रियाकारिताओं' में पर्याप्त भिन्नता है,

क्योंकि रत्नकीर्ति की 'अर्थक्रियाकारिता' पदार्थों की क्षणिकता को सिद्ध करने के लिए प्रयुक्त हुई है, जिसका अभिप्राय सत्त्व या सत्ता की सिद्धि से है, जबकि सौत्रान्तिकों की 'अर्थक्रियाकारिता' ज्ञान के प्रामाण्य तथा अप्रामाण्य के निश्चय का आधार है।

(xv) **बौद्ध एवं अन्य दर्शनों की मान्यताएँ**— हम देखते हैं कि बौद्ध दर्शन में कुछ इसप्रकार की मान्यताएँ हैं, जो दूसरे दर्शनों में भी किसी न किसी रूप में मिलती हैं, ये सभी बातें प्रायः वस्तु की सत्ता से

---

1. अर्थशब्देन प्रयोजनमुच्यते, पुरुषस्य प्रयोजनं दारुपाकादि तस्य सिद्धिः निष्पत्तिः।

जुड़ी हुई हैं, जिनके विषय में हम यहाँ संक्षेप में चिन्तन प्रस्तुत कर रहे हैं–

(क) **कार्यकारण सम्बन्ध**– बौद्धदर्शन में प्रत्येक वस्तु को क्षणिक माना गया है, इसलिए यहाँ पर न तो कारण है और न ही कार्य है और यदि उसे हम कार्य मान भी लें, वह तो क्षणिक सत्ता है, जिसे कारण कहते हैं, वह उसी की पूर्वावस्था है और वह भी क्षणिक ही है। इसप्रकार सत्ता तो यथार्थ में किसी की भी नहीं है। यहाँ कोई भी एक वास्तविक तत्त्व नहीं है, जिसके ये विविध परिवर्तन कहे जा सकें। यहाँ तो एक परिवर्तन दूसरे परिवर्तन से उत्पन्न होता है। इसप्रकार यह सम्पूर्ण संसार अनेक परिणामों की श्रृंखला है। इसके लिए तो बस इतना ही कहा जा सकता है कि– यह हुआ और यह हो रहा है।

जबकि यदि इस विषय में शंकर अर्थात् वेदान्त के मत पर विचार करें तो वहाँ पर केवल कारण सत् होता है, कार्य तो असत् एवं क्षणिक है। दूसरे शब्दों में, इसे माया भी कह सकते हैं। ये सभी अविद्या या अज्ञान के कारण ही प्रतीत होते हैं।

इसके अलावा सांख्यदर्शन में कारण एवं कार्य दो अलग वस्तुएँ नहीं होतीं हैं। वस्तुतः तो कारण की ही कार्यरूप में अभिव्यक्ति होती है अथवा यों कहें कि कारण, कार्य की ही मूल अवस्था का नाम है। किन्हीं परिवर्तनों के आधार पर कारण ही कार्यरूप में अभिव्यक्त होता है। सांख्य में इसे 'सत्कार्यवाद' की संज्ञा प्रदान की गयी है।

(ख) **अवयवावयवि सम्बन्ध**– जहाँ तक इसका सम्बन्ध है, बौद्ध दर्शन में समष्टि का तो अस्तित्व ही नहीं है, यहाँ तो केंवल व्यष्टि विद्यमान है, जो वस्तुतः संघातरूप है। ये ही यहाँ आवागमन के विषय बनते रहते हैं। इसीकारण यहाँ इन्होंने अवयवी की प्रामाणिकता को भी स्वीकार नहीं किया गया है।

(ग) **सामान्य का विशेष से सम्बन्ध**– क्षणिकवाद के कारण ही सामान्य तथा विशेष का सम्बन्ध भी स्थापित नहीं किया जा सकता है।

(घ) **गुणादिक का द्रव्य के साथ सम्बन्ध**– द्रव्यगुण के सम्बन्ध को नैयायिकों ने **समवाय** के नाम से कहा है और इसे यहाँ नित्यरूप में स्वीकार किया है। जहाँ तक बौद्धदर्शन का सम्बन्ध है, ये तो द्रव्य की सत्ता ही मानने के लिए तैयार नहीं हैं और जिसे दूसरे दर्शन द्रव्य कहते हैं, उसे ये गुणों का संघातमात्र मानते हैं, जो प्रत्येक क्षण में दूसरे संघातों को उत्पन्न करके विनष्ट होते रहते हैं।

यहाँ तक कि सम्पूर्ण सृष्टि भी अणु का संघातमात्र ही है और ये अणुसंघात भी प्रत्येक क्षण परिणामी हैं। ऐसी स्थिति में समवाय जैसे सम्बन्ध की तो कल्पना भी नहीं की जा सकती है, क्योंकि समवाय सम्बन्ध तो दो वस्तुओं का ही हो सकता है, **जैसे**– गुण और गुणी का सम्बन्ध, अवयव एवं अवयवी का सम्बन्ध, यहाँ तो जब दोनों ही नहीं हैं, तो समवाय के अस्तित्व की कल्पना भी भला कैसे की जा सकती है?

यही बात समवायिकारण के विषय में भी कही जा सकती है, क्योंकि जिसमें समवेतरूप में कार्य की उत्पत्ति होती है, वही समवायि–कारण कहा गया है, किन्तु यहाँ बौद्धदर्शन में तो वस्तु की सत्ता ही नहीं है, फिर भला कौन किसमें समवेत रूप से रह सकता है?

इसके अलावा समवायिकारण के गुणों की कार्य में आने की बात भी बौद्धदर्शन में अमान्य ही है।

(ङ) **शक्ति एवं शक्तिमान् का सम्बन्ध**– इसीप्रकार कहा जा सकता है कि बौद्धदर्शन में शक्ति तथा शक्तिमान् विषयक सम्बन्ध को भी अस्वीकार किया गया है, क्योंकि यहाँ तो शक्ति के अधिष्ठाता अवयवी को ही मान्यता प्रदान नहीं की गयी है, फिर शक्ति भी तो क्षणिक ही है, फिर इन दोनों का सम्बन्ध भला कैसे सम्भव है?

(xvi) **बौद्धचिन्तन का क्रमिक विकास**– जैसा कि हम पूर्व में कह चुके हैं कि बौद्धदर्शन का आरम्भ बुद्ध के उपदेशों से माना गया है, जिसमें हमें चार आर्यसत्यों की स्थिति मुख्यरूप से दिखायी देती है, जिनका उल्लेख हम पूर्व में कर चुके हैं। इनका निर्देश स्वयं बुद्ध ने

अपने अनुभवों के आधार पर **सत्यमार्ग** का कथन करने के लिए किया था। इन्हीं में **'प्रतीत्यसमुत्पाद'** के सिद्धान्त का उल्लेख दुःख की प्राप्ति मात्र बताने के लिए ही किया था। इसके पीछे उनका उद्देश्य किसी दार्शनिक समस्या का हल करना नहीं था।

अपनी शैशवावस्था में यह दर्शन संसार के सत्य या मिथ्यात्व चिन्तन को व्यर्थ ही मानता था। साथ ही, इस समय आत्मा के अनस्तित्व पर भी पर्याप्त बल दिया गया। यहाँ तक कि समाधि तथा प्रज्ञा को भी यहाँ आत्मा के अभाव में ही स्वीकार किया गया। अभिधर्म कोश में प्रायः इन्हीं बातों का उल्लेख किया गया है।

इसके बाद ईसा से लगभग दो सौ वर्ष पूर्व महायान सम्प्रदाय का आविर्भाव हुआ, जिसके साथ शून्यवाद के सिद्धान्त की उत्पत्ति हुई, जिसमें सभी धर्मों की शून्यता तथा निस्तत्त्वता प्रतिपादित की गयी। नागार्जुन, आर्यदेव, कुमार आजीव तथा चन्द्रकीर्ति आदि अनेक विद्वानों के सहयोग से इस सिद्धान्त ने पर्याप्त विकास को प्राप्त किया। ध्यातव्य है कि इस सिद्धान्त के मूल में भी बुद्ध की विचारधारा ही काम कर रही थी।

इसके पश्चात् अश्वघोष द्वारा प्रतिपादित 'तथता' का सिद्धान्त भी शून्यवाद एवं सभी अनित्य धर्मो की वैदिक सिद्धान्त की पृष्ठभूमि में एक शाश्वत शक्ति में विश्वास की कड़ी के रूप में देखा जा सकता है, क्योंकि उन्होंने इसी तत्त्व को 'तथता' नाम दिया, किन्तु उन्होंने इसे नित्य कहने का साहस नहीं किया, क्योंकि ऐसा करने से बुद्ध के नैरात्म्यवाद की चिन्तनपरम्परा में बाधा पड़ रही थी।

लगभग इसी समय विज्ञानवाद का उदय हुआ, जो अश्वघोष की तथता और शून्यवाद दोनों का ही मिलता जुलता रूप था। दूसरे शब्दों में, इसे शून्यवाद का ही पूरक भी कहा जा सकता है, क्योंकि यहाँ तो संसार के सभी पदार्थ चित्त की सृष्टिमात्र ही हैं, जो अनादि वासना के सहयोग से विद्यमान हैं।

बाद में जब विज्ञानवादियों ने देखा कि 'तथता' के सिद्धान्त से तो उनकी मान्यताओं की ही हानि हो रही है, तो उन्होंने इसका त्याग कर दिया, जबकि इसी 'तथता' के माध्यम से उन्होंने दबे स्वर में ही सही किसी यथार्थ सत्ता का संकेत अवश्य कर दिया, जो सभी वस्तुओं में विद्यमान है और वह भला **ब्रह्म** के अलावा कौन हो सकता है?

वस्तुतः प्राचीन बौद्धदर्शन में जिस नैरात्म्यवाद की स्थापना प्रबलता के साथ की गयी थी, उससे सामान्य व्यक्ति की सन्तुष्टि के अभाव में महायान में पारमार्थिक सत्ता के रूप में आत्मा की प्रतिष्ठा की। इसलिए यही बौद्धदर्शन बाद में निरात्मवाद से सात्मवाद हो गया। साथ ही, यहाँ दुःखों से पीड़ित मानवता के प्रति दयाभाव रखने के लिए **बुद्ध के अवतारवाद की भी प्रतिष्ठा** की गयी। इसप्रकार कहा जा सकता है कि यही बौद्धदर्शन बाद में जाकर **ईश्वर सापेक्ष** हो गया।

अद्वैतवेदान्त के ब्रह्म के समान यहाँ भी **परमतत्त्व को अनिर्वचनीय** कहा गया, किन्तु अन्तर यही है कि यहाँ इसकी अभिव्यक्ति धर्मकाय की अवस्था में पारमार्थिक सत्य अर्थात् बुद्ध के प्राणिमात्र के कल्याण को दृष्टि में रखने के कारण की जाने वाली चिन्ता से हुई। इसीकारण बुद्ध को **अभिताभबुद्ध** की संज्ञा भी प्रदान की गयी।

इसप्रकार हम देखते हैं कि जो बौद्धदर्शन आरम्भ में वैदिक धर्म या दर्शन के विरुद्ध एक क्रान्ति के रूप में उभरा, वही आगे चलकर अनेक प्रकार की विषमताओं से होता हुआ, उसी वैदिक धर्म में जाकर मिल गया। यद्यपि विज्ञानवादियों ने इसका पर्याप्त विरोध भी किया, किन्तु फिर भी बौद्धदर्शन की अनेक मान्यताएँ वैदिक दर्शन की मान्यताओं के साथ में मिल गयीं।

(xvii) **बौद्धदर्शन की मान्यताओं का अन्य दर्शनों द्वारा खण्डन**— ध्यातव्य है कि अश्वघोष का 'तथता' का सिद्धान्त उनके साथ ही समाप्त हो गया, किन्तु बौद्धदर्शन के शून्यवाद तथा विज्ञानवाद के सिद्धान्त अपेक्षाकृत आगे तक चले और ईसा की अष्टम शती तक

इनका विकास भी हुआ, किन्तु बाद में इनके शून्यवाद का खण्डन कुमारिलभट्ट तथा आचार्यशंकर (800 ई.) द्वारा प्रबलरूप में किया गया, जिसका मुख्य आधार शाश्वत तत्त्व आत्मा और बाह्य संसार का यथार्थ स्वरूप था, क्योंकि वैदिक दर्शन में आत्मा को नित्य, शाश्वत तथा बाह्य संसार को यथार्थ सत्य माना गया था। इसलिए वेदान्त सूत्र का भाष्य करते हुए उन्होंने बौद्धदर्शन का खण्डन किया। यद्यपि शंकर ने भी बाह्य संसार को माया द्वारा निर्मित मानकर 'ब्रह्मसत्यं जगन्मिथ्या' का ही जयघोष किया।

जहाँ तक न्याय एवं सांख्य का प्रश्न है, ये दोनों भी सौत्रान्तिकों के समान ही संसार की सत्ता को स्वीकार करते हैं, अन्तर केवल इतना है कि सौत्रान्तिक इसे 'क्षणिक' मानता था, किन्तु सांख्य तथा न्याय इसे परिणामी मानकर अणुरूप में अव्यक्त तथा नित्य स्वीकार करते थे। आत्मा के अस्तित्व को तो चार्वाक को छोड़कर सभी भारतीयदर्शन मान्यता प्रदान करते हैं, जबकि सौत्रान्तिक इसे नहीं मानता है।

वस्तुस्थिति तो यह है कि आरम्भ में बौद्ध सिद्धान्तों का पल्लवन केवल विद्वानों के पर्याप्त साहित्य लेखन के साथ होता रहा, किन्तु मध्यकाल में दार्शनिक चिन्तन के विकास के साथ कालान्तर में इन्हीं दर्शनों में यह दर्शन विलुप्त हो गया।

•••

परिशिष्ट

प्रस्तुत ग्रन्थ में प्रदत्त चित्रों की खण्डवार सूची

(1) **उपोद्घात–** पृष्ठ

(i) भारतीय दर्शनों का उद्भव 30

(ii) दर्शन विभाग 31

(iii) सांख्य के कुल पच्चीस तत्त्व 31

(iv) सांख्य का पुरुष बहुत्व 50

(v) सांख्य में पुरुष की सत्ता–सिद्धि 51

(vi) वेदान्त की पंचीकरण प्रक्रिया 68

(vii) भारतीय दर्शन की विशेषताएँ 657

(viii) भारतीय दर्शन के प्रमुख तत्त्व 657

(ix) भारतीय दर्शनों के प्रवर्तक आचार्य 657

(x) विभिन्न दर्शनों में प्रमाण 657

(2) **सांख्य–दर्शन**

(i) सांख्य के अनुसार दुःखत्रय 148

(ii) दुःखत्रय के विनाश के उपाय 152

(iii) अनुमान प्रमाण के भेद 181

(iv) सांख्य के अनुसार गुणत्रय 182

(v) सांख्य का पुरुष बहुत्व 184

(vi) सांख्य के अनुसार सूक्ष्मशरीर 186

(vii) सांख्य का सत्कार्यवाद 190

(viii) प्रकृति के अस्तित्व की सिद्धि 657

(ix) गुण–त्रय 658

(x) सांख्य के पच्चीस पदार्थ 658

(xi) सांख्य के प्रमाण 658

(3) योग–दर्शन

(i) पंचपर्वा अविद्या 658
(ii) चित्त की पाँच भूमियाँ 658
(iii) अविद्या का स्वरूप 658
(iv) अष्टांग योग 659
(v) चित्त के नौ प्रकार के विक्षेप 659
(vi) विक्षेपों के पाँच सहयोगी 659
(vii) सर्वोत्तम योगप्राप्ति 659
(viii) क्रियायोग 659
(ix) योगदर्शन का ईश्वर 659
(x) योगदर्शन के द्रष्टा (पुरुष) का स्वरूप 659

(4) न्याय–दर्शन

(i) न्यायदर्शन के सोलह पदार्थ 660
(ii) ज्ञान के दो प्रकार 660
(iii) न्यायदर्शन के बारह प्रमेय पदार्थ 660
(iv) न्यायदर्शन में अर्थ के छः भेद 660

(5) वैशेषिक–दर्शन

(i) वैशेषिक दर्शन के सप्त पदार्थ 660
(ii) वैशेषिक दर्शन के नौ द्रव्य 660
(iii) वैशेषिक दर्शन के चौबीस गुण 661
(iv) वैशेषिक दर्शन में प्रमाण 661
(v) अनुमान की पंचावयव प्रक्रिया 661
(vi) त्रिविध लिंग 661
(vii) वाक्यार्थ ज्ञान के हेतु 661
(viii) षड्विध इन्द्रियार्थ सन्निकर्ष 662
(ix) हेत्वाभास के पाँच प्रकार 662

(6) मीमांसा–दर्शन

(i) वेद के पाँच भेद 408

(ii) भावना का स्वरूप 411
(iii) भावना के तीन अंश 411
(iv) विधि का स्वरूप 413
(v) विधि–विभाग द्वितीय विभाजन 415
(vi) छः प्रमाण 416
(vii) प्रयोग विधिक्रम बोधक प्रमाण 417
(viii) विधि विभाग तृतीय विभाजन 418
(ix) अर्थवाद के भेद 426
(x) विधि–विभाग 662
(xi) भावना 662
(xii) श्रुति 663
(xiii) प्रमाणों की बलाबलता 663
(xiv) स्थान प्रमाण 663
(xv) विनियोग व्यापार 663

(7) **वेदान्त–दर्शन**

(i) वेदान्त का त्रिवृत्करण 504
(ii) माया की शक्तिद्वय 663
(iii) अज्ञान का स्वरूप 663
(iv) पंचवायु 664
(v) आकाशादि पंचीकृत महाभूतों की सृष्टि 664
(vi) कारण शरीर 664
(vii) वेदान्त का अनुपलब्धि प्रमाण 664
(viii) सत्ता के विविध रूप 664
(ix) सृष्टि प्रक्रिया 665

(8) **चार्वाक–दर्शन**

(i) चार्वाक दर्शन का सारांश 552

(9) **जैन–दर्शन**

(i) जैन दर्शन में द्रव्य 561
(ii) कर्मों के चार प्रकार 564

(iii) कर्मविषयक अन्य शृंखला 564
(iv) ज्ञान के भेद 574
(v) जैन दर्शन का सप्तभंगी नय 579
(vi) जैन दर्शन में व्रत का स्वरूप 583
(vii) जैन दर्शन के सप्त पदार्थ 665
(viii) अष्टांग योग 665
(ix) भावना 666
(x) कषाय 666
(xi) दस धर्म 666
(xii) सृष्टि 666

(10) **बौद्ध–दर्शन**

(i) चेतना से उत्पन्न कर्म सिद्धान्त 600
(ii) प्रतीत्यसमुत्पाद का सिद्धान्त 610
(iii) विज्ञान के तीन परिणाम 638
(iv) बौद्ध दर्शन के अनुमान के तीन अवयव 644
(v) बुद्ध से पूर्व की भारतीय दार्शनिक पद्धति 666
(vi) बौद्धदर्शन के त्रिपिटक 667
(vii) बौद्धदर्शन के सम्प्रदाय ,667
(viii) निर्वाण का स्वरूप 667
(ix) बौद्धदर्शन का अष्टांगिक मार्ग 668
(x) बौद्धदर्शन में समाधि की चार अवस्थाएँ 668
(xi) बौद्धदर्शन में पाँच स्कन्ध 668
(xii) अविद्या के कारण चार आस्रव 668
(xiii) अनुमान के अवयव त्रय 668
(xiv) बौद्धदर्शन रत्न–त्रय 668
(xv) बोधिसत्त्वों के चतुर्विध ज्ञान 668
(xvi) बोधिसत्त्वों के चतुर्विध ध्यान 668

•••

डायग्राम के माध्यम से दर्शनविषयक कुछ सिद्धान्तों की प्रस्तुति–

(1) उपोद्घात

(चित्र–1)

भारतीय दर्शन की विशेषताएँ

1. दुःखनिवृत्ति
2. आत्मा का अस्तित्व
3. कर्मसिद्धान्त में आस्था
4. पुनर्जन्म में विश्वास
5. व्यावहारिक दृष्टि
6. अज्ञान ही बन्धन का मूल कारण
7. ज्ञान से मुक्ति
8. संसार एक रंगमंच
9. वेदों की प्रामाणिकता
10. जगत् की सत्ता में विश्वास
11. आत्मसंयम पर बल
12. प्रमाणमीमांसा

(चित्र–2)

भारतीय दर्शन के प्रमुख तत्त्व

आत्मा, ईश्वर, जीव, जगत्, कार्यकारण सिद्धान्त, कर्मफल सिद्धान्त, सृष्टि प्रक्रिया, मोक्ष

(चित्र–3)

भारतीय दर्शनों के प्रवर्तक आचार्य

- **आस्तिक**
  - सांख्य (कपिल)
  - योग (पतंजलि)
  - न्याय (गौतम)
  - वैशेषिक (कणाद)
  - पूर्वमीमांसा (जैमिनि)
  - उत्तर मीमांसा (वेदान्त) (बादरायण)
- **नास्तिक**
  - चार्वाक (बृहस्पति)
  - जैन (प्रथम तीर्थंकर ऋषभदेव)
  - बौद्ध (बुद्ध)

(चित्र–4)

विभिन्न दर्शनों में प्रमाण

- **आस्तिक**
  - सांख्य, योग — (प्रत्यक्ष, अनुमान, शब्द)
  - न्याय, वैशेषिक — (प्रत्यक्ष, अनुमान, उपमान, शब्द)
  - पूर्वमीमांसा — (प्रत्यक्ष, अनुमान, उपमान, शब्द, अर्थापत्ति)
  - उत्तर मीमांसा (वेदान्त) — (प्रत्यक्ष, अनुमान, उपमान, शब्द, अर्थापत्ति, अभाव)
- **नास्तिक**
  - चार्वाक (प्रत्यक्ष)
  - जैन, बौद्ध — (प्रत्यक्ष, अनुमान, शब्द)

(2) सांख्य–दर्शन

(चित्र–1)

प्रकृति के अस्तित्व की सिद्धि

- भेदानां परिमाणात्
- भेदानां समन्वयात्
- भेदानां शक्तितः प्रवृत्तेः च
- कार्य–कारण विभागात्
- अविभागाद् वैश्वरूपस्य

(चित्र–2)
गुणत्रय(साम्यावस्था प्रकृति)
सत्व
(लघु, हलका, प्रकाशक)
सुखात्मक
रजस्
(चंचल)
दुःखात्मक
तमस्
(भारी)
मोहात्मक
अभिभवात्मक वृत्ति
परिणाम
सृष्टिकाल में
(विरूप परिणाम)
प्रलयकाल में
(सरूप परिणाम)
(चित्र–3)
सांख्य के पच्चीस पदार्थ
अव्यक्त (2)
व्यक्त (23)
प्रकृति
पुरुष (अविकृति)
महत्
अहंकार
पंचतन्मात्राएँ
पंचज्ञानेन्द्रियाँ
पंचकर्मेन्द्रियाँ
मन
पंचमहाभूत
प्रकृति और विकृति (सप्त)
विकृति (16)
(चित्र–4)
सांख्य के प्रमाण
प्रत्यक्ष
अनुमान
शब्द
(3) योग–दर्शन
(चित्र–1)
पंचपर्वा अविद्या
क्षिप्त
मूढ़
विक्षिप्त
एकाग्र
निरुद्ध
समाधि अवस्था में अनुपयोगी
समाधि अवस्था में उपयोगी
(एताः क्लिष्टा अक्लिष्टाः भेदेन दशधा भवन्ति)
(चित्र–2)
चित्त की पंचभूमियाँ (पंच क्लेश)
अविद्या
अस्मिता
राग
द्वेष
अभिनिवेश
पंच विपर्यय
गुणों के कार्यों को सुदृढ़ करना
उक्त पंचक्लेशों की पुनः चार–चार अवस्था
प्रसुप्त
तनु
विच्छिन्न
उदार
(चित्र–3)
अविद्या का स्वरूप
अनित्य
अपवित्र
दुःखमय
अनात्म पदार्थ

(चित्र–4)
अष्टांग योग
यम नियम आसन प्राणायाम प्रत्याहार धारणा ध्यान समाधि
अहिंसा सत्य अस्तेय(चोरी न करना) ब्रह्मचर्य अपरिग्रह
नियमों के पाँच प्रकार
दर्शन स्पर्शन स्मरण क्रीड़न एकान्तवास गुह्यभाषण क्रियान्विति
शौच सन्तोष तप स्वाध्याय ईश्वरप्रणिधान
(चित्र–5)
चित्त के नौ प्रकार के विक्षेप(अन्तराय)
व्याधि स्त्यान संशय प्रमाद आलस्य अविरति भ्रान्तिदर्शन अलब्धभूमिकात्व अनवस्थितत्व
(चित्र–6)
विक्षपों के पाँच सहयोगी
दु:ख दौर्मनस्य अंगकम्पन श्वास प्रश्वास
(चित्र–7)
सर्वोत्तम योगप्राप्ति
आगम
(शास्त्रों का श्रवण)
अनुमान
(चिन्तन, मनन)
ध्यानाभ्यास का आनन्द
(निदिध्यासन)
असम्प्रज्ञात समाधि
(चित्र–8)
क्रियायोग
तप स्वाध्याय ईश्वर प्रणिधान
उद्देश्य
समाधि की उत्पत्ति के लिए क्लेशों को तनु करना
(चित्र–9)
योगदर्शन का ईश्वर
क्लेश कर्म विपाक आशय (वासनाएँ)
अविद्या अस्मिता राग द्वेष अभिनिवेश अधर्म अधर्म फलभोग से निर्मित संस्कार
से सर्वथा रहित पुरुष–विशेष
(चित्र–10)
योगदर्शन के द्रष्टा (पुरुष) का स्वरूप
साक्षी चिन्मात्र चेतन स्वार्थी भोक्ता अपरिणामी समान–असमान से भिन्न प्रतिसंवेदी
प्रकृति का स्वरूप किंचित् भिन्न
त्रिगुणात्मिका परिणामी समान–असमानरूपा पुरुषार्थी जड़ अज्ञानी संवेदी भोग्या

(4) न्याय–दर्शन
(चित्र–1)
न्यायदर्शन के सोलह पदार्थ
प्रमाण
प्रमेय
संशय
प्रयोजन
दृष्टान्त
सिद्धान्त
अवयव
तर्क
निर्णय
वाद
जल्प
वितण्डा
हेत्वाभास
छल
जाति
निग्रहस्थान
(चित्र–2)
ज्ञान के दो प्रकार
अनुभव
स्मृति
(ज्ञातविषयं ज्ञानं स्मृतिः)
यथार्थ अनुभव
अयथार्थ अनुभव
संशय
विपर्यय
तर्क
(चित्र–3)
न्यायदर्शन के बारह प्रमेय पदार्थ
आत्मा
शरीर
इन्द्रिय
अर्थ
बुद्धि
मन
प्रवृत्ति
दोष
प्रेत्याभाव
फल
दुःख
अपवर्ग
(चित्र–4)
न्यायदर्शन में अर्थ के छः भेद
द्रव्य
गुण
कर्म
सामान्य
विशेष
समवाय
(5) वैशेषिक दर्शन
(चित्र–1)
वैशेषिक दर्शन के सप्त पदार्थ
द्रव्य(नौ)
गुण(चौबीस)
कर्म(पाँच)
सामान्य (दो)
विशेष(अनन्त)
समवाय (एक)
अभाव (चार)
उत्क्षेपण
अवक्षेपण
आकुंचन
प्रसारण
गमनम्
प्रागभाव
प्रध्वंसाभाव
अत्यन्ताभाव
अन्योन्याभाव
नित्यम्
एकानुगतम्
पर (सत्ता)
अपर (द्रव्यत्वादि)
(चित्र–2)
वैशेषिक दर्शन के नौ द्रव्य
1 पृथिवी
2 जल
3 तेज
4 वायु
आकाश
काल
दिक्
आत्मा
मन
नित्या
अनित्या
त्रिविधः
अनित्य
नित्य
शब्दगुणकम्
नित्यम्
एकः
एका
विभुः नित्यः
प्रात्यादि व्यवहार हेतु
शरीर
इन्द्रिय
क्रमशः
विषय
अस्मद्, गन्धग्राहकं मिट्टी आदि, वरुणलोके रसग्राहकं सरितादि, आदित्यलोके रूपग्राहकं सुवर्णादि वायुलोके स्पर्शग्राहकं वायु
नासाग्रवर्ती (1)
रसनाग्रवर्ती (2)
कृष्णताराग्रवर्ती (3)
त्वग्वर्ती (4)

तेज (विषय)
भौम(वह्न्यादि)
दिव्य (विद्युतादि)
औदार्य (भुक्तस्य परिणाम हेतु)
आकरज (सुवर्णादि)
शरीरान्तचारी वायु एक:
उपाधिभेदात् पंचविध:
(प्राण, अपान, व्यान, समान, उदान)
(चित्र–3)
वैशेषिक के चौबीस गुण
रूप
(चक्षुःग्राह्यः)
सप्तविधमेतत्
शुक्ल पीत नील रक्त हरित कपिश चित्र
रस
(रसना ग्राह्यः)
गन्ध
(घ्राणग्राह्यः)
स्पर्श
(त्वकग्राह्यः)
संख्या परिणाम पृथकत्व
(नवद्रव्यवृत्तिः)
संयोग
(सर्वद्रव्यवृत्तिः)
विभाग परत्व अपरत्व गुरुत्व
(पृथिवीजलवृत्तिः)
दिक् कृतम्
कालकृतम्
द्रवत्व
(पृथिवीजलतेजसो वृत्तिः)
स्नेह
(जलमात्रवृत्ति)
शब्द
ध्वन्यात्मक
वर्णनात्मक
बुद्धि
सर्व व्यवहारहेतुः गुणः द्विविधः
स्मृतिः
अनुभवः
सुख दुःख इच्छा द्वेष प्रयत्न धर्म अधर्म संस्कार
(चित्र–4)
वैशेषिक दर्शन के प्रमाण
प्रत्यक्ष
(प्रत्यक्षज्ञानं करणम्)
तच्च द्विविधम्
निर्विकल्पक
(इदं किंचित्)
सविकल्पक
(डित्थोऽयम्)
अनुमान
(अनुमिति करणम्)
तच्च द्विविधम्
स्वार्थानुमान
स्वयं बार–बार रसोई में धूम–अग्नि के साहचर्य को देखकर पर्वत में धूम देखकर अग्नि का अनुमान
परार्थानुमान
स्वयं बार–बार रसोई मे धूम–अग्नि के साहचर्य को देखकर दूसरे को समझाने के लिए पंचावयव वाक्य से अग्नि का अनुमान कराना
उपमान
(उपमितिकरणम्)
यथा
गो सदृशः गवयः भवति
शब्द
(आप्तवाक्यम्)
यथार्थवक्ता आप्तः
(चित्र–5)
अनुमान की पंचावयव प्रक्रिया
प्रतिज्ञा वाक्य
(पर्वतोऽयं वह्निमान)
हेतु वाक्य
(धूमवत्त्वात्)
उदाहरण वाक्य
(यत्र–यत्र धूमः, तत्र–तत्र वह्निः)
(यथा–महानसे)
उपनय वाक्य
(तथा चायम्)
निगमन वाक्य
(तस्मादयं पर्वतो वह्निमान्)
(चित्र–6)
त्रिविध लिंग
अन्वयव्यतिरेकि
(यत्र–यत्र धूमः, तत्र–तत्र वहिः)
(यथा–महानसे)
(यत्र–यत्र अग्निः नास्ति तत्र–तत्र धूमोऽपि नास्ति)
केवलाव्यतिरेकि
(घटोऽभिधेयः प्रमेयत्वात, पटवत्)
केवलान्वयि
(पृथिवी इतरेभ्यः भिद्यते, गन्धवत्वात्)
(चित्र–7)
वाक्यार्थ ज्ञान के हेतु
आकांक्षा
(गौ, अश्व, पुरुष, हाथी)
आकांक्षा का अभाव
योग्यता
(अग्निना सिंचति)
अग्नि में सिंचन योग्यता का अभाव
सन्निधि
काल विषयक
एक पद 'राम' बोलकर चुप हो जाना कुछ समय के बाद 'जाओ' कहना
स्थान विषयक
एक ही वाक्य में अन्य शब्दों का बीच में प्रयोग

(चित्र–8)
षड्विध इन्द्रियार्थसन्निकर्ष
संयोग
(चक्षुषा घट प्रत्यक्षजनने)
संयुक्तसमवाय
(घटरूपप्रत्यक्षजनने)
संयुक्तसमवेतसमवाय
(घटरूपत्व प्रत्यक्षजनने)
समवाय
(शब्दश्रवणे)
समवेतसमवाय
(शब्दत्व प्रत्यक्षे)
विशेषणविशेष्यभाव
(घटाभावप्रत्यक्षे)
(चित्र–9)
हेत्वाभास के पाँच प्रकार
सव्यभिचार
(स च त्रिविधः)
विरुद्ध
(यथा)
सत्प्रतिपक्ष
(यथा)
असिद्ध
(स च त्रिविधः)
बाधित
(यथा)
वह्निरनुष्णो द्रव्यत्वादिति
साधारणः
असाधारणः
अनुपसंहारी
(शब्दो नित्यः कृतकृतकत्वात्)
(यथा साध्याभावं साधकं हेत्वन्तरं विद्यते)
स च त्रिविधः
साध्याभाववृत्तिः
पक्षमात्रवृत्तिः
अन्वयव्यतिरेकिदृष्टान्तरहितः
आश्रय असिद्धः
स्वरूप असिद्धः
व्याप्यत्व असिद्धः
(6) मीमांसा दर्शन
(चित्र–1)
विधि विभाग
उत्पत्ति
विनियोग
प्रयोग
अधिकार
कर्म के स्वरूपमात्र का बोध कराने वाला
अंग के प्रधान विषयक सम्बन्ध का बोध कराने वाला
प्राशुभाव का बोध कराने वाला
काम्य
नैमित्तिक
नित्य
श्रुति
लिंग
वाक्य
प्रकरण
स्थान
समाख्या
छःप्रमाण
महाप्रकरण
अवान्तर प्रकरण
श्रुति
अर्थ
पाठ
स्थान
मुख्य
प्रवृत्ति
पाठ सादेश्य
अनुष्ठान सादेश्य
मन्त्र
ब्राह्मण
यथासंख्य
सन्निधि
केवल क्रमपरक
तद्विशिष्ट
वैदिकी
लौकिकी
विधात्री
(लिंगादिरूप)
अभिधात्री
(व्रीहि आदि)
विनियोक्त्री
विभक्तिरूप
एकाभिधानरूप
एकपदरूप
द्वितीया
तृतीया
सप्तमी
अन्य
(चित्र–2)
भावना
सा च द्विधा
शाब्दी भावना
(देवदत्त का 'गामानय' आदेश)
आर्थी भावना
(यज्ञदत्त की 'गोरानयन' क्रिया)
मानसिक व्यापार

किं भावयेत् साध्य
केन भावयेत् साधन
कथं भावयेत् इति कर्तव्यता
किं भावयेत् स्वर्गादि प्राप्ति हेतु
केन भावयेत् यागादि द्वारा
कथं भावयेत् याग का विधिपूर्वक विधान
(चित्र–3)
श्रुति (निरपेक्षो रवः श्रुतिः, सा च त्रिधा)
विधात्री (लिंगाद्यात्मिका)
(1) ज्योतिष्टोमेन स्वर्गकामः यजेत
(2) अग्निहोत्रं जुहोति
अधिष्ठात्री (व्रीह्यादि श्रुतिः)
(1) व्रीहीन् आवहन्ति
(2) व्रीहीन् प्रोक्षति
विनियोक्त्री (व्रीहिभिर्यजेत)
(चित्र–4)
प्रमाणों की बलाबलता
श्रुति
लिंग
वाक्य
प्रकरण
स्थान
समाख्या
सर्वाधिक प्रबल
क्रमशः निर्बल
सर्वाधिक निर्बल
(चित्र–5)
स्थान प्रमाण
पाठ सादेश्य
अनुमान सादेश्य
यथासंख्य पाठ
सन्निधि पाठ
(चित्र–6)
विनियोग व्यापार
स्थान प्रमाण
प्रकरण
वाक्य
लिंग
श्रुति
सन्निकृष्ट प्रबल होने से स्वीकार्य
समाख्या प्रमाण
स्थान
प्रकरण
वाक्य
लिंग
श्रुति
विप्रकृष्ट निर्बल होने से अस्वीकार्य
(7) वेदान्त दर्शन
(चित्र–1)
माया (अज्ञान) की शक्तिद्वय
आवरण(आच्छादन) (सत्य का ढकना)
आत्मतत्त्व (ब्रह्म) को आवृत्त करना
विक्षेप (उद्भावन) (सत् में असत् की उद्भावना)
यथा– रज्जु में सर्प की प्रतीति
उदाहरण
मेघखण्ड द्वारा सूर्य को ढकना
सीप में चाँदी का आभास कराना
(चित्र–2)
अज्ञान का स्वरूप
सत् (ब्रह्म)
असत् (वन्ध्यापुत्र)
(से भिन्न अतः)
अनिर्वचनीय
सत्त्व
रजस्
तमस्
(इन तीनों गुणों से युक्त)
त्रिगुणात्मक
सद्रूप
असद्रूप
सदसद्रूप
(से भिन्न अतः)
यत्किंचित्
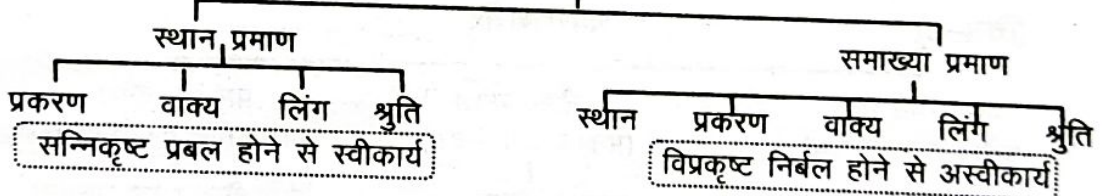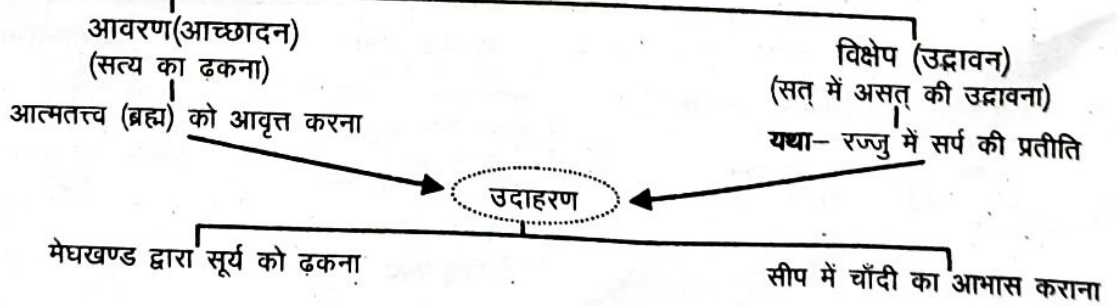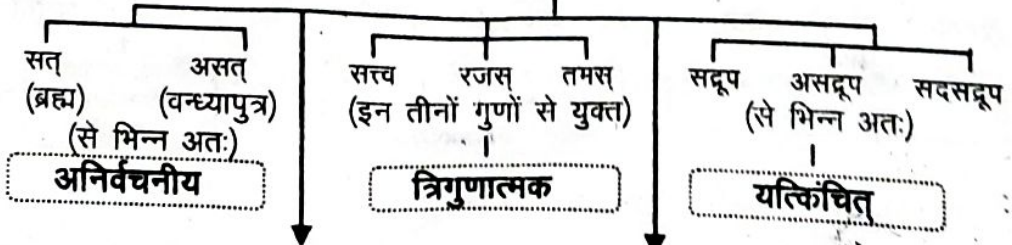
ज्ञानविरोधी
(ज्ञान होने पर समाप्ति)
भावरूप
(अहमज्ञोऽस्मि इत्यादि अनुभव से)
(चित्र–3)
पंचवायु
अपंचीकृत सूक्ष्मभूतों के रजो अंशों से उत्पन्न
प्राण
नासाग्रवर्ती
श्वास ग्रहण करना
ऊर्ध्वगमनशीला
अपान
गुदा–उपस्थवर्ती
मलमूत्र निस्सारण
अधोगमनशीला
व्यान
सम्पूर्णशरीरवर्ती
रक्तसंचरण
सर्वत्र गमनशीला
समान
उदरस्थ
पाचन
अधोगमनशीला
उदान
कण्ठस्थ
मृत्यु के समय निस्सरण
ऊर्ध्वगमनशीला
(चित्र–4)
आकाशादि पंचीकृत स्थूलमहाभूतों की सृष्टि
चौदह भुवन
सप्त ऊर्ध्वलोक
भूः भुवः स्वः महः जनः तपः सत्यम्
सप्त अधोलोक
अतल वितल सुतल रसातल तलातल महातल पाताल
चतुर्विध शरीर
जरायुज
(मनुष्य, पशु)
अण्डज
(पक्षी, सर्प)
स्वेदज
(जूँ, मच्छरादि)
उद्भिज्ज
(वृक्ष, लतादि)
(चित्र–5)
कारणशरीर
विज्ञानमय कोश
(बुद्धि+पंचज्ञानेन्द्रिय)
व्यावहारिक कार्यों का कर्ता
(कर्तृरूप)
मनोमय कोश
(मन+पंचज्ञानेन्द्रिय)
इच्छाशक्तिसम्पन्न
(करणरूप)
प्राणमय कोश
(पंचकर्मेन्द्रिय+पंचप्राण)
क्रियाशीलता का प्राधान्य
(कार्यरूप)
(चित्र–6)
वेदान्त का अनुपलब्धि प्रमाण
प्राक् अभाव
उत्पत्ति से पहले मृत्पिण्ड में कार्य रूप घट का अभाव
प्रध्वंश अभाव
निर्माण के बाद दण्ड आदि से विनष्ट घट का अभाव
अत्यन्त अभाव
कालत्रय में रहने वाला अभाव जैसे– वायु में रूप का अभाव
अन्योन्याभाव
एक वस्तु मे दूसरी वस्तु का अभाव जैसे– घट में पट का अभाव
(चित्र–7)
सत्ता के विविध रूप
प्रातिभासिक
(रस्सी में सर्प की प्रतीति)
क्षणिक अस्तित्व, यथार्थ ज्ञान के बाद समाप्ति
व्यावहारिक
(घट, पट आदि की प्रतीति)
अपेक्षाकृत अधिक लम्बे समय तक अस्तित्व, ब्रह्मज्ञान होने पर समाप्ति
पारमार्थिक
(ब्रह्म की अनुभूति)
नित्य, शाश्वत त्रिकालिक स्थिति
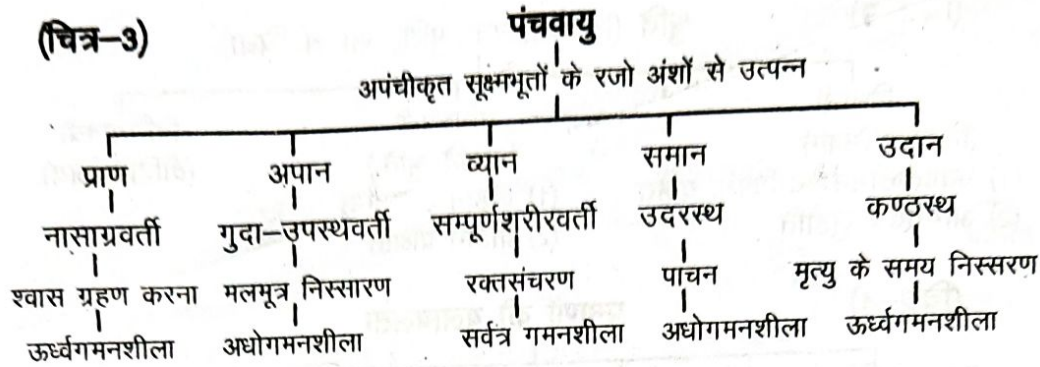
(चित्र–8)
वेदान्त के अनुसार सृष्टि प्रक्रिया
ब्रह्म (तुरीयावस्था)
शुद्ध सत्त्वप्रधान अज्ञान
ईश्वर(समष्टि)
मलिन सत्त्वप्रधान अज्ञान
जीव(व्यष्टि)
सूक्ष्मतम सृष्टि (कारणशरीर)
एकोऽहं बहुस्याम
शरीर के केश, लोम के समान स्वाभाविक रूप से सृष्टि की उत्पत्ति
आनन्दमय कोष (सुषुप्ति अवस्था)
अपंचीकृत सूक्ष्मभूतों की उत्पत्ति
आकाश
वायु
अग्नि
जल
पृथ्वी
(पंचीकृत महाभूतों की उत्पत्ति पंचीकरण प्रक्रिया द्वारा)
शब्द
शब्द, स्पर्श,
शब्द, स्पर्श, रूप
शब्द, स्पर्श, रूप, रस
शब्द, स्पर्श, रूप, रस एवं गन्ध
सात्त्विक अंशों से अलग–अलग पंचज्ञानेन्द्रियाँ
रजो अंशों से अलग–अलग पंचकर्मेन्द्रियाँ
रजो अंशों से अलग–अलग पंचप्राण
श्रोत्र
त्वक्
चक्षु
रसना
घ्राण
वाक्
पाणि
पाद
पायु
उपस्थ
प्राण
अपान
व्यान
समान
उदान
आकाशादि पंचतन्मात्राओं के सम्मिलित सात्त्विक अंशों से
निश्चयात्मिका बुद्धि
संकल्प–विकल्पात्मक मन
पंचज्ञानेन्द्रियाँ + पंचकर्मेन्द्रियाँ + पंचप्राण + मन + बुद्धि =17
सूक्ष्मशरीर
(9) जैन दर्शन
(चित्र–1)
जैन दर्शन के सप्त पदार्थ
आस्रव
(बन्धन का कारण कर्म)
बन्ध
(जीव की सांसारिक दशा)
संवर
(आस्रव का विपरीत)
निर्जरा
(भूतकाल की कर्मसन्तति को निःशेष बनाने वाली प्रक्रिया)
जीव
(चेतन प्राणी)
अजीव
(जंगम सृष्टि)
मोक्ष
(सांसारिक आवागमन से मुक्ति)
(चित्र–2)
अष्टांग योग
ज्ञान
(तत्त्वज्ञान)
श्रद्धा
(जैन अनुशासन में दृढ़ विश्वास)
अहिंसा
(सभी प्राणियों की हिंसा से बचना)
चारित्र
(दोषयुक्त कर्मों का त्याग)
सूनृत
(सत्य, मधुर भाषण)
अस्तेय
(अनुमति के अभाव में किसी की वस्तु को ग्रहण न करना)
ब्रह्मचर्य
(विषयों की कामना न करना)
अपरिग्रह
(विषयों के प्रति राग का त्याग)

(चित्र–3)

जैन दर्शन में भावना

(ध्यान अभ्यास के मुख्य बिन्दु)

अनित्यता (सासारिक वस्तुओं को अनित्य मानना)

अशरण (सांसारिक पदार्थ को शरण न मानना)

एकत्व एवं अन्यत्व (सांसारिक पदार्थ समान होते हुए भी भिन्न हैं)

अशुचि (शरीर के प्रति मलवाही चिन्तन)

आस्रव (मनशुद्ध करके सर्वभूतमैत्री भाव)

(चित्र–4)

जैन दर्शन के कषाय

(पुनर्जन्म के चक्र में पड़ने के कारण)

क्रोध

मान(अहंकार)

माया

लोभ

निरन्तर संयम के अभ्यास से मन को शुद्ध करके हटाने में समर्थ

(चित्र–5)

जैन दर्शन के दस धर्म

(साध्य मुक्ति की दिशा में बढ़ने के साधन)

संयम, सुनृत, शौच, ब्रह्म, अकिंचनता, तप, क्षान्ति, मार्दव, ऋजुता — **साधन**

मुक्ति — **साध्य**

दुःखों से त्रस्त व्यक्ति एकमात्र इनके शरण्य होने से दुःखों से मुक्ति पा सकता है।

(चित्र–6)

जैन दर्शन में सृष्टि

(दृश्यमान जगत)

अनादि

अनन्त

शाश्वत

सभी प्राणियों का शुभाशुभ कर्मों के भोग का स्थान तीन भागों में विभाजित

ऊर्ध्व (केवली तथा देवों का निवास)

मध्य (मनुष्यादि सभी प्राणियों का निवास)

अधः (राक्षसादि का निवास)

(10) बौद्ध दर्शन

(चित्र–1)

बुद्ध से पूर्व की भारतीय दार्शनिक पद्धति

कर्मकाण्ड

उपनिषदों की ब्रह्म–विद्या

लोकायत सिद्धान्त

बुद्ध का आविर्भाव पंचम शती ईसा पूर्व का मध्य

बुद्ध का अमरता को ढूँढने के उपाय के लिए घर छोडकर निकलना **महानिष्क्रमण**
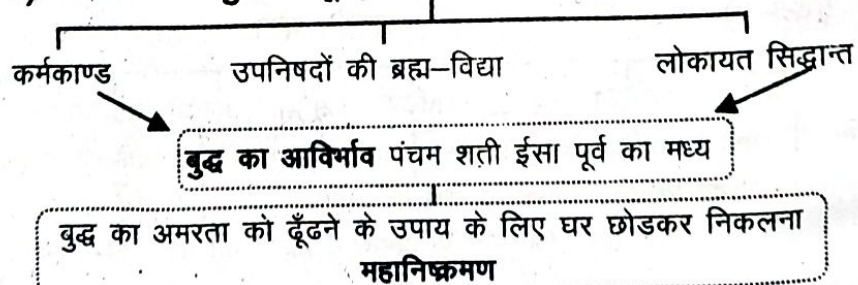
(चित्र–2)
बौद्ध दर्शन के त्रिपिटक
(बौद्धदर्शन के सर्वस्व)
सुत्त पिटक
बुद्ध के शिष्य आनन्द द्वारा बुद्धोपदेश का संग्रह
विनय पिटक
बुद्ध के शिष्य उपालि द्वारा बुद्धोपदेश का संग्रह
अभिधम्म पिटक
सुत्त पिटक के दार्शनिक अंशों की विस्तृत व्याख्या
पाँच निकाय
तीन अंग
सात ग्रन्थ
दीर्घ
मज्झिम
संयुत्त
अंगुत्तर
खुद्दक
34सुत्त
152सुत्त
56सुत्त
11सुत्त
15लघुग्रन्थ
पातिमोक्ख
भिक्खु पातिमोक्ख
भिक्खुनी पातिमोक्ख
(1)
खन्धक महावग्ग
चूलवग्ग
(2)
परिवार
(3)
पट्ठान पकरण
धम्मसंगणि
धातु कथा
पुग्गलपंञत्ति
विभंग
यमक
कथावत्थु
अन्य महत्त्वपूर्ण ग्रन्थ
जातक संग्रह
(बुद्ध के पूर्वजन्म की 550कथाओं का संग्रह)
नागसेन का मिलिन्दपंहो
(त्रिपिटकों के समान महत्त्व)
(चित्र–3)
बौद्ध दर्शन के सम्प्रदाय
वैभाषिक
(आत्मवादी)
सौत्रान्तिक
(नैरात्मवादी)
(बुद्ध के सिद्धान्तों के अधिक निकट)
(मत प्रवर्तक कुमारलात)
विज्ञानवादी
प्रवर्तक मैत्रेयनाथ/अश्वघोष
शून्यवादी
शाखाएँ
हीनयान
महायान
शून्यवाद
(वस्तुमात्र शून्यसत्तावान् अतः अपरिभाष्य)
विज्ञानवाद
(चेतना की व्याख्या)
(चित्र–4)
निर्वाण का स्वरूप
हीनयान के मत में
सभी प्राणी तीन दुःखों से पीड़ित
महायान के मत में
दुःख–दुःखता
संस्कार–दुःखता
विपरिणाम–दुःखता
उपाय
आर्यसत्यों का अनुशीलन
अष्टांगिक मार्ग का पालन
आत्मा का स्वीकार न करना
निर्वाण
जीवित अवस्था में भी सम्भव (जीवन्मुक्त)

(चित्र–5) **बौद्ध दर्शन का अष्टांगिक मार्ग**

सम्यक् दृष्टि, सम्यक् संकल्प, सम्यक् वाक्, सम्यक् कर्मान्त, सम्यक् आजीव, सम्यक् व्यायाम, सम्यक् स्मृति, सम्यक् समाधि

(चित्र–6) **बौद्ध दर्शन में समाधि की चार अवस्थाएँ**

प्रथम अवस्था, द्वितीय अवस्था, तृतीय अवस्था, चतुर्थ अवस्था

(चित्र–7) **बौद्ध दर्शन के पंच स्कन्ध**

रूप स्कन्ध, संज्ञा स्कन्ध, वेदना स्कन्ध, संस्कार स्कन्ध, विज्ञान स्कन्ध

(चित्र–8) **अविद्या का कारण चार आस्रव**

कामास्रव, भवास्रव, दृष्टि आस्रव, अविद्यास्रव
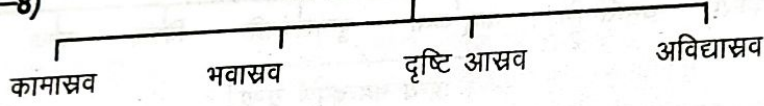
(चित्र–9) **बौद्ध दर्शन के अनुमान के अवयव त्रय**

उदाहरण (यो यो अग्गिमा सो सो धूमवा)

उपनय (अयं पब्बतो धूमवा)

निगमन (तस्मादयम् अग्गिमा)
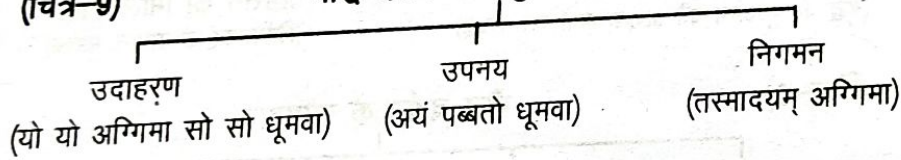
(चित्र–10) **बौद्धदर्शन के रत्नत्रय**

शील रत्न, समाधि रत्न, प्रज्ञा रत्न
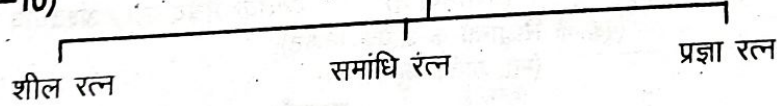
(चित्र–11) **बोधिसत्त्वों के चतुर्विध ज्ञान**

चित्त की कल्पना से संसार की वस्तुओं की सृष्टि होना

सभी वस्तुओं का तत्त्वरहित होना

अवास्तविक सृष्टि अनादि वासना का परिणाम

अपने ही अनुभूत ज्ञान से सभी वस्तुओं के स्वभाव के वास्तविक ज्ञान को प्राप्त कर लेना

उक्त ज्ञान निर्वाण की प्रक्रिया में सहयोगी
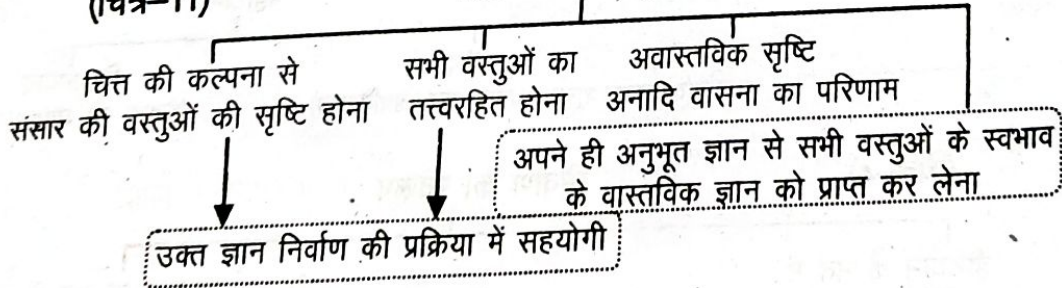
(चित्र–12) **बोधिसत्त्वों के चतुर्विध ध्यान**

(थेरवाद में परिकल्पना)

•••
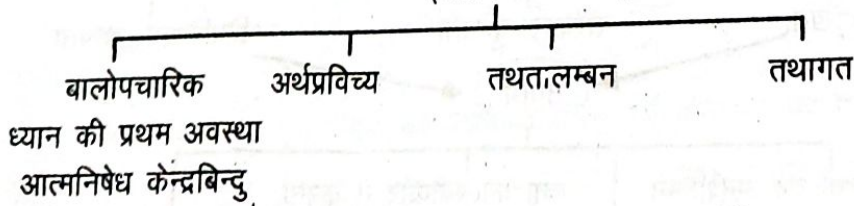
सहायक ग्रन्थ सूची

1. भारतीय दर्शन,आचार्य बलदेव उपाध्याय, शारदा मन्दिर, वाराणसी,।
2. दर्शनदिग्दर्शन, राहुल सांकृत्यायन, किताब महल, इलाहाबाद,1944।
3. भारतीयदर्शन, डॉ. उमेश मिश्र, हिन्दी संस्थान लखनऊ ।
4. भारतीयदर्शन, डॉ. राधाकृष्णन्, राजपाल एण्ड सन्स, दिल्ली।
5. भारतीय दर्शन, डॉ. वाचस्पति गैरोला ।
6. भारतीय दर्शन का इतिहास, डॉ. हरिदत्त शास्त्री।
7. भारतीय दर्शन की रूपरेखा, एम. हिरियन्ना, राजकमलप्रकाशन, दिल्ली, 1965।
8. सांख्यदर्शन का इतिहास, कीथ, अनु.डॉ.शिवकुमार, ईस्टर्न बुक लिंकर्स, दिल्ली,
9. सांख्यकारिका, डॉ. रमाशंकर त्रिपाठी, हिन्दी टीका वाराणसी, 1970।
10. सांख्यकारिका, तत्त्वकौमुदी, डॉ.रमाशंकर भट्टाचार्य, मोती. बनारसी., दिल्ली,।
11. सांख्यकारिका,गौड़पादभाष्य सहित, पं. ढुंढिराज शास्त्री ।
12. सांख्यकारिका, जयमंगला टीका, पं. गोपीनाथ कविराज, भूमिका।
13. सांख्यतत्त्वकौमुदीप्रभा,. डॉ.आद्याप्रसाद मिश्र, प्रेम प्रकाशन, इलाहाबाद, 1973।
14. सांख्यकारिका, डॉ.थानेश उप्रेती,. चौखम्बा ओरियण्टालिया, 1990।
15. सांख्यकारिका, पं.शिवनारायण, निर्णयसागर प्रेस, बम्बई, 1940।
16. सांख्यकारिका, डॉ.रमाशंकर त्रिपाठी, कृष्णदास अकादमी, वाराणसी,।
17. सांख्यकारिका, डॉ.ब्रजमोहनचतुर्वेदी, नेशनल पब्लिशिंग हाउस, दिल्ली, 1988।
18. सांख्यकारिका, डॉ. रामकृष्ण आचार्य, साहित्य भण्डार, सुभाष बाजार, मेरठ।
19. सांख्यदर्शनम्, विज्ञानभिक्षु चौखम्बा प्रकाशन, वाराणसी , संवत् – 2044।
20. सांख्यसिद्धान्त प.उदयवीर शास्त्री गोविन्दराम हासानन्द,दिल्ली, 2000 ।
21. सांख्यशास्त्र का इतिहास प. उदयवीर शास्त्री, गोविन्दराम हासानन्द, दिल्ली,
22. सांख्यकारिका, माठरवृत्ति टीका, सम्पादक– तनुसुखराम शर्मा।
23. साख्यकारिका, व्याख्याकार, डॉ.राकेश शास्त्री संस्कृत ग्रन्थागार, दिल्ली।
24. सांख्यकारिका, माठरवृत्ति, .विष्णुप्रसाद शर्मा, चौखम्बा सं. सीरीज, वाराणसी।
25. सांख्यकारिका युक्तिदीपिका, लीलाधर वात्स्यायन, परिमल प्रकाशन, दिल्ली
26. सांख्य सिस्टम ,ए.बी.कीथ ।
27. सांख्यसूत्र, रामशंकर भट्टाचार्य, भारतीय विद्याप्रकाशन, वाराणसी।

28. सांख्यदर्शनम् गजानन शास्त्री, चौखम्बा प्रकाशन, वाराणसी,सं 2057।
29. सर्वदर्शनसंग्रह, प्रो. उमाशंकर ऋषि, चौखम्बा विद्याभवन, वाराणसी, 1978।
30. दर्शन संग्रह, प्रो. दीवानचन्द, सूचना विभाग, उत्तरप्रदेश, 1958।
31. युक्तिदीपिका, डॉ. केदारनाथ त्रिपाठी, सं.सं.वि.वि. वाराणसी, 1996 ।
32. युक्तिदीपिका,डॉ. रामचन्द्र पाण्डेय, मोतीलाल बनारसीदास, दिल्ली, 1967।
33. धर्मशास्त्र का इतिहास, डॉ.पी.वी.काणे उ.प्र. हिन्दी संस्थान, लखनऊ ,1992
34. मत्स्यपुराण, हिन्दी अनुवाद सहित , गीता प्रेस, गोरखपुर।
35. ऋग्वेद : सायण भाष्य सहित, वैदिक संशोधन मण्डल, पूना 1972 ।
36. मार्कण्डेय पुराण, डॉ. राकेश शास्त्री, चौखम्भा ओरियन्टालिया, दिल्ली।
37. विष्णु पुराण, हिन्दी अनुवाद सहित, गीता प्रेस, गोरखपुर।
38. श्वेताश्वतरोपनिषद्, शांकरभाष्य, गीताप्रेस, गोरखपुर ।
39. प्रश्नोपनिषद्, शांकरभाष्य, गीताप्रेस, गोरखपुर ।
40. केनोपनिषद्, शांकरभाष्य, गीताप्रेस, गोरखपुर ।
41. छान्दोग्योपनिषद्, शांकरभाष्य, गीताप्रेस, गोरखपुर ।
42. बृहदारण्यकोपनिषद्, शांकरभाष्य, गीताप्रेस, गोरखपुर ।
43. महाभारत सम्पूर्ण , गीताप्रेस, गोरखपुर ।
44. कठोपनिषद्, शांकरभाष्य, गीताप्रेस, गोरखपुर ।
45. ईशादि नौ उपनिषद् गीता प्रेस, गोरखपुर।
46. फिलोसफी ऑफ दॉ उपनिषदाज़–डॉ. कीथ
47. ब्रह्मसूत्र शांकरभाष्य, अनन्तकृष्णशास्त्री, निर्णयसागर प्रेस बम्बई, 1917।
48. ब्रह्मसूत्र शांकरभाष्य , गीताप्रेस, गोरखपुर ।
49. मनुस्मृति(सम्पूर्ण),डॉ. राकेश शास्त्री, विद्यानिधि प्रकाशन, दिल्ली, 2005।
50. याज्ञवल्क्य स्मृति, हरिनारायण आप्टे, आनन्दाश्रम संस्कृत ग्रन्थावली, 1904।
51. पुराण विमर्श, आचार्य बलदेव उपाध्याय,
52. पातंजलयोगदर्शन डॉ. रमाशंकर भट्टाचार्य, मोतीलाल बनारसीदास, दिल्ली ।
53. पातंजलयोगप्रदीप– स्वामी ओमानन्द तीर्थ, गीताप्रेस, गोरखपुर, सं.–2024।
54. योगभाष्य – बलराम उदासीन व्याख्या।
55. योगभाष्य– तत्त्ववैशारदी टीका।
56. जर्नल ऑफ रायल एसियाटिक सोसायटी
57. हिस्ट्री ऑफ इण्डियन फिलोसफी, डॉ. दासगुप्त।
58. भाण्डार कॉमेमोरेशन वोल्यूम।
59. इण्डियन हिस्टोरिकल क्वार्टरली।
60. अरली सांख्य, डॉ. जानसन

61. अब ओरी खण्ड– 5 ।

62. योगसूत्र, व्यास भाष्य ।

63. बुद्धचरित– अश्वघोष ।

64. षड्दर्शन समुच्चयः, लघुवृत्ति एवं तर्करहस्य दीपिका सहित, भारतीय ज्ञानपीठ, वाराणसी, 1970।

65. न्याय–परिचय डॉ. किशोरनाथ झा , चौखम्बा विद्याभवन, वाराणसी–1

•••

25. **वासवदत्ता** विस्तृत भूमिका, पदच्छेद, 'चन्द्रिका' व्याख्या, **पृष्ठ–504**

26. **कादम्बरी कथामुखम्** विस्तृत भूमिका, पदच्छेद, 'चन्द्रिका' **पृष्ठ–584**

इसी क्रम में डॉ. शास्त्री की शीघ्र प्रकाश्यमान उपयोगी पुस्तकें–

i) **दर्शनशास्त्र का अंतरंग इतिहास,** दर्शनों का सरल परिचय।

ii) **शतकचतुष्टयम् भर्तृहरि,** विस्तृत भूमिका; हिन्दी अनुवाद।

iii) **उत्तररामचरितम्,** विस्तृत भूमिका,अनुवाद 'चन्द्रिका' व्याख्य

iv) **मेघदूतम्,** विस्तृत भूमिका,अनुवाद 'चन्द्रिका' व्याख्या

v) **गोपथ ब्राह्मणम्,** दो खण्डों में भूमिका, 'चन्द्रिका' व्याख्या

vi) **रसगंगाधर,** भूमिका, अनुवाद डायग्रामिक 'चन्द्रिका' व्याख्या

vii) **शांखायन आरण्यकम्,**विस्तृत भूमिका, पदच्छेद, हिन्दी अनुवाद।

viii) **कौषीतकि गृह्यसूत्र;** विस्तृत भूमिका, हिन्दी अनुवाद।

ix) **शांखायण श्रौत्रसूत्र,** विस्तृत भूमिका, हिन्दी अनुवाद।

x) **शांखायण गृह्यसूत्र,** विस्तृत भूमिका, हिन्दी अनुवाद।

xi) **तैत्तिरीय उपनिषद्,** शांकर–भाष्य सहित 'चन्द्रिका' व्याख्या

xii) **ऐतरेय ब्राह्मण,** तीन खण्डों में, सायणभाष्य सहित, अनुवाद।

xiii) **दशरूपकम्,** भूमिका, अनुवांद डायग्रामिक 'चन्द्रिका' व्याख्या

xiv) **साहित्यदर्पणम्** भूमिका, अनुवाद डायग्रामिक 'चन्द्रिका' व्याख्या.

xv) **स्वर–चन्द्रिका,** वैदिक स्वरों की सरल मीमांसा ।

xvi) **ऋक्चन्द्रिका,** ऋग्वेद के चयनित सूक्तों की सरल व्याख्या।

xvii) **ध्वन्यालोक,** दो खण्डों में भूमिका, अनुवाद 'चन्द्रिका' व्याख्या

xviii) **गोभिल गृह्यसूत्र,** विस्तृत भूमिका, पदच्छेद, हिन्दी–अनुवाद

xix) **मुण्डकोपनिषद्** शांकर–भाष्य सहित 'चन्द्रिका' व्याख्या

xx) **पंचतन्त्र सम्पूर्ण** विस्तृत भूमिका, अनुवाद 'चन्द्रिका' व्याख्या

xxi) **पारस्कर गृह्यसूत्र** दो खण्डों में भूमिका, 'चन्द्रिका' व्याख्या

xxii) **पदपाठ की सरल विधि ,** छात्रोपयोगी संस्करण।

xxiii) **निरुक्त,** तीन खण्डों में, (दुर्गाचार्य टीका सहित अनुवाद)

xxiv) **कथामालिका ,** संस्कृत कथाओं का अनुवाद सहित संग्रह मौलिक।

xxv) **छान्दोग्योपनिषद्,** विस्तृत भूमिका, अनुवाद 'चन्द्रिका' व्याख्य

लेखक परिचय

नाम : डॉ. राकेश शास्त्री

शिक्षा : हाईस्कूल (1971), इण्टरमीडिएट (1973) प्रथम श्रेणी (यू. पी. बोर्ड), बी.ए. (ऑनर्स संस्कृत) (1975) मेरठ विश्वविद्यालय की योग्यता सूची में छठवाँ स्थान, महाविद्यालय स्वर्णपदक, एम.ए. (संस्कृत-साहित्य वैशिष्ट्य), (1977), प्रथम श्रेणी, पी-एच.डी. (1981) वेद, पुराणेतिहासाचार्य (1984) सम्पूर्णानन्द संस्कृत विश्वविद्यालय, वाराणसी, वि.वि. योग्यता सूची में प्रथम स्थान, विश्वविद्यालय स्वर्णपदक, साहित्याचार्य (प्रथम श्रेणी), डी.लिट् (2013), (राजस्थान विश्वविद्यालय, जयपुर।)

अनुभव : सेवानिवृत्त अध्यक्ष, संस्कृत-विभाग, श्री गोविन्द गुरु राजकीय स्नातकोत्तर महाविद्यालय, बाँसवाड़ा (राज.) लगभग 29 वर्ष राजस्थान सरकार की उच्चशिक्षा सेवा, एम. फिल्, पी-एच.डी के छात्रों को निर्देशन। गुरुकुल काँगडी विश्वविद्यालय, हरिद्वार के संस्कृत-विभाग में लगभग 5 वर्ष अध्यापन, वैदिक एवं पौराणिक रिसर्च इन्सटीट्यूट नैमिषारण्य (सीतापुर) उ.प्र. में शोध-सहायक 2 वर्ष।

ग्रन्थ लेखन : ऋग्वेद के निपात, मार्कण्डेय महापुराण (हिन्दी अनुवाद), मनुस्मृति (सम्पूर्ण दो खण्डों में), वेदान्तसार, सांख्यकारिका, तर्कसंग्रह, तर्कभाषा, अ[illegible] योगसूत्र, भारतीय दर्शन की मूल अवधारणाएँ, स्नातक संस्कृत सरला, सुगम संस्कृत व्याकरण आदि दर्शन एवं व्याकरण ग्रन्थों की डायग्रामिक सरल हिन्दी व्याख्या, अभिज्ञान शाकुन्तलम्, स्वप्नवासवदत्तम्, मुद्राराक्षसम्, नागानन्दम्, प्रतिमा नाटकम्, रत्नावली नाटिका आदि नाटकों का सरल हिन्दी अनुवाद एवं 'चन्द्रिका' हिन्दी व्याख्या, बृहदृक्सूक्त चन्द्रिका, ऋक्सूक्त चन्द्रिका, बृहदारण्यकोपनिषद्, कठोपनिषद्, ऐतरेय उपनिषद् और कौषीतकि ब्राह्मणोपनिषद्, शांखायन ब्राह्मण (1-2 भाग) आदि वैदिक ग्रन्थों की सरल प्रस्तुति, ज्योतिष दिग्दर्शिका, पंचस्वराः, मनुष्यालय चन्द्रिका, भुवन दीपक, आदि ज्योतिष एवं वास्तुशास्त्रीय ग्रन्थों की डायग्रामिक सरल प्रस्तुति। महाभारतकार एवं कालिदास की काव्यकला, नाटककार कालिदास, कालिदास की काव्यचेतना, कालिदास की वैज्ञानिक दृष्टि, कालिदास की उपमा-योजना आदि उच्च कोटि के संदर्भ शोध ग्रन्थों के प्रणेता, संस्कृत निबन्ध चन्द्रिका, संस्कृत बोध-कथा मंजरी, संस्कृत नाट्य निकुंजम्, संस्कृत कविता मंजरी, संस्कृत कथा मंजरी आदि 77 से भी अधिक मौलिक एवं व्याख्या ग्रन्थों के लेखक।

शोध पत्र : प्रसिद्ध शोध पत्र-पत्रिकाओं एवं अभिनन्दन ग्रन्थों में 65 से अधिक शोध निबन्ध प्रकाशित, राष्ट्रीय, अन्तर्राष्ट्रीय शोध-संगोष्ठियों में 50 से अधिक शोधलेख पठित, सत्रों की अध्यक्षता एवं मुख्यवक्ता।

पुरस्कार व संदर्भ ग्रन्थों में नामोल्लेख : आदिवासी जनजाति क्षेत्र बाँसवाडा में पूर्णतया समर्पित संस्कृत प्रचार-प्रसार के लिए राष्ट्रीय, राज्यस्तरीय तथा स्थानीय स्तर पर लगभग 25 से अधिक पुरस्कारों से सम्मानित तथा राष्ट्रीय, राज्यस्तरीय तथा अन्तर्राष्ट्रीय संदर्भ ग्रन्थों में नामोल्लेख।

चौखम्भा ओरियन्टालिया

प्राच्यविद्या, आयुर्वेद तथा दुर्लभ ग्रन्थों के प्रकाशक

बंग्लो रोड, 9-यू.बी., जवाहर नगर (निकट कमला नगर) दिल्ली-7 (भारत)

फोन : 011-23851617, 23858790

E-mail : chaukhambhaorientalia@gmail.com